काव्य-शास्त्र

(भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन)

प्रधान-सम्पादक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

सम्पादक-मण्डल

डॉ० नगेन्द्र
डॉ० हरिशंकर शर्मा
डॉ० विश्वनाथ प्रसाद
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
डॉ० विनयमोहन शर्मा
डॉ० विजयपालसिंह
डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र
डॉ० राकेश गुप्त
डॉ० रमेशकुमार शर्मा
डॉ० मक्खनलाल शर्मा

पण्डित जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन-समारोह-समिति,
आगरा की ओर से

भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा-दिल्ली
द्वारा प्रकाशित
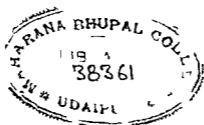
निवेदन

हिन्दी के मूर्धन्य अध्यापक पं० जगन्नाथ तिवारी ने उत्तर भारत की प्राचीनतम शिक्षा संस्था आगरा कॉलिज में तीस वर्ष से भी अधिक अध्यापन कार्य किया है। यह शिक्षापीठ १८२३ में स्थापित हुआ था और तब से लेकर अब तक देश के सभी भागों के विद्यार्थियों को शिक्षा देता आया है। पंडित तिवारी ने इस शिक्षापीठ के हिन्दी-संस्कृत-विभागाध्यक्ष पद पर रह कर जिन सहस्रों विद्यार्थियों को प्रेरणा और ज्ञान दिया है; वे आज भारत के सभी भागों तथा विदेशों में फैले हुए हैं। उनमें से अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं एवं माँ भारती की सेवा में संलग्न हैं। उन्हीं सब शिष्यों तथा पंडितजी के स्नेही जनों की ओर से उनके आगरा कॉलिज से सेवा निवृत्ति के अवसर पर यह निश्चय किया गया था कि श्रद्धा ज्ञापन का कोई सहयोगी प्रयास किया जावे। प्रस्तुत ग्रंथ उसी प्रयास का परिणाम है।

सम्पादक मण्डल के सहयोगी नेतृत्व में इस ग्रंथ का सम्पादन हुआ है तथा हिन्दी के श्रेष्ठ समीक्षकों ने इस अनुष्ठान में अपने-अपने तिल तंदुल समर्पित कर हमें जो गौरव प्रदान किया है। उसके लिए हम उनके प्रति आभार विनत हैं। सम्पादक मंडल के अतिव्यस्त सदस्यों ने जो समय-समय पर हमारा मार्ग दर्शन किया है तथा हमें जो सक्रिय सहयोग प्रदान किया है, वह अपने में एक इन्द्रधनुषी सतरंगी अनुभूति है। धन्यवाद ज्ञापन जैसी तुच्छ अभिव्यक्ति द्वारा सम्पादक-मण्डल का अपमान नहीं करूँगा, क्योंकि इसमें जो कुछ भी स्पृहणीय है, उन्हीं की देन है।

इस अभिनन्दन-ग्रंथ के दो खंड हैं। प्रथम खंड में आदरणीय तिवारीजी का डॉ० रामगोपालसिंह चौहान द्वारा लिखित जीवन-परिचय है और द्वितीय खण्ड में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गए श्रेष्ठ समीक्षात्मक निबन्ध हैं। पं० तिवारी का घनिष्ठ सम्बन्ध काव्यालोचन से रहा है। अतः यह निर्णय किया गया कि उनका अभिनन्दन इसी विषय के ग्रंथ द्वारा होना समुचित होगा। काव्यशास्त्रीय खण्ड में संस्कृत, हिन्दी तथा पाश्चात्य काव्यसिद्धान्तों का व्यापक और तुलनात्मक स्तर पर विश्लेषण और आकलन हो—ऐसा प्रयास किया गया है।

सम्पादक-मण्डल द्वारा पहले यह निर्णय किया गया था कि संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ मूल-ग्रंथ का एक भाग रहेंगी, किन्तु आगे चलकर ग्रंथ का आकार बढ़ जाने के कारण उन्हें अपना निश्चय बदलना पड़ा और अब उन्हें समारोह अवसर पर विशेष रूप से प्रकाशित पत्रिका में सम्मिलित किया जायगा। आशा है इसके लिए सम्बन्धित लेखक हमारी विवशता को समझकर क्षमा प्रदान करेंगे।

समस्त भारत तथा विदेशों में फैले पंडित जी के असंख्य शिष्यों का यह अकिंचन प्रयास (जिसमें सहस्रों ने तन, मन और धन दिया है) उनकी गुरु गरिमा का तो पासंग भी नहीं है। हाँ, जीवन भर इस प्रकार के आयोजनों से प्रयत्नपूर्वक अपने को बचाकर चलने वाले 'गुरुजी' जो इस बार हमारी पकड़ में आ सके उसका कारण उनकी शिष्य वत्सलता है। मुझे प्रारम्भ से ही लगा है कि इस सबके द्वारा पंडित-जी के शिष्य अपने को ही गौरवान्वित कर रहे हैं और पंडितजी इसके निमित्त बनाए गए हैं। धन्य है! उनकी शिष्यवत्सलता कि उन्होंने शिष्यों के तोष के लिए इस सीमा तक उतरना (हम तो उतरना ही समझते हैं) स्वीकार कर लिया है।

अन्त में समिति की ओर से इस ग्रंथ के प्रकाशक बाबू श्यामलालजी गुप्त (प्रोप्राइटर एस० चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली) और उनकी प्रकाशन संस्था के हिन्दी-अधिकारी श्री भीमसेनजी का आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने अपने अनेक अधिक आर्थिक महत्त्व के कार्यक्रमों को रोक कर इस ग्रंथ का हार्दिकता युक्त इतना सुन्दर प्रकाशन कराया है। आगरा फाइन आर्ट प्रेस के प्रोप्राइटर श्री गुलाबसिंह यादव ने जिस सक्रियता और कलात्मकता का परिचय दिया है, वे भी उसके लिए साधुवाद के अधिकारी हैं। अपने समस्त मित्रों, सहयोगियों तथा शुभचिन्तकों का आभारी हूँ जो इसकी प्रेरणा रहे हैं। इतिशुभम्।

४, उत्तर विजयनगर,
आगरा-४।
१९६६, जनवरी।

मक्खनलाल शर्मा
मंत्री,
पं० जगन्नाथ तिवारी-अभिनन्दन
समारोह-समिति, आगरा।

भूमिका

राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद भारतीय-संस्कृति और साहित्य के विकास के लिए व्यापक प्रयास का होना स्वाभाविक ही था। इस प्रयास के लिए वातावरण भी अधिक अनुकूल था और उसमें अधिक शक्ति सम्मिलित रूप से लगाई जा सकती थी। इसीलिए भारतीय संस्कृति और साहित्य की अन्य धाराओं के समान ही हिन्दी-साहित्य का विकास भी अनेक दिशाओं में होने लगा। लेकिन स्वाधीन होते ही हमारे सामने आत्मीक्षण का भी गम्भीर अवसर आया जिसके आग्रह से हमने भारतीय साधना को तटस्थ, वस्तु परक दृष्टि से देखने की कोशिश की। और इस कोशिश से हमें यह ज्ञात हुआ कि जीवन-साधना के सभी क्षेत्रों में व्यापक और गम्भीर रूप से कार्य करने की अपेक्षा है। इसी से भारतीय-काव्यशास्त्र पर नई दृष्टि से कार्य आरम्भ हुआ।

भारतवर्ष में काव्यशास्त्र की एक दीर्घ और महान परम्परा रही है। लेकिन उसके सभी मूल्यवान तत्व मूल रूप में संस्कृत में सुरक्षित रहे। ऐसी स्थिति में पहला कार्य तो यह किया गया कि उन सभी तत्वों की परम्परावादी दृष्टि से व्याख्या आरम्भ हुई। काव्यशास्त्र के विविध पहलुओं पर अलग-अलग विद्वानों ने ठोस काम किया और सभी महत्वपूर्ण पुराने सिद्धान्तों की विशद व्याख्याएँ हमारे सामने आईं। लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट होने लगा कि काव्यशास्त्रीय परम्परा की इन व्याख्याओं का होना ही पर्याप्त नहीं है। उसके सही मूल्यांकन के लिए दो प्रकार के प्रयासों की आवश्यकता थी। पहली तो यह कि पुराने काव्यमूल्यों को वर्तमान जीवन और साहित्य के परिवेश में रखकर देखा जाए, जिससे आज के काव्य-मूल्यों के निर्माण के काम में उनसे ठीक-ठीक सहायता ली जा सके। इसके साथ ही एक दूसरी रीति के अध्ययन की ही आवश्यकता थी। मनोविज्ञान आदि अन्य विषयों में, जो नए सिद्धान्तों की स्थापना हुई थी उनके प्रकाश में भारतीय काव्य-सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या का होना भी अनिवार्य था। इस दिशा में भी कई प्रयास हुए और नवीन ज्ञान के प्रकाश में पुराने भारतीय काव्य-सिद्धान्तों की व्याख्या और मूल्यांकन किया गया।

आधुनिक युग में विदेशों में जो काव्य-चिन्तन का विकसित रूप दिखाई देता है,

उसके समकक्ष भारतीय काव्य चिन्तन को रखना ही जरूरी था। इस प्रकार तुलनात्मक काव्य शास्त्र का उदय हुआ जिसमें भारतीय काव्य मूल्यों की व्याख्या के विदेशी काव्य मूल्यों की समीक्षा की गई और दोनों की तुलना की पृष्ठभूमि पर अन्तर्गत संशोधित या नवीन काव्य मूल्यों के निर्माण का प्रयास किया गया। इस प्रकार आज के भारत के काव्यशास्त्रीय अध्ययन में इन सभी रीतियों पर कार्य किया जा रहा है।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रंथ में जो निबन्ध संकलित किए गए हैं। प्रधान रूप में भारतीय काव्यशास्त्र की परिधि में आते हैं। इन निबन्धों में उपर्युक्त तीनों दृष्टियों का उपयोग किया गया है। यह प्रयास किया गया है कि काव्यशास्त्र की सभी मुख्य समस्याओं को लेकर आज हिन्दी के काव्यशास्त्र में जो अध्ययन हो रहा है उसका एक चित्र उपस्थित किया जा सके।

प्राय यह सवाल किया जाता है कि हिन्दी का अपना काव्यशास्त्र कौनसा है? ऐसा प्रश्न करने वाले यह मानकर चलते हैं कि हिन्दी-काव्यशास्त्र में या तो संस्कृत के काव्यशास्त्र की व्याख्या होती है या पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की। इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दी काव्यशास्त्र में उक्त दोनों धाराओं से बहुत कुछ लिया गया है। लेकिन हिन्दी के काव्यशास्त्र में जो मौलिक चिंतन किया गया है वह विशेष महत्व रखता है। प्रत्येक महत्वपूर्ण काव्य मूल्य के विषय में हिन्दी के काव्यशास्त्रियों में नवीन-मौलिक धारणाएँ व्यक्त की गई हैं। प्रस्तुत ग्रंथ से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

आज के सन्दर्भ में उत्तरदायित्व एक क्षेत्रीय भाषा का उत्तरदायित्व नहीं है। उस से यह आशा की जाती है कि वह क्षेत्रीय या राष्ट्रीय ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय चेतना और साधना को व्यक्त करने का एक समर्थ माध्यम बने। यह तभी सम्भव होगा जब हिन्दी के चिन्तक का दृष्टिकोण व्यापक होगा और उसका चिन्तन किसी भौगोलिक या सामयिक सीमा में बद्ध नहीं होगा। इसलिए यह सन्तोष की बात है कि हिन्दी का काव्यशास्त्र प्राचीन और नवीन भारतीय और विदेशी सभी तत्वों को नवीन दृष्टि में एक साथ आत्मसात् करने का प्रयास कर रहा है।

सम्पादक मण्डल की ओर से—

पं० जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन समारोह स्वागत-समिति; आगरा।

अध्यक्ष

श्री कल्याणदास जैन, महापौर आगरा

उपाध्यक्ष

१ पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल
२. बाबू रामचन्द्र गुप्त
३. पं० श्रीराम शर्मा
४. उपकुलपति, आगरा विश्वविद्यालय (पदेन)
५. अध्यक्ष, आगरा कॉलिज, प्रबन्ध समिति (पदेन)
६. डा० मनोहर रे
७. श्री रामप्रसाद पोद्दार

सदस्य

१. डॉ० हरिशंकर शर्मा
२. पं० बनारसीदास चतुर्वेदी
३. पं० जगनप्रसाद रावत
४. श्री शिवप्रसाद गुप्त
५. पं० कैलासचन्द्र मिश्र
६. प्रो० बाबूराम गुप्त
७. डॉ० जगदीशशरण गुप्त
८. पं० श्योबरन सिंह
९. डॉ० सत्यनारायण दुबे
१०. डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र
११. डॉ० रामगोपाल सिंह चौहान
१२. डॉ० किरणकुमारी गुप्त
१३. श्री देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
१४. श्री राजकिशोर सिंह
१५. श्री सुरेशचन्द्र शर्मा
१६. डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
१७. श्री सोम ठाकुर
१८. डॉ० ओम्प्रकाश
१९. श्री रामबाबू वर्मा
२०. श्री बालकृष्ण अग्रवाल 'बालोजी'

२१ डा० बी० के० दुबे
२२ श्री देवकीनन्दन विभव
२३ श्री हरिहरनाथ अग्रवाल
(अध्यक्ष, आगरा प्रकाशक संघ)
२४ पं० शम्भूनाथ चतुर्वेदी
२५ पं ज्योतिप्रसाद उपाध्याय
२६ श्री महेन्द्रजी
२७ पं अमृतलाल चतुर्वेदी
२८ श्री आदिराम सिंघल
२९ सेठ अचलसिंह
३० श्री दिगम्बर सिंह
३१ पं० राजनाथ कुंजरू
३२ श्री प्रकाशनरायण शिरोमणी
३३ श्री भूपेन्द्रनाथ माहेश्वरी
३४ श्री पी० के० तैलंग
३५ श्री लक्ष्मीनारायण बंसल
३६ डॉ० एस० सी० सरकार
३७ श्री खेमचन्द
३८ डॉ० रामचरणसिंह
३९ श्री रामस्वरूप अग्रवाल
४० श्री कृष्ण प्रसाद भार्गव
४१ श्री प्रतापनरायण अग्रवाल
४२ श्री ब्रजराजसिंह
४३ श्री रामसिंह चौहान
४४ श्री राजकुमार शर्मा
४५ पं० ऋषीकेश चतुर्वेदी
४६ डॉ० रामविलास शर्मा
४७ श्री हरीलाल अग्रवाल
४८ श्री विद्याशंकर शर्मा
४९ श्री भगवान सिंह फौजदार
५० डॉ० हरिहरनाथ टंडन
५१ डॉ० टीकमसिंह तोमर
५२ डॉ० प्रकाशनारायण गुप्त
५३ डॉ० माताप्रसाद गुप्त
५४ डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
५५ प्रो० रमाकान्त चतुर्वेदी
५६ पं० गयाप्रसाद शर्मा
५७ डॉ० निहालकरण सेठी
५८ पद्मश्री पी० टी० चाण्डी
५९ डॉ० एस० एम० सिंह
६० डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त
६१ उपाध्यक्ष, आगरा कॉलिज
प्रबन्ध समिति (पदेन)

संयोजक
डॉ० रमेशकुमार शर्मा

मंत्री
डॉ० मक्खनलाल शर्मा

कोषाध्यक्ष
डॉ० ओंकारप्रसाद महेश्वरी

विषयानुक्रमणिका

पं० जगन्नाथ तिवारी : व्यक्तित्व

भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त

पं० जगन्नाथ तिवारी : व्यक्तित्व

श्रीयुत प्रियवर 'जगन्नाथ' पण्डितवर वंदित,
चिरजीवहु इहि भाँति रहौ नित नित अभिनन्दित ।
भरहु भारती-भवन, रुचिर रचना नित नव रुचि,
जिनहिं निहारि निहारि हारि जावैं बुध-सिर लचि ॥
मित्र तिवारी जू तुमहिं आसिष देत 'रसाल',
सुख-सम्पति-संतति सहितु नित प्रति रहहु निहाल ॥

—'रसाल'

स्तवन

जगत के नाथ ह्वै कै नाथत हैं दुष्टनि कौं
मीतनि के प्रानहि प्रमान बने प्रीत के ।
नीति के निधान, सत्य-सील तें प्रकासमान
ज्ञानिनि के ज्ञान, भयमोचन हैं भीत के ॥
निबल कौं साथ, तम-तोमहि प्रभात देत,
सिस्यनि के सीसनि असीस देत जीत के ।
देखिए जु दूरि तें दिखात हैं हिमाचल-से,
नेरे ह्वै निहारिए तौ सिन्धु नवनीत के ॥

—सोम ठाकुर

पण्डित जगन्नाथ तिवारी

पं० जगन्नाथ तिवारी : व्यक्तित्व

पंडित जगन्नाथ तिवारी—*मझोला कद, गठा हुआ शरीर ;* जिसकी प्रत्येक शिरा आन्तरिक ओज से उभरी हुई है; संयम की कान्ति से प्रदीप्त रक्ताभ गौरवर्ण। प्रभावशाली व्यक्तित्व की द्योतक नुकीली ठोढ़ी और नुकीली नासिका। नासिका के पार्श्व में स्थित दो दिव्य ज्योति केन्द्र—जिनसे बासठ वर्ष के अनुभव की गहराई ; ममता और स्नेह, करुणा, दया और उदारता के मानवीय भाव, व्यक्ति की परख का पैनापन, स्थितियों की समझ की अनुपम सूझ-बूझ, ज्ञान की आभा, पाण्डित्य का तेज, अन्याय और अत्याचार के तीव्र विरोध के रोष की लाली तथा सत्य के आग्रह की सात्विक निश्छल दृढ़ता और निर्भीकता की मिश्रित आभा विकीर्ण होती रहती है। भव्य ललाट पर पड़ी जीवन के दीर्घ अनुभव की लकीरें निश्चय और सिद्धान्त की दृढ़ता एवं संकल्पशीलता तथा अडिग व्यक्तित्व की द्योतक है। मुख-मण्डल पर सौम्यता, सरलता, गम्भीरता और निर्भीकता का अपूर्व मिश्रण, पतले अधरों पर सहज और निश्छल मुस्कान। इन विशेषताओं से अभिमण्डित व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति को कुर्ता, धोती और गाँधी टोपी की सादी वेश-भूषा में देखकर सहज ही पहचाना जा *सकता है कि यह है—पं० जगन्नाथ तिवारी।*

* * *

बचपन और प्रारम्भिक शिक्षा

तिवारीजी का जन्म पहली जुलाई सन् १६०२ को बलिया जिले में स्थित सुजानीपुर ग्राम में एक ब्राह्मण कृषक के *सामान्य परिवार में हुआ था। पं०* जगन्नाथ तिवारी के पिता **पं० रामप्रसाद तिवारी** अत्यन्त ही सरल स्वभाव के भोले और सीधे-सादे ग्रामीण थे। खेती ही उनकी प्रमुख आजीविका थी। उनकी शिक्षा केवल धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने तक ही सीमित थी। रामायण से उन्हें विशेष अनुराग था। वे धार्मिक विचारों और सात्विक भावों के व्यक्ति थे, जिनके विचारों पर रामायण का बहुत प्रभाव था। वे जीवन का हर कार्य धार्मिक पवित्रता की दृष्टि से करते थे। दूसरों का दुःख-दर्द देखकर उनका हृदय बड़ी जल्दी विचलित

हो जाता था और वे अपनी शक्ति भर उसे बँटाने का प्रयत्न करते थे। अपने पिताजी की ये सारी विशेषताएँ तिवारीजी को संस्कार रूप में प्राप्त हुई हैं।

अपने पुत्र जगन्नाथ पर उनका विशेष स्नेह था और उन्हें पढ़ाने के प्रति उनका विशेष आग्रह था। वे कहा करते थे— चाहे कुल्हिया बिकाई जाय लाली एकरा के पढ़ाइब जरूर। बालक जगन्नाथ का पढ़ने में मन नहीं लगता था। अपने पिताजी से बालक जगन्नाथ को पढ़ने के पीछे काफी ताड़ना सहनी पड़ी और प्रायः मार भी खानी पड़ी। पिताजी जितना ही पढ़ने पर जोर देते बालक जगन्नाथ का मन पढ़ने से उतना ही उचटता। पढ़ने की अपेक्षा शारीरिक श्रम करने में उनका मन अधिक लगता था। किन्तु प० रामप्रसाद तिवारी अपने पुत्र को उच्च शिक्षा देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे—सम्भवतः उन्हें अपने पुत्र के उज्ज्वल भविष्य का आभास हो गया था।

बालक जगन्नाथ अभी लगभग ९ या १० वर्ष के ही थे। अपने पिताजी के हर प्रयत्न के बावजूद भी वे पाठशाला से भाग जाया करते थे। उन्हीं दिनों की बात है, शायद सन् १९११ की कि स्कूलों में पढ़ने वाले छोटे बच्चों को पंचम जार्ज की आकृति-अंकित मेडिल प्रदान किये गये। यद्यपि उस समय बालक जगन्नाथ शिक्षा के प्रति अपनी बाल-सुलभ अनिच्छा के कारण नियमित रूप से पाठशाला नहीं जा रहे थे फिर भी पाठशाला के स्नेही गुरु प० बाँकेलाल द्विवेदी ने बालक जगन्नाथ को भी एक मेडिल लाकर दिया। उस मेडिल को पाकर बालक जगन्नाथ के मन में शिक्षा के प्रति एक बाल-सुलभ कौतूहलपूर्ण आकर्षण जागा और उस दिन के बाद से फिर कभी उन्होंने पाठशाला से मुँह नहीं चुराया और एक-एक वर्ष में दो-दो तीन-तीन कक्षाएँ पास कीं। शिक्षा से मुँह चुराने वाला बालक जगन्नाथ प० जगन्नाथ तिवारी बन हिन्दी साहित्य के एक प्रकाण्ड विद्वान् और श्रेष्ठ शिक्षक के रूप में सफलता के सर्वोच्च शिखर पर आसीन हो गया।

प० जगन्नाथ तिवारी के व्यक्तित्व में निश्चय ही बचपन से ही कुछ ऐसा था जिसका आभास पाकर पंडितजी के पिताजी अपने पुत्र की अनिच्छा को देखकर भी उसे पढ़ाने के निश्चय पर दृढ़ बने रहे और प० बाँकेलाल द्विवेदी भी पाठशाला से भाग जाने वाले जगन्नाथ को शिक्षा के प्रति आकर्षित करने के लिए ही उत्सुक हो उसे मेडिल देने घर गये।

शिक्षा के प्रति इस नये लगाव को उत्पन्न करने में प० बाँकेलाल द्विवेदी का बड़ा हाथ था। द्विवेदीजी हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के चाचा थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और प० जगन्नाथ तिवारी पाठशाला में एक साथ थे किन्तु द्विवेदीजी तिवारीजी से तीन कक्षाएँ पीछे थे। एक आदर्श

शिक्षक के रूप में पं० बाँकेलाल द्विवेदी की छाप आज भी पंडित जगन्नाथ तिवारी के हृदय पर अमिट है।

उच्च शिक्षा

गाँव की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के बाद तिवारीजी आगे पढ़ने के लिए बलिया आ गये और गवर्नमेंट हाई स्कूल के छात्र के रूप में सन् १९२१ में उन्होंने द्वितीय श्रेणी में हाई स्कूल परीक्षा पास की।

यद्यपि पारिवारिक आर्थिक कठिनाइयाँ निरन्तर आगे की शिक्षा में बाधक बन रही थीं, किन्तु पिता की अपने पुत्र को आगे पढ़ाने की अडिग लालसा और स्वयं तिवारीजी के अपने मन में शिक्षा के प्रति लगन ने सदैव उन बाधाओं को किसी-न-किसी रूप में दूर किया। उन दिनों डिप्टी इन्सपैक्टर आफ स्कूल्स पं० जगन्नाथ मिश्र द्वारा प्राप्त प्रोत्साहन ने आर्थिक संकटों का सामना करने में तिवारीजी को बड़ा मनोबल प्रदान किया। लेकिन विधि की विडम्बना थी कि हाई स्कूल में द्वितीय श्रेणी पाने की निराशा ने पं० तिवारीजी के मन को इतना झकझोर दिया कि आगे की शिक्षा के प्रति उनके मन में एक विरक्ति-सी उत्पन्न हो गयी।

बालक जगन्नाथ अब युवक जगन्नाथ तिवारी हो गये थे। देश के जीवन को तरंगित करने वाले राष्ट्रीय जागरण की लहर ने देश के सहस्रों युवकों की भाँति उनको भी आन्दोलित किया। कुछ तो हाई स्कूल में द्वितीय श्रेणी पाने की निराशा, और फिर आगे की शिक्षा में आर्थिक कठिनाइयाँ, इन कारणों के पुञ्जीभूत प्रभाव से डाँवाडोल मन को असहयोग आन्दोलन में अनेक युवकों द्वारा शिक्षा छोड़ देने की घटनाओं से प्रोत्साहन मिला और पंडितजी आगे पढ़ना छोड़ नौकरी की तलाश में लग गये।

नौकरी की तलाश में भटकते हुए तिवारीजी लखनऊ में आकर टाइप का काम सीखने लगे। लेकिन शीघ्र ही टाइप के काम से उन्हें अरुचि उत्पन्न हो गयी और उस काम को छोड़कर वे फिर नौकरी की तलाश में भटकने लगे। उन्हीं दिनों की एक घटना है जो पंडितजी के निर्भीक स्वभाव पर प्रकाश डालती है। नौकरी की तलाश में पंडितजी बहुत परेशान थे कि एक दिन कलक्टर श्री लक्ष्मण साठे घोड़े पर जाते हुए दिखाई दिये। पंडितजी ने आगे बढ़कर उन्हें रोक लिया और उनके घोड़े की लगाम पकड़कर खड़े हो गये और बोले—'मुझे नौकरी चाहिए।' कलक्टर निर्भीकता से प्रभावित हुआ और पंडितजी को सान्त्वना देते हुए समझाया कि व्यापार करो।

इन्हीं दिनों सन् १९२२ की बात है तिवारीजी अपनी ससुराल गये हुए थे। वहाँ वे एक दिन गंगास्नान करने गये तो घाट पर एक ज्योतिषी से उनकी भेंट हो गई। स्वाभाविक कौतूहल पण्डितजी को अनायास उसके पास ले गया। उसकी बातों का पण्डितजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा क्योंकि उस समय जीवन की विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए पण्डितजी के उद्विग्न मन को एक सान्त्वना की आवश्यकता थी। उस ज्योतिषी ने तिवारीजी को बतलाया कि तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। उससे प्रेरित और प्रोत्साहित हो तिवारीजी आगे पढ़ने के नये सकल्प के साथ बनारस चले आये और वहाँ रहकर क्रमश: बी० ए० हिन्दी एवं संस्कृत में एम० ए० तथा संस्कृत में मध्यमा और शास्त्री की परीक्षाएँ पास कीं। सन् १९२५ में मध्यमा प्रथम श्रेणी में पास किया और विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम रहे। सन् १९२६ में बी० ए० प्रथम श्रेणी में पास किया। सन् १९२८ में प्रथम श्रेणी में शास्त्री की परीक्षा पास की और उसी वर्ष द्वितीय श्रेणी में संस्कृत में एम० ए० पास किया तथा विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १९२९ में प्रथम श्रेणी में हिन्दी एम० ए० पास किया और विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया।

विवाह और पारिवारिक जीवन

हाई स्कूल की परीक्षा पास करने के बाद ही प० जगन्नाथ तिवारी का बलिया जिले के सियन शिवपुर नौरंगा गाँव में विवाह हो गया। श्वसुर परिवार अत्यन्त साधारण स्थिति का था। श्वसुर महोदय का स्वर्गवास हो चुका था। परिवार के लालन-पालन का सारा कार्य भार विधवा सास पर ही था। पण्डितजी के विवाह पर ससुराल की ओर से जो तिलक आया था उसे अपनी इच्छा के अनुकूल न पाकर पंडितजी के पिताजी ने उसे अस्वीकार कर दिया। तिवारीजी को अपनी ससुराल की विषम आर्थिक स्थिति का ज्ञान पहले ही हो चुका था और अपनी विधवा सास के प्रति उनके सहृदय मन में सहानुभूति उत्पन्न हो गयी थी। पण्डितजी के मन में निर्भीकता से न्याय का पक्ष लेने और दूसरों के प्रति सहज सहानुभूति की उदारता के जो संस्कार छिपे पड़े थे उन्हें पहली बार उभरने का अवसर मिला। पुत्र जगन्नाथ ने अपने पूज्य पिता के इस दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह कर दिया। उन्होंने कहा कि अगर मेरा विवाह होगा तो वहीं होगा नहीं तो मैं विवाह नहीं करूँगा। वृद्ध पिता ने अपने पुत्र की विद्रोही भावनाओं को समझ अन्त में वहीं विवाह करने की अनुमति दे दी। पण्डितजी का दीर्घ वैवाहिक जीवन अत्यन्त सुखद शान्तिपूर्ण और परस्पर सहयोग का रहा है। पंडितजी को अपने जीवन की एक भी ऐसी घटना याद नहीं है जब उनके और उनकी पत्नी के बीच किसी बात पर कटुता या गलतफहमी पैदा हुई हो।

पंडितजी की पत्नी प्राचीन नारी आदर्शों को मानने वाली धर्मपरायण स्त्री हैं। उनका नाम भी पुराने ढंग का है—श्रीमती राजधरिया, और विचार तथा संस्कार भी पुराने हैं। वे अत्यन्त सरल और स्नेही स्वभाव की स्त्री हैं। सफल गृहणीत्व में ही उनके नारी व्यक्तित्व की पूर्णता है। पति और उनके परिवार से बाहर उनके जीवन की कोई गति नहीं है। पंडितजी की छोटी-से-छोटी सुख-सुविधा का ध्यान रखना, पारिवारिक शान्ति बनाये रखना, गृहस्थी का सुचारु संचालन और सन्तान के स्नेहपूर्ण किन्तु अनुशासनपूर्ण लालन-पालन में ही उनके जीवन की एक मात्र सार्थकता है।

पंडितजी का न केवल दाम्पत्य जीवन ही सुख और सन्तोष से परिपूर्ण रहा है, वरन् पारिवारिक जीवन भी अत्यन्त सुखी, शान्तिपूर्ण और सन्तोषपूर्ण रहा है। पंडितजी को एक शान्त, सन्तोषी और सुखी विशाल परिवार के प्रधान होने का सौभाग्य प्राप्त है। पंडितजी दो भाई है। पंडितजी बड़े हैं, आपके छोटे भाई हैं—श्री कपिलदेव तिवारी। श्री कपिलदेव तिवारी गाँव में रहकर खेती-बाड़ी का काम सम्हालते हैं। यद्यपि पंडितजी बहुत कम और कभी-कभी ही गाँव जा पाते हैं, फिर भी पंडितजी के आदेश और अनुमति के बिना वहाँ भी कोई काम नहीं होता। दोनों भाइयों में राम-भरत जैसा स्नेह-सम्बन्ध है। पंडितजी की एक छोटी बहन भी हैं। तिवारीजी के स्वयं के परिवार में चार पुत्र और चार पुत्रियाँ है। सबसे बड़े पुत्र डा० रामचन्द्र तिवारी एम० बी०, बी० एस०, पी० एम० एस० सरकारी डाक्टर है। उनसे छोटे श्री कृष्णचन्द्र तिवारी मवाना शुगर मिल में लेबर वेलफेयर अफसर हैं। तीसरे पुत्र डा० हरिश्चन्द्र तिवारी वेटरनरी डाक्टर हैं। चौथे पुत्र श्री सतीशचन्द्र तिवारी अभी शिक्षा प्राप्त कर रहे है।

पंडितजी के इन पारिवारिक सदस्यों के अतिरिक्त पंडितजी द्वारा पाली गयीं गाय और भैंस भी आपके परिवार की सदस्य जैसी ही हैं; क्योंकि उनके प्रति पंडितजी का स्नेह परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा कम नहीं है। मोटी मलाईदार दही खाना पंडितजी को बहुत प्रिय है। आपका कहना है कि "इस आयु में भी मेरे अच्छे स्वास्थ्य का आधार मलाईदार दही और शुद्ध दूध है। काश्मीर जाने पर सबसे अधिक कष्ट इन्हीं का हो गया है।"

नित्य सुबह-शाम काफी दूर तक टहलना और अवकाश के समय बगीचे में काम करना पंडितजी का दिनचर्या है। स्वदेशी बीमानगर स्थित अपने घर से राजामण्डी के चौराहे तक गांधी मार्ग पर अपने साथ धूमने वाले साथियों के बीच पंडितजी के उन्मुक्त अट्टहास की गूँज दूर से ही पता दे देती है कि पंडित जगन्नाथ तिवारी अपनी मित्र-मण्डली के साथ इधर घूम रहे हैं।

सहपाठी और गुरुजन

पंडितजी के अनेक सहपाठी आज जीवन के अनेक क्षेत्रों में ऊँचे पदों पर आसीन हैं। आर्य हाई स्कूल के एक सहपाठी मित्र श्री रामचरनसिंह की स्मृति आज भी पंडितजी के मन को स्नेह से गद्गद कर देती है। यों तो पंडितजी का मित्र-मण्डल और परिचय-क्षेत्र बड़ा विस्तृत है परन्तु श्री रामचरनसिंह उनके एक मित्र हैं जिनसे मिलने के लिए उनका मन आज भी लालायित रहता है। आपके अनेक सहपाठी आपके समान ही अध्यापन-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री नरोत्तम स्वामी, डा० हरिहरनाथ टण्डन, श्री अम्बिका दत्त उपाध्याय, श्री चन्द्रशेखर पांडेय आदि।

तिवारीजी को श्री ए० बी० ध्रुव, प्रो० नीलकमल भट्टाचार्य, पं० बटुकनाथ शर्मा, पं० बल्देव उपाध्याय आदि से संस्कृत और पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम-सुन्दर दास, लाला भगवानदीन, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि से हिन्दी पढ़ने का सौभाग्य मिला है। पं० जगन्नाथ तिवारी के अध्यापन में इन सभी की ज्ञान-गरिमा, स्पष्टता और विवेचन की गहराई का मणि-काञ्चन संयोग है।

अध्यापक-जीवन

अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद पंडित जगन्नाथ तिवारी ने अध्यापक रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया और तब से अब तक उनके जीवन के लगभग ३६-३७ वर्ष एक सफल अध्यापक के रूप में व्यतीत हुए हैं। बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि उनका सारा व्यक्तित्व एक सफल, श्रेष्ठ और आदर्श अध्यापक का व्यक्तित्व है। पंडितजी के अध्यापक-जीवन के तैंतीस वर्ष का दीर्घ काल आगरा कालेज के हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य करते हुए व्यतीत हुआ है। आगरा कालेज में आपके अध्यापक-जीवन की दीर्घ-परम्परा अत्यन्त गौरवशाली रही है। इस पूरे काल में विभाग का परीक्षाफल शत प्रतिशत ही नहीं रहा, वरन् यह आगरा विश्वविद्यालय भर में सर्वोत्तम रहा है। आगरा कालेज के हिन्दी-एम० ए० के विद्यार्थी सबसे अधिक प्रथम श्रेणी और विशिष्टता प्राप्त करते रहे हैं। आपके सुचारु संचालन और निर्देशन में आगरा कालेज का हिन्दी विभाग न केवल आगरा कालेज के अन्य विभागों की तुलना में वरन् विश्वविद्यालय भर में एक आदर्श विभाग रहा है। विभाग का परस्पर सहयोग और सद्भावपूर्ण वातावरण एवं अध्यापन कार्य के प्रति उत्तर-दायित्व का निर्वाह अन्य विभागों के लिए स्पर्धा का विषय रहा है। यही नहीं कालेज के विद्यार्थियों पर सबसे अधिक अनुशासन पंडित जगन्नाथ तिवारी और उनके विभाग का रहा है। पंडितजी अनुशासन के प्रति बड़े ही कठोर रहे हैं। उन्होंने न तो स्वयं

कभी अध्यापन कार्य में ढील दी और न उन्हें किसी अन्य अध्यापक द्वारा अध्यापन में ढिलाई करना पसन्द रहा। न सिर्फ हिन्दी-विभाग के वरन् कालेज के अन्य विभागों के अध्यापक भी सदैव पंडितजी के प्रति सम्मान एवं श्रद्धापूर्ण भय से सशंकित रहते थे कि कहीं उनकी कोई ढिलाई पंडितजी के सामने प्रकट न हो जाय। इसी प्रकार विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता या अध्ययन के प्रति उदासीनता उन्हें सहन नहीं हुई। विद्यार्थी की अनुशासनहीनता पर उसे कठोर दण्ड देने में वे कभी नहीं हिचके; किन्तु कभी किसी विद्यार्थी का उन्होंने नुकसान नहीं किया। उनका दण्ड और कठोरता भी जीवन-निर्माण की शुभकामना लिये हुए रहता है, इसीलिए तिवारीजी की कठोरता भी सदैव वरदान सिद्ध हुई है। यही कारण है कि पंडितजी को कालेज के समस्त अध्यापकों और विद्यार्थियों से वैसा ही सम्मान और आदर मिला, जैसा किसी पिता को अपनी सन्तान से मिलता है। पंडितजी के जीवन में अनेक ऐसे अवसर आये हैं जब उन्हें अपने अध्यापक सहयोगियों या विद्यार्थियों के हितों को लेकर कालेज और विश्वविद्यालय के अधिकारियों से संघर्ष करना पड़ा है। इस प्रकार के संघर्षों में बहुधा तिवारीजी को व्यक्तिगत हानि उठानी पड़ी है, किन्तु कोई हानि उन्हें विचलित नहीं कर पाई। उनका सारा अध्यापक-जीवन एक संघर्ष का जीवन रहा है, लेकिन वह संघर्ष अपने निजी हितों को लेकर नहीं रहा, वरन् विभाग की उन्नति और अपने साथियों तथा विद्यार्थियों के व्यापक हितों को लेकर रहा है।

तिवारीजी की कार्य-दक्षता और कार्य-क्षमता केवल विभाग के सुचारु संचालन, श्रेष्ठ अध्यापन और विद्यार्थियों पर अनुशासन तक ही सीमित नहीं रही, पंडितजी ने अपने इस दीर्घ कार्य-काल में आगरा कालेज और विश्वविद्यालय की अनेक कमेटियों और महत्त्वपूर्ण पदों पर भी पूरी दक्षता और क्षमता से कार्य किया है। कालेज में पंडितजी ने छात्र-संघ के उपसंरक्षक, गेम्स सेक्रेटरी, होस्टलों के चीफ वार्डन आदि पदों पर कार्य किया है और अनेक बार आपको स्थानापन्न प्रिंसिपल का कार्य-भार भी सम्हालना पड़ा है।

आगरा विश्वविद्यालय में तिवारीजी एकेडेमिक काउन्सिल और सीनेट के मेम्बर रहे हैं। रिसर्च डिग्री कमेटी और बोर्ड आफ स्टडीज के कन्वीनर और आर्ट फैकल्टी के डीन भी रहे हैं। इनके अतिरिक्त आपने उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी-समिति तथा हिन्दुस्तानी अकादमी में आगरा विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के बोर्ड आफ स्टडीज के सदस्य रहने का अवसर भी आपको मिला है।

पंडितजी आगरा विश्वविद्यालय के अतिरिक्त बनारस, अलीगढ़, लखनऊ,

राजपूताना, दिल्ली, पंजाब, बिहार विश्वविद्यालयों के पेपर सेटर और परीक्षक रहे हैं। इसके अतिरिक्त आप पी० सी० एस० परीक्षा के भी पेपर सेटर और परीक्षक रहे हैं।

पण्डितजी के दीर्घ अध्यापन जीवन में उनकी शिष्य-परम्परा बड़ी विस्तृत रही है जिसमें से अनेक अध्यापन तथा अन्य प्रशासकीय उच्च पदों पर कार्य कर रहे हैं। इनमें से कुछ प्रमुख हैं— डा० नगेन्द्र—अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, श्री भगवानसिंह चौधरी—दिल्ली नगर निगम के आयुक्त, श्री रामप्रसाद पोद्दार—जनरल मैनेजर सेंचुरी मिल्स बम्बई, श्री पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी—सेल्स कमिश्नर उत्तर प्रदेश, श्री द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी—पाठ्य पुस्तक अधिकारी लखनऊ, गजेन्द्रनाथ चतुर्वेदी—डिप्टी कमिश्नर, डा० छलबिहारीलाल गुप्त 'राकेश'—अध्यक्ष हिन्दी विभाग शानपुर कालेज, श्री शंकर राजू नायडू—अध्यक्ष हिन्दी विभाग मद्रास विश्वविद्यालय, डा० विजयपालसिंह—अध्यक्ष हिन्दी विभाग निरगति विश्वविद्यालय, डा० ओमप्रकाश रीडर दिल्ली विश्वविद्यालय, डा० भगवत् स्वरूप मिश्र—अध्यक्ष हिन्दी विभाग आगरा कालेज, डा० कमलेश—रीडर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, डा० रमेशकुमार शर्मा—रीडर काश्मीर विश्वविद्यालय आदि आदि।

अब तक तिवारीजी के निर्देशन में लगभग एक दर्जन पी-एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त हो चुकी हैं—डा० ओम् प्रकाश कुलश्रेष्ठ, डा० भगवत् स्वरूप मिश्र, डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट, डा० कमलेश, डा० मनोहरलाल गौड़, डा० रमेशकुमार शर्मा, डा० रामगोपाल चतुर्वेदी, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० धर्मप्रकाश गौतम, डा० रामगोपालसिंह चौहान, डा० मक्खनलाल शर्मा तथा डा० आशाप्रसाद माहेश्वरी।

पण्डित जगन्नाथ तिवारी ने एक सफल अध्यापक बनना अपने जीवन का आदर्श बना लिया था, इसीलिए उन्होंने अपने मित्र सहपाठी डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि की तरह साहित्य रचना की ओर ध्यान नहीं दिया। केवल रत्नाकर की संक्षिप्त रामचन्द्रिका का संग्रह और सम्पादन आपने किया है और केवल दो लेख लिखे हैं— 'लाला भगवानदीन और अलंकार' तथा 'तुलसी की भावुकता'। ये दोनों ही लेख साहित्य सन्देश (आगरा) में प्रकाशित हुए थे।

आपने अपना सारा जीवन एक आदर्श अध्यापक के रूप में ही व्यतीत किया है। सत्य के प्रति आग्रह, असत्य के प्रति विद्रोह, अन्याय और अत्याचार का विरोध, सरल स्वभाव, आडम्बररहित जीवन, कर्तव्यनिष्ठा और त्याग पंडितजी के

जीवन के आदर्श रहे हैं और यही अपने विद्यार्थियों के लिए सदैव उनके जीवन-सन्देश रहे हैं।

अध्यापक के रूप में पं० जगन्नाथ तिवारी की विद्वत्ता, सफलता और श्रेष्ठता का ही प्रमाण है कि आगरा कालेज से अभी वह रिटायर भी नहीं हो पाये थे कि उन्हें काश्मीर विश्वविद्यालय में हिन्दी-संस्कृत विभाग की अध्यक्षता का पद प्राप्त हो गया और वहां एक वर्ष पूरा होते-होते आपको काश्मीर विश्वविद्यालय की आर्ट फेकल्टी के डीन बनने का गौरव भी प्राप्त हो गया।

भारतीय तथा पाश्चात्य
काव्य-सिद्धान्त

काव्य की आत्मा

बाबू गुलाबराय

शरीर और आत्मा

शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है, ये दोनों ही अभिन्न-से हैं। अर्थ के बिना शब्द का कुछ मूल्य नहीं—वह डमरू के डिम-डिम से भी कम मूल्य रखता है : डमरू के डिम-डिम से महर्षि पाणिनि द्वारा प्रतिपादित माहेश्वर सूत्रों का जन्म हुआ था—और शब्द के बिना अर्थ का मानव-मस्तिष्क में भी कठिनाई से निर्वाह होता है, इसीलिए तो शब्द और अर्थ की एकता को पार्वती-परमेश्वर की एकता का उपमान बताकर कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने अमर काव्य 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक[1] द्वारा इस अटूट सम्बन्ध को महत्ता प्रदान की थी। शब्द के साथ अर्थ का लगाव है और अर्थ के साथ शब्द का। एक के बिना दूसरे की पूर्णता नहीं, इसीलिए दोनों मिलकर ही काव्य का शरीरत्व सम्पादित करते हैं।

यद्यपि बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना दर्शनशास्त्रियों की बुद्धि-परीक्षा का विषय बन जाता है, तथापि आत्मा के बिना शृंगार की आलम्बन-स्वरूपा ललित लावण्यमयी अंगनाओं के कोमल-कान्त-कमनीय कलेवर भी हेय, त्याज्य और बीभत्स के स्थायी भाव घृणा के विषय बन जाते हैं। अतः हमारे यहाँ के आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है।

---

१. 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥'
—रघुवंश (१।१)

इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—
'गिरा अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउं सीता-राम-पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥'
—रामचरितमानस : बालकाण्ड।

विभिन्न सम्प्रदाय

इस आत्मा-सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर पर काव्य का स्वरूप और उसकी परिभाषा निर्भर है और काव्य की आलोचना भी इससे बहुत अंशों में प्रभावित होती है क्योंकि आलोचना के मान भी काव्य के आदर्श पर ही निर्भर रहते हैं। इस सम्बन्ध में प्राय पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख होता है। काव्य के विभिन्न अंगों में से किसी एक पर बल देने और महत्त्व प्रदान करने के आधार पर ही ये सम्प्रदाय अस्तित्व में आये हैं किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कोई भी सम्प्रदाय काव्य के इतर अंगों की नितान्त उपेक्षा करता है। इन सम्प्रदायों और इनके प्रवर्तक तथा पोषक आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) अलंकार-सम्प्रदाय	भामह, दण्डी, रुद्रट आदि।
(२) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	कुन्तल या कुन्तक।
(३) रीति-सम्प्रदाय	वामन।
(४) ध्वनि-सम्प्रदाय	ध्वनिकार और आनन्दवर्धन।
(५) रस-सम्प्रदाय	भरतमुनि विश्वनाथ।

अब इन सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जायगा। यह विवेचन रस को ही काव्य की आत्मा मानकर चलेगा और इसके ही आलोक में इनका मूल्यांकन किया जायगा। इन मतों के अतिरिक्त आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की कसौटी माना है।

(१) अलंकार-सम्प्रदाय—अलंकार शोभा को अलं अर्थात् पूर्ण व पर्याप्त करने के कारण अलंकार कहलाते हैं। अलंकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। इसके द्वारा उसके आत्मभाव और गौरव की वृद्धि होती है। यद्यपि अलंकार बाहरी साधन होते हैं तथापि उनके पीछे अलंकृतिकार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है। बाहरी होने के कारण अलंकारों पर ही पहले दृष्टि जाती है इसीलिए अलंकार शास्त्र के इतिहास के प्रारम्भिक काल में अलंकारों का कुछ अधिक महत्त्व रहा है। इस शास्त्र का अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित होना ही अलंकारों की महत्ता का द्योतक है। बहुत से नामों का ऐतिहासिक महत्त्व होता है। यह नाम प्राचीन काल में अलंकार की महत्ता का आवश्यक द्योतक है। पीछे से चाहे अलंकारों की वह महत्ता न रही हो। उत्तर काल में 'साहित्य विद्या' आदि नामों का प्रयोग होने लगा था—'पंचमी साहित्यविद्याधर इति यायावरीय'

(राजशेखरकृत काव्य मीमांसा, पृष्ठ ४), रुय्यक की 'साहित्य मीमांसा' और विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में साहित्य शब्द को ही प्रधानता मिली। फिर भी अलंकार शास्त्र शब्द बहुत प्रचलित है। कुछ आचार्यों ने लिखा है—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ।'
—काव्यादर्श (२।१)

चन्द्रालोककार जयदेवपीयूषवर्ष (१३वीं शताब्दी) ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि कोई काव्य को अलंकार रहित मानता है तो अपने को पंडित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं कहता—

'अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।'
—चन्द्रालोक (१।८)

यहाँ पर 'अनलंकृती' में सभंग यमक का चमत्कार है। पहली पंक्ति में 'अनलंकृती' का अर्थ है अलंकार-रहित और दूसरी पंक्ति में 'अनलं' और 'कृती' अलग-अलग हैं। 'अनल' का अर्थ है अग्नि और 'कृती' का अर्थ है कार्यशील विद्वान्। इसमें मम्मटाचार्य (१२वीं शताब्दी) की दी हुई काव्य की परिभाषा में आये हुए 'अनलंकृती पुनः क्वापि' वाक्यांश पर करारा व्यंग्य है। भामह (६ठी अथवा ७वीं शताब्दी) ने कहा है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।'
—काव्यालंकार (१।१३)

अर्थात् सुन्दर होते हुए भी आभूषणों के बिना वनिता का मुख शोभा नहीं देता। इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए हमारे केशवदासजी (१७वीं शताब्दी) ने भी कहा है—

'जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न विराजइ, कविता बनिता मित्त ॥'
—कविप्रिया (कविता-अलंकार वर्णन १)

इसमें 'कविता', 'वनिता' और 'मित्र' के लिए ऐसे विशेषण दिये गये हैं जो श्लेष द्वारा तीनों के सम्बन्ध में लागू हो सकते हैं। 'सुवरन' का अर्थ 'कविता' के पक्ष

में सुन्दर अक्षर वाला और 'वनिता' तथा 'मित्र' के पक्ष में अच्छे वर्ण (रंग) वाले और इसी प्रकार 'सुवृत्त' का 'कविता' के पक्ष में अच्छे छन्द वाली और 'वनिता' तथा 'मित्र' के पक्ष में अच्छे चरित्र वाले होगा।

ऐसे आचार्यों ने, विशेषकर केशव ने अलंकार शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत किया है। केशव ने अलंकारों में वर्ण्य विषय भी शामिल कर लिये हैं। आचार्य वामन (९वीं शताब्दी) ने 'गुणों को शोभा के कारण' माना है और 'अलंकारों को शोभा को अतिशयता देने वाला' या 'बढ़ाने वाला' कहा है। यह बात नीचे के अवतरणों से स्पष्ट हो जायगी—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।'
'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।'
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (३।१।१, २)

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) ने भी 'अलंकारों को शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म' कहा है और उनको 'कटक' आदि की भाँति शोभा को बढ़ाने वाले तथा 'रस के उपकारक' माना है—

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥'
—साहित्यदर्पण (१०।१)

जब मौड़ की शोभा होती है तभी अलंकार उसे बढ़ा सकते हैं अथवा यों कहिए कि शोभावान् वस्तुओं के साथ ही अलंकार सार्थक होते हैं। दण्डी ने इनको 'शोभा का कर्ता' माना है।

जब तक अलंकार भीतरी उत्साह से द्योतक होते हैं तब तक तो वे शोभा के उत्पन्न करने वाले या बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं, किन्तु जब वे रूढ़ि या परम्परा मात्र रह जाते हैं, तभी वे भार रूप दिखाई देने लगते हैं। अलंकारों का महत्त्व अवश्य है किन्तु वे मूल पदार्थ का स्थान नहीं ले सकते हैं। 'अग्निपुराण' में रस को काव्य का जीवन लिखा है—

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्'
—अग्निपुराण (३३७।३३)

किन्तु उसी ग्रन्थ में अर्थालंकार-प्रसंग में यह भी कहा है कि—

'अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती'
—अग्निपुराण (३४५।२)

इस बात को स्वीकार करते हुए भी हमको यह कहना पड़ेगा कि निर्जीव से विधवा होकर भी जीवित रहना श्रेयस्कर है (प्राचीन आदर्शों के अनुकूल ऐसा नहीं है)। स्वाभाविक शोभा के होते हुए रूपवान् के लिए कोई भी वस्तु अलंकार बन जाती है—

'सरसिज लगत सुहावनो जदपि लियो ढकि पंक।
कारी रेख कलंक हूँ लसति कलाधर अंक।
पहरे वल्कल वसन यह लागति नीकी बाल।
कहा न भूषन होइ जो रूप लिख्यो विधि भाल॥'[1]
—शकुन्तला नाटक (१।२०)

इसीलिए तो बिहारी ने अलंकारों का तिरस्कार करते हुए उन्हें 'दर्पण-के-से मोर्चे' कहा है, फिर भी अलंकार नितान्त बाहरी नहीं हैं, जो जब चाहे पहन लिये जायँ या उतारकर रख दिये जायँ। वे कवि या लेखक के हृदय के उत्साह के साथ बँधे हुए हैं। हमारी भाषा की बहुत-कुछ सम्पन्नता अलंकारों पर ही निर्भर है। वे महात्मा कर्ण के कवच और कुण्डलों की भाँति सहज होकर ही शक्ति के द्योतक बनते हैं।

अलंकार और अलंकार्य—अब प्रश्न यह होता है कि क्या अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं है। इटली के अभिव्यंजनावादी समालोचक क्रोचे अलंकार्य और अलंकार का भेद स्वीकार नहीं करते। वे अलंकारों को ऊपर से आरोपित नहीं मानते। 'यह चादर सफेद है' यह एक वाक्य है। जब हम यह कहते हैं

---

१. राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुन्तला नाटक से उद्धृत ये पंक्तियाँ 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के निम्नोल्लिखित श्लोक का पद्यानुवाद हैं—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥
—अभिज्ञानशाकुन्तलम् (१।२०)

कि वह चादर दुग्ध-फेन-सम श्वेत है तब हम पहले वाक्य पर कोई नया आरोप नहीं करते वरन् एक नया वाक्य ही रचते हैं। नया वाक्य एक नये प्रकार की अभिव्यक्ति का द्योतक होता है। हमारे यहाँ आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद माना है किन्तु यह भेद ऐसा ही है जैसा कि अंगी और अंग का होता है। तरंग समुद्र की होती है समुद्र तरंग का नहीं होता। कुन्तल ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है क्योंकि वह अलंकार्य है। अलंकार्य और अलंकार का भेद मानते हुए भी हम उनको बिलकुल ऊपरी न मानना चाहिए। वस्तु के भीतर की चीज भी उसका अलंकार हो सकती है जैसे फूल वृक्ष के अलंकार कहे जा सकते हैं।[१] कविता का सौंदर्य अलंकार और अलंकार्य की पूर्णता में है। 'पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः'—का-सा अलंकार-अलंकार्य और पूरे वाक्य का सम्बन्ध है इसीलिए कुन्तल ने पहले तो अलंकार और अलंकार्य का अन्तर माना है। यदि शरीर को ही अलंकार कहा जाय तो वह किसी दूसरी वस्तु का अलंकरण कैसे करेगा क्योंकि वह तो अलंकार्य है। क्या कोई स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ सकता है—

शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥'

—वक्रोक्तिजीवित (१।१४)

दोनों का भेद सुविधा के लिए व्यावहारिक रूप से मानना पड़ेगा किन्तु वास्तव में अलंकार-सहित पूर्ण रचना को ही काव्य कहेंगे। कुन्तल (१०वीं शताब्दी) के अनुकूल काव्य के भीतर ही अलंकारों को पृथक किया जायगा—

'अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता॥'

—वक्रोक्तिजीवित (१।७)

[१] अलंकार कृत्रिम या आरोपित हो सकते हैं और होते भी हैं किन्तु महत्त्व कवि के हृदयगत उत्साह से प्रेरित सहज अलंकारों का ही है। वे ही रस के उत्कर्ष के हेतु बन सकते हैं।

ध्वनिकार ने अलंकारों का रस से सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि वे ही

---

१ क्रोचे ने अलंकारों को अभिव्यक्ति का अंग और पूर्ण रूप से पृथक न किये जाने योग्य कहा तो है, किन्तु वे फूलों की भाँति अलग दिखाई दे सकते हैं।

अलंकार काव्य में स्थान पाने योग्य हैं जो रस-परिपाक में बिना प्रयास के सहायक हों। ध्वनिकार के मत से रसिक और सहृदय प्रतिभावान् पुरुष के लिए अलंकार अपने आप दौड़े हुए आते हैं और प्रथम स्थान पाने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। उनके मत से अलंकारों की सार्थकता इसी में है कि वे रस और भाव का आश्रय ले कर चलें—

'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥'
—ध्वन्यालोक (२।६)

वैसे भी रस और अलंकार दोनों एक-दूसरे की पुष्टि करते आये हैं। हमारे यहाँ अलंकारों में जो वर्ण्य विषय मिले हैं वे रस से ही किसी-न-किसी रूप से सम्बन्ध रखते हैं। रसवत् अलंकार तो इस संज्ञा में आयेगा ही। कभी-कभी सूक्ष्म और पिहित आदि अलंकार केवल क्रिया-चातुर्य या वाक्-चातुर्य के द्योतक न होकर रस के किसी अंग से ही सम्बन्धित रहते हैं। सूक्ष्मालंकार प्रायः शृङ्गार का ही विषय बनता है। उसका प्रयोग प्रायः वचन-विदग्धा वा क्रिया-विदग्धा नायिकाओं द्वारा ही होता है। वक्रोक्ति प्रायः हास्य-रस में सहायक होती है। अभिसारिका नायिकाओं की गतिविधि में मीलित और उन्मीलित अलंकारों के उदाहरण मिल जाते हैं। नीचे के उदाहरण में शुक्लाभिसारिका द्वारा मीलित अलंकार चरितार्थ हो रहा है—

'जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैक न होति लखाइ ।
सौंधे कै डोरैं लगी, अली चली संग जाइ ॥'
—बिहारी रत्नाकर (दोहा ७)

अतिशयोक्ति, विभावना, प्रतीप, उत्प्रेक्षा आदि सभी अलंकार कवि के हृदय में उपस्थित उपमेय को प्रधानता देने की भावना के द्योतक हैं। अनुप्रास अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुकूल रसों में सहायक होते हैं। अलंकार अर्थ-व्यक्ति में भी सहायक होकर रस का उत्कर्ष बढ़ाते हैं।

अलंकारवादी रस की नितान्त अवहेलना नहीं करते। वे रसवत् और प्रेयस अलंकारों द्वारा रस और भाव के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। रस को रस के लिए नहीं वरन् चमत्कार बढ़ाने में सहायक होने के कारण अलंकार के रूप में ग्रहण करते हैं। सारांश यह है कि अलंकार नितान्त बाहरी न होते हुए भी अंगी का स्थान नहीं ले सकते हैं। रसों को रसवत् अलंकार के अन्तर्गत करना अपने मनोराज्य

के शब्दों से भूख बुझाना मात्र है। चमत्कार मात्र स्वयं साध्य नहीं हो सकता है।

(२) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इसके प्रधान आचार्य कुन्तक हैं। वक्रोक्ति शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है एक अलंकार-विशेष के रूप में और दूसरा उक्ति की वक्रता या असाधारणता के रूप में। वक्रोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ पर कि श्रोता श्लेष या काकु (कण्ठ-ध्वनि) के आधार पर वक्ता के अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ लगाकर उसका उत्तर देने का चमत्कार दिखाता है, जैसे—

> अयि गौरवशालिनि! मानिनि! आज
> सुधास्मिति क्यों बरसाती नहीं?
> निज कामिनि को प्रिय! गौ, अवशा
> अलिनि भी कभी कहि जाती कहीं?'
>
> —पोद्दार अलंकारमंजरी (पृष्ठ ६७ तथा ६८)

यहाँ पर महादेवजी ने तो सम्मान देने के लिए पार्वतीजी से 'गौरवशालिनि' कहा था किन्तु उन्होंने इस पद को भंग करके (गौ + अवशा + अलिनि) इसका यह दूसरा ही अर्थ लगाया और महादेवजी को उलाहना दिया कि वे अपनी प्रिया को गौ शक्तिहीना और भौंरी' कहकर अपमानित करते हैं।[1]

कुन्तल ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में लिया है। उस अर्थ में वह सब अलंकारों की माता बन जाती है। भामह ने कहा है—'कोऽलंकारोऽनया विना' (काव्यालंकार २।८५)। कुन्तल ने वक्रोक्ति को कवि कौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता कहा है—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते' (वक्रोक्तिजीवित १।११)। विचित्रता के लिए विच्छित्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। कवि कुछ असाधारण बात कहता है वह वायु को वायु न कह कर स्वर्ग का उच्छ्वास कहेगा। कमल को कमल कहकर उसको सन्तोष न होगा वरन् वह ऐसा कल्पना करेगा कि जल मानो सहस्र नेत्र होकर आकाश की शोभा को देख रहा है। कथा प्रसंग आदि को कल्पना द्वारा बदल कर मनोरम बना लेने को भी वक्रता के अन्तर्गत माना है इसको उन्होंने प्रकरण-वक्रता कहा है। महाभारत की शकुन्तला की कथा को कालिदास ने बदल दिया है यह प्रकरण-वक्रता का अच्छा उदाहरण है। अलंकार वाक्य-वक्रता में आते हैं। ध्वनि को भी पर्याय और उपचार-वक्रता के भीतर लाया गया है। इस सम्बन्ध

---

१ लेखक के 'नवरस' में पाण्डुलिपि की अव्यवस्था के कारण वक्रोक्ति का वर्णन केवल अलंकार-रूप से ही छपा है।

में रुय्यक का कथन है—'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृत एव'। आचार्य शुक्लजी ने वाल्मीकीय रामायण से वक्रोक्ति का जो उदाहरण दिया है : 'न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः'[१] अर्थात् वह रास्ता संकुचित नहीं है जिससे बालि मर कर गया है अर्थात् सुग्रीव भी मृत्यु पथ पर जा सकता है—यह उक्ति का वैचित्र्य है। यह वक्रता अवश्य है, किन्तु इसे केवल-मात्र उदाहरण न समझना चाहिए। वक्रता अनेकों प्रकार की होती है। कुन्तल द्वारा दी हुई काव्य की परिभाषा इस प्रकार है—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥'
—वक्रोक्तिजीवित (१।८)

इनके मत से कविता में शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व है। दोनों में कवि का वक्रता-सम्बन्धी कौशल अपेक्षित है। शब्द और अर्थ दोनों को सुगठित और सुसम्बद्ध होना आवश्यक है। कुन्तल ने काव्य में तद्विद् अर्थात् सहृदयों को आह्लाद देने का गुण भी स्वीकार किया है। इस परिभाषा में रस, रीति एवं गुण (बन्धे व्यवस्थितौ) और अलंकार तीनों को स्थान मिल जाता है, किन्तु कुन्तल के विवेचन में मुख्यता अलंकारों की है, फिर भी वक्रोक्तिवाद का अभिव्यंजनावाद से तादात्म्य करना ठीक नहीं है।[२]

वक्रोक्तिकार ने यद्यपि अपनी परिभाषा को व्यापक बनाया है तथापि उनका झुकाव अलंकारों को ही मुख्यता देने की ओर दिखाई देता है, पुस्तक में अलंकार शब्द अवश्य व्यापक अर्थ में आया है। रस को भी कुन्तल ने वक्रोक्ति के साधक के रूप में स्वीकार करते हुए दण्डी आदि की भाँति रसवत् अलंकार के अन्तर्गत रखा है, फिर भी कुन्तल ने रस की मुख्यता स्वीकार की है। जादू वही है जो सर पर चढ़कर बोले। देखिए—

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—
'न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः ॥'
—वा० रामायण (कि० काण्ड, ३०।८१)
अर्थात् हे सुग्रीव ! वह रास्ता संकुचित नहीं है जिससे बालि गया है (अर्थात् तुम भी मृत्यु-पथ पर जा सकते हो)। अपने समय (वायदे) पर स्थिर रहो, बालि के अनुगामी मत बनो।

२. इस सम्बन्ध में लेखक की 'सिद्धान्त और अध्ययन' पुस्तक का 'अभिव्यंजनावाद एवं कलावाद' शीर्षक अध्याय पढ़िए।

'निरन्तररसोद्गारगर्भसौन्दर्यनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥'
— वक्रोक्तिजीवित (उन्मेष ४)

कुन्तल ने काव्य में कथा को मुख्यता न देकर रस को ही मुख्यता दी है। उसी के कारण कविया की वाणी जीवित रहती है। चमत्कार-वैचित्र्य और अलंकार सब में ही यह प्रश्न रहता है कि ये हैं किसलिए ? उत्तर यही होगा है—सहृदयों की प्रसन्नता के अर्थ।

(३) रीति-सम्प्रदाय—वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है—'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्यालंकार सूत्र १।२।६)—और 'विशिष्ट पद-रचना' को रीति कहा है—'विशिष्टपदरचना रीतिः'[1] (काव्यालंकार सूत्र, १।२।७)। यह विशिष्टता गुणों में है और काव्य शोभा के उत्पन्न करने वाले धर्मों को गुण कहा गया है—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः' (काव्यालंकार सूत्र ३।१।१)। गुण और रीति दोनों ही अन्त में साध्य नहीं रहते, वरन् शोभा के साधन बन जाते हैं। वामन ने अलंकारों के कारण काव्य की ग्राह्यता बतलाई है—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' (काव्यालंकार सूत्र, १।१।१)। किन्तु उन्होंने अलंकार को सौन्दर्य के व्यापक अर्थ में माना है—'सौन्दर्यमलंकारः' (काव्यालंकार सूत्र १।१।२)। रीति का सम्बन्ध गुणों से है और गुणों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा रस से है। माधुर्य और प्रसाद गुणों का सम्बन्ध कोमल और कठोर वर्ण (टवर्ग के वर्ण), तीसरे-चौथे वर्णों के मीलित रूप—जैसे बुद्ध, युद्ध, मध्यी (द्वित्वर्ण) से लगाया जाता है, किन्तु ये वर्ण गुणों से द्योतित मानसिक स्थिति-विशेष के अनुकूल होते हैं। जैसे हृष्ट-पुष्ट शरीर में ही वीरता के भाव शोभा देते हैं (यह नहीं कि सब हृष्ट-पुष्ट वीर होते हैं)। वैसे ही गुण मानसिक दशा के द्योतक होते हैं—माधुर्य में चित्त की द्रुति का पिघलना या नीचे की ओर झुकना होता है, ओज में अग्नि की भाँति ऊँचे उठने की मनोदशा होती है और प्रसाद में चारों ओर फैलने या विस्तार की ओर झुकाव रहता है।[2]

वामन ने भी रसों को माना है, किन्तु दण्डी आदि की भाँति रसवत् अलंकार के अन्तर्गत नहीं, वरन् कान्ति गुण के सम्बन्ध में उनका उल्लेख किया है—

---

१ गुण और रीति के सम्बन्ध में लेखक की पुस्तक 'सिद्धान्त और अध्ययन' का 'शैली के शास्त्रीय आधार' शीर्षक अध्याय पढ़िए।

२ 'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः'
—काव्यप्रकाश (१।४)

'दीप्तरसत्वं कान्तिः' (काव्यालंकारसूत्र, ३।२।१५)—रस के प्रभाव से वामन भी नहीं बचे हैं।

(४) ध्वनि-सम्प्रदाय—ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य ध्वनिकार माने गये हैं और उनकी व्याख्या करने वाले आनन्दवर्धन (६वीं शताब्दी) को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है, यहाँ तक कि कुछ लोग दोनों को एक ही मानते हैं। प्रोफेसर ए० शंकरन ने अपनी पुस्तक 'Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit' में इसी पक्ष का समर्थन किया है। ध्वनिकार के पूर्व भी ध्वनि-सम्प्रदाय के सिद्धान्त स्वीकृत थे और कहीं उनका विरोध भी हुआ है, ऐसा ध्वनिकार ने ही कहा है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ॥'
—ध्वन्यालोक (१।१)

अर्थात् काव्य की आत्मा को पूर्व के आचार्यों ने ध्वनि कहा है। किसी ने उसका अभाव बतलाया है, उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है और किसी ने इसे लक्षणा (गुणवृत्ति) के अन्तर्भुक्त रखा है।

ध्वनि क्या है? अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना नाम की एक तीसरी शब्द-शक्ति मानी गई है। 'व्यंजना' शब्द 'वि' पूर्वक 'अञ्ज' (प्रकाशने) से 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर बना है, इसका अर्थ है—विशेष रूप से प्रकाशन करने वाली वृत्ति। 'अंजन' में भी यही धातु है। व्यंजना को हम आलंकारिक भाषा में एक विशेष रूप से प्रभावशाली अंजन कह सकते हैं जिसके कारण एक नया अर्थ प्रकाशित होने लगता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अंजन की महत्ता स्वीकार की है—

'यथा सुअञ्जन आँजि दृग, साधक, सिद्ध, सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल, भूरि निधान ॥'
—रामचरितमानस (बालकाण्ड)

व्यंजना के अंजन से भूतल का ही गुप्त खजाना नहीं वरन् हृदय-तल की निधि भी प्रकाशित हो जाती है।

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में यही भेद है कि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा का व्यापार चलता है, किन्तु व्यंजना-व्यापार में मुख्यार्थ के बाध की आवश्यकता

नहीं होती। वह अर्थ ऊपरी तह पर नहीं होता है परन्तु उसमें झलकता दिखाई देता है। जहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यंजना से दब जाता है वहीं रचना ध्वनि कही जाती है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥'
—ध्वन्यालोक (१।१३)

इसी ध्वनि के चमत्कार के आधार पर काव्य की तीन श्रेणियाँ की गई हैं—पहली 'ध्वनिकाव्य' जिसमें अभिधाय की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो, दूसरी 'गुणीभूत व्यंग्य'[1] जिसमें व्यंग्यार्थ गौण हो गया हो अर्थात् वाच्यार्थ के बराबर या उससे कम महत्त्व रखता हो, तीसरी 'चित्रकाव्य'[2] जिसमें बिना व्यंजना के भी शब्दचित्रों (शब्दालंकारों) और वाच्यचित्रों (अर्थालंकारों) का चमत्कार होता है। यह ध्वनि-सम्प्रदाय की उदारता है कि जिन काव्यों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता न हो उनको भी काव्य की श्रेणी में रखा है, चाहे वे निम्न श्रेणी में ही क्यों न हों। ध्वनि में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है। वास्तव में यह अर्थ का भी अर्थ है, इसमें थोड़े में बहुत का अथवा एकता में अनेकता का चमत्कार रहता है। क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने वाला सौन्दर्य व रमणीयता का जो लक्षण है वही ध्वनि में भी घटता है। केवल हाथ-पैर, नाक-कान से पूर्ण होना ही सौन्दर्य नहीं है, सौन्दर्य उससे ऊपर की चीज है—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥'
—ध्वन्यालोक (१।४)

ध्वनि उसी अवर्णनीय 'और कछु' में आती है। ध्वनि को ही प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं। यह विभिन्न अवयवों के परे रहने वाले स्त्रियों के सौन्दर्य की भाँति महाकवियों की वाणी में रहती है।

---

१ 'अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम् ।'
—काव्यप्रकाश (१।५, प्रथम पंक्ति)
'अतादृशि' का अर्थ है 'वाच्यादनतिशायिनि' अर्थात् वाच्यार्थ से बढ़कर न हो।

२ 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥'
—काव्यप्रकाश (१।५, द्वितीय पंक्ति)
'चित्र' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—
'चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्'—गुण या अलंकारों से सम्पन्न को चित्र कहते हैं।

ध्वनि में काव्य के सौन्दर्य के एक विशेष एवं अनिवचनीय उपादान की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। यह सम्प्रदाय करीब-करीब रस-सम्प्रदाय के बराबर ही लोकप्रिय हुआ है। मुक्तक काव्य के मूल्यांकन में इसको विशेष मान मिला, क्योंकि स्फुट पद्यों में प्रायः ऐसा रस-परिपाक नहीं होता, जैसा कि प्रबन्धान्तर्गत पद्यों में अथवा नाटकों में।

ध्वनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि वह सौन्दर्योत्पादन और रस-सृष्टि में प्रधानतम साधन है किन्तु रस का स्थान नहीं ले सकता। अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सब ही सौन्दर्य के साधन हैं। रमणीयता व सौन्दर्य भी तो स्वयं अपने में कोई अर्थ नहीं रखता, वह किसी सचेतन के लिए होता है और उसकी सार्थकता उसी को प्रसन्नता देने में है—'जंगल में मोर नाचा किसने जाना ?' सौन्दर्य, सौन्दर्यास्वादक की अपेक्षा रखता है। सौन्दर्यास्वादन का अन्तिम फल है आनन्द, वही रस है—'रसो वै सः'। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तैत्तिरीय उपनिषद्, ११।७।१)—आनन्द एक ऐसी संज्ञा है जिस पर रुक जाना पड़ता है, वह स्वयं ही साध्य है।

(५) रस-सम्प्रदाय—इसका साहित्य में व्यापक प्रभाव रहा है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक हैं नाट्यशास्त्र के कर्त्ता भरत मुनि (ईसा पूर्व पहली शताब्दी से पूर्व), उनके पश्चात् कुछ दिनों अर्थात् नवीं शती तक अलंकार-सम्प्रदाय का प्राधान्य रहा। वे लोग यद्यपि रस का अस्तित्व स्वीकार करते थे तथापि महत्ता अलंकारों को ही देते थे। आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को प्रधानता देकर अलंकारों को पीछे हटा दिया। अभिनवगुप्त (१०वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' तथा नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती' लिखकर बहुत-सी रस-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाकर और अन्त में विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा घोषित कर रस को पूरा-पूरा महत्त्व दिया। हिन्दी के आचार्यगण देव, मतिराम, कुलपति मिश्र आदि रस-सम्प्रदाय से ही प्रभावित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी रस को ही प्रधानता दी गई है।

समन्वय

काव्य के लिए भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही अपेक्षित हैं। अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से अधिक सम्बन्धित हैं। अलंकार शोभा को बढ़ाते हैं, रीति शोभा का अंग है किन्तु पूर्ण शोभा नहीं। वक्रोक्ति में काव्य को साधारण वाणी से पृथक् करने वाली विलक्षणता पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु स्वाभाविकता और सरलता की उपेक्षा की गई है। कुन्तल ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है। 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' अथवा 'मैया

मोहि खाऊ खूब रिझावत' की स्वाभाविकता पर सौ सौ अलंकार न्योछावर किये जा सकते हैं।

ध्वनि और रस सम्प्रदाय की प्रतिद्वन्द्विता अवश्य है किन्तु उनकी प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढ़ी हुई नहीं है कि समन्वय न हो सके। आचार्यों ने स्वयं ही उसका समन्वय कर लिया है। ध्वनि का विभाजन करते हुए तीन प्रकार की ध्वनियाँ मानी गई हैं— वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि।

इन तीनों भेदों में रसध्वनि को जो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत है अधिक महत्त्व दिया गया है। रस में ध्वनि की तात्कालिक सिद्धि है। उसमें व्यंग्यार्थ ध्वनित होने की गति इतनी तीव्र होती है कि हनुमानजी की पूँछ की आग और लंका-दहन की भाँति पूर्वापर क्रम दिखाई ही नहीं देता है। रसध्वनि को विशिष्टता देना रस सिद्धान्त की स्वीकृति है। ध्वनिकार ने कहा है कि व्यंग्य-व्यंजक-भाव के विविध रूप हो सकते हैं किन्तु उनमें जो रसमय रूप है उस एक मात्र रूप में कवि को अवधानवान् होना चाहिए अर्थात् सावधानी के साथ प्रयत्नशील होना वाञ्छनीय है—

> 'व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
> रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥'
>
> —ध्वन्यालोक (४।५)

ध्वनिकार ने और भी कहा है कि जैसे वसन्त में वृक्ष नये और हरे भरे दिखलाई देते हैं वैसे ही रस का आश्रय ले लेने से पहले देखे हुए अर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं —

> 'दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
> सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥'
>
> —ध्वन्यालोक (४।४)

मम्मटाचार्य ने भी जिन्होंने कि ध्वनि के सिद्धान्त को मानकर रस का वर्णन ध्वनि के अन्तर्गत किया है, कवि की भारती की वन्दना करते हुए उसे 'ह्लादैकमयी' और 'नवरस रुचिरा' कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो दोष, गुण और अलंकारों की परिभाषा भी रस का ही आश्रय लेकर दी है। जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि गुण हैं, उसी प्रकार काव्य के अंगी रस में हमेशा रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं—

'ये रसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'
—काव्यप्रकाश (८।६६)

मम्मटाचार्य ने अलंकारों को रस का उपकारी माना है और दोषों की व्याख्या भी रस के सम्बन्ध में की है। उन्होंने कहा है कि दोष मुख्यार्थ के नाश करने वाले हैं और मुख्य तो रस ही है, उसी के सम्बन्ध से वाच्यार्थ भी मुख्य कहलाता है। उसी के अपकर्ष के कारण दोष कहलाते हैं अर्थात् रस के अपकर्ष के कारण ये दोष की संज्ञा में आते हैं—

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।'
—काव्यप्रकाश (७।४६)

इसमें 'हतिः' शब्द आया है। 'हतिः' का अर्थ है 'अपकर्ष'। (हतिरपकर्षः)।

इन परिभाषाओं में रस की इतनी स्पष्ट स्वीकृति है कि इनको पढ़कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि मम्मट रसवादी नहीं थे, यहाँ तक कि रस-सिद्धान्त के पोषक और अभिभावक आचार्य विश्वनाथ ने इनका ही अनुकरण किया है। उन्होंने गुण शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'रसस्यांगित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुरवाच्छौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः ।'
—साहित्यदर्पण (८।१ की वृत्ति)

मम्मट ने यद्यपि काव्य की परिभाषा में रस का उल्लेख नहीं किया है (उसमें ध्वनि का भी उल्लेख नहीं है) तथापि जिन तीन चीजों का अर्थात् दोष ('अदोषौ'), गुण ('सगुणौ') और अलंकार ('अनलङ्कृती पुनः क्वापि') का उल्लेख है, उन सब को रस के आश्रित कर दिया है।

रसवादी विश्वनाथ ने यद्यपि मम्मट की काव्य-परिभाषा का खण्डन किया है और रस की स्वतन्त्र व्याख्या की है फिर भी रस को व्यंग्य ही माना है और ध्वनि के भेदों में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि को मानते हुए रस तथा भावों को उनके अन्तर्गत रखा है, किन्तु रसों की व्याख्या वहाँ पर नहीं की है। भेद इतना ही है कि मम्मट ने रस का वर्णन स्वतन्त्र न रख कर उसे ध्वनि के ही प्रसंग में किया है और विश्वनाथ ने रस का वर्णन स्वतन्त्र रूप से किया है। विश्वनाथ ने व्यंजना के प्राधान्य पर पाँचवाँ परिच्छेद ही लिख डाला है और रस की अभिव्यक्ति के लिए अन्य वृत्तियों

का निराकरण कर व्यञ्जना नाम की वैदर्भी तरों की तुरीया अवस्था की-सी तुरीया (चतुर्थ) वृत्ति को ही स्वीकार किया है— तुरीया वृत्तिरप्यस्त्येवेति सिद्धम्' (साहित्य-दर्पण ५।४ की वृत्ति)—और यह प्रश्न उठाकर कि तुरीया वृत्ति क्या है उन्होंने कहा है— सा चय व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः (साहित्यदर्पण, ५।५)। विश्वनाथ ने भी ध्वनिकाव्य और 'गुणीभूतव्यंग्य' नाम के काव्य के दो भेद करते हुए चित्र-काव्य को नहीं माना है और ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य कहा है।

साहित्य-शब्द (सहित का भाव) में ही स्वयं समन्वय-बुद्धि है। इसी कारण साहित्य के आचार्यों में वह साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं होती जो कहीं-कहीं धार्मिक आचार्यों में देखी जाती है। रसवादी विश्वनाथ ने और सब मतों को भी उचित स्थान दिया है— उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः' (साहित्यदर्पण १।३)। क्षेमेन्द्र ने औचित्य वाले सिद्धान्त को महत्ता दी है—'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' (औचित्यविचारचर्चा पृष्ठ ११५)। उस सिद्धान्त की रसाभास में स्वीकृति हो जाती है—'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता' (काव्यप्रकाश सूत्र, ४९)। जहाँ रस और भावों के प्रयोग में अनौचित्य हो वही आभास कहलाता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

> 'उचितं प्राहुराचार्याः, सदृशं किल यस्य यत्।
> उचितस्य च यो भाव, तदौचित्यं प्रचक्षते ॥'
>
> —औचित्यविचारचर्चा

अर्थात् जो जिसके सदृश हो अर्थात् अनुकूल या उपयुक्त हो उसे आचार्य उचित कहते हैं। उचित के भाव को ही औचित्य कहते हैं, किन्तु कविता केवल औचित्य मात्र नहीं है। वस्तुएँ एक-दूसरे के साथ अनुकूल हो सकती हैं फिर भी उनमें सरसता अपेक्षित रहती है।

अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि अभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि रसध्वनि और वस्तुध्वनि में विषय का ग्रहण है तथापि उनमें भी मुख्यता व्यञ्जना-व्यापार की ही है। गुण रीति, अलंकार और ध्वनि का भी सम्बन्ध कृति से ही है। कर्ता और श्रोता कुछ गौण से रहते हैं। रस में कर्त्ता (कवि), कृति (काव्य) और श्रोता (पाठक) तीनों को ही समान महत्त्व मिलता है। उसमें प्रभाव है, गति है और जीवन की तरलता है। वह कवि के हिमगिरि से विशाल, रत्नाकर से विस्तृत और गम्भीर हृदय-स्रोत से निस्सृत होकर कृति के रूप में प्रवाहित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्लावित करता है। इसी से वह रस (जल के अर्थ में) अपना नाम सार्थक करता है। आस्वाद्य होने के कारण वह रसना के रस की भी समानधर्मता सम्पादित करते

में समर्थ रहता है। म्लान और म्रियमाण हृदयों को संजीवनी शक्ति प्रदान कर आयुर्वेदिक रस के गुणों को वह अपनाता है। काव्य का सार होने के कारण उसमें फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। रस अर्थात् आनन्द उसका निजी रूप है। वह रमणीयता का चरम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थ-स्वरूपा ध्वनि का भी विश्राम-स्थल है। इसलिए वह परमार्थ है, स्वयंप्रकाश्य चिन्मय, अखण्ड, ब्रह्मानन्द-सहोदर है—'रसौ वै सः'।

रस-सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप और उनका समाधान

डा० नगेन्द्र

रस सिद्धान्त का विकास और प्रसार निर्विघ्न नहीं रहा। प्रायः आरम्भ से ही समय-समय पर उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के आक्षेप होते रहे हैं। उन आक्षेपों का सार-संग्रह इस प्रकार है—

(१) रस को जागतिक अनुभूतियों से सर्वथा विलक्षण अलौकिक तथा ब्रह्मास्वाद-सहोदर माना गया है। मध्ययुग में इस प्रकार की कल्पना सम्भव थी परन्तु आज के मनोवैज्ञानिक युग में वह कैसे ग्राह्य हो सकती है? मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्येक अनुभूति का विवेचन सम्भव है—फिर रस ही अनिर्वचनीय कैसे हो सकता है?

(२) रस सिद्धान्त का पूरा बल भाव पर ही रहता है परिणामतः काव्य के अन्य रूपों के साथ न्याय नहीं हो पाता जो पाठक की कल्पना को चमत्कृत या उसके विचारों को उद्दीप्त कर अथवा शब्द-अर्थ में कलात्मक चमत्कार उत्पन्न कर सार्थकता सिद्ध करते हैं। प्राचीन युग में अलंकार रीति ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त इसी तर्क के आधार पर उठ खड़े हुए थे और वर्तमान युग में अनेक आलोचकों ने भी नवीन शब्दावली में इसी आधार की आवृत्ति की है। उनका तर्क यह है कि काव्य के अनेक प्रयोजन हैं—भाव के उद्बोध की अपेक्षा पाठक के मन में सुन्दर बिम्ब की उद्बुद्धि या नवीन सत्य का बोध आदि भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आज के बुद्धिप्रधान जीवन में हमारी अनुभूतियाँ शुद्ध रागात्मक नहीं रह गई हैं उनमें विचार-सूत्र अनिवार्यतः गुँथे रहते हैं। अतः काव्य में भी आज बौद्धिक अनुभूतियों का ही प्राधान्य हो गया है। रस सिद्धान्त में सौन्दर्यबोध के इन नवीन रूपों के उचित मूल्यांकन की व्यवस्था नहीं है।

(३) रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावों की बँधी हुई संख्या है जो काव्यवस्तु की परिधि को सीमित कर देती है। मानव-मन तो अथाह सागर के समान है जहाँ असंख्य लहरें निरन्तर उठती गिरती हैं। उन्हें नौ या ग्यारह स्थायी भावों और तैंतीस

संचारियों में सीमित कर देना सर्वथा असंगत है। युग-युग के काव्य में व्यक्त मानव चेतना की असंख्य तरल-चटुल, गुरु-गम्भीर तथा परस्पर संकीर्ण वृत्तियाँ न रस की पारिभाषिक शब्दावली में बँध सकती हैं और न उनके साथ न्याय हो सकता है। विश्व के काव्य का—स्वयं भारतीय भाषाओं के आधुनिक काव्य का, जो रस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में नहीं लिखा गया है, पर्याप्त अंश ऐसा है जिसमें रस निर्णय करना सम्भव ही नहीं हो सकता। कौन कह सकता है कि हेमलेट या गोदान का, कुरुक्षेत्र या वेस्टलैण्ड का अंगी रस क्या है? इसका कारण यह है कि आदिम वासनाओं पर आधृत होने के कारण रस-सिद्धान्त अपर्याप्त है। अवचेतन मन के रहस्य-लोक का उद्‌घाटन हो जाने पर तो उसकी अपर्याप्तता और भी बढ़ गई है। निरन्तर विकसनशील मानव-चेतना और उसकी बढ़ती हुई जटिलताओं के लिए इसमें कोई व्यवस्था नहीं है।

(४) रस की सिद्धि के लिए एक परिपूर्ण काव्य-विधान की अपेक्षा रहती है जो काव्य के प्रबन्ध रूपों के अतिरिक्त अन्यत्र प्रायः कठिन ही होता है। भारतीय मुक्तक की कल्पना भी प्रबन्ध के लघुतम रूप में ही की गयी है, अतः वहाँ भी यह विधान बैठ जाता है। किन्तु ऐसे भी अनेक छन्द या सूक्तियाँ मिलती हैं जहाँ कोई अत्यन्त सूक्ष्म भाव-गन्ध या अत्यन्त तरल अनुभूति-चित्र ही कवित्व का सार-सर्वस्व होता है। वहाँ रस की सिद्धि कैसे मानी जा सकती है?

(५) रसों के विरोध और अविरोध की स्थिर धारणाओं के कारण रस के क्षेत्र का और भी अधिक परिसीमन हो गया है। मानव-चेतना और उसकी अभिव्यक्तियाँ अन्तर्विरोधों का पुञ्ज हैं। जीवन का चित्र जितना अधिक प्रबल एवं परिपूर्ण होगा उसमें अन्तर्विरोध उतने ही अधिक होंगे—और, कवि तथा काव्य के विषय में भी यह सत्य है। भारतीय वाङ्मय में महाभारत और पाश्चात्य वाङ्मय में शेक्सपियर का नाट्य साहित्य अपनी समग्रता में जीवन के अनन्त अन्तर्विरोधों के कारण उभरता है। रस-सिद्धान्त की कसौटी पर तो यह महत्त्व दोष बनकर रह जायगा।

(६) रस-सिद्धान्त की एक बड़ी सीमा यह है कि वह रस को केवल सहृदय-निष्ठ मानकर चलता है, जिसके कारण कविगत रस और काव्यगत रस की सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। परिणामतः जहाँ किसी प्रकार के पूर्वाग्रह आदि के कारण सहृदय की ग्रहण-शक्ति बाधित हो जाती है वहाँ सरस काव्य का भी उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त यह भी सदा आवश्यक नहीं होता कि काव्य या नाट्यगत स्थायी भाव सहृदय के स्थायी भाव में सर्वत्र तादात्म्य ही हो—कभी-कभी दोनों में केवल असंगति ही नहीं, विरोध तक उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक ऐसा दृश्य लीजिए जहाँ नायक-नायिका किसी निविड़ जंगल मे नर-मांस-भक्षण का दृश्य देखते हों। इस परिस्थिति में नायक के हृदय में (यदि वह वीर पुरुष है) क्रोध,

नायिका के हृदय में भय और प्रेक्षक या पाठक के चित्त में जुगुप्सा का ही उदय होगा। इस प्रकार काव्य में वर्णित स्थायी भाव के साथ सहृदय के स्थायी भाव का तादात्म्य न होने से रस का परिपाक कैसे होगा? रस सिद्धान्त की यह एक अत्यन्त स्पष्ट विसंगति है।

(७) रस की अभिव्यक्ति मानना संगत नहीं है। रस का अर्थ यदि काव्यास्वाद है तो उसकी प्राय निर्मिति ही होती है। रस या काव्यास्वाद किसी एक भाव की शुद्ध एवं अमिश्र अनुभूति न होकर अनुभूतियों का एक विधान ही होता है, जिसका उद्बोध न होकर निर्माण ही सम्भव है। अत रस सिद्धान्त जिसके अनुसार वासना रूप में स्थित किसी एक स्थायी भाव के अभिव्यक्त रूप का ही नाम रस है, काव्यास्वाद के सच्चे स्वरूप का निरूपण नहीं करता।

(८) आत्मवाद की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित होने के कारण रस-सिद्धान्त स्थायी मूल्यों का ही आधार लेकर चलता है। किन्तु, वर्तमान जीवन में तो स्थायित्व की भावना का ही पूर्णत विघटन हो गया है। आज तो परिवर्तन ही सत्य है जिसमें केवल क्षण की ही सत्ता स्वीकार्य हो सकती है। अत आज की कविता केवल अनुभूयमान क्षण की ही अभिव्यक्ति कर सकती है। इसके विपरीत रस की सिद्धि के लिए स्थायी भाव का संस्कार अनिवार्य होता है—भाव की सद्य अनुभूति अथवा अनुभूयमान रूप के निरूपण का आस्वाद रस नहीं हो सकता। इसलिए समसामयिक कविता के सही मूल्यांकन के लिए रस-सिद्धांत उपयुक्त नहीं है।

(९) रस-सिद्धान्त में आनन्द पर, विशेषकर आनन्द की सिद्धावस्था पर, अनावश्यक बल दिया जाता है। काव्य के अन्य महत्तर प्रयोजन, जैसे चारित्र्य का निर्माण, सत्कर्म में प्रवृत्ति, चेतना का उन्नयन आदि उपेक्षित हो जाते हैं और रंजन पक्ष प्रमुख बन जाता है। बलाबल के इस प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विपर्यय में काव्य और जीवन दोनों की क्षति हो सकती है और हुई है।

रस-सिद्धान्त के विरुद्ध प्राय ये अथवा इसी प्रकार के आक्षेप किये गये हैं और किये जा रहे हैं। इनमें से अनेक का समाधान हम विभिन्न प्रसंगों के विवेचन में कर चुके हैं, फिर भी सत्यासत्य का सम्यक् रूप से निर्णय करने के लिए अन्त में एक बार फिर इन पर विचार करना उपादेय होगा।

पहला आक्षेप रस की ब्रह्मानन्द-सहोदरता को लेकर किया जाता है—यह सबसे सरल और बहुचर्चित आक्षेप है जिसका प्रयोग रस की मान्यता के विरुद्ध कोई भी किसी समय कर सकता है। इसका उत्तर हम इसी लेख में दे चुके

है। ब्रह्मानन्द-सहोदर विशेषण केवल इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि रसानुभूति सामान्य ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है, वह भावों के साधारण सुख-दुःखात्मक अनुभव से भिन्न है, रागद्वेष से मुक्त होने के कारण उसका स्वरूप सामान्य विषयानुभूति की अपेक्षा अत्यन्त उदात्त और अवदात्त होता है। अद्वैतवादी आचार्यों ने केवल रस की ही नहीं आनन्द के प्रत्येक रूप की कल्पना ही आत्मानन्द के सन्दर्भ में की है, क्योंकि आनन्द अद्वैत दर्शन के अनुसार केवल आत्मा का ही स्वरूप है, मन तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं। अपने अत्यन्त सूक्ष्म परिष्कृत रूप के कारण काव्य का आनन्द विषयानन्द से दूर और आत्मानन्द के निकट है—ब्रह्मानन्द-सहोदर का अर्थ केवल इतना ही है। यदि आपकी आत्मा में आस्था नहीं है तो आप चेतना शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और रस को चेतना की समाहिती मान सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्द-सहोदर विशेषण एक विशिष्ट चिन्तन-प्रणाली का पारिभाषिक शब्द है—उसे केवल ऐतिहासिक सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए और आज का प्रमाता यदि ब्रह्म अथवा आत्मा की धारणा को ग्रहण या स्वीकार नहीं कर सकता तो इस शब्द का आधुनिक आलोचना शास्त्र की शब्दावली में आख्यान कर लेना चाहिए। मैं स्वयं रस को आत्मानन्द के सन्दर्भ में ग्रहण नहीं करता, इसलिए नहीं कि आत्मा के अनस्तित्व के विषय में सर्वथा आश्वस्त हो गया हूँ, वरन् इसलिए कि आत्मानन्द की धारणा उलझी और विवादग्रस्त है जबकि रस के विषय में मेरी या प्रत्येक सहृदय की अनुभूति सर्वथा असंदिग्ध है। अतः मैं रसशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली—आत्मविश्रान्ति, ब्रह्मानन्द-सहोदर आदि—का विवेकसम्मत अर्थ ही ग्रहण करता हूँ—करना चाहता हूँ। जीवन के सूक्ष्म तत्त्वों की धारणाएँ देश-काल-परिबद्ध और व्यक्तिसीमित न होकर विकासशील ही होती हैं, इसी रूप में वे सार्वभौम एवं शाश्वत हो सकती हैं। केवल रस सिद्धान्त का ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र का यह दुर्भाग्य रहा है कि जिसने उसे पढ़ और समझा है वह प्राचीन धारणाओं को एकदम रूढ़ मान बैठा है और जिसने कभी पढ़ने और समझने का प्रयत्न नहीं किया, वह कुछ उड़ती हुई बातों को लेकर अनर्गल आलोचनाएँ कर रहा है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर, ध्वनि और अलंकार के साथ अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित कर, रस-सिद्धान्त आज से एक सहस्राब्द पूर्व दे चुका है। काव्य में ध्वनि की प्रतिष्ठा वस्तुतः कल्पना-तत्त्व की प्रतिष्ठा है और अलंकार भी बिम्ब-विधान का ही पर्याय है। इनमें से ध्वनि तो रस का अनिवार्य माध्यम है ही, अलंकार भी उपेक्षणीय नहीं है—और इसका प्रमाण यह है कि प्रबल रसवादी आचार्य ने भी अपने शास्त्र-ग्रन्थ में अलंकार का सविस्तार वर्णन किया है। उसने रस को काव्य का जीवन मानते हुए भी वाग्वैदग्ध्य के महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इस प्रकार बुद्धि तत्त्व का रस के विधान में त्याग नहीं किया गया। उत्कृष्ट कोटि के सरस काव्य के लिए भाव-

चमत्कार के साथ-साथ अर्थ-गौरव की भी अपेक्षा अभिमत रही है। अतः कल्पना और विचार को रस सिद्धान्त में अस्वीकृत नहीं किया गया। इस कथन का अर्थ केवल इतना है कि ये दोनों ही अनुभूति का विषय बनकर आने चाहिएँ। अनुभूत कल्पना और अनुभूत विचार ही काव्य के ही विषय नहीं रहते। रस सिद्धान्त में अगर उनके लिए स्वतन्त्र स्थान नहीं है तो उसका क्या दोष? वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र में रस सौन्दर्य का ही पर्याय है, सौन्दर्य अपने तत्त्व रूप में रमणीय अर्थ बोध का ही नाम है और रमणीय वह है जिसमें सहृदय का चित्त रमण करे अर्थात् जो उसकी आनन्द चेतना का विषय हो। इस प्रकार सौन्दर्य की कल्पना रस के बिना नहीं हो सकती। सुन्दर और सरस में भेद नहीं किया जा सकता।

रस-सम्बन्धी संख्याबद्ध आक्षेप विषय के अनवबोध पर ही आश्रित है। हम आरम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि संख्या का प्रश्न रस सिद्धान्त का अत्यन्त गौण विषय है। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश आचार्यों ने रस भावादि की निश्चित संख्या को ही स्वीकार किया है परन्तु यह विषय अन्त तक विवादास्पद हो रहा है और संख्या को बढ़ाने घटाने के प्रयत्न निरन्तर चलते रहे हैं। साथ ही यह आवाज भी बराबर उठती रही है कि रसों और भावों की संख्या का परिसीमन उचित संगत नहीं है। प्रत्येक भाव से यहाँ तक कि सात्त्विक भाव से भी रस की सिद्धि सम्भव है। उधर रसाभास भाव भावाभास भावोदय भावशान्ति भावसन्धि भाव शबलता आदि को भी रस में अन्तर्भाव होने से यह सर्वथा निश्चित हो जाता है कि रस सिद्धान्त रसों और भावों की बँधी हुई संख्या का कायल नहीं है। सामान्य सिद्धान्तों और विषयों का निर्धारण करना प्रत्येक शास्त्र का कर्तव्य-कर्म है और उसके लिए वर्गीकरण आदि की प्रणाली नाम रूप-संख्या आदि का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। कभी किसी शास्त्रकार ने भेद प्रस्तार या गणना को एकान्त निश्चित एवं अन्तिम नहीं माना—जब कभी भेद वर्णन का प्रसंग आया है संस्कृत के आचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि ये भेद उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् दिशा के ही द्योतक हैं इयत्ता के नहीं। ऐसी स्थिति में बँधी हुई संख्या और लीक का आरोप दुहराते रहना या तो दुराग्रह का द्योतक है या अल्प-बोध का। अतः हैमलेट या गोदान में कौन-सा रस है यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि परम्परानिष्ठ रसवादी के लिए हैमलेट या 'वेस्टलैण्ड' गोदान या शेखर—किसी में भी नियम के अनुसार रस-निर्णय करना कठिन नहीं है फिर भी समस्या का समाधान हम यह नहीं मानते। गोदान में कौन सा रस है यह प्रश्न ही रूढ़िवादी दृष्टिकोण का परिचायक है और इसका उत्तर भी उसी दृष्टिकोण से तुरन्त दिया जा सकता है। परन्तु हम तो प्रश्न और उत्तर दोनों को ही महत्त्वहीन मानते हैं। रस सिद्धान्त का गौरव यह सिद्ध करने में नहीं है कि इन ग्रन्थों का अंगीरस कौन-सा है वरन् यह सिद्ध करने में है कि इनमें से प्रत्येक की आस्वाद्यता का मूल आधार रस अथवा रागात्मक प्रभाव या अनुभूति की समृद्धि ही है।

उपर्युक्त समाधान में अगले आक्षेप का उत्तर भी अन्तर्भूत है। रस केवल परिपाक अवस्था का ही नाम नहीं है। यह कहीं नहीं कहा गया कि रसवत्ता के लिए सर्वत्र रस का पूरा परिकर ही प्रस्तुत रहना चाहिए। व्यभिचारी भाव के नहीं केवल अनुभाव के चित्रण से भी रस की सिद्धि हो जाती है। जो अवयव वर्णित नहीं हैं उनका आक्षेप हो जाता है। विभावादि के विधान पर रस शास्त्र में बल इसलिए दिया गया है कि उनकी प्रच्छन्न या प्रकट सत्ता के आधार के बिना भाव की कल्पना भी सम्भव नहीं है, अनुभूति तो दूर की बात रही। भाव की निराधार या निरपेक्ष सत्ता रस शास्त्र में ही नहीं, मनोविज्ञान में भी सर्वथा अमान्य है और आधुनिक मनोविज्ञान तो भाव की स्वतन्त्र कल्पना के विषय में और भी शंकालु होता जा रहा है। मराठी के रसवादी आलोचकों ने इसी आक्षेप का प्रतिवाद करने के लिए भाव से भी सूक्ष्मतर भाव गन्ध की कल्पना की है। रस-सिद्धान्त में और भी आगे बढ़ने का अवकाश है। रस का स्थायी धर्म है गुण जो चित्त की दृति, दीप्ति और व्याप्ति आदि अवस्थाओं का वाचक है। अतः ऐसी उक्ति भी जहाँ भाव का स्वरूप स्पष्ट न हो, जो केवल चित्त का स्पर्श ही करती हो, सिंहद्वारों पर स्थापित विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की दृष्टि बचाकर अनुभूति के मन्त्र-बल से रसचक्र में अनायास ही प्रविष्ट हो जाती है। एक उदाहरण देकर मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट करना चाहता हूँ—

सोन-मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली।
रूप तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

'अज्ञेय' की यह कविता नयी कविता है और सुन्दर भी, इसके आकर्षण का रहस्य क्या है? सुन्दर बिम्ब? हाँ, इन पंक्तियों द्वारा प्रमाता की कल्पना में उद्बुद्ध बिम्ब निश्चय ही अत्यन्त आकर्षक और सजीव है। काँच के पीछे अपनी प्राण-रक्षा के लिए जल में थिरकती हुई सोन-मछली का चित्र एकदम आँखों के सामने नाच उठता है। चमकती हुई मछली की तरंगित आकृति मानो 'जिजीविषा' शब्द के वलयित उच्चारण के साथ शब्दमूर्त्त हो जाती है। इतने कम शब्दों में ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत कर देना निश्चय ही सधे हुए कलाकार का काम है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या यह शब्दचित्र ही इस कविता की अन्तिम सिद्धि है? क्या प्रस्तुत शब्दचित्र को रससिक्त करने वाली संवेदना, जो केवल मानव चेतना को ही वरदान रूप में प्राप्त है, इसकी

चरम सिद्धि क्या है ? बिम्ब निरूपण तो कला की सिद्धि है पर उस बिम्ब को जीवन्त करने वाला तत्त्व तो मानव चेतना का रमण ही है और इसी का नाम रस है।

एक अन्य आधार रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध का सकेत किया गया है। इसकी मूल ध्वनि यह है कि रस सिद्धान्त में भावों का परस्पर सम्बन्ध सर्वथा निश्चित रूप से किया गया है परिणामत अपनी दृढता में रस प्रक्रिया इतनी सरल और सुलझी बन जाती है कि अन्तश्चेतना की उलझनों और गुत्थियों के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता। हमारा निवेदन है कि यह आशंका भी अज्ञान का ही प्रमाण है। जैसा कि हम यथाप्रसग स्पष्ट कर चुके हैं रस सिद्धान्त में रसों के परस्पर विरोध रूपों के विवेचन के साथ-साथ उनके शमन का भी अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। और शमन के ये उपाय इतने अधिक एवं विभिन्न हैं कि मानसिक जीवन के सभी प्रकार के सम्भव अन्तर्विरोध उसमें समाहित हो जाते हैं। केवल एक रस के सन्दर्भ में ही विचार करें तो भी रस प्रक्रिया पर सरलता का आरोप उचित नहीं है, क्योंकि शृगार जैसे रस के वृत्त में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और परस्पर विरुद्ध प्राय सभी भावों का युक्त सचरण शास्त्रसम्मत माना गया है। शेक्सपियर के जिन नाटकों की दुहाई देकर अग्रेजी के विद्वानों ने रस सिद्धान्त पर प्रस्तुत आरोप किया गया है उनमें भी ऐसा प्रसग शायद ही हो जहाँ भावों के विरोध का रसशास्त्रीय नियमों के अनुसार परिहार न हो सके। और यदि कहीं ये नियम लागू न भी होते तो भी कुछ अन्तर नहीं पडता क्योंकि एक तो विरोध कल्पना रस सिद्धान्त का मौलिक अंग नहीं है और दूसरे यह स्थित न रह कर काव्य के विकास के साथ-साथ विकासशील रही है अर्थात् इसमें समय-समय पर आवश्यक सशोधन भी होते रहे हैं। वस्तुत रस सस्थान की भाँति रस विरोध की कल्पना भी रस सिद्धान्त की आनुषंगिक सिद्धि मात्र है यद्यपि उसी की भाँति इसका भी मनोवैज्ञानिक आधार अपने आप में काफी पुष्ट है।

रस को केवल सहृदयनिष्ठ मान लेने से रस कल्पना में काव्यगत रस और कवि की रस चेतना की उपेक्षा की गयी है। इस आरोप पर कई पहलुओं से विचार किया जा सकता है। रस का अर्थ यदि मूलत काव्यास्वाद है तब तो उसकी स्थिति सहृदय में माननी पडेगी क्योंकि आस्वादन की चेतन क्रिया व्यक्ति में ही सम्भव है, वस्तु में नहीं। कवि काव्य और सहृदय के मन में काव्य जड पदार्थ है अत आस्वाद की क्षमता उसमें नहीं है। हाँ वह आस्वाद का निमित्त अवश्य ही होता है। कवि भी व्यक्त रूप में रस का स्रष्टा है। शास्त्रीय शब्दावली में रस के अभिव्यंजक काव्य का कर्ता है। अत रस अर्थात् काव्य के आस्वाद का भोक्ता वस्तुत सहृदय ही है इसका निषेध कम-से-कम व्यवहार में नहीं किया जा सकता। तत्त्वदृष्टि से भी प्रमाता के अतिरिक्त पदार्थ में रस की स्थिति प्रमाणित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य

है। भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों की समस्त ऊहापोह अभी तक अद्वैत से अधिक प्रामाणिक कल्पना नहीं कर सकी, परन्तु हम इस विवाद में आपको नहीं उलझाना चाहते, क्योंकि काव्य के सत्यों को हम दर्शन और तर्कशास्त्र की उपकल्पनाओं से यथा-सम्भव दूर रखकर काव्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझाना चाहते हैं। किन्तु यहाँ एक दूसरा प्रश्न सामने आता है कि काव्य का इस रस से क्या सम्बन्ध है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि काव्य इस रस का प्रेरक या निमित्त कारण है। स्वयं अभिनव ने गुणालंकारमय शब्दार्थ—काव्य के महत्त्व का उच्छ्वासमय वाणी में निर्वचन किया है, यह गुणालंकारमय शब्दार्थ ही विभावादि के साधारणीकरण—आधुनिक शब्दावली में भावात्मक रूप में उपस्थापन—द्वारा सहृदय के स्थायी भाव को देशकाल की सीमा एवं व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त करता हुआ, रस में परिणत कर देता है। अभिनव के अनुसार स्थायी भाव की निर्विघ्न प्रतीति ही रस है। इस प्रतीति का भोक्ता निश्चय ही सहृदय है, परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में इसे निर्विघ्न करने का एकमात्र साधन गुणालंकार-मय शब्दार्थ या काव्य ही है। अतः काव्य का महत्त्व रस-सिद्धान्त में गौण नहीं है, हो भी कैसे सकता था, उसकी तो जन्मभूमि या आधारभूमि ही काव्य है, जिसके बिना उसका अस्तित्व ही काल्पनिक बन जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सहृदय की ग्रहण-शक्ति की विफलता रस का सबसे बड़ा विघ्न है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उससे काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। रसविघ्नों के प्रकरण में इस शंका का निवारण किया जा चुका है, ऐसी स्थिति में कवि या काव्य का दोष नहीं होता, यहाँ तो सहृदयता ही दुष्ट हो जाती है। यहाँ तक तो हुई प्रमातृगत रस की बात, वस्तुगत रस कल्पना का भी भारतीय रस-शास्त्र में अभाव नहीं है। भरत, लोल्लट और शंकुक द्वारा प्रतिपादित रस तो निश्चय ही वस्तुगत है। उसकी रंगमंच पर काव्य-कौशल तथा नाट्य-कौशल के द्वारा सृष्टि होती है और वह आस्वाद रूप न होकर आस्वाद्य ही होता है। उधर जैन आचार्यों ने भी रस की स्थिति काव्यगत भाव सामग्री में ही मानी है। इसी प्रकार कविगत रस की कल्पना भी नयी नहीं है, भरत, आनन्दवर्धन, भट्टनायक तथा अभिनव आदि सभी मूर्धन्य रसाचार्यों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उसे स्वीकार किया है :

'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।'

अर्थात् जो कवि की अनुभूति का भावन कराता है, शास्त्र में उसका नाम भाव है।

'यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥' —नाट्यशास्त्र

अर्थात् जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल होते हैं, इसी प्रकार (कविगत) रस ही मूल है और उसके द्वारा ही भावों की स्थिति होती है।

भरत द्वारा उद्धृत इस श्लोक की व्याख्या करते हुए अभिनव ने आनन्दवर्धन का प्रमाण देकर कविगत रस का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

उसी कविगत साधारणीभूत रससंविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है। और वही (कविगत) सवित वास्तव में (मूलभूत) रस है। उसकी प्रतीति के वशीभूत उस (कविगत रस से प्रभावित) सामाजिक का अपोद्धारबुद्धि अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक आदि के द्वारा बाद का विभावादि की प्रतीति होती है। इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस (भावादि का मूल कारण) है। कवि सामाजिक के समान ही है। इसीलिए ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि यदि कवि शृंगारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और वह यदि वीतराग है तो सारा संसार नीरस हो जाता है इत्यादि। उस (बीजस्थानीय कविगत रस) से वृक्ष स्थानीय काव्य (उत्पन्न) होता है। उसमें पुष्प स्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फल स्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए (सामाजिक के लिए सारा काव्य) जगत् रसमय ही होता है।

कविगत रस की इस व्याख्या के उपरान्त श्री महेश्वर के आक्षेप का सहज ही निराकरण हो जाता है। मास भक्षण के उपर्युक्त प्रसंग में कवि की अनुभूति ही मूल रस है सहृदय की अनुभूति रस का विषय उसी के अनुसार होगा। काव्यगत स्थायी भाव से अभिप्राय प्रत्येक पात्र के स्थायी भाव का नहीं है वरन् कविगत स्थायी भाव का ही है। कवि का भाव यदि जुगुप्सा है तो सहृदय का भी जुगुप्सा (वीभत्स रस) का अनुभव होगा कवि का भाव यदि क्रोध है तो क्रोध (रौद्र रस) का और यदि भय है तो भय (भयानक रस) का। साधारणीकरण के प्रसंग में हम इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके हैं।

रस की अभिव्यक्ति का विरोध भी भारतीय काव्यशास्त्र के लिए नया नहीं है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व लोल्लट तथा शंकुक ने और उसके बाद भी भट्टनायक, महिम भट्ट धनंजय आदि ने रस की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निषेध किया है। स्वयं भरत का मत ही उसके विरुद्ध है। भरत के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ वस्तुतः निर्मिति ही है। निष्पत्ति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उन्होंने षाडवादि रस का जो दृष्टान्त दिया है उसमें यह सन्देह नहीं रह जाता कि उनके मत से रसास्वाद एक मिश्र अनुभूति है जिसमें आधारभूत स्थायीभाव के साथ काव्य तथा

नाट्य सौन्दर्य की अनुभूतियों का मिश्रण रहता है, जिस प्रकार षाडवादि रस के आस्वाद में अन्न के स्वाद के साथ द्रव्य, व्यंजन और औषधि आदि का स्वाद मिला होता है। लोल्लट ने भी उपचिति की प्रकल्पना के द्वारा इसी मत का पोषण किया है और भट्टनायक ने अभिव्यक्ति का खण्डन करते हुए भुक्ति की कल्पना इसी आधार पर की है। भट्टनायक के मत के अनुसार भी सहृदय रस रूप में जिस स्थायी भाव का भोग करता है वह अमिश्र रत्यादि न होकर गुणालंकार अर्थात् काव्य सौन्दर्य और चतुर्विध अभिनय अर्थात् नाट्य सौन्दर्य की अनुभूति से संवलित होता है। वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित कलात्मक भाव का ही पर्याय है। अतः निर्मिति की धारणा रसशास्त्र में अज्ञात नहीं थी। किन्तु इस के साथ, यह कहना भी संगत नहीं है कि रसाभिव्यक्ति का सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है। जिस आधुनिक आलोचक ने अत्यन्त निर्भ्रान्ति शब्दों में काव्यास्वाद को शुद्ध अनुभूति न मानकर अनुभूतियों का एक विधान माना है, उसी के विश्लेषण के आधार पर अभिव्यक्ति की भी सिद्धि हो जाती है। डा० रिचर्ड्स ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उसके छः अवस्थात माने हैं। चाक्षुष संवेदन (बिम्ब-विधान) सम्बद्ध बिम्ब-विधान, स्वतन्त्र बिम्ब-विधान, विचार, भावोद्बोधन और दृष्टिकोण का निर्माण। इस विश्लेषण के अनुसार किसी मुद्रित या लिखित कविता का अध्ययन करने पर पाठक के मन में पहले तो अक्षरों के बिम्ब उभरते हैं, फिर उनकी रूपाकृतियों और नाद से सम्बद्ध बिम्ब, तब इन अक्षरों द्वारा निर्मित शब्दों के प्रचलित वाच्यार्थ से सम्बद्ध बिम्ब उभर कर आते है जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होते हैं। इसके उपरान्त इन शब्दों के वाच्यार्थ के समन्वित रूप द्वारा पाठक की कल्पना और विचार जाग्रत हो उठते हैं, जिनके फलस्वरूप उसके भाव उद्बुद्ध हो जाते है, और अन्त में इस प्रक्रिया का संयुक्त परिणाम होता है एक विशेष मनोदशा का निर्माण। इस प्रकार कविता द्वारा प्रमाता के भाव का उद्बोध तो मनोवैज्ञानिक को भी मान्य है। मनोविज्ञान भी भाव की उद्बुद्धि का निषेध नहीं करता, क्योंकि वहाँ भी मानव चेतना की कुछ प्रवृत्तियों की स्थिर वृत्तियों के रूप में कल्पना की गई है। कविता के द्वारा प्रमाता की चेतना में जिस भाव या भावशवलता का उद्बोध होता है, वह निश्चय ही उसका अपना भाव या अनुभव होता है। कवि का भाव या अनुभाव उसका प्रेरक या निमित्त कारण अवश्य होता है, परन्तु कवि के भाव का ही यथावत् संचरण या स्थानान्तरण प्रमाता के चित्त में नही होता, नहीं हो सकता। यहाँ हम अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण या संचार सिद्धान्तों के विवाद की सीमाओं में प्रवेश कर जाते हैं और हमारे सामने एक बार फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है, काव्यानुभूति अथवा रस का संचरण (संप्रेषण) होता है अथवा अभिव्यक्ति? इस प्रश्न का समाधान भी हम यथा प्रसंग कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि अभिव्यक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत:प्रमाता के चित्त में जिस अनुभूति के उदय की कल्पना निहित है, वह कवि की अनुभूति से स्वतन्त्र एवं भिन्न नहीं होती, उसका मूल कविगत अनुभूति ही है, अतः वह कविगत

अर्थात् जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल होते हैं, इसी प्रकार (कविगत) रस ही मूल है और उसके द्वारा ही भावों की स्थिति होती है।

भरत द्वारा उद्धत इस श्लोक की व्याख्या करते हुए, अभिनव ने आनन्दवर्धन का प्रमाण देकर कविगत रस का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है।

उसी कविगत साधारणीभूत रससंविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है। और वही (कविगत) संवित् वास्तव में (मूलभूत) रस है। उसकी प्रतीति के वशीभूत उस (कविगत रस से प्रभावित) सामाजिक की अपोद्धारबुद्धि अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक आदि के द्वारा बाद में विभावादि की प्रतीति होती है। इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस (भावादि का मूल कारण) है। कवि सामाजिक के समान ही है। इसीलिए ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि यदि कवि शृंगारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और वह यदि वीतराग है तो सारा संसार नीरस हो जाता है, इत्यादि। उस (बीजस्थानीय कविगत रस) से वृक्षस्थानीय काव्य (उत्पन्न) होता है। उसमें पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उससे फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए (सामाजिक के लिए सारा काव्य) जगत् रसमय ही होता है।

कविगत रस की इस व्याख्या के उपरान्त श्री महेश्वर के आक्षेप का सहज ही निराकरण हो जाता है। शास्त्र प्रमाण के उपर्युक्त प्रसंग में कवि की अनुभूति ही मूल रस है, सहृदय की अनुभूति-रस का निर्णय उसी के अनुसार होगा। काव्यगत स्थायी भाव से अभिप्राय प्रत्येक पात्र के स्थायी भाव का नहीं है वरन् कविगत स्थायी भाव का ही है। कवि का भाव यदि जुगुप्सा है तो सहृदय को भी जुगुप्सा (बीभत्स रस) का अनुभव होगा, कवि का भाव यदि क्रोध है तो क्रोध (रौद्र रस) का और यदि भय है तो भय (भयानक रस) का। साधारणीकरण के प्रसंग में हम इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके हैं।

रस की अभिव्यक्ति का विरोध भी भारतीय काव्यशास्त्र के लिए नया नहीं है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व लोल्लट तथा शंकुक ने और उसके बाद भी भट्टनायक, महिम भट्ट, धनंजय आदि ने रस की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निषेध किया है। स्वयं भरत का मत ही उसके विरुद्ध है। भरत के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ वस्तुतः निर्मिति ही है। निष्पत्ति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उन्होंने षाडवादि रस का जो दृष्टान्त दिया है, उससे यह सन्देह नहीं रह जाता कि उनके मत से रसास्वाद एक मिश्र अनुभूति है, जिसमें आधारभूत स्थायीभाव के साथ अन्य तथा

नाट्य सौन्दर्य की अनुभूतियों का मिश्रण रहता है, जिस प्रकार पाडवादि रस के आस्वाद में अन्न के स्वाद के साथ द्रव्य, व्यंजन और औषधि आदि का स्वाद मिला होता है। लोल्लट ने भी उपचिति की प्रकल्पना के द्वारा इसी मत का पोषण किया है और भट्टनायक ने अभिव्यक्ति का खण्डन करते हुए मुक्ति की कल्पना इसी आधार पर की है। भट्टनायक के मत के अनुसार भी सहृदय रस रूप में जिस स्थायी भाव का भोग करता है वह अमिश्र रत्यादि न होकर गुणालंकार अर्थात् काव्य सौन्दर्य और चतुर्विध अभिनय अर्थात् नाट्य सौन्दर्य की अनुभूति से संवलित होता है। वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित कलात्मक भाव का ही पर्याय है। अत: निर्मिति की धारणा रसशास्त्र में अज्ञात नहीं थी। किन्तु इस के साथ, यह कहना भी सगत नहीं है कि रसाभिव्यक्ति का सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है। जिस आधुनिक आलोचक ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में काव्यास्वाद को शुद्ध अनुभूति न मानकर अनुभूतियों का एक विधान माना है, उसी के विश्लेषण के आधार पर अभिव्यक्ति की भी सिद्धि हो जाती है। डा० रिचर्ड्‌स ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उसके छः अवस्थान माने हैं। चाक्षुष संवेदन (बिम्ब-विधान) सम्बद्ध बिम्ब-विधान, स्वतन्त्र बिम्ब-विधान, विचार, भावोद्‌बोधन और दृष्टिकोण का निर्माण। इस विश्लेषण के अनुसार किसी मुद्रित या लिखित कविता का अध्ययन करने पर पाठक के मन में पहले तो अक्षरों के बिम्ब उभरते है, फिर उनकी रूपाकृतियों और नाद से सम्बद्ध बिम्ब, तब इन अक्षरों द्वारा निर्मित शब्दों के प्रचलित वाच्यार्थ से सम्बद्ध बिम्ब उभर कर आते है जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होते है। इसके उपरान्त इन शब्दो के वाच्यार्थ के समन्वित रूप द्वारा पाठक की कल्पना और विचार जाग्रत हो उठते हैं, जिनके फलस्वरूप उसके भाव उद्‌बुद्ध हो जाते है, और अन्त में इस प्रक्रिया का संयुक्त परिणाम होता है एक विशेष मनोदशा का निर्माण। इस प्रकार कविता द्वारा प्रमाता के भाव का उद्‌बोध तो मनोवैज्ञानिक को भी मान्य है। मनोविज्ञान भी भाव की उद्‌बुद्धि का निषेध नहीं करता, क्योंकि वहाँ भी मानव चेतना की कुछ प्रवृत्तियों की स्थिर वृत्तियों के रूप में कल्पना की गई है। कविता के द्वारा प्रमाता की चेतना में जिस भाव या भावशबलता का उद्‌बोध होता है, वह निश्चय ही उसका अपना भाव या अनुभव होता है। कवि का भाव या अनुभाव उसका प्रेरक या निमित्त कारण अवश्य होता है, परन्तु कवि के भाव का ही यथावत् सचरण या स्थानान्तरण प्रमाता के चित्त मे नहीं होता, नहीं हो सकता। यहाँ हम अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण या संचार सिद्धान्तों के विवाद की सीमाओं में प्रवेश कर जाते हैं और हमारे सामने एक बार फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है, काव्यानुभूति अथवा रस का सचरण (सप्रेषण) होता है अथवा अभिव्यक्ति ? इस प्रश्न का समाधान भी हम यथा प्रसंग कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि अभिव्यक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाता के चित्त में जिस अनुभूति के उदय की कल्पना निहित है, वह कवि की अनुभूति से स्वतन्त्र एवं भिन्न नहीं होती, उसका मूल कविगत अनुभूति ही है, अतः वह कविगत

अनुभूति के बहुत कुछ समान ही होती है। इसी तरह साधारणीकरण का भी यह अभिप्राय नहीं है कि प्रमाता के चित्त में कवि की अनुभूति का ही यथावत् संप्रेषण या स्थानान्तरण हो जाता है और प्रमाता अपनी अनुभूति का नहीं, कवि की अनुभूति का ही आस्वादन करता है। आई० ए० रिचर्ड्स ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में इसी भ्रमपूर्ण कल्पना का प्रतिवाद किया है। संप्रेषण सिद्धान्त का भी प्रतिपाद्य यही है कि किसी कविता को पढ़कर प्रमाता के चित्त में उस कविता में व्यक्त कवि की मूल भावना के समान अनुभूति का ही उदय होता है। ठीक वही अनुभूति प्रमाता के चित्त में संक्रमित नहीं हो जाती है, हो भी नहीं सकती। अतः संप्रेषण और अभिव्यक्ति का विरोध प्रायः काल्पनिक ही है, व्यवहार में दोनों में विशेष भेद नहीं रह जाता क्योंकि दोनों में समान अनुभूति की कल्पना ही निहित है। न तो संप्रेषण सिद्धान्त यह दावा करता है कि काव्य के आस्वादन में प्रमाता केवल कवि की ही अनुभूति का आस्वादन करता है, उसमें प्रमाता की अपनी अनुभूति का योग नहीं होता और न अभिव्यक्तिवाद यह प्रस्थापना करता है कि प्रमाता कवि की अनुभूति से सर्वथा स्वतन्त्र शुद्ध स्वानुभूति का ही आस्वादन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि निर्मिति तथा संप्रेषण की स्थापनाओं के द्वारा अभिव्यक्ति का खण्डन करने से रस सिद्धान्त की असारता सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि एक तो रस की अभिव्यक्ति का एकान्त निषेध असम्भव है, दूसरे अभिव्यक्ति की कल्पना में निर्मिति और संप्रेषण की कल्पनाओं का भी अभाव नहीं है।

अब केवल दो आक्षेप शेष रह जाते हैं। इनमें से एक तो यह है कि रस-सिद्धान्त के स्थायी मूल्यों पर आधृत है जबकि आज तो स्थायित्व की धारणा ही विघटित हो गई है। आज के जीवन में आस्था का ही पूर्णतया विघटन हो गया है, अतः आज की कविता के लिए आनन्दवादी मूल्यों पर आधृत रस सिद्धान्त निरर्थक है। आस्था का प्रश्न एक व्यापक प्रश्न है, जिसका काव्य से ही नहीं, सम्पूर्ण जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि आज जीवन के लिए जितना खतरा पैदा हो गया है उतना इतिहास के किसी युग में नहीं था और जब मानवता का अस्तित्व ही प्रतिक्षण खतरे में है तो आस्था के लिए अवलम्ब ही क्या रहा? इसलिए यह अनास्था और तज्जन्य विषाद आज का अनुभूत तथ्य है जिससे कोई सच्चा कलाकार बच नहीं सकता। फिर भी मैं पूछता हूँ कि क्या आज वास्तव में ही आस्था का विघटन हो गया है? यदि ऐसा है तो प्रभाव विस्तार, शक्ति-संगठन शान्ति और सुरक्षा के विश्वव्यापी प्रयत्नों का आधार क्या है? क्या सर्वनाश का यह खतरा ही हमारी जिजीविषा को तीव्र नहीं कर रहा और क्या जिजीविषा की तीव्रता ही आस्था की अनिवार्यता को सिद्ध नहीं करती? क्या आज की सम्भावनाओं में केवल प्रलय की सम्भावना ही साध्य है? सर्वनाश के भय से त्रस्त मानव-समाज के सार्वभौम संगठन की सम्भावना का कोई मूल्य नहीं

है ? सम्भावनाएँ दोनों ही हो सकती हैं। अब यह आप पर निर्भर करता है कि किसका चयन करें। यदि आप यही मानने का आग्रह करते हैं कि प्रलय का खतरा ही आज का एक मात्र सत्य है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है, तो इसमें रस-सिद्धान्त का क्या दोष ? यद्यपि यह आत्मघाती निराशा भी रस की परिधि से बाहर नहीं पड़ती और यदि आप में सचमुच ही इस निराशा को सुन्दर रूप प्रदान करने की क्षमता है, तो रस सिद्धान्त ही वस्तुतः आपकी कला का मूल्यांकन कर सकता है। फिर भी, व्यापक दृष्टि से, इस विषय में मैं केवल यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जिनकी चेतना अधिक अनाविल और विचारणा अधिक स्वस्थ है, वे आपसे सहमत नहीं है। जब तक जीवन है, तब तक आस्था अनिवार्य है और यदि जीवन में ही विश्वास नहीं है तो कला के प्रति विश्वास करने से क्या सिद्ध होगा ? इसी आक्षेप का दूसरा पहलू यह है कि रस के परिपाक के लिए स्थायी भाव की सद्यःअनुभूति की नहीं, वरन् अतीत अनुभूति के संस्कार या वासना की आवश्यकता होती है, जबकि वर्तमान जीवन मे केवल क्षण सत्य है और आज की कविता सद्यःअनुभूति की भी नही वरन् अनुभूयमान क्षण की ही कविता है। किन्तु यह केवल वाग्विलास है : सिद्धान्त का कल्पनात्मक प्रतिपादन है जो तथ्य से भिन्न है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में अनुभूति और कर्म, भोग और सृजन की युगपत सत्ता नही होती, यह प्रकृति का नियम है। अतः काव्य की सृष्टि भी अनुभूति के भोग की अवस्था में असम्भव है। जब अनुभूत क्षण को शब्दबद्ध करना ही इतना कठिन होता है तो अनुभूयमान क्षण को आप शब्द में कैसे बाँध सकते हैं ? अनुभूयमान भाव की संवेदनों से अधिक कोई स्थिति नही। इसमें सन्देह नही कि सूक्ष्मचेता कलाकार की कल्पना इन अरूप संवेदनों को रूप देने का प्रयास करती है, परन्तु ज्यों ही ये संवेदन रूपायित होते हैं, त्योंही अनुभूत भी हो जाते हैं : अनुभूयमान की रूपायिति ही अनुभूति है जहाँ क्षण 'अतीत' बन जाता है। क्रोचे ने इसे ही सहजानुभूति माना है। क्रोचे के अनुसार यह सहजानुभूति ही कला है। परन्तु कला के वे दो रूप मानते हैं, एक आन्तरिक रूप और दूसरा व्यावहारिक रूप। सहजानुभूति कला का आन्तरिक रूप ही है जो अवश भाव से कलाकार की चेतना में घटित हो जाता है—व्यवहार दृष्टि से यह कला की 'प्रकल्पना' है, कला नहीं। व्यवहार में हम जिसे कला कहते है, जो विवेचना का विषय है, वह इस सहजानुभूति की मूर्त्त उपकरणों द्वारा प्रस्तुति का ही नाम है जिसे कलाकार स्वेच्छा से अपनी अतीत सहजानुभूति के आधार पर ही सिद्ध करता है। अतः अनुभूयमान क्षण की अभिव्यक्ति की कल्पना असिद्ध है, अनुभूति की ही सर्जना या पुनः सर्जना सम्भव है। इस प्रकार पहले असम्भव की कल्पना कर और फिर शब्द को, जो अनादि काल से मानव जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे समर्थ साधन रहा है, सर्वाधिक वेध्य उपकरण कहकर, असाध्य साधन के श्रेय का भागी बनना बुद्धि का चमत्कार तो माना जा सकता है किन्तु काव्य सत्य के रूप में उसके लिए मान्यता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

रस सिद्धान्त के विरुद्ध अन्तिम आरोप यह है कि उसके कारण काव्य में पूरा बल आनन्द पर ही पड जाता है जिससे भोग वृत्ति का प्रोत्साहन मिलता है और उदात्त वृत्तियों की उपेक्षा हो जाती है। यह आरोप मूलत नैतिक है और भिन्न भिन्न युगो म तरह-तरह के रूप ग्रहण कर जीवन तथा काव्य में आनन्दवाद का विरोध करता रहा है। इसका एक उत्तर तो यह है कि भारतीय दर्शन और काव्यशास्त्र म आनन्द के जिस रूप की कल्पना की गई है वह मानव चेतना के परिपूर्ण विकास का पर्याय है। मानव व्यक्तित्व के सर्वांग उत्कर्ष का भावात्मक रूप या आस्वाद ही आनन्द है। यह विषय भोग सुख मनोरंजन, प्लेजर या लज़्ज़त का पर्याय नहीं है। आनन्द की इसी सर्वांगपूर्ण कल्पना पर आधृत होने के कारण रस की परिधि म मानव चेतना की मधुर और कटु सुखमय और दुःखमय सभी प्रकार की वृत्तियो का सहज रूप म अन्तर्भाव कर लिया गया है। उसम आनन्द की सिद्धावस्था ही नहीं साधनावस्था की भी पूर्ण स्वीकृति है। अत रस के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर इस प्रकार का आरोप नहीं लगाया जा सकता और इसका प्रमाण है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रस विवेचन, जिन्होंने आनन्द का विरोध करते हुए भी रसवाद को ही काव्य का सबसे अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त माना है। इसके अतिरिक्त क्या आनन्द अपने आप म ही कल्याणकर नहीं है क्या कल्याण की भी चरम सिद्धि आनन्द नहीं है?

उपर्युक्त प्रश्नो के समाधान के पश्चात् रस सिद्धान्त की महत्त्व प्रतिष्ठा अनायास ही हो जाती है। शास्त्र रूढियों म मुक्त रस सिद्धान्त अपने व्यापक एव विकासशील रूप म काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य का सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इसकी प्रकल्पना इतनी सर्वांगीण है कि मानव चेतना की मूलवृत्ति राग को धुरी बनाकर यह अन्य सभी प्रमुख तत्त्वो को उचित रूप में स्वीकार कर चलता है। अत जीवन के समस्त रूपो तथा विविध मूल्यों के साथ रस सिद्धान्त का पूर्ण सामजस्य है जिसम विभिन्न वादो के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हैं। कारण वास्तव म यह है कि रस सिद्धान्त मानववाद के दृढ आधार पर प्रतिष्ठित है। यह मानव को उसकी देह और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त रागद्वेष के साथ स्वीकार करता है, इसलिए मानव के अतीत वर्तमान तथा भविष्य के साथ इसका अभिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार मानववाद मानव को अन्तिम सत्य मानकर जीवन के विकास के साथ निरन्तर विकासशील है, उसी प्रकार मानव संवेदना को चरम सत्य मानकर रस सिद्धान्त भी निरन्तर विकासशील है। जैसे-जैसे जीवन की गतिविधि बदलती जाती है, वैसे-वैसे मानववाद की प्रकल्पना म भी संशोधन होता जाता है ठीक इसी प्रकार जैसे-जैसे साहित्य की गतिविधि मे परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे रस का स्वरूप भी व्यापक होता

जाता है। जीवन की निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन जिस प्रकार मानववाद में ही हो सकता है, इसी प्रकार साहित्य की विकासशील चेतना का परितोष भी रस सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकता है। जीवन की भूमिका में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता और साहित्य की भूमिका में जब तक मानव संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।

संस्कृत काव्यशास्त्र मे रस-सिद्धान्त

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

संस्कृत काव्यशास्त्र की नींव डालने वाला पहला उपलब्ध ग्रन्थ भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' है। नाट्यशास्त्र' मे से कुछ बातें श्रव्य-काव्य के संदर्भ में भी स्वीकार की जाती हैं और व्यापक दृष्टि से यद्यपि भरतमुनि को ही दृश्य-काव्य के साथ साथ श्रव्य-काव्य के शास्त्र-प्रवर्तन-कर्त्ता का गौरव दिया जाता है, तथापि श्रव्य-काव्य के संदर्भ म जिन मतों, सिद्धान्तों या स्थापनाओं का इतिहास साक्षी है उनकी परम्परा ही अलग है, सर्वांशत न सही नाट्य-शास्त्र से अशत अवश्य भिन्न है।

श्रव्य-काव्य का रूप-विधान दृश्य-काव्य के रूप-विधान से बहुत-सी बातों में भिन्न है, इसलिए श्रव्य-काव्य का शास्त्र भी दृश्य-काव्यशास्त्र से अलग होकर चला है। यह दृश्य तथा श्रव्य की रचना-विधि और माध्यम की विवशता है कि दोनों को अपनी रचना के नियम पृथक् करने पड़े हैं। उदाहरण के लिए, दृश्य-काव्य में अभिनय, रगमच-स्थापना तथा अभिनेता की उपस्थिति उसके शास्त्र को भी प्रभावित करती है और श्रव्य में उन सबका काम केवल भाषा को करना पड़ता है। दृश्य और श्रव्य के बीच पार्थक्य-रेखा तो ऐंद्रिय बोध के आधार पर ही अंकित होती है। अतएव दोनो के शास्त्र भी भिन्न हो जाते हैं। व्यापक रूप मे काव्यशास्त्र होकर भी दृश्य-काव्य का शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' तथा श्रव्य-काव्य का शास्त्र 'अलकार शास्त्र' अथवा 'काव्य-शास्त्र' कहलाया। दृश्य तथा श्रव्य-काव्य के बीच के इस अन्तर को शास्त्र-कर्त्ताओं ने इतनी सजगता से अपनाया कि 'नाट्यशास्त्र' मे विस्तृत रूप से प्रतिपादित तथा केन्द्र बिन्दु के रूप मे गृहीत रस की चर्चा ही श्रव्य-काव्यशास्त्र के प्रवर्त्तन-कर्त्ताओं ने नहीं की, या की भी तो इतने संकेतात्मक रूप मे कि वह या तो उपेक्षणीय बना रहे या उनकी विचारधारा मे ही सिंधु मे बिन्दु के सदृश सिमटकर रह जाय।

संस्कृत काव्यशास्त्र का वास्तविक महत्त्व उसे सतत अन्वेषणशील बुद्धि का परिणाम मानने से ही समझ मे आ सकता है। श्रव्य-काव्यशास्त्र दृश्य-काव्य के

शास्त्र के समान स्थिर नहीं रहा। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने जिन बातों की एक बार नींव डाल दी—जैसे वे ही उस परम्परा में आगे स्वीकृत होती चली आईं, वैसे श्रव्य-काव्य के शास्त्र-निर्माण में एक बार का निरूपित सिद्धान्त ब्रह्मवाक्य बनकर सदैव सम्मानित होता हुआ नहीं चला। ऐसा, मेरी समझ से, एक तो इसलिए हुआ कि श्रव्य-काव्य में, दृश्य-काव्य की अपेक्षा, रचना-विधि में विविधता अधिक आई और दूसरे इसलिए कि उस विविधता में से प्राणतत्त्व को खोज निकालना सरल नहीं रहा। व्यक्ति-सापेक्ष-स्थिति में कभी एक बात पर इशारा किया गया कभी दूसरी बात अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ी। परिणाम यह हुआ कि श्रव्य के सम्बन्ध में शास्त्रीय धारणाएँ विकसित (परिवर्तित कहना अधिक उचित नहीं) होती रहीं। एक बार जो स्थापना हुई, दूसरी बार वह सम्पूर्णतया तिरस्कृत न होकर आगे आने वाले विचार का अंग बन गई, गौण होकर उसी धारा में सम्मिलित हो गई। इस तरह अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा ध्वनि आदि नामों से अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन-प्रचलन हुआ और इस तरह हुआ कि हर सिद्धान्त-प्रवर्त्तक ने अपने विचार का प्रबल पोषण किया, किन्तु किसी ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्त को पूर्णतया नकारा नहीं, इसलिए संस्कृत काव्यशास्त्र की इस विचार-सम्पत्ति को खण्डशः न देखकर एक गतिशील सत्यान्वेषण के रूप में देखना ही उचित होगा। वस्तुतः दार्शनिक क्षेत्र के आत्मान्वेषण के समान ही काव्य के क्षेत्र में भी इन सिद्धान्तों की उपस्थिति उसी आत्मान्वेषण का ही परिणाम है। जैसे दार्शनिक जिज्ञासु ने अन्नमय-कोष से चलकर अनेक परीक्षणों के बाद आनन्दमयकोष और शरीर से चलकर आत्मा को खोज निकाला और इन सबके अन्तिम को ही प्रधानभूत मानकर ही औरों को इसी के हित के लिए नियोजित कर लिया, वैसे ही काव्य-जिज्ञासु ने अनेक मतों के अन्वेषण में रत रहकर काव्य के मर्म को थाहा और मार्ग में आए हुए सब विचारों को अन्तिम सत्य से नियोजित कर दिया, अपदार्थ समझकर उन्हें ठुकराया नहीं। संस्कृत काव्य-शास्त्र को इसी रूप में समझना चाहिए।

काव्य-स्वरूप के बाहरी संगठन से अधिक महत्त्वपूर्ण है काव्य में अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति का प्रश्न भाषा से सम्बन्धित है और भाषा का गठन होता है शब्दार्थ से। लेकिन शब्दार्थ जैसे काव्याभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है, वैसे ही साधारण अभिव्यक्ति के लिए भी। इसलिये केवल शब्दार्थ को स्वीकृत करके काव्य के स्वरूप का निर्देश नहीं किया जा सकता। शब्दार्थ की किसी विशेषता को खोजना होगा। इसी खोज से काव्यशास्त्र की वास्तविक खोज आरम्भ होती है। संस्कृत काव्यशास्त्र का आरम्भ यहाँ से नहीं हुआ। आरम्भ हुआ शब्दार्थ-साहित्य को ही काव्य की संज्ञा देने से। बात में एक हद तक सचाई होते हुए भी, श्रव्य-काव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में वह कमजोर पड़ गई। वह इसलिए कि एक तो उसमें अतिव्याप्ति थी क्योंकि अभिव्यक्ति-मात्र शब्दार्थ-साहित्य पर निर्भर है और शब्दार्थ की सहितता

काव्य म ही नहीं साधारण अभिव्यक्ति तथा शास्त्र म भी होती है ज्ञान विज्ञान क ग्रन्थों की भाषा म भी होती है। दूसरे शब्द तथा अर्थ का यह सहभाव परिमितता की दृष्टि स कैसा या कितना हो इस विषय म इस उक्ति म कोई निर्देश नहीं मिलता परिमितता स मेरा अभिप्राय यह है कि शब्द तथा अर्थ की यह स्थिति प्राधान्य भेद म या पौर्वापर्य क्रम मे मानी जाय या सम भाव से इस सम्बन्ध म स्पष्ट अभिमत का संकेत नहीं मिलता। इस शब्द को काव्य या अभिव्यक्ति के लिए प्रधान मान या अर्थ को अर्थ के पीछे शब्दानुगमन मानें या शब्द के पीछे अर्थानुगम। अर्थ महत्त्वपूर्ण होता है तो शब्द अपने आप निकल पड़ते हैं यह मानें या यह मानें कि शब्द का रस देने पर निर्भर है कि उनस अर्थ कैसा निकले या यह मान कि दोनो तात्पर्यवशगामी हैं। अभिव्यक्ति के लिये दोनो की उपस्थिति तो मात्र स्वीकृत है किन्तु दोनो की वक्रता का निर्णय कौन करे? कैसे करे? कालिदास की वागर्थ मे आई इस पंक्ति वागर्थाविव सम्पृक्तौ स भी शब्दार्थ की अभिन्नता की सूचना तो मिलती है किन्तु उससे और प्रश्नों का समाधान नहीं होता। पार्वती परमेश्वर का ही ध्यान म रख तो इनका परस्पर सम भाव अथवा उपकार्योपकारक भाव माना जा सकता है किन्तु फिर भी पौर्वापर्य क्रम आदि प्रश्नों का समाधान नहीं होता न ही यह पता लगता है कि काव्य प्रयोग म इनम कोई विशिष्टता होनी चाहिए अथवा नहीं। अतिव्याप्ति-दूषण स तो यहाँ बचाव है ही नहीं। स्पष्टता किसी और सन्दर्भ म सद्गुण भले ही मानी जाय निश्चित स्वरूप-कथन या परिभाषा के क्षेत्र म सहाय नहीं है।

परिभाषा सदैव विशिष्टता का अवलम्ब ग्रहण करती है। काव्य-परिभाषा विशेषत दृश्य-काव्य स अलग करने क लिए श्रव्य-काव्य की परिभाषा को भी इसी विशिष्टता का अवलम्ब स्वीकार करना पड़ा। वैशिष्ट्य-बोध के इस क्रम म पहले-पहल ध्यान गया अलकार प्रयोग पर। अलकार प्रयोग के द्वारा शब्द-स्थापना पर बल दिया गया जिससे सौन्दर्य की सिद्धि के साथ आह्लाद की उपस्थिति तथा भाव की विशदता की भी सिद्धि हुई। अलकार की अनिवार्य दृष्टि ने कालान्तर म उसके प्रयोग पर से निष्ठा भले ही समाप्त कर दी हो किन्तु उसका आरम्भ निश्चय है काव्य की कृत्रिमता क लिए नहीं उसकी ऋजुता क लिए ही हुआ था। लोक म भी अपनी बात को भली प्रकार प्रपणीय बनाने के इच्छुक उपमादि का प्रयोग करते देखे जाते हैं। सौन्दर्य या उल्लास आदि को प्रकट करने के लिये शायद मन म स्वाभाविक रूप से यह आकांक्षा जाग्रत हो जाती है कि उसे उपमित करके प्रस्तुत किया जाय। हर आदमी अपनी बात को इस रूप में कहने की साध रखता है कि वह दूसरे का ध्यान आकर्षित कर सके उसे अधिकाधिक अपने समीप ला सके। सृजन की यह स्वाभाविक पीड़ा है कि वह दूसरो के द्वारा कही हुई बातों से अलग होकर अपना रास्ता बनाना चाहती है और इसके लिए शब्द-स्थापना मे चमत्कार लाने के लिए

प्रयत्नशील रहती है। यह चमत्कार स्वाभाविक पीड़ा-जनित होने के कारण कवि के हृदय में जागे हुए उल्लास, विषाद आदि को ही अधिक व्यक्त करता है, केवल कौतूहल और अजनबीपन के वैचित्र्य के लिए लाया हुआ नहीं होता। हर जगह उसे कृत्रिम बताकर उसका उपहास नहीं किया जा सकता। केवल जहाँ उसका सम्बन्ध विश्वास की सीमाओं का उल्लंघन करता दिखाई देता हो, कथ्य की स्पष्टता में सहायक न होता हो, या भावोद्बोध में सहायता न देता हो, वहाँ उसे कृत्रिम कहकर उसकी अवहेलना की जा सकती है। सामान्य रूप से उसके समस्त प्रयोगों को अस्वाभाविक कहकर उपहसनीय सिद्ध नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य लाने के लिए उक्ति में कुछ वैचित्र्य या वैशिष्ट्य तो लाना ही होगा। इस वैशिष्ट्य की सिद्धि चित्रकार को रंगों के प्रयोग से होती है और कवि को शब्दों के प्रयोग से। कवि शब्द-प्रयोग में कहीं समानता (सिमलैरिटी) का, कहीं विलक्षणता (स्ट्रेंजनैस) का, कहीं वैषम्य (कॉण्ट्रास्ट) का, कहीं असाधारणता (एक्स्ट्रा ऑर्डिनरीनैस) का, तथा कहीं सन्तुलन (बैलेंस) का या इसी प्रकार के अन्य साधनों का प्रयोग करता है। चित्रकार भी रंगों की योजना में इन रीति-नीतियों से काम लेता है। यही रीति-नीतियाँ शब्द-प्रयोग के काम में अलंकार कहलाती हैं। निश्चय ही यदि चित्रकार का काम इनके प्रयोग से सरल होता और प्रशंसनीय बनता है तो कोई कारण नहीं है कि कवि की इसके प्रयोग के लिए भर्त्सना की जाये। चित्रकार यदि इन रीतियों से अपने चित्र में सौन्दर्य लाता है तो कवि अपने काव्य में। यदि एक जगह एक कार्य प्रशंसनीय है तो दूसरी जगह बिना किसी प्रबल कारण के या प्रयोग के अनौचित्य के उसकी निन्दा नहीं की जा सकती, न ही करनी चाहिए। अलंकारों को हमारे यहाँ के काव्यकर्ताओं और काव्य-शास्त्र-निर्माताओं ने इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर ग्रहण किया है, यह बात और है कि बाद में चलकर उनका प्रयोग किसी के हाथ कैसा हुआ। यह तो व्यक्ति-भेद और प्रयोग-भेद की बात है, अपने-आप में अलंकारों की बुराई की इससे सिद्धि नहीं होती। अलंकार प्रयोग में जो बुराई और जटिलता आई है, वह केवल अलंकार-प्रयोग में ही नहीं दिखाई देती, प्रायः सभी प्रकार के विचार-मत धीरे-धीरे इस दुर्गति के शिकार हुए हैं। अत्यधिक सूक्ष्मता, विश्लेषण-प्रियता तथा नव्यता के आग्रह ने न ध्वनि-सिद्धान्त को असंख्य भेदों में बँटने से रोका है, न रस-सिद्धान्त को।

अलंकार-सिद्धान्त ने प्रकारान्तर से जिस सृजन-सत्यता की ओर संकेत किया था, वह थी कल्पना। यही कारण था कि उसने वार्ता और साधारण भाषा को पीछे छोड़कर तुलना आदि के लिए शब्दों, उपमानों और व्यापारों की खोज की। अलंकारों के प्रयोग ने कवि को एक ही साथ कई दिशाओं में कार्यरत किया। उनके प्रयोग के लिए उसे जीवन और जगत् का प्रत्यक्ष-द्रष्टा बनना पड़ा और खुली आँखों

से उसने जो कुछ देखा उसके प्रभाव और स्वरूप को अंकन के लिए उसे समान
अवस्थाओं की खोज करनी पड़ी। संयोजन के इस काम में उसने अपनी बुद्धि को
सचेत रखने के साथ ही अपनी भावुकता तथा कल्पना को, विशेषत कल्पना को, भी
जाग्रत रखा। अलंकारों की इसी उपयोगिता की दृष्टि में रखकर काव्यशास्त्रियों ने
उस काव्यस्वरूप के निर्धारण में प्रमुखता प्रदान की और इस प्रकार काव्य रचना
में सौन्दर्य कल्पना बौद्धिकता भावुकता और वास्तविकता के मिश्रण पर जोर
दिया। यही मान में अलंकारवादी ने सौन्दर्य को ही काव्य का मूल तत्व मानकर
उसके भिन्न प्रयोगों की स्वीकृति दी है। गड़बड़ी केवल तभी हुई जब उक्ति के नाना
प्रकारों की खोज में इनका ध्यान बाहरी रूप विधान की ओर अधिक आकृष्ट हो
गया बात का सजाने सँवारने में ही इनकी चेतना विशेषतया लग गई। भाषा शिल्प
तथा उक्ति चमत्कार के लिए तो अलंकार सिद्धान्त की फिर भी प्रशंसा करनी ही
होगी। अलंकार सिद्धान्त ने शब्द-संहति और कल्पना का भाषा पर गहरा रंग
चढ़ाया। श्रुति संवेदन के लिए शब्दालंकारों की योजना हुई और अर्थबोध आदि
के लिए अर्थालंकारों की। श्रुति एवं बोध का स्वरूप भी क्रमश जटिल होता गया
और जैसे श्लेष यमक के आधार पर चौंकाने और बौद्धिक व्यायाम करानेवाली
विदग्धता में ही कवि-सामर्थ्य मानी जाने लगी, वैसे ही उपमादि अलंकारों को त्याग
कर विरोध, परिसंख्या, असंगति आदि चमत्कारमूलक अलंकारों का सहारा लिया
जाने लगा। धीरे धीरे इस शास्त्र में न्याय, गणित तथा दर्शन के आधार पर चरपटा
मसाला तैयार करनेवाले अलंकारों की गणना होने लगी। 'सौन्दर्यमलंकार' अथवा
चारुत्वमलंकार कहकर आरम्भ में जिस सौन्दर्य की व्यापक भूमि तैयार की गई थी
और रस तक को उसके अंतर्गत घसीट लाने का प्रयत्न हुआ था वही कालान्तर में
अभिव्यंजना में अभिव्यंजना-कौशल बनकर वक्र भंगी भणिति मात्र रह गया फिर भी
नमिसाधु और आनन्दवर्धन जैसे चिन्तकों और विवेचकों ने अलंकारों की महनीयता
को समझा और उनको सम्मान हृदय-राग से बैठाया। इस प्रकार भंगी भणिति तथा
हृदयावर्जक अर्थप्रकारता मूलक स्वरूप की ओर ध्यान देने का परिणाम यह हुआ कि
अलंकारों की काव्य में बाह्यता अथवा आभ्यन्तरता के सम्बन्ध में विवाद उपस्थित हो
गया। समन्वय किया आनन्दवर्धन ने। वस्तुत इस भेद करने वाली विचार-परम्परा
का सूत्र तो भामह की स्थापनाओं में ही मिल जाता है जब वे कहते हैं 'न कान्तमपि
निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'। इसी की पुष्टि में मानो भामह ने यह भी कहा है 'यह
चन्द्रमुखी कन्या स्वभाव से ही मनोहर है। इसके शरीर पर कनक भूषण शोभा की
अतिशय वृद्धि करेगा। ऐसी स्थिति में यदि आचार्य मम्मट ने अलंकारों को अनावश्यक
मानकर उनका तिरस्कार कर दिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। किन्तु
उदार दृष्टिकोण अपनाया आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने, जिन्होंने रस-योजना में
सहायक अलंकारों को कटक-कुण्डल की तरह नहीं कुंकुम के समान बताया और
यहाँ तक कह दिया कि जिस प्रकार कभी-कभी मचलते हुए बालक राजा का रूप धारण

कर लेता है और अपने को राजा ही समझता है, उसके साथी भी उसे राजा ही कहते-मानते है, उसी प्रकार रस-पोषण के लिये प्रयुक्त अलंकार प्रधान महत्त्व के भागी हो जाते हैं—(लोचन)। यदि ये प्रयत्न-साधित न हों तो रससमाहित चेता कवि के सामने तो 'यह यह मैं हूँ, यह मैं हूँ' कहते हुए स्वयं ही चले आते हैं। (अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहं पूर्विकया परापतन्ति)—ध्वन्यालोक। इनकी सफल योजना कवि-प्रतिभा पर निर्भर है।

अलंकार-सिद्धान्त मे श्रुति-संवेदन की ओर कम ही ध्यान गया था, रीति-सिद्धान्त ने उसकी विशेष स्थापना की। अलंकार-विवेचकों ने शब्द-स्थापना के साथ अर्थ-गरिमा या अर्थ-वैचित्र्य पर भी दृष्टिपात किया था। विशिष्ट पदरचना को रीति कहकर चलने वालों ने शब्द-स्थापना और देशाभिव्यक्ति की विशेषताओं पर ही ध्यान दिया। रीति के प्रस्तावक वामन महाशय ने इसी को काव्यात्मा घोषित कर दिया। यह सब हुआ तो, किन्तु यह हुआ केवल भाषा के स्तर पर ही। इसके पीछे कवि-व्यक्तित्व की खोज न की गई और न यह सिद्धान्त परवर्ती विवेचकों का स्थिर रूप से ध्यान ही आकर्षित कर सका।

रीति-सिद्धान्त का आरम्भ तो प्रादेशिक विशेषता के विचार से ही हुआ था और उसी के आधार पर रीतियों के नाम भी रखे गये थे, किन्तु देश-विशेष में एक ही रीति का प्रचलन हो या काव्य का कथ्य हर समय उस देश-विशेष में एक ही प्रकार से व्यक्त किया जाता हो, यह कोई नियम नहीं है। देशानुसार स्थापना का तिरस्कार करके रीतियों का आधार कथ्य और कथयिता के स्वभाव को ही मानना होगा। संस्कृत काव्यशास्त्र-निर्माता का ध्यान कथ्य की ओर अवश्य आकर्षित हुआ और उसी के आधार पर रीति के साथ गुणों की चर्चा आरम्भ हुई। वामन ने पद-रचना-विशिष्टता को इसी आधार पर स्वीकार करते हुए 'विशेषो गुणात्मा' कहा ही है। यह कह देने का एक परिणाम हुआ। वह यह कि अलंकारों को धर्मस्थान से च्युत करके गुण उस स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिये गये और विवाद के लिये एक नई समस्या उपस्थित हो गई कि शोभाकर धर्म अलंकार हैं या गुण? धर्म वही हो सकता है जो नित्य हो, अतएव विवाद इस दिशा में भी आरम्भ हुआ कि अलंकार नित्य हैं या अनित्य। जीत गुणों की रही, नित्यता उन्हीं में मानी गई।

कवि-भेद के साथ पद-रचना में भेद सम्भव है। हर कवि की अपनी कथन-शैली होती है। इस दृष्टि से यदि आगे चलकर कुन्तक और भोज ने रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु, कवि-कर्म-विधि या काव्य-मार्ग कहा तो कुछ विचित्र नहीं किया। लेकिन इन लोगों ने उसे एक मनोवैज्ञानिक आधार नहीं दिया कि वह आत्मा-स्थानीय बन सकती। यही कारण है कि वह शनैः-शनैः शरीर-स्थानीय बनकर समाप्त

हो गई। रीतिवाद ने शब्द एवं वर्ण-स्थापना के नियम निर्धारण पर इतना बल दिया कि उसके मूल में स्थित भाव की महत्ता की ओर से ध्यान हट गया। होना तो यह चाहिए था कि यह निश्चय किया जाता कि भावानुकूल भाषा किस ओर कितने रूपों में प्रवाहित होती है और उस निर्धारण के आधार पर कवि के मानसिक धरातल तथा तदनुकूल रचना विधान का अनुशीलन-परिशीलन किया जाता, किन्तु हुआ यह कि विशिष्ट भाव स्थिति के प्रकाशन के हेतु विशेष शब्दावली और वर्ण-योजना निश्चित कर दी गई और आगे के कवि उसी का अनुसरण करने में कवि-व्यापार-समता समझने लगे। कवि-व्यापार की स्वाभाविकता का स्थान अभ्यास और दीक्षा ने ले लिया और रचनाएँ एक ढाँचे में ढली हुई आने लगीं। दण्डी ने चाहे 'अस्त्यनेको गिरां मार्गः' कहा हो और चाहे वामन ने अर्थगुण कान्ति में ही रस की दीप्ति और सौकुमार्य तथा उदारता में भाव-सौन्दर्य-सम्बन्ध की स्थापना करके अर्थगुण को भी महत्त्व दिया हो, किन्तु दोनों ही उस शब्द-स्थापना प्रणाली हीन से न बचा सके।

रीति के साथ गुणों का सम्बन्ध बहुत दिन नहीं रहा। धीरे-धीरे उनका सम्बन्ध रस सिद्धान्त से जुड़ा और ओज, प्रसाद या माधुर्य के लिये सामासिक या असामासिक पदावली आदि की योजना को ही सब कुछ न मानकर अब चित्त की द्रुति, विस्तार तथा विकास में उनकी सम्पन्नता की ओर ध्यान जाने लगा। इस प्रकार उनका सम्बन्ध रूप-योजना से हटकर अन्तरंग रूप से घटित होना चला और रचना-कौशल के रूप में मानकर जो गुणों की संख्या बढ़ाते चलने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी, आचार्य मम्मट के काल तक आते-आते उस पर अंकुश लगा। उनकी संख्या सिमटकर पुनः तीन ही रह गई। गुणों के वर्णन के साथ ही विचारकों की दृष्टि दोषों पर भी गई और उनका क्षेत्र भी धीरे-धीरे पद, वाक्य से लेकर अर्थ ही नहीं अलंकार तथा रस तक व्यापक हो गया। दोष विवेचन ने कला एवं भाव दोनों को ध्यान में रखकर निर्दोष रचना के नियम निर्धारित किये और उसे महत्त्व दिया। इस प्रकार रीति, गुण तथा दोष तीनों ने मिलकर काव्य की रचना, कला और भाव भूमि के सन्तुलन-सौन्दर्य को उपस्थित करने की विधि बनाई और आगामी औचित्य तथा रस सिद्धान्त के लिए भूमि तैयार की।

अलंकार, रीति तथा गुण-दोष के विवेचन से शब्द-शिल्प तथा कवि-कल्पना और चमत्कार-वृत्ति पर तो प्रकाश पड़ा किन्तु भाव-दीप्ति तथा उससे सम्बन्धित अनेक प्रश्नों की उपेक्षा ही होती रही। इस ओर ध्यान दिया था ध्वनि तथा रस-वादी विवेचकों ने। क्रम की दृष्टि से यद्यपि उनका वर्णन रीति सिद्धान्त विवेचकों के बाद ही होना चाहिये, किन्तु विचार-परम्परा की दृष्टि से उनसे पूर्व यहाँ कुन्तक के वक्रोक्ति-विवेचन को उपस्थित करना उचित होगा। वक्रोक्ति-सिद्धान्त अलंकार-सिद्धान्त का ही विकास-सा है। दोनों का आधार कल्पना है, यह बात और है कि

अलंकार का आधार चमत्कारमूलक कल्पना है और वक्रोक्ति का आधार कवि-प्रतिभा नाम वाली मौलिक कल्पना। इसी तरह शब्द-स्थापना तो वक्रोक्ति में है, किन्तु उसका क्षेत्र वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान और प्रबन्ध-कल्पना से लेकर अलंकार, रीति, ध्वनि और रस तक होने के कारण अति-विस्तीर्ण है और वह कवि-कल्पना के अनेक रूप उद्‌घाटित करती है। अलंकार-सिद्धान्त के अन्तर्गत ये सब बातें ग्रहण ही नहीं की गई और की भी गई तो उनको शब्द-स्थापना और उक्ति-वैविध्य के सामने उपेक्षित कर दिया गया। इसके विपरीत कुन्तक ने काव्य-वस्तु की स्वभाव-रमणीयता के प्रति विश्वास प्रकट किया और उनकी अभिव्यक्ति में सहज-आगत वक्रोक्ति को माना। उनकी स्थापना यह नहीं थी कि वस्तु कैसी भी हो, उसे अलंकृत करके काव्योक्ति का रूप दिया जा सकता है, बल्कि उनका मत यह था कि काव्य-वस्तु स्वभावतः ऐसी हो कि सहृदय-आह्लाद में समर्थ हो। यदि वस्तु वैसी है तो उक्ति स्वयं तदनुकूल रमणीय रूप में उपस्थित होगी। फिर भी इस रमणीयता का उद्‌घाटन कोई प्रतिभाशाली ही कर सकता है, जन-सामान्य नहीं। प्रतिभा के अभाव या उसकी दरिद्रता के कारण केवल शब्द-सौन्दर्य या वक्रता कथनीय वस्तु में सौन्दर्य नहीं ला सकती। यही नहीं, यदि कथनीय वस्तु अपने-आप में पर्याप्त समृद्ध है तो भी कथयिता के प्रतिभाशाली न होने पर समर्थ शब्द के प्रयोग के अभाव में वह भी चमत्कारी नहीं बन सकता। तात्पर्य यह कि शब्द तथा अर्थ, सौन्दर्य-प्रणाली और विषय-वस्तु दोनों को ही कुन्तक ने सम-भाव से परस्पर-स्पर्धि रूप में महत्त्व दिया और उनके नियोजन के लिये उन्होंने कवि-व्यापार को आधार स्वरूप ग्रहण किया।

कवि-प्रतिभा, जिसे कुन्तक कवि-व्यापार कहते हैं, पर बल देकर कुन्तक ने न केवल शब्द तथा अर्थ की सहितता को पूर्वाचार्यों द्वारा कथित व्याकरणिक सहितता-बोध से ऊपर उठाया, अपितु उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि शब्द या अर्थ में से किसी एक को प्रधानभूत मानकर चलना और दूसरे की उपेक्षा करना काव्य की सिद्धि के लिये हितकर नहीं है (न शब्दस्यैव रमणीयता-विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नापि अर्थस्य)। जिस तरह तिल में ही तैल की सत्ता होती है, तिलाभाव में तैल की कल्पना निरर्थक है, वैसे ही शब्द तथा अर्थ में भी दोनों में ही, एक में नहीं, सम्मिलित रूप से आह्लादकारिता विद्यमान रहती है। इस तरह मानने का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि शब्द तथा अर्थ में से एक-दूसरे की बाह्याभ्यन्तरता का विचार ही निरर्थक सिद्ध हो गया अर्थात् विषय-वस्तु तथा रचना-विधि दोनों का समान महत्त्व सिद्ध हुआ।

कुन्तक ने जिसे वक्रता कहा उसे ही वैदग्ध्य-भंगी-भणिति, वैचित्र्य और विच्छित्ति भी कहा। इन शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्यभाषा को

साधारण भाषा से पृथक करके तथा केवल अलंकार-जनित चमत्कार को नहीं बल्कि काव्य के समस्त मण्डल में व्याप्त वक्रिमा को चमत्कार माना और उसी में सौन्दर्य भी स्वीकार किया। इस सौन्दर्य का प्रभाव भी अलंकारवादियों के द्वारा उपस्थापित काव्य-प्रयोजन से भिन्न तथा रसवादियों के अनुकूल आह्लाद बताया गया। यह आह्लाद भी साधारण नहीं, प्रत्युत पारलौकिक या आध्यात्मिक आह्लाद के समान होता है जिसे जानने वाला ही जानता है। शब्द तथा अर्थ की इस स्थिति को स्वीकार करके कवि-व्यापार का महत्त्व देने पर यह झगड़ा भी आप-से-आप निपट-सा गया कि काव्य में अलंकार बाह्य होते हैं या आभ्यन्तर। वस्तुतः इस दृष्टि से तो काव्य अलंकृत वाणी के ही रूप में प्रकट होता है और यही उसका स्वाभाविक रूप है कृत्रिम नहीं। तात्पर्य यह कि कुन्तक की वक्रोक्ति के अन्तर्गत काव्य-सम्बन्धी केवल रचना विधान की चर्चा ही उपस्थित नहीं हुई बल्कि उन्होंने रचयिता की भी आन्तरिकता का प्रयत्न किया और रचना के उद्देश्य पर भी प्रकाश डाला। सब कुछ होकर भी कुन्तक का यह सिद्धान्त सहृदय की उपेक्षा कर गया और पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होने पर भी अपनी परम्परा न चला सका।

वास्तविकता तो यह है कि कुन्तक को अपने पूर्ववर्ती समस्त सिद्धान्तों को समझने-परखने और उनसे लाभ उठाते हुए उनके प्रकाश में सारपूर्ण बात कहने का अवसर मिला था इसलिये उन्होंने कहीं अलंकारवादियों से शब्दावली ली, कहीं रस तथा ध्वनिवादियों से तत्त्व ग्रहण किये और विचार की दिशा में आगे बढ़ गये। उनसे पूर्व आनन्दवर्धन ने बड़ी मार्मिकता और गहराई से काव्य-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर विचार किया था। ध्वनि सिद्धान्त की स्वीकृति में उन्होंने भी नितान्त व्यापक दृष्टिकोण से काम लिया था, किन्तु उनकी व्यापकता रस के साथ अलंकार तथा वस्तु को भी मान्यता देने में दिखाई देती है और कुन्तक की व्यापकता इस बात में है कि उन्होंने काव्य के अंग प्रत्यंग से सम्बन्धित करके अपने सिद्धान्त को सामने रखा। जो हो, इन सब आचार्यों की प्रतिभा अभी तक इस बात में व्यस्त हुई थी कि ये शब्दों की स्थापना करते रहे, चमत्कार लाने के रास्ते ढूँढ़ते रहे और बाह्य शिल्प को ही भ्रम से अन्तस्तत्त्व मानते रहे। गहराई में जाकर यह सोचने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया कि अर्थ-प्रसार का क्षेत्र कहाँ तक है, शब्दों का दोहन करके उनसे अर्थ कहाँ तक निकाला जा सकता है। ध्वनिकार से पूर्व केवल इसी बात की उपेक्षा नहीं हुई, बल्कि अतिवादी दृष्टियों ने कभी वस्तु-वर्णन से अकाव्य माना, कभी अलंकार-वर्णन से। ध्वनिकार ने वस्तु तथा अलंकार को भी ध्वनि का आधार देकर काव्य की स्वीकृति दे दी। ध्वनि के इस नये विवेचन ने अर्थ-गाम्भीर्य को बल दिया और काव्य-रचना को केवल महान् प्रतिभाशालियों के लिये ही छोड़ दिया। अर्थ की इस गहनता ने कोटि-क्रम निर्धारित करने में भी दिशा निर्देश का काम किया और ध्वनि के निर्वाह की दृष्टि से काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों की कल्पना की गई।

पूर्वाचार्यों की अपेक्षा यह सिद्धान्त इस वात में भी उदार ही सिद्ध हुआ, क्योंकि अन्य सिद्धान्त तो इस कोटि-क्रम के निर्धारण की चिन्ता ही नहीं करते। इस क्रम की स्वीकृति वस्तुतः कवि-सामर्थ्य-भेद की ही स्वीकृति है। इस प्रकार ध्वनि के अन्तर्गत भी कवि-प्रस्थान-भेद माना गया, किन्तु वह केवल चमत्कारार्थ नहीं, वल्कि अर्थ-गाम्भीर्य के हेतु माना गया। गाम्भीर्य में ही वैलक्षण्य सिद्ध कर देने वाले इस सिद्धान्त ने काव्य को शब्दजाल से मुक्त करके सरलता की ओर मोड़ दिया। इससे यह सिद्ध किया कि गम्भीरता और सरलता परस्पर विरोधी नहीं हैं और गम्भीरता न तो जटिलता या दुर्बोधता का ही नाम है न उसके लिये असाधारण शब्दकोष की ही आवश्यकता है। उन्हीं जाने-पहचाने शब्दों में नई-नई अर्थवत्ता ले आने का प्रमाण बनकर यह सिद्धान्त निःसन्देह बड़ा ही आकर्षक और महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। फिर यदि इस सिद्धान्त में कवि को प्रजापति का गौरव दे दिया गया तो कोई आश्चर्य क्यों करे? कवि की स्वतन्त्रता की यह घोषणा भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा काव्य का सृजन कवि की रुचि पर निर्भर हुआ और उसकी कल्पना को गौरव मिला। वह प्रजापति, जैसा उसे रुचिकर लगता है, इस संसार को उसके अनुकूल ही परिवर्तित कर देता है, रूप देता है। काव्य का संसार अपार है, न उसके लिये किसी विषय की सीमा निर्धारित है न वर्णन के लिये तरीका ही निश्चित है। इतना ही नहीं, इससे कवि-कल्पना का महत्त्व भी स्वीकार कर लिया गया। अलंकार-प्रयोग में यह कल्पना वोधवृत्ति के रूप में स्वीकृत थी तो रस के सम्बन्ध में रागात्मक संवेदन के लिये भाषा के सुष्ठु प्रयोग की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी और व्यंजना ने कल्पना-तत्त्व को प्रश्रय दिया। यह कल्पना केवल कवि में ही अपेक्षित हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ध्वन्यर्थ को पकड़ने के लिये सहृदय में भी इसकी उपस्थिति उतनी ही जरूरी है। अतः यहाँ आकर 'विशिष्ट प्रयोग' का तात्पर्य भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग हो गया। इस प्रयोग के द्वारा अर्थबोध के साथ-साथ रूप-संवेदन भी होता रहा। किन्तु इस सबकी पकड़ भी सबकी सामर्थ्य में नहीं है। ध्वनि के कारण भाषा को जो सूक्ष्मता मिली, उसे समझने के लिये एक विशेष मानसिक स्तर का व्यक्ति ही समर्थ हो सकता है। अतएव इस सिद्धान्त की यह अनिवार्यता ही थी कि इसमें सहृदय की योग्यता का भी विचार किया गया और उससे काव्यानुशीलन की माँग की गई। इसका अर्थ यह था कि शब्दकोषों की तोता-रटन्त करके भी काव्य-प्रयोग को समझना सम्भव नहीं होता, उसे तो बार-बार काव्य पढ़कर, उसका एक संस्कार बना लेने पर ही समझा जा सकता है।

ध्वनिकार ने वस्तु तथा अलंकार को ध्वनि मानकर भी रस-ध्वनि को ही प्रधान माना था। इस रस-निर्वाह के लिये उसके सामने कई प्रश्न उपस्थित हुए। एक तो रस-निर्वाह के सम्बन्ध में अलंकारों का विचार किया गया और, जैसा पहले बताया जा चुका है, उन्हें शरीर-स्थानीय से यथावश्यक आत्मा-स्थानीय तक सिद्ध करने

की उदारता दिखाई गई। दूसरे यदि रस को ही सब कुछ मान लिया जाता तो काव्य के विवेचन मुक्तक के ऐसे अनेक स्थल छूट जाते जिनमें रस निर्वाह न हुआ होता। ध्वनिकार ने इस विषय में बहुत ही विवेक से काम लिया और स्पष्ट रूप में यह मान लिया कि मुक्तकों में सर्वत्र अथवा सदैव रस निर्वाह नहीं हुआ करता। उसका मुक्तक में निर्वाह प्रबंध के समान सहज नहीं होता अतएव रसाभाव में मुक्तक को अकाव्य नहीं कहना चाहिये। तीसरे ध्वनिकार ने रस की प्रातीतिक सत्ता स्वीकार कर ली। वाच्य के स्थान पर वह अनुभूति मात्र बन गया। कवि केवल विभावादि का वर्णन ही कर सकता है, रस का वर्णन सम्भव नहीं है। उसकी तो उसी वर्णन के आधार पर कल्पना में उगी हुई मूर्ति के सहारे प्रतीति ही होती है। वाणी से 'रस' शब्द का उच्चारण करने से रस की उपस्थिति नहीं होती और विभावादि का चित्र उपस्थित कर देने से वह अपने-आप सहृदय के मन में घनने लगता है। अर्थबोध से भिन्न यह सहृदय का हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति है। सही तो यह कहना होगा कि ध्वनि सिद्धान्त विषयीगत सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया उपस्थित करनेवाला सिद्धान्त है जिसमें स्रष्टा और द्रष्टा दोनों को अनुकूल महत्त्व दिया गया है। इस सिद्धान्त के द्वारा रस को श्रव्य-काव्य में पहली बार प्रबल प्रतिष्ठा हुई। आनन्दवर्धन से पूर्व रस का जो कुछ स्वीकृति दिखाई देती है वह सिर्फ आँसू पोंछने के लिये है। ध्वनि सिद्धान्त ने रस को ही मूलमन्त्र मानकर संघटना, अलंकार आदि सबको ध्वनि में समेट लिया। इस प्रकार पूर्ववर्ती अलंकार, रीति आदि सिद्धान्त धराशायी होकर रह गये।

आनन्दवर्धन के प्रतिपादन के संकेत पर ही बाद में वक्रोक्ति में प्रतिभा-व्यापार को महत्व मिला और क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। कवि को प्रजापति कहने से उनका अभिप्राय केवल उसकी कल्पना-शक्ति का उद्‌घाटन करना मात्र नहीं था बल्कि इसके द्वारा उन्होंने इस बात की ओर भी संकेत कर दिया कि काव्य का सृजन किसी बाहरी दबाव से नहीं होता उसे आन्तरिक प्रवाह के रूप में ही मानना चाहिये और उसकी सृष्टि में कवि स्वतन्त्र होकर ही वास्तविक सृजनकर्त्ता का गौरव पा सकता है। यह स्वतन्त्रता भी रस-परिपाक के लिये ही है। रस विरोध में सृजन की क्षमता प्रदर्शित करना और औचित्य का अतिक्रमण करना सच्चे कवि का काम नहीं है। स्पष्ट है कि आन्तरिक प्रवाह के रूप में कविता को स्वीकार कर लेने से आनन्दवर्धन को प्रतिभा को महनीय मानना पड़ा। अभ्यास और काव्य-अनुशीलन आदि को गौणता मिली। प्रतिभा ही अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम प्रज्ञा होने से प्रतीयमान अर्थ की सृष्टि कर सकती है। कल्पना का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है।

रस-व्यंजना के संदर्भ में औचित्य सिद्धान्त के संकेत भी आनन्दवर्धन में ही मिले। यों तो भरत ने ही लोकव्यवहारानुरूप अभिनय की दुहाई देकर औचित्य की

प्रकारान्तर से स्थापना कर दी थी, किन्तु उसका उल्लेख स्पष्ट रूप में ध्वनिकार द्वारा ही हुआ। क्षेमेन्द्र ने उसे विस्तृति दी। उन्होंने औचित्य को काव्य का स्थिर तथा अविनाशी जीवन मानकर उपसर्ग तथा निपात तक में उसकी व्याप्ति दिखाई। औचित्य विषयगत, संघटनागत तथा रस-बन्ध-सम्बन्धी, तीनों प्रकार का हो सकता है। इन तीनों रूपों से गद्य-पद्यात्मक सभी रचनाओं की विषयगत सामाजिक तथा नैतिक वस्तु, रचनागत शब्द-योजना, पद-विन्यास, अलंकृति आदि बाह्य रूप-तत्त्व तथा इनके संयोग से उत्पन्न व्यंग्यार्थ रूप आभ्यन्तरिक सौन्दर्य और रस के परस्पर सम्बन्ध की स्थापना होती है। अनौचित्य ही रस-भंग का कारण है, अतएव कवि को रस-विरोधिनी स्वेच्छा से काम नहीं लेना चाहिये। प्रकारान्तर से क्षेमेन्द्र ने इस सिद्धान्त के आधार पर सामाजिक और नैतिक मूल्यों को ही उपस्थित किया है। रूप-तत्त्व के साथ आभ्यन्तर-तत्त्व के सामंजस्य की ओर ध्यान देकर क्षेमेन्द्र ने काव्य को समग्रता में देखने का प्रयत्न किया है। किन्तु काव्य-सृजन और काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में व्यापक ढंग से अनेक प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न न होने से यह सिद्धान्त परवर्ती काल में अपने अनुयायी बनाकर विस्तृत विवेचन-अनुमोदन का विषय न बन सका।

इस प्रकार शब्द-तत्त्व से अर्थ-तत्त्व तक के विश्लेषण तक की इस साहित्यिक यात्रा में रूप तथा आत्मा की पृथकता और उनके सामंजस्य आदि के सम्बन्ध में कितने ही विचार सामने आये और काव्य, काव्य-स्रष्टा तथा काव्य-पाठक के स्वरूप और उनकी योग्यता अथवा सृजन के लिये आवश्यक प्रतिभा, कल्पना, बौद्धिकता आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया। लेकिन रस-सिद्धान्त का उल्लेख किये बिना इस यात्रा का विवरण पूरा नहीं होता। इसके प्रमुखतया तीन कारण हैं : एक तो इसलिये कि उसकी व्यापकता दूसरे सिद्धान्तों से अधिक है। दूसरे, एक सिद्धान्त के रूप में काव्य के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक विचार प्रस्तुत किये हैं। तीसरे, इसलिये कि इसका प्रभाव प्रायः सभी सिद्धान्तों पर पड़ा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भामह, दण्डी आदि अलंकार-विवेचकों को भी किसी-न-किसी रूप में रस की मान्यता स्वीकार थी और ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य-सिद्धान्त तो इसके परिपोष के लिये ही मानो उपस्थित हुए थे।

रस-सिद्धान्त का प्रवर्त्तक कोई हो, उसकी प्रतिष्ठा भरतमुनि के द्वारा हुई थी। भरतमुनि ने यद्यपि इसका विस्तार से प्रतिपादन किया था और दृश्य-काव्य में इसी को केन्द्र मानकर चलने का निर्देश दिया था, किन्तु श्रव्य-काव्य में आनन्दवर्धन ही इसके पहले प्रमुख प्रतिपादक बने और विश्वनाथ कविराज ने इसे काव्यात्मा का महत्त्व दिया। इस विकास के बीच इस सिद्धान्त का विवेचन जितने व्यापक ढंग से किया गया, उतने ढंग से अन्य किसी सिद्धान्त का कभी विवेचन नहीं हुआ। रस-सिद्धान्त ही ऐसा सिद्धान्त है जिसे दार्शनिक चिन्तन से भी सामग्री ग्रहण करने का

अवसर मिला और व्यावहारिक सामाजिक जीवन से भी। एक साथ सामाजिक और आध्यात्मिक धरातल की सफलता —यदि किसी सिद्धान्त में ग्रहण किया जा सका और दोनों में परस्पर सन्तुलन और सामंजस्य की सिद्धि हो सकी तो इसी सिद्धान्त में। इस सिद्धि ने काव्य को लौकिक धरातल से उठाकर एकदम ब्राह्मी स्थिति तक पहुँचा दिया और दर्शन के अद्वैत की सिद्धि कराकर काव्य को उसके द्वारा जीवन के ताप का शमनकर्त्ता और आह्लाद प्रदाता बना दिया। वैशिष्ट्य इस बात का है कि इस आह्लाद ने जीवन की संघर्ष भूमि और शिवता का त्याग नहीं किया। वरन् प्रसंगों की व्याख्याएँ भी इस प्रकार की गई कि जीवन में दुःख भी ग्राह्य हो गया। इस सिद्धान्त ने न तो काव्य-सर्जक की उपेक्षा की और न उससे प्रभाव ग्रहण करने वाले पाठक की। वस्तुतः इस सिद्धान्त से सम्बन्धित हर बात से एक रोचक इतिहास का उद्घाटन होता है। सही अर्थों में साहित्य और जीवन को एक-साथ ले आने का श्रेय यदि किसी सिद्धान्त को दिया जा सकता है तो इसी को। इस *सम्बन्ध में कतिपय उदाहरणों से हम अपनी बात स्पष्ट करेंगे।*

रस सिद्धान्त का आरम्भ तो सामाजिक सन्दर्भ में हुआ था, किन्तु उसका विकास दार्शनिक धरातल पर हुआ। भरतमुनि ने मेरी विनम्र सम्मति में लोक-व्यापार को ध्यान में रखकर ही रस निर्वाह पर बल दिया था। दृश्य-काव्य को वह लोकहित में नियोजित करना चाहते थे और जैसा उन्होंने स्पष्टतः कहा भी है उसके द्वारा वे उन लोगों का हित करना चाहते थे जिन्हें वेदाध्ययन की *आज्ञा नहीं थी।* वेद को लोक में उतार लाने की उनकी यह चेष्टा निश्चय ही क्रान्तिकारी थी जिसके द्वारा उन्होंने मानव-सत्य को परखा पहचाना तथा समस्त मानव जाति को वर्ग-हीन रूप में शुद्ध मानवीय स्तर पर लाकर प्रतिष्ठित किया। उनका यह कार्य साहित्यिक माध्यम से हुआ अतएव उसे राजनीतिक क्रान्तियों के समान वेगमयी धारा के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता किन्तु यह सही है कि भरतमुनि ने एक नवीन सामाजिक दृष्टि को बल दिया। एक और दृष्टि से भी रस-विचार का आरम्भ सामाजिक धरातल पर माना जायगा वह यह कि भरतमुनि ने इसका अपने ग्रन्थ में जितना वर्णन किया है उसमें कभी भी किसी दार्शनिक मतवाद की गन्ध नहीं है और उसके नियोजन में उनकी दृष्टि बराबर अभिनय की सफलता की ओर लगी रही है। किन्तु आगे दार्शनिक व्याख्याकारों के हाथ में पड़कर रस इस अभिनय-पक्ष से हटकर धीरे धीरे सहृदय-पक्ष में प्रतिष्ठित हो गया और व्यवहार-दशा से हटकर अनुभूति मात्र बन गया। यह कार्य विशेषतः आचार्य भट्टनायक के समय से आरम्भ हुआ। उनसे पूर्व आचार्य भट्टलोल्लट तथा आचार्य शंकुक ने सहृदय को रस की अनुभूति से अलग रखकर उसे केवल आरोप या अनुमान से आनंदित होने का अधिकार दिया था। रस का वास्तविक अनुभूतिकर्त्ता दोनों के विचार से मूल पात्र ही था। अभिनेता को वे केवल अपने कौशल से उन स्थितियों का उपस्थितिकर्त्ता मानते हैं और

सामाजिक को केवल एक ऐसे स्थल पर प्रतिष्ठित करके देखते हैं जो अलंकारवादियों के काव्य-पाठक के स्तर का है। अलंकारवादी अपने पाठक में कल्पना जाग्रत करता है, उसके सामने वस्तुओं का मूर्त्त रूप लाने का प्रयत्न करता है, और उक्ति चमत्कार के सहारे उसे प्रसन्न करना चाहता है। शंकुक तक की व्याख्याओं से भी सामाजिक की केवल इसी स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। आरोप के द्वारा मूर्त्त रूप का विश्वास और अनुमान के द्वारा सामाजिक में कल्पना का उद्‌बोध होता है, उसी के चमत्कार से उसके आनन्द की व्याख्या की गई है। किन्तु रस से केवल इतना ही अपेक्षित नहीं था। रस एक अनुभूति-दशा है, जिसका सीधा सम्बन्ध सामाजिक से होना चाहिये, क्योंकि मूल पात्र तो लौकिक दशा की सुख-दुःखात्मकता का ही अनुभव करते हैं और सुख-दुःखात्मकता में व्यक्ति-भेद बना रहता है। अतएव रस को एक सामान्य सामाजिक धरातल पर तब तक प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, जब तक उसकी अनुभूति सामाजिक, एक सामाजिक में ही नहीं समस्त सामाजिकों में, न मान ली जाय। इस सिद्धि के लिये व्याख्याताओं को मनुष्य के मन की अन्तर्गुहा में उतरने की आवश्यकता हुई, उनके बीच फैले हुए वर्ग-भेद, बौद्धिक एवं संस्कारगत-भेद आदि की विषम-स्थिति में भी उसे एक ऐसे मानवीय मूल्य की खोज करनी पड़ी जो इन समस्त भेदों की उपेक्षा करके सबको मानसिक-धरातल पर एक कर सके अथवा सबके हृदय में एक-सा अनुभूति-प्रवाह प्रवाहित कर सके। किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त-ज्ञान के अभाव में यह चिन्तन उस ओर तो प्रवृत्त न हो पाया, सहज-भाव से दार्शनिक चिन्तन की ओर अवश्य प्रवृत्त हो गया। भट्टनायक ने मनुष्य के सद्-पक्ष को उद्-घाटित करते हुए सामाजिक पक्ष की शिवता का दर्शन कराया। उन्होंने संघर्ष और विद्वेष के बीच पलते हुए मनुज के इस ऊपरी रूप में नहीं, समान रूप से सभी में बहती हुई रागात्मक विद्वेषहीन सात्विक चित्तवृत्ति में ही मनुष्यता के दर्शन किये और उसके माध्यम से उन्होंने साहित्य में भी ब्रह्मानन्द-सदृश स्थिति तक पहुँचा देने की शक्ति का अनुभव किया। व्यावहारिकता से आध्यात्मिकता, बाह्य स्थिति से अन्तरानुभूति, विद्वेष से सात्विक एकता की ओर भट्टनायक का यह प्रस्थान साहित्यिक माध्यम से मानवीयता का मर्म ही उद्‌घाटित करता हुआ जान पड़ता है और काव्य के द्वारा ही उस अप्राप्य, अलौकिक की प्राप्ति करा देने का मार्ग उन्मुक्त करता है। साथ ही विशेषता यह है कि काव्य के संगठनात्मक तत्त्व शब्द तथा अर्थ की शक्ति पर भी बल देता है। आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या भट्टनायक की व्याख्या का ही विकसित रूप है। उन्होंने और भी व्यापक दृष्टिकोण से अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। चित्त-वृत्ति का व्याख्यान करते हुए उन्होंने जीवमात्र को एक-से भाव-संगठनवाला सिद्ध करके कुछ विशेष वृत्तियों को सबमें स्थायी बताया। इस खोज के बल पर अभिनव-गुप्त को रस की दार्शनिक व्याख्या करने का अवसर मिला और ब्रह्म को अपने ही अन्दर पा लेने के समान ही रस को भी आत्म-प्रतिष्ठित सत्य के रूप में मानकर अपने ही अन्दर खोजने की प्रवृत्ति जगाई। इस तरह सामाजिक सत्य होकर भी रस

वैयक्तिक सत्य और अनुभूति-दशा मात्र हो गया। अनुभूति-दशा सिद्ध हो जाने का परिणाम यह हुआ कि रस केवल एक मान लिया गया और भिन्न रसों की कल्पना केवल औपाधिक रह गई। तत्त्वतः ब्रह्म आनन्दमय है अतएव निरुपाधि रस भी आनन्दमय हो गया और ब्रह्मानन्द-सदृश या सहोदर कहकर उसका सम्मान होने लगा। निरुपाधि कूटस्थ ब्रह्म आत्मस्थित है और किसी भी प्रकार के वैकल्प से हीन होने के कारण ही आनन्दमय है। इसी प्रकार रस भी विघ्नविनिर्मुक्त आत्मविश्रान्त दशा की अनुभूति होने से आनन्दमय ही है। दुःख तो केवल सांसारिकता, राग-द्वेष, विघ्नादि के कारण होता है। यदि किसी व्यक्ति का किसी कार्य में इन विघ्नों का बाध न हो तो वह वैकल्प विरहित आनन्द का ही अनुभव करता है, चाहे फिर वह उस स्थिति का ही अनुभव क्यों न कर रहा हो जिसे दूसरे व्यक्ति कष्टकर मानते हों। इस व्याख्या के अनुसार करुण, बीभत्स आदि रस भी आनन्दमय स्वीकार किये जा सके। अब तक इनके सुखात्मक होने की कोई सन्तोषजनक व्याख्या नहीं हो सकी थी। यह काम अभिनवगुप्त के द्वारा ही हुआ और फिर तो भोज या विश्वनाथ ने 'दुःखदानाऽपि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति' कहकर और सुरति आदि की पीड़ा के दुःख में भी आनन्द की उपस्थिति के उदाहरण देकर बड़े ठाट से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करना सीख लिया। दार्शनिक आधार ग्रहण करने के कारण ही भरत का आत्मवादी तथा रसवादी विचारक दुःख का तिरस्कार करके आनन्द की उद्घोषणा करता है। जो आत्मा को निर्लिप्त और संसार-दुःख से अप्रभावित मानता है, तथा जन्मान्तरवाद में विश्वास करता हुआ मरण को केवल चोला बदलना समझता है, वह करुणादि नाट्य प्रदर्शित रसों को दुःखमय मानने ही क्यों लगा ? दुःख तो राग में है, निःराग को क्या दुःख और अमर आत्मा के सम्बन्ध में दुःख की कल्पना ही क्यों ? इस सिद्धान्त से मनुष्य को दुःख में भी सुख मानने की दृष्टि तो मिली ही रस की अलौकिकता, सात्त्विकता आदि का पोषण भी हो गया और लोग काव्य में ही ब्रह्मानन्द का अनुभव लेने लगे।

रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा जहाँ इस बात में है कि उसने काव्य को इतना अधिक गौरव का अधिकारी बना दिया, वहाँ उसकी प्रशंसा इसलिये भी करनी होगी कि उसी के कारण साहित्य में मानव-सत्य मानवीयता और मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। इस सम्बन्ध में सहायता मिली साधारणीकरण की कल्पना से। साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वारा रसवादी ने मनुष्य और मनुष्य के बीच रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया और काव्य में प्रेषणीयता लाने वाले सद्‌गुणों पर प्रकाश डाला। साधारणीकरण के द्वारा रस विचारक ने भाव-योग पर बल दिया। काव्य की अलौकिकता का प्रतिपादन करते हुए भी साधारणीकरण के द्वारा इसी लोक में रहकर उसकी प्राप्ति की सूचना दी गई। रस सिद्धान्त में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का ऐसा सुन्दर सम्मिलन दिखाई पड़ा कि सभी वर्गों के लिये यह ग्राह्य हो गया। रस-सिद्धान्त मनुष्य की

सहज वृत्तियों को स्वीकृति प्रदान करता है और काव्य में उन्हीं की प्रतिष्ठा मानता है। उनके अनुभव करने और उनके द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के बीच से होकर निकलने में ही वह जीवन और काव्य की सार्थकता मानता है, निवृत्त होकर त्यागी बन जाने में नहीं। फिर भी वह काव्य के द्वारा सात्त्विकता और निःसंगता की सिद्धि में विश्वास रखता है। जीवन के भोग और फिर भी उससे कमलपत्र की तरह ऊपर उठे रहने का ऐसा उपदेश किसी अन्य सिद्धान्त में नहीं है।'

साधारणीकरण और रसाभास दोनों मिलकर सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों की स्थापना करते हैं। साधारणीकरण के द्वारा काव्य मे ग्राह्य केवल वही सामग्री समझी जाती है जो सर्वग्राह्य हो। जनहित में प्रवर्त्तित रस-सिद्धान्त साधारणीकरण के माध्यम से काव्य को सद्-उद्देश्य-युक्त सिद्ध करता है। रसाभास उन कृत्यों के वर्णनों पर अंकुश लगाता है, जिनसे सामाजिक, नैतिक बन्धन टूटते हों या किसी प्रकार का अनौचित्य जन्म लेता हो। महत्त्व की बात यह है कि इनके आधार पर रस-सिद्धान्त काव्य के मूल्यांकन के लिये युग-सत्य को ही नही, युग-युग के सत्य को स्वीकृति देता है। साधारणीकरण के द्वारा जहाँ वह युग-युग तक चलने वाले सामान्य मानव-भावों को स्वीकार करता हुआ दिक्काल-निरपेक्ष सत्य को वाणी देता है, वहाँ प्रति युग में बदलने वाले नैतिक मूल्यों को रसाभास के द्वारा महत्त्व देता हुआ वह उन मानव-भावों के उपयोगी नियन्त्रण मे विश्वास भी प्रकट करता है। युग-सापेक्ष किन्तु युग-निरपेक्ष यदि कोई मत हो सकता है तो वह रसमत ही है। ऐसा विचित्र विरोधी तत्त्वों का संगठन दूसरे सिद्धान्तों में नही मिलेगा।

उक्त दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होने पर भी रस-सिद्धान्त की कुछ संकुचित सीमाएँ भी हैं। भाव-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा के कारण जहाँ एक ओर इस सिद्धान्त के द्वारा वाणी को प्रसार के लिये सहज मार्ग मिला और कृत्रिमता, अति-अलंकृति या उक्ति-वैचित्र्य से उसे मुक्ति मिली, वहाँ भावुकता, अलौकिकता और शास्त्रीयता के कुप्रभाव से इसमें अनेक जटिलताएँ और दूषण भी आ गये। सबसे बड़ी बुराई तो यह हुई कि काव्य को अलौकिक मान लेने और भावों के प्रदर्शन को महत्त्व देने के कारण काव्य का उद्देश्य धीरे-धीरे आनन्द-प्रसार मान लिया गया और इस तरह आनन्द को मुख्यतः शृंगार रस में सीमित करके कलावादी दृष्टि से नायिका और नायक के बीच की संयोगात्मक तथा वियोगात्मक दशाओं की नानाविधि चमत्कारक कल्पना की जाने लगी और समय पाकर अलंकारवादी सज्जनों ने अथवा हल्की प्रशंसा से प्रसन्न होने वाले कवियों ने या तो अतिशयोक्ति का सहारा ले लिया या कामोद्बोधक चित्रों और चुहलबाजी को उपस्थित करने वाली उक्तियों में ही काव्यत्व मान लिया और जीवन का संघर्ष पक्ष छूट-सा गया। रस-सिद्धान्त की ही परिणति नायिका-भेद और ऋतु-वर्णन में हुई है और उनके लिये नये-नये सामान जुटाये गये हैं। यहाँ

तक कि नैतिक मूल्यों को केवल दस-पाँच कथित मूल्यों तक ही सीमित करके कहीं कहीं अश्लीलता का भद्दा प्रदर्शन भी हुआ है। केवल भाव-वर्णन में ही काव्यत्व मान लेने से हर व्यक्ति को अपने को कवि मान लेने का भी भ्रम सहज ही उत्पन्न हो गया है क्योंकि उनकी दृष्टि में कलाकारिता के द्वारा भाव-परिष्कार की आवश्यकता ही न रही। निश्चय ही नायिका भेद तथा ऋतु-वर्णन ने साहित्य को बहुत कुछ गर्व करने योग्य सामग्री भी दी है तो भी उसने बहुत कुछ ऐसा भी दिया है जो अशोभन है या रूढ़िबद्ध है। बहुत कुछ ऐसा है जो केवल एक साँचे में ढाल दिया गया है उक्ति या प्रसंग में थोड़ा भेद कर दिया गया है और कथ्य वही है। यहाँ तक कि राधा माधव की भक्ति के पद भी उसी रीति-नीति में ढल गये हैं। एक प्रकार से यहाँ आकर रस सिद्धान्त भी रीतिवादी बन गया और विभावादि की परिगणना में ही काव्यत्व मान लिया गया तथा नये विषयों की ओर से कवियों का ध्यान हट गया।

दूसरी गड़बड़ी जो इस सम्बन्ध में हुई है वह उसकी जटिलता है। देखने में भाव और रस की काव्य में नियुक्ति जितनी सरल लगती है शास्त्र पढ़ने पर उसका बोध उतना ही जटिल जान पड़ता है। कुछ तो यह इसलिये है कि सभी रसों के सम्बन्ध में एक-से नियम लागू नहीं हो पाते और कुछ इसलिये है कि भावानुभावादि के इतने नाम और उनके इतने भेद तथा उनमें भी परस्पर इतने सूक्ष्म भेद हैं कि साधारणतया उन्हें स्मरण रखना और उचित रूप में उन्हें पहचान लेना कठिन-सा हो जाता है। प्राचीन कवियों के द्वारा दिये गये स्वरचित उदाहरणों में ही नहीं अत्याधुनिक विवेचकों के द्वारा दिये गये उदाहरणों में भी इस प्रकार का भ्रम बराबर दिखाई देता है कि भाव और रस के उदाहरणों में भेद नहीं किया जा सका है। एक-से नियम न लागू होने के लिये इतना कहना पर्याप्त होगा कि शृंगार या करुण आदि कुछ रसों में जिस प्रकार सहृदय की दृष्टि से आश्रय-आलम्बन की धारणा स्पष्ट रहती है वैसे ही वह बीभत्स रस के प्रसंग में नहीं रहती। एक प्रकार की जटिलता तो काव्यशास्त्रियों के समक्ष ही आई है कि उन्हें प्राय करुण रस और करुण विप्रलम्भ में भेद करना कठिन हो गया है। ऋतु-वर्णन आदि कई प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें रस सिद्धान्त केवल उद्दीपक बनाता है और कवियों ने उनके स्वतन्त्र रूपांकन द्वारा उनके इस मोह को भंग किया है अथवा शास्त्रकार ने ऐसे उदाहरण नहीं दिये, जहाँ एक ही छन्द में कवि एक रस से दूसरे रस पर पहुँच गया है और उस स्थिति को पाठक नाम नहीं दे पाता। फिर जैसे अन्य सिद्धान्तों के विचारक विस्तार और संक्षेप के चक्कर में पड़कर नाना प्रकार के वर्गीकरणों में अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहे हैं और कभी वर्गीकरण विस्तार के लिये हुआ है और कभी सब कुछ को केवल दो-तीन मोटे-मोटे वर्गों में सीमित कर लेने के लिये वैसे ही रस-सिद्धान्त में भी कभी रसों और भावों के भेदोपभेद की प्रवृत्ति बढ़ती दिखाई दी है और कभी

उन्हें सीमित करने का प्रयत्न हुआ है। यह अतिशास्त्रीयता का हो- में मानवेतर अनुभूति की प्रामाणिकता से अधिक शास्त्रीय तार्किकता को प्रश्रय देने मनोविज्ञान परिणाम हुआ है कि कभी शान्त को स्वीकार किया गया है, कभी नकार दि- समष्टि है। कभी किसी ने उसे नाट्य मे नियोज्य नहीं बताया और कभी सर्वत्र उसका स तव राज्य मान लिया गया। एक ही रस को सब रसों का मूल मान लेने या उन्हें अलग-अलग सिद्ध करने के पीछे भी यही वृत्ति काम करती रही है। इस प्रकार के प्रश्न बाल की खाल निकालने में अवश्य सहायक होते हैं, सौन्दर्यवृत्ति को जाग्रत्त करने में नहीं होते।

इन अनर्थक प्रश्नों की उपेक्षा करके यदि काव्यशास्त्र को एक विकासमान विचारधारा के प्रकाशक के रूप में देखने का कष्ट किया जाय और यह समझा जाय कि हर आगे आने वाले सिद्धान्त ने पीछे छूटने वाले सिद्धान्त को स्वीकार करके भी नये विचार को विशदता से उपस्थित करने का ही काम किया है और गहराई में डूबते जाने का ही प्रयत्न किया है, तो यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि रूपाकार के सौन्दर्य से चलकर भारतीय समीक्षक ने कवि, और पाठक-मन के गहनतल में पैठकर नित्य तत्त्व को खोजने का ही प्रयत्न किया है तो रस-सिद्धान्त का मूल्य समझ में आ सकता है और यह समझा जा सकता है कि अन्य सौन्दर्यवादी मूल्यों को स्वीकार करते हुए भी रसवादी ने मानववादी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के लिये श्रम किया है और युग एवं देशकाल निरपेक्ष सत्य को उद्घाटित किया है। सहज स्तर पर यह समझ लेना जितना ही सरल है, शास्त्रीय पक्ष से उतना ही जटिल। यही कारण है कि रस की आधारभूमि साधारणीकरण के सम्बन्ध में आज भी शास्त्र एकमत नहीं हैं। जो हो, रस-सिद्धान्त ने जितने व्यापक रूप से दृश्य से लेकर श्रव्य तक नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, नख-शिख-निरूपण आदि के नये द्वार उन्मुक्त किये तथा नये शास्त्रों को अवकाश दिया है, उतना किसी सिद्धान्त ने नहीं किया। यही व्यापक और समन्वित-सन्तुलित दृष्टि लेकर हमें अध्ययन में प्रवृत्त होना चाहिए।

मनोविज्ञान की स्थिति

—कुमार वर्मा

रस और मनोविज्ञान पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि दोनों की आधार भूमि समान होते हुए भी दोनों के लक्ष्य में महान् अन्तर है। रस की भाँति मनोविज्ञान जीवन के वस्तुवाद में प्रवेश तो करता है, किन्तु वह शंकर की जटाओं में समाई हुई गंगा की भाँति अपने स्थान पर ही घूमता रहा है, वहाँ से आगे बढ़ने की क्षमता उसमें नहीं है। किन्तु रस मनोविज्ञान को उसकी सीमित सृष्टि से निकाल कर लोक-कल्याण की दृष्टि से वसुधरा पर प्रवाहित करता है और उसे 'आनन्द सिंधु' में लीन करा देता है। इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि मनोविज्ञान विश्लेषणात्मक है, रस संश्लेषणात्मक। रस की स्थिति विराट जीवन से हृदय के तादात्म्य में सम्भव होती है और मनोविज्ञान व्यक्तियों को लेकर इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले कार्य-व्यापारों के निरूपण में होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस के अन्तर्गत स्थायीभावों, विभावों, अनुभावों एवं संचारी भावों में मनोविज्ञान योग प्रदान करता है, किन्तु इस योग को सम्यक् रूप में गति प्रदान करने की क्षमता रस में ही सम्भव होती है। विकासवाद की दृष्टि से यह अवश्य मान्य है कि जीवन के प्रभात में मनोविज्ञान अपने मनोविकारों की इकाइयों में साहित्य निर्माण के लिए अग्रसर हुआ। दूसरे शब्दों में, साहित्य की आदि प्रेरणा में मनोविज्ञान की प्रगति का इतिहास है। आगे चल कर मनोविकार रस में परिणत हुए होंगे। यह भी सम्भव हो सकता है कि किसी विशेष परिस्थिति में निष्पन्न रसानुभूति अपने अभिव्यक्तीकरण के लिए मनोविकारों को ही लेकर चला हो। आरम्भ की स्थिति में हम इसे मनोविज्ञान की अपेक्षा मनोविकार कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।

साहित्य की दृष्टि से इन पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

रस—भारतीय साहित्य रस के द्वारा ही अधिक अनुप्राणित हुआ है क्योंकि उसका ध्येय सामान्य रूप से वस्तुवादी और व्यक्तिवादी नहीं था। उसमें जीवन की दृष्टि समष्टिगत थी। यह जीवन केवल मानव जगत् से ही सम्बन्ध नहीं रखता था,

प्रत्युत् मानवेतर तथा जड़-जगत् भी उसकी परिधि में थे। ऐसी स्थिति में मानवेतर तथा जड़-जगत् में मनोविज्ञान की स्थिति सम्भव न होने के कारण मानव मनोविज्ञान का आरोप ही उस जगत् पर हुआ और यह मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा जीवन के समष्टि रूप को हृदयंगम करने का एक माध्यम बनी। इस विशाल जीवन की अनुभूति तब तक सम्भव नहीं थी, जब तक कि इस विश्व में अन्तर्निहित जीवन की गति सर्वतो-भावेन ग्रहण न की जाती। इस व्यापक दृष्टि ने ही इसको जन्म दिया। समष्टि के प्रति जीवन की संवेदना साधारणीकरण की मधुमती भूमिका बनी। रूप एवं गति की इकाइयों को मिटाकर बाह्य-जगत् अब अन्तर्जगत बना, तो उसमें प्रकृति का कल्याण-विधायक रूप ही दृष्टिगत हुआ। और इसी कल्याण-विधायक रूप में 'आनन्द' के दर्शन हुए। इसीलिये तो रस की परिभाषा "लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति" का रूप ग्रहण कर सकी।

मानव ने अपने विकारों में सुख के न जाने कितने स्वर्ग बनाये। लेकिन वे समय पाकर खिलौने की तरह टूट गये। अन्त में उसने आनन्द के सागर में अवगाहन किया और उससे वह जीवन का सारा श्रम खो सका। और ऐसी शान्ति प्राप्त कर सका जो ध्रुव नक्षत्र की भाँति स्थिर रही। इसी आनन्द-सागर में उसे कविता का मोती प्राप्त हुआ, जिससे प्रत्येक पार्श्व में उसे जीवन की कान्ति अनेक रंगों में उतरती हुई दीख पड़ी।

सुख इन्द्रियों का विषय था, जो जीवनगत परिस्थितियों के आवेग से घटता था, बढ़ता था और कभी-कभी विद्युत् की तरह कौंध कर दुःख के काले बादल में विलीन हो जाता था। उस पर कौन विश्वास कर सकता है? वह तो तितलियों की तरह परिस्थितियों के फूलों पर एक क्षण बैठता है, फिर उड़ जाता है। उसमें वस्तु का मोह है, परिस्थितियों की सीमा है और व्यक्ति का बन्धन है। लेकिन आनन्द इन्द्रियों का नहीं, अन्तःकरण का विषय है। आशा की लता में श्रद्धा के फूल की भाँति है, जो कभी नहीं मुरझाता। एक बार इस आनन्द को पाने के बाद फिर किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं रहती। समस्त विचारों के विहंग एक स्थायी नीड़ बना लेते हैं और उनके कण्ठों से अनाहत संगीत मुखरित होता रहता है। वह संगीत सागर की भाँति सदा एक-रस है, न घटता है, न बढ़ता है, सदा अपनी मर्यादा में स्थित है। सांसारिक दुःखों में भी यह आनन्द अक्षुण्ण रहता है, जैसे काँटों से भरे हुए वृन्त पर गुलाब का फूल अपनी अनुपम शोभा और मादक सुगन्धि में खिला रहता है। तब यह आनन्द वस्तु की सीमाओं को पार कर असीम हो जाता है और व्यक्ति का व्यापार न होकर समष्टि की सम्पत्ति हो जाता है। साधारणीकरण के साम्राज्य में ही इस आनन्द का अभिषेक होता है।

व्यक्ति की सीमा को पार करने पर इसमें अध्यात्मवाद की किरण फूटने लगती है। इस किरण को जब हम संसार के जीवन में प्रतिबिम्बित करते हैं, तो इसी का नाम 'रस' हो जाता है। इस भाँति रस में आनन्द की किरण है, जो लोक-व्यापी होते हुए भी साकार है। यह रस जब जीवन में प्रवेश करता है तो काव्य का जन्म होता है जब अध्यात्म में प्रवेश करता है तो दर्शन का। इस भाँति काव्य और दर्शन एक ही वन्त के दो फूल हैं। और उस वृन्त का नाम है 'रस', जिसके कोड़ में आनन्द का सागर संचित है। इस प्रकार ब्रह्म की संज्ञा भी 'रस' है। "रसो वै सः"।

लोकोत्तर आनन्द से परिपूर्ण 'रस' के इस रूप पर भी विचार कर लेना चाहिए। सर्वप्रथम नाट्य-शास्त्र के आचार्य भरत ने रस का रूप निर्धारित करते हुए कहा—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से ही रस-निष्पत्ति होती है। भाव का परिचय देने वाला विभाव है, जो आश्रय और उद्दीप्त करने की दृष्टि से आलम्बन और उद्दीपन विभाव का रूप ग्रहण करता है। जिन क्रियाओं से भाव का अनुभव या अनुमान हो, वह अनुभाव है। इसके तीन प्रकार हैं—सात्विक, कायिक और मानसिक। जो भाव बार-बार उत्पन्न होकर संचरित होते हैं, वे संचारी भाव हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न स्वाद वाले पदार्थों को एक-साथ मिलाने से एक विशेष रस उत्पन्न होता है, जिसमें उस किसी पदार्थ का स्वाद नहीं होता, किन्तु सबसे भिन्न एक विलक्षण स्वाद होता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भाव के एकत्र होने से जो विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, उसी का नाम 'रस' है। भट्ट लोल्लट ने 'प्रतीयमान', शंकुक ने 'चर्व्यमाण', भट्ट नायक ने 'भुज्यमान' और अभिनव गुप्त ने एवं मम्मट ने 'आस्वादमान' के विशेषणों से 'रस' की अनुभूति का परिचय दिया है। आनन्दवर्धनाचार्य और पंडितराज जगन्नाथ ने तो काव्य में रस को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में केवल आठ ही रस माने हैं। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। इनमें शृंगार रस का विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है, जो प्रेम का पर्याय होकर सर्वव्यापी है और जिसमें अधिक से अधिक संचारी भावों की स्थिति हो सकती है। पद्माकर ने इस 'रति' का परिचय अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और सरस ढंग से दिया है—

"सजन लगी हैक हूँ कबहूँ सिंगारन की,
लजन लगी है कहूँ ऐसे बैस बारी की।
चलन लगी है कछु चाह 'पद्माकर' त्यों,
लखन लगी है मंजु मूरत मुरारी की।
सुन्दर गोविन्द गुन गनन लगी है कछु,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की।
पगन लगी है लगी लगन हिये सौं नेक,
लगन लगी है कछु पी की प्राणप्यारी की।"

आचार्य भरत ने रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग की बात कही है। यह संयोग क्या है ? विविध आचार्यों ने इस संयोग को ध्वनि, सम्यक् योग, भावना-विकार, ज्ञान, सम्बन्ध, अनुभाव, सम्मिलन, चमत्कार-पूर्ण आदि अर्थ में लेकर रस की निष्पत्ति मानी है। मैं समझता हूँ कि यह 'संयोग' सानुपातिक अनुभवजन्य स्थिति का ही द्योतक है। यह सानुपातिक अनुभवजन्य स्थिति क्या है ? किसी भी रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव वर्तमान रह सकते हैं, किन्तु यदि वे पात्र और परिस्थिति की अपेक्षा से उपयुक्त मात्रा में इस प्रकार न हों कि उनका अनुभव किया जा सके, तो रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिस्थिति की अनुभूति आवश्यक है। संयोग में भी वियोग की अनुभूति सम्भव है और वियोग में संयोग की अनुभूति। मीराबाई के गिरधर गोपाल सांसारिक परिस्थितियों की दृष्टि से उनसे दूर थे, किन्तु मीराबाई ने वियोग में भी संयोग की अनुभूति की। इसीलिए उन्होंने लिखा—

"जिनके पिया परदेस बसत हैं, लिखि-लिखि भेजत पाती।
मेरे पिया मो माँहि बसत हैं, गूँज करूँ दिन-राती॥"

इस प्रकार रसोद्रेक के लिए उपयुक्त मात्रा में अनुभूति तत्त्व की अपेक्षा है। यही पर्याप्त नहीं है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग हो जाय। इसीलिए तो महाकवि पद्माकर ने अनुभूति तत्त्व को ध्यान में रखते हुए लिखा है—

"सुन्दर गोविन्द गुन गनन लगी है कछु,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की।
पगन लगी है लगी लगन हिये सौं नेकु,
लगन लगी है कछु पी की प्राणप्यारी की॥"

'कछु' शब्द का प्रयोग कर महाकवि पद्माकर ने मनोविज्ञान की झिझक और

स्थिति में काव्य में रस निष्पत्ति का कोई महत्व नहीं है। रस सिद्धान्त के बहिष्कार के कुछ कारण निम्नलिखित हो सकते हैं—

(१) मनोविज्ञान के विश्लेषण ने हमारे काव्य को विचार-प्रधान बना दिया है। और कल्पना ने अनुभूति की अपेक्षा चिन्तन को अधिक प्रश्रय दिया है।

(२) रीतिकालीन शृंगार-काव्य की प्रतिक्रिया ने रस के समस्त उपादान हमारे काव्य क्षेत्र से निष्कासित कर दिये हैं।

(३) जीवन की समीक्षा में व्यक्ति प्रधान हो गया है तथा व्यक्तिगत भावनाओं को अधिक प्रश्रय मिला है। व्यक्ति और वस्तु का बोध अधिक होने के कारण रस के साधारणीकरण की भावना का लोप-सा हो गया है।

(४) अध्यात्मवाद का ब्रह्मानन्द ही जब काव्य में न रहा तो ब्रह्मानन्द-सहोदर रस भी अदृश्य हो गया।

मेरी दृष्टि में 'रस' अमर है। वह काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग अब भी है। जब तक काव्य रहेगा रस की सृष्टि निरन्तर होगी अथवा रस अपनी अभिव्यक्ति के लिए काव्य का शरीर अवश्य ही ग्रहण करेगा। यह बात दूसरी है कि रस अपने अभिव्यक्तीकरण के लिये कोई दूसरी शैली ग्रहण करे। आचार्य द्विवेदी के युग में प्राचीन रस-परम्परा 'प्रिय प्रवास' और 'साकेत' महाकाव्यों में प्राप्त हुई, किन्तु उनके बाद गीति-काव्य में व्यक्तित्व की प्रधानता हुई और मनोविज्ञान ने काव्य में प्रवेश किया। प्राचीन पारिभाषिक शब्दों में कहा जाय तो आधुनिक हिन्दी काव्य स्थायी भाव की अपेक्षा संचारी भावों में अधिक पोषित हुआ। सूक्ति चमत्कारों में भावना का परिचय दिया जाने लगा, किन्तु जैसे ही खड़ी बोली-काव्य के प्रयोग समाप्त हुए, 'प्रसाद' और 'पन्त' आदि कवियों ने काव्य में रस की स्थापना पुनः आरम्भ की। उन्होंने रस को विभावादि के संयोग का रूप न देकर प्रतीकों का रूप दिया। 'प्रसाद' का समस्त साहित्य रस-वादी साहित्य है। नाटकों और कथा-साहित्य में उन्होंने जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए भी दर्शन के माध्यम से रस की प्रतिष्ठा की। नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' और कहानियों में 'आकाशदीप' उनके रस-वाद के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। 'कामायनी' में रस की पूर्ण निष्पत्ति है, किन्तु वह निष्पत्ति हुई है प्रतीकों और रूपकों द्वारा।

इस भाँति रस शाश्वत है जो हिन्दी में पहले सिद्धान्त-निरपेक्ष रहा, फिर

सिद्धान्त-सापेक्ष बना और अब प्रतीकात्मक है। शृंगार का संयोग पक्ष तो रस के मस्तक पर मुकुट की भाँति सुशोभित है।

मनोविज्ञान—साहित्य ने जीवन से ही प्रेरणा ग्रहण की है। जीवन का विकास मनोविकारों पर आधारित है और मनोविकारों का मूलाधार मनोविज्ञान में है। मनोविज्ञान की स्थिति जीवन की अनेकानेक अभिव्यक्तियों में है और इस प्रकार मनोविज्ञान और साहित्य में साधना और साध्य का सम्बन्ध है। यह साधना प्राचीन काल से ही विविध मनोविकारों में प्रस्फुटित हुई है, और उसी से साहित्य जीवन का पर्याय बनकर विकासोन्मुखी रहा है। पश्चिम के आलोचकों ने मनोविज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से कर उसमें जीवन की प्रेरणाओं का इतिहास स्पष्ट किया है। भारतीय दर्शन में जीवन संस्कार-सम्पन्न है।

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, एक विधान वाक्य है और इसमें जन्मान्तर-वाद का रहस्य निहित है। संचित कर्म ही भाग्य का निर्धारण करते हैं और उन्हीं के अनुसार जीवन का क्रम निर्धारित होता है। इसीलिए हमारे साहित्य में भाग्यवाद ग्रहण किया गया है—

"भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या, न च पौरुषं।"

अथवा,

**"सुनहु भरत भावी प्रवल, बिलखि कह्यो मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, यस अपयस विधि हाथ॥"**

इस भाग्य की मान्यता में ही हमारा जीवन साहित्य में चित्रित हुआ है, यद्यपि पुरुषार्थ के अनेक चित्र भी यथावसर हमारे जीवन की शक्ति स्पष्ट करने में सहायक हुए हैं। भाग्यवाद ने हमारे जीवन में आस्तिकता की सृष्टि की है और इस भाँति साहित्य की आध्यात्मिक परम्परा सभी कालों में सुरक्षित रह सकी है।

यदि जीवन की अज्ञात प्रेरणाओं को थोड़ी देर के लिये भुला दिया जाय तो हम लौकिक जीवन के स्वाभाविक धरातल पर आ जाते हैं और हमारे हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जीवन की परिस्थितियाँ किन कारणों से निर्मित होती हैं। यहीं से पश्चिम के मनोविज्ञान का क्षेत्र आरम्भ होता है और हम जीवन की स्वाभाविकता की ओर आकृष्ट होने लगते हैं, जिसमें कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्य में जब जीवन का स्पन्दन आरम्भ होता है तो उसमें कुछ संस्कार स्वयं-मेव आ जाते हैं। शिशु का स्तन-पान उसी संस्कार का प्रत्यक्ष (इन्सटिंक्ट्स) रूप है। इसे आत्म-रक्षा का संस्कार कहा जा सकता है। इस संस्कार के साथ हर्ष, दुःख

पीना का सकन कर अनुभूति नान को सम्पुष्ट कर दिया है। विभाव, अनुभाव और सचारी भावा क सयोग स जो भाव स्थिर होता है वही स्थायी भाव है जिससे रस का सचार होता है। इस भाँति नव रसा म नव स्थायी भाव हैं। शृ गार म रति हास्य मे हास करुण म शोक रौद्र म क्रोध वीर म उत्साह भयानक म भय वीभत्स मे ग्लानि अद्भुत म आश्चय। आचाय भरत क बाद क आचार्यों न शान्त रस भी माना जिसका स्थायी भाव निर्वेद है।

रस क इस विवेचन म एक बात सामन आती है। वह यह कि आनन्द तो अन्तःकरण का एक सहज प्रक्रिया है। इस सहज प्रक्रिया क लिय सिद्धान्त की आवश्यकता ही क्या है। जब हम हसते हैं रोते हैं प्रम करत हैं तो किसी सिद्धान्त को सामने नही रखत। कोई हास्य की घटना घटित होती है तो हम हँस पडते हैं, कोई शोक का प्रसग आता है तो बरबस हमारे नेत्रो म आँसुओ का प्रवाह होन लगता है। जब कोई सुन्दर वस्तु या परिस्थिति सामने आती है तो हम उसम सहज ही प्रम करने लगत हैं। य क्रिया-कलाप हमारी सहज प्रकृति मे ही होते हैं इसी प्रकार आनन्द की अनुभूति सिद्धान्त पर नहा होती। यह बात दूसरी है कि हमारे हँसने, रोने, प्रम करने और आनन्द की अनुभूति प्राप्ति करने की क्रिया समाप्त होने पर उसका विश्लेषण किया जाय और तब उस विश्लेषण के आधार पर सिद्धान्तो का निर्माण हो। इसे हम रस का शिल्पगत (टैक्नीकल) सौन्दय भी कह सकते हैं। रीति काल में रस का परिचय इसी सिद्धान्त-सापेक्ष दृष्टि से किया गया है।

भक्ति काल म रसानुभूति की दृष्टि भिन्न रही है। उसम कबीर, सूर, तुलसी मीरा आदि कवियों ने रस निरूपण के लिये स्थायी भाव विभाव, अनुभाव और सचारी भावों क सयोग की प्रसंगिनी कभी उपस्थित नही की। उनकी आनन्दानुभूति तो इतनी विलक्षण थी कि कवल विभाव या अनुभाव म ही उन्होंने रस की सृष्टि कर दी। इसका कारण यह है कि इन सन्त कवियो की चित्त-वृत्ति स्वरूपानन्द मे इतनी अधिक तन्मय थी कि उन्हें विभावादि के माध्यम से मन पर पडे हुए सासारिक आवरण को हटाने के लिये कोई अलौकिक क्रिया करने की कोई आवश्यकता ही नही था। उनका चैतन्य प्रस्तुत प्रसग क स्थायी भाव या आलम्बन विभाव मे ही मिलकर 'रस' की सृष्टि कर देता था। इस प्रकार अभिधा, भावना और भोग की प्रक्रियाओं म रस की सृष्टि हो जाती थी। यह क्रिया स्वाभाविक है और इसम सहज ही विभावादि व्यजित हो जाते हैं। अत यदि रीतिकालीन रस कवियों के द्वारा सिद्धान्त सापेक्ष बनाया गया तो भक्तिकालीन रस सिद्धान्त निरपेक्ष ही समझना चाहिए। उदाहरण के लिय सन्त कबीर ने लिखा है—

"अँखियाँ तो झाँई परी, पंथ निहारि-निहारि,
जिभ्या तोछाला परा, नाम पुकारि-पुकारि ।"

इस दोहे में केवल आलम्बन और अनुभाव के द्वारा ही रस की सृष्टि हो गई। इसी प्रकार—

"जल में वसै कमोदिनी, चन्दा वसै आकास,
जो है जाका भावता, सो ताही के पास।"

इसमें केवल आलम्बन विभाव से ही रस-निष्पत्ति हुई है। इसी प्रकार सन्त तुलसीदास ने बालकाण्ड में लिखा—

"जाइ समीप राम छबि देखी।
रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी ॥"

इसमें केवल आलम्बन विभाव और अनुभाव से ही शृंगार रस की पूर्ति हुई है। मीराबाई ने प्रेम के स्वर में गाया—

"ऐसे प्रियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी ! मिलि राखिए, नैननि रस पीजै हो।
स्याम सलौनो साँवरो मुख देखत जीजै हो।
जोइ-जोइ भेष सों हरि मिलें, सोइ-सोइ कीजै हो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बड़ भागन रीजै हो ॥"

इस पद में केवल अनुभावों पर ही आग्रह है जिनमें शृंगार रस का उद्रेक हुआ है। इस प्रकार सूरदास, नन्ददास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस-निष्पत्ति के लिये विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग की अपेक्षा नहीं मानी। ऐसी रस-निष्पत्ति सिद्धान्त-निरपेक्ष है।

आधुनिक युग में पश्चिम के प्रभाव ने हमारे काव्य का लक्ष्य बदल दिया है। जीवन के मूल्यांकन में साहित्यकारों का अधिक विश्वास हो गया है, और मनोविज्ञान की गहराइयों में जाकर सत्य की समीक्षा ही साहित्य का लक्ष्य बन गया है। यथार्थ-वाद ही साहित्य का वास्तविक मापदण्ड है और स्वाभाविकता का प्रत्यक्षीकरण ही साहित्य का सौन्दर्य है। अतिमानवीयता और अतिरंजना साहित्य में दोष हैं। ऐसी

और भय का निकट सम्बन्ध है और ये मूल-भाव भी संस्कारों का रूप ग्रहण करते हैं। इन संस्कारों से प्रवृत्तियाँ (टेंडेंसीज) विकसित होती हैं। इन प्रवृत्तियों से आवेग (इम्पल्स) प्रादुर्भूत होता है, जो प्रकारान्तर से इन्द्रियावेग (एपेटाइट्स) कहा जा सकता है। इसी इन्द्रियावेग से संवेदनात्मक शक्ति (फीलिंग) का उदय होता है। संवेदना शक्ति भावना (इमोशन्स) को जन्म देती है और भावना भावातिरेक (सेन्टी-मेंट) में विकसित होती है। इस भाँति मनोविकार संस्कार से चलकर भावातिरेक में सात स्थितियों को पार करता हुआ साहित्य की भाव-भूमि प्रस्तुत करता है। इस भाव भूमि का आरम्भ तो संवेदना शक्ति से ही हो जाता है, जिसमें संस्कार, प्रवृत्ति और आवेग प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहते हैं। और परिस्थितियों के अनुसार न्यूना-धिक मात्रा में उभर कर साहित्य के धरातल पर उबर हो उठते हैं। मनोविज्ञान-शास्त्र में इस संवेदना का विश्लेषण अनेक प्रकार से किया गया है। मैक्डूगल ने अपने ग्रंथ 'एन आउटलाइन आव साइकोलोजी' में संवेदना को हर्ष (प्लेजर) और पीड़ा (पेन) की दो कोटियों में निरूपित किया है। इन दो कोटियों के अन्तर्गत उन्होंने बारह मूलभावों से मन का संगठन माना है—हर्ष विषाद अवसाद, निराशा, आश्चर्य, खेद पश्चात्ताप, विश्वास आशा, चिन्ता हताशा, दुराशा। मेरी दृष्टि से ये मूल भाव अपूर्ण मानने चाहिए, क्योंकि इनके अन्तर्गत प्रेम का मूल-भाव आया ही नहीं, जो सबसे प्रमुख आत्म-रक्षण के विकसित संस्कार 'वंश-रक्षा' से प्रेरित है। उपर्युक्त बारह भाव प्रेम की संश्लिष्ट कोटि में अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार सहज ही समाविष्ट हो सकते हैं। क्योंकि प्रेम का सम्बन्ध रागात्मक वृत्ति से है, जो संवेदना शक्ति से आविर्भूत होता है। स्टाउट ने संवेदना शक्ति को हर्ष और शोक की कोटि से अधिक व्यापक रूप दिया है किन्तु इसे जीवन में अन्तर्यामी होने का दृष्टिकोण प्रो० जेम्स ने दिया। वस्तुतः प्रो० जेम्स प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुरूप ही संवेदना-शक्ति की व्याख्या करते हैं। साहित्य में यही संवेदना जीवन के अनन्त चित्र प्रस्तुत करती है। यदि मनुष्य बाह्य जगत् की विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव करने में असमर्थ है तो वह साहित्य की सृष्टि किस प्रकार कर सकता है। साहित्यकार जब विविध पदार्थों और परिस्थितियों को वस्तु-जगत् से ग्रहण कर अन्तर्जगत् में लीन करता है तभी वह उन पदार्थों और परिस्थितियों को अधिक व्यापक और प्रभावशाली रूप देकर प्रस्तुत कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी से जल ग्रहण कर उसे मेघ में परिणत करता है और वायु के प्रवाह में मेघ-माला को अनेक भू-खण्डों के ऊपर वितरित कर स्वच्छ और दोषरहित जल की वर्षा कर देता है। यह संग्रहण की क्रिया संवेदना शक्ति के बिना सम्भव नहीं। इसीलिये साहित्य की प्रारम्भिक सृष्टि में ही संवेदना का प्रमुख स्थान है।

संवेदना शक्ति भावना का संचार करती है। भावना में जीवन की सरलता है। यदि बुद्धि-वैभव के शिला-खण्ड उनके समक्ष आते भी हैं तो वह उनके ऊपर

से बहती हुई मानवता का संगीत मुखरित करती चलती है। बुद्धि-वैभव में तर्क का आग्रह है। उससे सत्य की घोषणा हो सकती है। सत्य की अनुभूति नहीं। यह अनुभूति भावना द्वारा ही सम्भव हो सकती है। यदि बुद्धि ने इस बात की घोषणा की कि—

"नहिं असत्य सम पातक पुञ्जा।"

तो भावना ने उसी क्षण उसकी अनुभूति उपस्थित करा दी—

"गिरि सम होहिं कि कोटिक गुञ्जा॥"

इस प्रकार साहित्य में सत्य की अनुभूति भावना द्वारा ही सम्भव हो सकी है। संवेदना की प्रेरणा प्राप्त कर यह भावना ही साहित्य के स्थायी भावों की सृष्टि करती है और जीवन की सर्वांग अनुभूति में सहायक होती है। काव्य में भावना का पक्ष अत्यन्त घनीभूत रहता है। उसी से अनेक परिस्थितियों का मर्मस्पर्शी रूप प्रस्तुत होता है। और उसी के द्वारा समस्त सुखी जीवन एक मुस्कान में और समस्त शोकाभिभूत जीवन एक अश्रु में व्यक्त हो सकता है। विलियम मैक्डूगल ने इस भावना में संस्कारगत आवेगों को विशेष महत्त्व दिया है। स्टाउट ने इस भावना के छः लक्षण प्रस्तुत किये हैं—

(१) भावना अत्यन्त विस्तृत परिधि रखने वाली मानसिक प्रक्रिया है। सामान्य भौतिक संवेदनशीलता से वह आदर्श भावात्मक परिस्थिति तक पहुँच जाती है। उदाहरण के लिये, फसल के नष्ट होने से लेकर सगुण भक्ति में आराध्य के रूप-दर्शन की असमर्थता तक निराशा का प्रसार हो सकता है।

(२) भावना के अन्तर्गत परिस्थितियों की अधिक से अधिक विविधता सम्भव हो सकती है। उदाहरण के लिये, क्रोध का मनोभाव अगणित कारणों से उत्पन्न हो सकता है। अपमान, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, प्रेम की असफलता, प्रहार आदि अनेक घटनाओं की प्रतिक्रिया क्रोध उत्पन्न करती है और वह क्रोध तब दुधारी तलवार बन जाता है, जब वह अपने ही ऊपर आने लगता है।

(३) भावना अनियमित भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति अपनी सामान्य दशा में जो बात कहता है उससे बिलकुल विपरीत बात वह कह सकता है यदि उसने दूसरे ही क्षण मद्य-पान कर लिया हो। ऐसी स्थिति में भावना प्रलाप का रूप ग्रहण कर लेती है।

(४) भावना परिस्थितियों में अन्तर्गामिनी धारा की भाँति प्रवाहित होती है और उसकी दिशा का निर्धारण समानान्तर परिस्थितियों में ही हो जाता है। उदाहरण के लिए युग की परिस्थितियों से प्रभावित होने वाले काव्य की सृष्टि यदि विलासजनक परिस्थितियों से होगी तो कविता भी शृंगार रस से परिपूर्ण होगी।

(५) भावना प्रतिक्रियात्मक रूप से व्यंजना का रूप ग्रहण कर सकती है, जिससे हम मूल प्रवृत्ति का पता चल सकता है। उदाहरण के लिए एक अत्यन्त सीधी और सरल स्त्री भी अपने पुत्र पर अत्याचार करने वाले के प्रति चण्डिका का रूप ग्रहण कर सकती है। इसके इस चण्डी रूप में वात्सल्य की व्यंजना है।

(६) भावना अपने घनीभूत रूप में स्थूल पदार्थों में भी परिवर्तन कर देती है। उदाहरणार्थ, प्रेम की तल्लीनता में भक्त भी अपने भगवान् की भाँति आचरण करने लगता है।

स्टाउट के उपर्युक्त वर्गीकरण में उदाहरण मैंने अपनी ओर से जोड़ दिए हैं। भावना के जो भेद उन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे बहुत कुछ स्वतन्त्र न होकर एक दूसरे से मिले-जुले हैं। एक वर्ग की प्रक्रिया दूसरे वर्ग में भी सम्भव है। कुछ वर्ग अना-वश्यक भी हैं। इन वर्गों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भावना की विविध परिस्थितियों में विविध दशाएँ हो सकती हैं। यदि हम भावना को जीवन के समानान्तर गति रखने वाली संवेदना शक्ति मानें तो भावनाओं का परिगणन असाध्य होगा क्योंकि जीवन की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ होंगी, उनका ग्रहण भावनाओं में सम्भव नहीं हो सकता।

भावातिरेक—भावना जब विशिष्ट परिस्थितियों में घनीभूत होकर अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई आवेग की सहचारिणी हो जाती है तो वह 'भावा-तिरेक' की संज्ञा ग्रहण करती है। इस आवेग में भी भावना के घनीभूत रूप का एक सन्तुलित विस्तार होता है। सम्भवतः इसीलिए ए० एफ० शाण्ड ने इसे भावना का सुसंगठित विन्यास (औरगैनाइज्ड सिस्टम) माना है। मैक्डूगल ने भी इसका समर्थन किया है। आर० एस० वुडवर्थ ने अपने ग्रन्थ 'साइकोलौजी' में इसे सम्मिश्रित भावात्मक दृष्टिकोण (कम्पलक्स-इमोशनल एटीट्यूड) माना है। वस्तुतः इस मनोभाव में विभिन्न भावनाएँ आकर मिल जाती हैं और उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाएँ आवेग के सहचर से भावनातिरेक में निष्पन्न होती हैं। किन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि एक भावना किसी विशेष परिस्थिति में व्यावर्तित होकर आपस आप आवेग में गतिशील होती हुई भावनातिरेक में परिवर्तित हो जाय। इस प्रकार भावना की अतिरेकता अनेक भावनाओं में सम्भव है तथा एक ही भावना की विभिन्न

परिस्थितियों से प्राप्त है। काव्य के क्षेत्र में यदि भावना महाकाव्य को जन्म देती है, तो भावनातिरेक गीतिकाव्य को जन्म देता है। यद्यपि जिस प्रकार महाकाव्य में भावनातिरेक सम्भव है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में भावना भी, किन्तु सामान्य रूप में भावनातिरेक व्यक्ति और परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है और भावना समष्टि एवं परिस्थिति से। हमारे आचार्यों ने इसी भावातिरेक में उन स्थायी भावों को निर्धारित किया है, जिनसे रस-निष्पत्ति में सहायता मिलती है।

पश्चिम के चिन्तकों ने इस भावातिरेक का सम्बन्ध मनोविज्ञान से मान कर उसकी स्थिति जीवन के लौकिक विस्तार में उचित समझी है।

यदि दोनों दृष्टिकोणों की तुलना की जाय तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि जहाँ भारतीय आचार्यों ने काव्य को संवेदना, भावना और भावनातिरेक के आश्रय से लोकोत्तर जीवन की आनन्दानुभूति में परिणत किया है, वहाँ पश्चिम के चिन्तकों ने उपर्युक्त तीनों भावों को लौकिक जीवन के विश्लेषण में हर्ष और शोक में विभाजित कर दिया है। हम इन भावों को समष्टि के अवयवों के रूप में मानते है। पश्चिम में इनको व्यष्टिगत प्राधान्य दिया गया है। ये स्वयं जीवनगत अभिव्यक्ति के अंश न होकर अंशी बन गये हैं। इसका लक्ष्य केवल अपनी अभिव्यक्ति-मात्र कर लेने में है। वे उससे आगे चलकर किसी अलौकिक क्षेत्र में पहुँच कर रस जैसी अनुभूति उत्पन्न करने की दृष्टि नहीं रखते। हमारे जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति चाहे वह हर्षमय हो या शोकमय, अथवा जीवन के किसी भी आवेग से उसका सम्बन्ध हो, सदैव अपने गन्तव्य आनन्द की ओर अग्रसर होती है, क्योंकि प्रवृत्तमान होकर भी हम संसार के सुख-दुःख से ऊपर उठकर अपने आत्मगत् संस्कारों का परिष्कार करना चाहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान जीवन की लौकिक उद्‌भावनाओं से सम्पुष्ट है। यह जीवन की वास्तविकता का निर्देशक है। नाटक या उपन्यास में जब किसी चरित्र की सृष्टि होती है तो नाटककार को उसके मानसिक धरातल के पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। पात्र के व्यक्तिगत जीवन में कौन से आवेग हैं, जो उसके स्वाभाविक संस्कार का रूप ग्रहण करते हैं। जब उन संस्कारों के समक्ष सांसारिक परिस्थितियाँ आती हैं, तो उन पर किस प्रकार की क्रिया या प्रतिक्रिया होती है ? जब प्रतिक्रिया होती है तो अन्तर्द्वन्द्व का सौन्दर्य स्पष्ट होता है। इस अन्तर्द्वन्द्व में जीवन की परिणति किस दिशा में होनी चाहिये, इसका निर्णय पात्र के जीवन के संस्कारों अथवा प्रभावों के सापेक्ष अनुपात पर ही निर्भर है। इसका वास्तविक निरूपण तभी सम्भव हो सकता है जब लेखक को मनोविज्ञान के साथ बाह्य जगत् की परिस्थितियों के जीवनगत प्रभावों की पूरी जानकारी हो। इससे मानव का सत्य अनेक रूपों में प्रकट होता है और चरित्र की व्याख्या संसार के मूल्यों द्वारा आँकी जा सकती है। इस भाँति सांसारिक परिस्थितियों एवं मानव के चरित्रों की

व्याख्या इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बड़ी सरलता से सम्भव है। साहित्य के क्षेत्र में इसी मनोविज्ञान का आश्रय आधुनिक लेखकों की प्रतिभा का सूचक बना हुआ है। यह इस भौतिक जगत की व्याख्या का वास्तविक रूप है।

साहित्य के मूल में रस का महत्त्व देने से हम लौकिक जीवन की वस्तुवादी व्याख्या कम देखने को मिलती है क्योंकि रस इस वस्तुवादी जीवन के परे एक विशिष्ट आनन्द में विश्वास रखता है। जीवन में प्रतिदिन घटित होने वाली परिस्थितियाँ तो लहर की तरह बार-बार बनती और बिगड़ती हैं। उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं है। स्थायी महत्त्व तो सरिता की प्रचण्ड धारा के समान बहने वाले हमारे जीवनगत सत्य का है। उसमें मानवता का इष्ट है। पश्चिम का लेखक बुदबुद की भाँति उठने वाली घटनाओं को प्रवाह से अधिक महत्त्व दे देता है और जीवन की हल्की से हल्की अनुभूति को वह स्वाभाविकता के आग्रह में प्रस्तुत करने में सचेष्ट एवं प्रयत्नशील रहता है। भारतीय लेखक स्वाभाविकता का इतना आग्रह नहीं मानता, क्योंकि वह लौकिक जीवन की आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देता। फलतः किन्हीं विशिष्ट नैतिक आदर्शों में वह जीवन को प्रगतिशील करना चाहता है और ऐसे वातावरण में साँस लेना चाहता है, जिसमें साहित्य समस्त मानवता का कल्याण विधायक है।

ध्वनि सिद्धान्त-विमर्श

डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी

काव्य को पुरुष मानकर उसकी आत्मा के सम्बन्ध में जीवात्मा की भाँति ही अनेक प्रकार के वाद भारतीय साहित्य-शास्त्र में प्रचलित हैं। तथापि जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में शङ्कर का अद्वैतवाद मूर्धन्य माना जाता है, साहित्य-शास्त्र में आनन्दवर्धन के ध्वन्यात्मवाद की प्रतिष्ठा भी वैसी ही महनीय एवं सर्वातिशायिनी है। उस युग के अप्रतिम विद्वान् एवं विचारक आचार्य अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का न केवल समर्थन ही किया है अपितु उसके प्रतिपादक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' पर लोचन नाम की टीका भी लिखी है। अभिनव गुप्त आनन्दवर्धन के प्रशंसकों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने आनन्दवर्धन को सहृदय चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया है। अनन्तर मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ कविराज एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति साहित्य-शास्त्र के अनेक प्रकाण्ड पण्डितों ने ध्वनि सिद्धान्त की सरणि पर ही अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया और सबने आनन्द प्रतिपादित ध्वनि तत्त्व को ही बहुधा व्याकृत कर सर्वांगपूर्ण बनाने का यथासाध्य प्रयास किया। यही नहीं, ध्वनिविरोधी आचार्यों में अग्रगण्य महिम भट्ट ने भी आनन्दवर्धन को महान् बताया है और उनके सिद्धान्त का खण्डन करके अपने को भी गौरवान्वित माना है।

ध्वनि का मूल स्रोत

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के इतिहास में वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की आत्मा का प्रश्न उठाया है और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की उक्ति द्वारा समग्र गुणगुम्फिता वैदर्भी रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। वामन से पूर्व यद्यपि भरत, भामह, दण्डी प्रभृति अनेक आचार्य हो गये थे, जिन्होंने अपनी कृतियों में साहित्य के अङ्गोपाङ्ग का शास्त्रीय रीति से सम्यक् विवेचन किया, किन्तु काव्यात्मा का प्रश्न उनकी बुद्धि में नहीं आया। भरत ने काव्य में रस की सत्ता की अनिवार्यता का विधान अवश्य किया है तथा इसके बिना साहित्य की किसी

की निधा की प्रवृत्ति का निरू… किया है किन्तु 'रस काव्य की आत्मा है' ऐसा उन्होंने क… भी नहीं कहा। इसी प्रकार भामह और दण्डी ने अपनी कृतियों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन करते हुए उन्हें ही काव्य का सर्वस्व तक कहा है, परन्तु अलंकार ही काव्य की आत्मा है ऐसा विधान या विवेचन उनके ग्रन्थों में कहीं नहीं हुआ है। वामन ने ही अपनी कृति काव्यालंकारसूत्र एवं वृत्ति में काव्य का मानवीकरण करते हुए काव्यात्मा का निरूपण किया है।

आनन्दवर्धन को सम्भवतः वामन की काव्यात्मा के निर्धारण की बात तो पसन्द आई किन्तु रीति को काव्यात्मा का रूप प्रदान करना उन्हें उचित नहीं प्रतीत हुआ। ध्वनिकार के पूर्व काव्यात्मा विषयक विवाद पर्याप्त व्यापक रूप धारण कर चुका था। गुणाश्रयी एवं अलंकारवादी एक दूसरे के पक्ष का खण्डन-मण्डन करने में ही लगे थे कि आनन्दवर्धन या जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है कि 'सहृदय' नामक किसी विद्वान् ने ध्वनि का वर्णन किया और उसे ही काव्य की आत्मा होने का गौरव भी प्रदान कर दिया। अब परम्परावादी सभी एक ओर हो गए और ध्वनि का विरोध करने लगे। गुणवादी वामन के अनुयायियों ने ध्वनि के अस्तित्व का ही सर्वथा खण्डन किया अलंकारवादियों के एक पक्ष ने उसमें सौंदर्य या चमत्कार का अभाव देखा दूसरे ने ध्वनि की सत्ता एवं उसके द्वारा चमत्कार के आधान की बात को अङ्गीकार करते हुए कुछ विशिष्ट अलंकारों में ही उसका अन्तर्भाव साधित किया। दर्शन से प्रभावित साहित्यिकों के एक वर्ग ने ध्वनि और व्यंजना की परिकल्पना का आश्रय लेकर उसे भाक्त अर्थात् लक्षण प्रतिपादित बनाया तो सम्भवतः रसवादी वर्ग ने ध्वनि को एकमात्र रस में अन्तर्भूत मानकर उसे अनिर्वचनीय कहा। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने उन सबका उल्लेख अपने ग्रन्थ के आरम्भ में किया है—

> काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
> स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।।
> केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
> तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।।

आनन्दवर्धन ने अपनी कृति 'ध्वन्यालोक' का आरम्भ ही काव्यात्मा के प्रश्न से किया है और ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। काव्य पुरुष के अन्यान्य अङ्गप्रत्यङ्ग शब्दार्थ तथा गुणालंकारादि के होने में ध्वनिकार को कोई विप्रतिपत्ति नहीं। पर काव्य की आत्मा तो ध्वनि ही है और एकमात्र वही हो सकता है गुणालंकारादि कोई अन्य तत्त्व नहीं यही उनका आग्रह है। अतएव ध्वन्यालोक में स्थान-स्थान पर वह काव्यात्मा के प्रश्न पर आ जाते हैं और ध्वनि

या प्रतीयमान को काव्य की आत्मा, 'सभी उत्तम कवियों की कविता या सारभूत तत्त्व', 'काव्य का अतिरमणीय तत्त्व' आदि कहने लगते हैं। यही नहीं, रामायण महाभारत आदि सभी लक्ष्य ग्रन्थों में भी उन्हें ध्वनि तत्त्व ही प्रधानतया अनुस्यूत प्रतीत होता है। उनका विश्वास है कि यद्यपि गुणालंकारवादी पूर्वाचार्यों की व्युत्पत्ति अत्यन्त ही गहन एवं बुद्धि अति सूक्ष्म थी, फिर भी उनकी बुद्धि ध्वनि तत्त्व को नहीं पकड़ सकी और इसीलिए अब तक कोई भी उसका प्रकाशन नहीं कर सका था, यही तथ्य है। समूचे ध्वन्यालोक में इस बात की उक्ति अनेकत्र एवं अनेकधा हुई है। इस प्रकार ध्वनिकार के द्वारा काव्यात्मा के रूप में ही ध्वनि के पुनः-पुनः निरूपण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वामन के द्वारा उठाया गया काव्यात्मा का प्रश्न ही ध्वनि सिद्धान्त के उद्‌भव का मूल स्रोत है। उसकी ध्वनि संज्ञा या उसमें अन्तर्निहित व्यङ्ग्यव्यंजकभाव की प्रेरणा व्याकरण के स्फोट आदि सिद्धान्तों से चाहे भले मिली हो, उसके काव्यात्मक स्वरूप के पीछे तो वामन की 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की बात ही काम कर रही थी। इस प्रकार गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, अनुमिति तथा औचित्यवाद की तरह ही ध्वनिवाद का मूल स्रोत भी अलंकार शास्त्र का ही एक ग्रन्थ ठहरता है। दण्डी और भामह के अलंकार-विवेचन का स्रोत भरत का नाट्यशास्त्र है। वामन के गुणात्मारीति के मूल में दण्डी, भामह एवं भरत के गुणविषयक विवेचन है। कुन्तक को वक्रोक्ति की प्रेरणा भामह की उक्ति 'सैपा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते' से मिली है। महिमभट्ट का काव्यानुमिति का सिद्धान्त श्री शंकुक के रसानुमिति पर निर्भर करता है तथा क्षेमेन्द्र के औचित्य-वाद की पृष्ठभूमि में आनन्द एवं महिम की औचित्यविषयक मान्यताएँ ही हैं।

(३) ध्वनि-संज्ञा—काव्य विशेष के लिये ध्वनि के व्यपदेश का श्रीगणेश आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है। वहीं पर ध्वनि-संज्ञा के विधान का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा है कि यहाँ काव्य के लिये ध्वनि पद का प्रयोग सर्वथा नवीन है और वैयाकरणों से लिया गया है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नात पूर्वः।

बुध अर्थात् व्याकरणशास्त्र के विद्वानों ने बहुत पहले ही जिस ध्वनि का निर्वचन किया है वही यहाँ ध्वनि की संज्ञा पाकर काव्य की आत्मा है।

व्याकरण में ध्वनि पद पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। स्फोट सिद्धान्त के अनुसार शब्द दो प्रकार के होते हैं—नित्य एवं अनित्य। लोक में सतत प्रयुज्य-मान घटपटादि प्रत्येक शब्द अनित्य एवं क्षणभंगुर है। व्याकरण-दर्शन के अनुसार उच्चरित होने पर कोई भी वर्ण प्रथम क्षण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण तक बना

रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। अतएव इन वर्णों से निर्मित घट पटादि सभी शब्द अनित्य तथा क्षणभंगुर हैं। फिर इनसे अर्थ की अभिव्यक्ति क्योंकर होती है? यह एक प्रश्न स्वभावतः उठ खड़ा होता है। अथच इनसे अर्थ की अभिव्यक्ति सम्भव भी नहीं। किन्तु हम इनसे अर्थ की जो अभिव्यक्ति होती है इससे हम अनुमान करते हैं कि अर्थ एवं इन शब्दों के बीच में कोई अन्य तत्त्व है जो इन अनित्य शब्दों से भी अर्थ की अभिव्यक्ति करा देता है। वही स्फोट है। स्फोट चूँकि सदा ही इन शब्दों से अर्थविशेष की अभिव्यक्ति करता रहता है अतः उसे नित्य ही मानना चाहिए। अन्यथा कल जिस शब्द से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती थी आज उससे उसी अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। स्फुटयति अर्थं व्यनक्ति इति स्फोटः। स्फोट की सत्ता साक्षात् प्रमाणित नहीं होती अपितु घटपटादि लौकिक पदों की अनित्यता से ही उसकी कल्पना की जाती है। अतएव लौकिक घटपटादि अनित्य पदों को ध्वनि कहते हैं। आनन्दवर्धन का कथन है कि विद्वान् वैयाकरणों ने स्फोट के व्यंजक होने से ही श्रूयमाण वर्णों के लिये ध्वनि पद का प्रयोग किया है। इसी प्रकार उनके अनुयायी काव्यतत्त्व-वेत्ताओं ने भी उन शब्दों एवं अर्थों से संवलित काव्य को ध्वनि की संज्ञा दी है जो प्रतीयमान अर्थ की प्रधानतया अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार व्यंजकत्व साम्य से ही काव्य विशेष की ध्वनि संज्ञा हुई है। व्याकरण में ध्वनि से काव्य के ध्वनि का भेद भी है और वह यह कि व्याकरण में घटपटादि प्रत्यक्ष श्रूयमाण पद ध्वनि हैं जबकि काव्य में केवल प्रतीयमान के अभिव्यंजक ही ध्वनि कहलाते हैं। ध्वनि काव्य की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ प्रतीयमान का व्यंजक होने से अर्थ भी चाहे वह वाच्य लक्ष्य या व्यंग्य हो ध्वनि संज्ञा का भागी होता है जबकि व्याकरण में केवल शब्द ही ध्वनिव्यपदेश्य होते हैं।

अनुमितिवादी आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनि सिद्धान्त के ध्वंसक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'व्यक्ति विवेक' में प्रसङ्गवश काव्य विशेष के लिये प्रयुक्त ध्वनिसंज्ञा को भी अनुपयुक्त ठहराया है। उनका कहना है कि व्याकरणशास्त्र में श्रूयमाण पदों की ध्वनि संज्ञा इसलिये हुई है कि वह स्फोट के व्यंजक हैं यह कथन ही मान्य नहीं। क्योंकि घटपटादि शब्दों के अनित्य होने से उनमें स्थायित्व नहीं होता। अतः पूर्वोक्त क्रम से जिस प्रकार वह अर्थ की अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं उसी प्रकार स्फोट की भी अभिव्यक्ति उनसे कदापि नहीं हो सकती। इसलिये व्याकरणशास्त्र में स्फोट के व्यंजक होने से ही शब्द में ध्वनि संज्ञा का विधान हुआ है यह बात सर्वथा असंगत है। प्रत्युत् वहाँ पर भी हेतुहेतुमद्भाव से अनुमान की प्रक्रिया ही काम करती है। फलतः व्याकरण की ध्वनिसंज्ञा के व्यंजकत्व के साम्य पर काव्य विशेष के लिये ध्वनि संज्ञा का विधान व्यर्थ निराधार एवं कपोलकल्पित है।

(४) ध्वनि का लक्षण एवं स्वरूप—ध्वनि की परिभाषा के प्रसंग में अर्थ के

दो भेदों वाच्य एवं प्रतीयमान की जानकारी अवश्य होनी चाहिए। किसी भी शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते है। एक वह जो प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन करके किया जाता है। दूसरा वह जिसका निर्धारण लोक में हुए प्रयोग के अनुसार होता है। पहले को व्युत्पत्तिलभ्य तथा दूसरे को प्रवृत्तिलभ्य अर्थ कहते हैं। काव्य में इन्हें ही क्रमशः वाच्य एवं प्रतीयमान की संज्ञा दी गई है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ वाच्य होता है तथा प्रायेण प्रवृत्तिलभ्य अर्थ प्रतीयमान उदाहरण के तौर पर 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य अस्त हो गया) इस वाक्य का वाच्य अर्थ यह है कि सूर्य डूब गया; किन्तु जब एक मजदूर या चरवाहा यही वाक्य कहता है तो उसका अर्थ यह होता है कि अब घर चलना चाहिए। यह अर्थ उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द की प्रवृत्ति से ही ग्रहण किया जाता है। यह वाच्य नहीं हो सकता, अपितु प्रतीयमान है। व्यंग्य प्रतीयमान का ही अपरपर्याय है।

सामान्यतया हम जब कोई बात कहते हैं तो हमारा तात्पर्य वाच्य से ही रहता है। उपमा, रूपक, दीपक आदि अलंकारों में भी वाच्य अर्थ का ही निरूपण होता है। काव्य में प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी का ही विषय होता है। वह शब्द की व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ से उसी प्रकार सर्वथा भिन्न होता है जिस प्रकार सौन्दर्य नायिका के अंग-प्रत्यंग से सर्वथा भिन्न एक विलक्षण ही वस्तु होता है। यह आवश्यक नहीं है कि यह प्रतीयमान अर्थ सर्वथा वाच्य से उच्च कोटि का ही हो, अपितु वह उसके तुल्य एवं उससे अधम कोटि का भी हो सकता है। यह उत्तमता या अधमता उसके चारुत्व पर निर्भर करती है। यदि वह अर्थ पाठक या श्रोता में वाच्य की अपेक्षा कम या उसके तुल्य ही चमत्कार का आधान करता है तो वह ध्वनि नहीं कहा जा सकता, अपितु ध्वनि संज्ञा का श्रेय उसी काव्य को मिलेगा जहाँ प्रतीयमान अर्थ वाच्य की अपेक्षा अधिक चारु तथा चमत्कारशाली हो; इसे ही प्रतीयमान की प्रधानता कहते हैं। जहाँ पर जो अर्थ अधिक चमत्कार का आधान करता है वहाँ पर वही प्रधान कहा जाता है।

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।

इस प्रकार उस काव्य को ही ध्वनि काव्य कहेंगे जहाँ पर शब्द अपने वाच्य अर्थ को अथवा अर्थ अपने को गौण करता हुआ एक ऐसे प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति करे जो वाच्य की अपेक्षा अधिक चारु हो। यहाँ तीन बातें अपेक्षित हैं—

(१) व्यंजक—वह शब्द भी हो सकता है अर्थ भी।

(२) व्यंग्य—जो केवल अर्थ ही हो सकता है जिसे प्रतीयमान कहेंगे।

(३) तीसरी बात बहुत महत्त्वपूर्ण है और वह यह है कि व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो चारुतर हो। कहने का आशय यह है कि पाठक या श्रोता की बुद्धि में वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कार का आधान करे।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

जिस काव्य में शब्द अपने वाच्य अर्थ या अर्थ स्वयं अपने को गौण स्थान में रखते हुए किसी प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करे, उसे ही विद्वानों ने ध्वनि कहा है।"

व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने आनन्दवर्धनकृत ध्वनि के उक्त लक्षण के युक्तायुक्त होने की मीमांसा बहुत ही विस्तारपूर्वक की है और इसमें भाषा तथा भाव सम्बन्धी दश दोष दिखाये हैं। सबका निरूपण तो यहाँ सम्भव नहीं है किन्तु महिमभट्ट ने इस प्रसंग में एक बात जो यह कही है कि शब्द में अपने अर्थ को गौण करने की सामर्थ्य नहीं है एवं अर्थ उपसर्जनीकृत स्वार्थपद अर्थपद का विशेषण नहीं हो सकता विचारणीय है। उनका कहना है कि शब्द में स्वार्थाभिधान के अतिरिक्त व्यापारान्तर सम्भव नहीं। अतः उसके अपने अर्थ को गौणकर अर्थान्तर प्रतीयमान को अभिव्यक्त करने की बात वदतोव्याघात अर्थात् स्वयं में विरुद्ध है। यदि किसी तरह यह मान भी लें कि शब्द प्रतीयमान की अभिव्यक्ति कर सकता है तो अभिव्यक्ति प्रतीयमान अर्थ वाच्य से प्रधान कथमपि नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द का परम प्रयोजन अपने अर्थ (वाच्य) की अभिव्यक्ति है। वह अपने मुख्य उद्देश्य को गौण कैसे कर सकता है। यही कारण है कि लक्षण आदि के स्थलों में भी वाच्य को ही मुख्य अर्थ कहा गया है। इस प्रकार शब्द वाच्य के अतिरिक्त किसी भी प्रतीयमान अर्थ की न तो अभिव्यक्ति कर सकता है न अपने वाच्य को अप्रधान या गौण करने की क्षमता उसमें है।

इस प्रकार ध्वनिकार के लक्षण में प्रयुक्त उपसर्जनीकृत स्वार्थ-पद जिस प्रकार शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार वह अर्थपद का विशेषण भी नहीं हो सकता। कोई भी विशेषण सार्थक तभी हो सकता है जब उसमें सम्भव एवं व्यभिचार दोनों सत्तायें हों अर्थात् वह धर्म उस विशेष्य वस्तु में कहीं रहता हो कहीं न भी रहता हो। जब हम काली गाय कहते हैं तो विशेष्य का काला धर्म किसी गाय में रहता है किसी में नहीं। उसका विशेष्य में रहना ही सम्भव सत्ता है और अभाव व्यभिचार सत्ता। 'उष्ण अग्नि' में अग्नि का विशेषण उष्ण सार्थक इसलिये नहीं है कि उसमें केवल सम्भव सत्ता ही है। ऐसा कभी नहीं हो

सकता कि आग उष्ण न हो, अतः यह विशेषण निरर्थक है। 'शीतोऽग्निः' में शीत विशेषण इसीलिये व्यर्थ है कि उसमें केवल व्यभिचार सत्ता ही है, सम्भव सत्ता नहीं।

प्रकृत स्थल में अर्थ के विशेषण 'उपसर्जनीकृतस्वार्थ' पद में भी केवल सम्भव सत्ता ही सम्भव है, व्यभिचार नहीं। क्योंकि जहाँ भी वाच्य अर्थ किसी दूसरे अर्थ को व्यक्त करता है उन सब स्थलों में वह स्वतः गौण ही रहता है, कभी भी मुख्य नहीं हो सकता। उदाहरणतः 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में धूम अर्थ अर्थान्तर वह्नि की अभिव्यक्ति करता है, अतः वह वह्नि की अपेक्षा स्वतः अप्रधान होता है और इसीलिये साधन कहा जाता है तथा वह्नि साध्य। एवं 'उपसर्जनीकृतस्वार्थ' पद न तो शब्द का ही विशेषण हो सकता है न अर्थ का। उक्त ध्वनि के लक्षण में यह असम्भव दोष है जिसका निराकरण ध्वनिवादी किसी भी परवर्ती आचार्य से नहीं बन पाया है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन कृत ध्वनिलक्षण के विस्तृत विवेचन का सारांश यही है कि—सहृदय श्लाघ्य वह अर्थ जिसे काव्य की संज्ञा दी जा सकती है दो प्रकार का ही सम्भव है—वाच्य एवं प्रतीयमान। वाच्य अर्थ के सद्भाव में काव्यता उपमादि अलंकारों से सम्पन्न होती है। अभिधा से वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनन्तर वक्ता, श्रोता तथा प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से उसी वाक्य से अर्थान्तर की जो प्रतीति होती है वही प्रतीयमान- या व्यंग्य अर्थ है। यह प्रतीयमान अर्थ वस्तु अलंकार एवं रसादि तीन प्रकार का ही होता है। सभी प्रतीयमान अर्थ व्यंग्य अवश्य होते हैं—पर सभी व्यंग्य ध्वनि कहलाने के भागी नहीं होते, अपितु वही थोड़े से अर्थ ध्वनि कहे जाते है, जिनमे वाच्य अर्थ या वाच्यालंकार की अपेक्षा चारुता अधिक हो। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार शब्द एवं उसके वाच्य अर्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध होता है और संकेत-ग्रह से ही उसका निर्धारण सम्भव है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही प्रतीयमान के व्यंजक होते है तथा प्रतीयमान एवं उनके बीच व्यंग्यव्यंजक भाव सम्बन्ध काम करता है।

व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है कि वह सम्बन्ध गमकत्व ही है और जो वाच्यवाचक भाव के अनुसार ही बनता है। वक्ता, श्रोता तथा प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से प्रतीयमान अर्थ का अवधारण होता है। इस प्रकार व्यंग्यव्यंजक भाव, औपचारिक ही होता है।

महिमभट्ट शब्द और अर्थ के बीच वाच्यवाचक के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार करने के लिये इसलिये प्रस्तुत नहीं हैं कि उसमें कोई

प्रमाण नहीं। अर्थान्तर या प्रतीयमान की प्रतीति के प्रति शब्द में कारणता या समवता सम्भव ही नहीं। प्रत्युत उन सभी स्थलों में प्रकरणादि विशिष्ट वाच्यार्थ ही प्रतीयमान की प्रतीति का कारण होता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थान्तर या प्रतीयमान की प्रतीति के शब्दगम्य न होने से वह शब्द व्यापार का विषय कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार काव्य में प्रतीयमान या अर्थान्तर की प्रतीति शाब्दी न होकर एकमात्र आर्थी ही ठहरती है। वाच्य अर्थ से अर्थान्तर (व्यंग्य) का गमक होने से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति शब्दव्यापार का विषय न होकर विशुद्ध रूप से अर्थव्यापार का विषय है जो अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति या हेतु से साध्य की प्रतीति के समान लिङ्गलिङ्गिभाव से ही व्यवस्थित होती है, अन्यथा नहीं। जो स्पष्टतया अनुमान का विषय है।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि प्रतीयमान की सत्ता मानने से महिमभट्ट को भी व्यजना स्वीकृत है। वह प्रतीयमान को एकमात्र अर्थ द्वारा व्यंजित कहकर उसे अनुमेय कहना चाहते हैं, और व्यजना का अन्तर्भाव अनुमान में ही सिद्ध करते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि पद की व्युत्पत्ति पांच प्रकार से की है और इस प्रकार उसका क्षेत्र बहुत ही अधिक व्यापक कर दिया है—

(१) ध्वनतीति व्यंजक शब्दः ध्वनिः, शब्द के लिये,

(२) ध्वनतीति व्यंजक अर्थः ध्वनिः, अर्थ के लिये,

(३) ध्वन्यते असौ इति व्यंग्य (वस्त्वलङ्काररसादिरूप) ध्वनिः, प्रतीयमान के लिये,

(४) ध्वन्यते अनयेति व्यंजनावृत्तिरपि ध्वनिः, व्यंजना शक्ति के लिये,

(५) ध्वन्यते (वस्त्वलङ्काररसादयोऽस्मिन्निति काव्यविशेषो) ध्वनिः, काव्य के लिये।

अभिनवगुप्त के इस विवेचन का प्रभाव यह पड़ा कि व्यंजकत्व साम्य से ध्वनिसंज्ञा के आस्पद अब तक जो व्यंजक शब्द एवं अर्थ ही थे, अब वैसी बात नहीं रही। व्यंग्य अर्थ के लिए भी ध्वनि पद का प्रयोग व्यवस्थित हो गया जहाँ व्यंजकत्व साम्य की सम्भावना तक नहीं है। यही नहीं परवर्ती आचार्यों के विवेचन में तो ध्वनि

का वास्तविक स्वरूप वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि एवं उसका चरमोत्कर्ष रस-ध्वनि में व्यक्त होने लगा। मम्मट प्रभृति आलंकारिकों ने यद्यपि ध्वनि के लक्षण निरूपण में बड़ी सावधानी बरती है फिर भी चारु व्यंग्य ही ध्वनि है, यही भाव उनके विवेचन से स्पष्ट होता है। व्यंजकत्व के साम्य पर ध्वनि की बात का जैसे कोई मूल्य ही न हो। इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनि बुधैः कथितः। व्यंग्य के वाच्य की अपेक्षा अतिशायी होने पर ही ध्वनि काव्य होता है। तथा 'व्यंग्य प्राधान्ये हि ध्वनिः'—व्यंग्य की प्रधानता में ही ध्वनि है।

व्यंग्य या प्रतीयमान के आधार पर ध्वनि तीन प्रकार का होता है— वस्तु, अलंकार एवं रसादि। वस्तु-ध्वनि वह है जहाँ शब्द या अर्थ किसी अर्थविशेष की अभिव्यक्ति करे—

जैसे—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

"पृथ्वी पर सदा ही सुवर्ण के समान फूल खिले रहते हैं किन्तु उनका चयन तीन प्रकार के ही व्यक्ति कर पाते हैं—शूरवीर, विद्वान् एवं तीसरे वे जो सेवा करने में निष्णात हैं।" इस पद्य में व्यंग्य यही है कि वीर, विद्वान् एवं गुणी व्यक्ति के लिये विभूतियाँ सर्वत्र सुलभ हैं।

अलंकार-ध्वनि का उदाहरण है—

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि विस्रब्ध चाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण, सख्यः शपामि नहि किञ्चिदपि स्मरामि॥

"हे सखि, तुम धन्य हो जो अपने प्रियतम से मिलने पर सुरत के बीच-बीच कही गई प्रियतम की चाटुकारिता भरी सैंकड़ों बातें याद रखे हुए हो, यहाँ तो नीवी पर प्रियतम के हाथ पड़ते ही अपनी ऐसी अजीब सी हालत हो जाती है कि मैं तुम्हारी सौगन्ध खाकर कहती हूँ, मुझे कुछ भी होश नहीं रहता।"

यहाँ पर वस्तुतः तुम धन्य नहीं हो बल्कि मैं ही धन्य हूँ, जिसे सुरत-सुख की वास्तविक अनुभूति होती है, यह व्यतिरेक अलंकार ही व्यंग्य है, साथ ही चारुता भी। अतः यहाँ अलंकारध्वनि है।

रस ध्वनि का उदाहरण है—

शून्य वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

नवेली नायिका शयनगृह में अपने पति के साथ सोने का उपक्रम कर रही है। घर में कोई और नहीं है। उसे नींद भी नहीं आती है। पति से कुछ कहते भी नहीं बनता। पति सब कुछ समझते हुए भी सोने का बहाना बनाकर आँखें मूँद लेता है और ऐसा अभिनय करता है मानो सो ही गया हो। नायिका को सूना वातावरण खलने लगता है। वह धीरे से शैय्या से ही थोड़ा ऊपर को मुँह उठाती है और झुक कर प्रियतम के अनिंद्य सुन्दर मुख को निहारने लगती है। इस प्रकार काफी देर तक देखते रहने पर जब उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह निश्चय ही सो गया है तो वह अपने को रोक नहीं पाती और प्रियतम के मुख का धीरे से चूम लेती है। अनन्तर जब वह देखती है कि पति के कपोल पर रोमाञ्च हो आया है वह उसकी कपट निद्रा को समझ जाती है और उसका मुख लज्जा से आरक्त हो झुक जाता है। प्रियतम हँसने लगता है और अवसर से न चूकता हुआ बड़ी देर तक नायिका के चुम्बन लेता रहता है।

यहाँ पर नायिका आश्रय है नायक आलम्बन विभाव तथा सूने शयन गृह का एकान्त उद्दीपन विभाव। परिचुम्बन पुलक एवं लज्जा ये सात्विक भाव हैं जिनसे रति स्थायी भाव की व्यंजना होती है जिसका आश्रय नायिका है। एवं सम्भोग शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति हुई है।

वस्तु अलंकार एवं रसादि में प्रयुक्त रसादि से भाव रसाभास तथा भाव भास आदि समझना चाहिए। क्योंकि रस्यते इति रसः जिसका आस्वाद हो वही रस है इस व्युत्पत्ति के योग से भावादि का भी ग्रहण रसपद से ही हो जाता है।

भाव का उदाहरण है—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

देवर्षि नारद हिमवान् से पार्वती के विवाह की बात कर रहे हैं। पार्वती

पास में ही बैठी थी। उसने अपना मुख जरा झुका लिया। उसके हाथ में क्रीड़ाकमल था। वह उसकी पंखुड़ियों को गिनने लगी।"

यहाँ पार्वती का अवहित्था भाव ही व्यंग्य है। अपनी शादी की बातचीत सुनते हुए भी वह यह दिखाना चाहती है मानो उसे यह सब सुनने की फुरसत नहीं है, न वह सुनना ही चाहती है। इसी प्रकार अन्य भी हैं।

काव्य की आत्मा ध्वनि—पहले कहा जा चुका है कि वामन ने सबसे पहले काव्यात्मा का प्रश्न उठाया और रीति को काव्य की आत्मा कहा—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। उनका कहना है कि जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा से है, शब्दार्थ रूपी काव्य शरीर का रीति के साथ भी वही सम्बन्ध है। रीति से वामन का अभिप्राय वैदर्भी, पाञ्चाली या गौड़ी शैली मात्र से नहीं, अपितु विशिष्ट पदरचना को ही वह रीति कहते हैं। पदरचना की विशेषता उसमें गुणों का आधान—विशेषो गुणात्मा। इस प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की उक्ति का अभिप्राय गुणात्मक पदरचना से है जो काव्य की आत्मा है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा होने का विधान किया, यह बात पहले भी कही जा चुकी है। ध्वनिविरोधी मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यास करते हुए ध्वनिकार ने काव्य शरीर के रूप में शब्दार्थ को ही निरूपित किया है—'शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यम्'। किन्तु ध्वन्यालोक में ही ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं जिनका उपर्युक्त कथन से साक्षात् विरोध प्रतीत होता है। प्रतीयमान अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने सहृदयश्लाघ्य अर्थ को ही काव्यात्मा के रूप में वर्णित किया है तथा काव्य और प्रतीयमान को उसके ही दो भेद कहा है—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥

यहाँ पर प्रतीयमान के साथ ही वाच्य को भी काव्यात्मा कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि आनन्दवर्धन केवल शब्द को ही काव्य का शरीर मानते हैं, शब्दार्थ युगल नहीं। किन्तु शब्दतः कहीं भी उन्होंने इस बात का उल्लेख नहीं किया है। उक्त कारिका की व्याख्या करते हुए उन्होंने काव्य और शरीर पदों का उपादान एक ही वाक्य में करते हुए 'ललितोचितं सन्निवेश चारु' पद उनके विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है, जिसका अर्थ है—ललित एवं उचित के सन्निवेश से चारु काव्यशरीर की आत्मा के रूप में स्थित जो सहृदय श्लाघ्य अर्थ है, उसके दो भेद होते हैं—वाच्य एवं प्रतीयमान। आचार्य इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हैं और आगे केवल

प्रतीयमान को ही काव्य की आत्मा होने का विधान कर देते हैं—'काव्यस्यात्मा स एवार्थ'। और वहाँ इसकी व्याख्या करते हुए स्वयं कहते हैं कि नाना प्रकार के वाच्य तथा वाचक की रचना के प्रपञ्च से चारु काव्य में सारभूततया स्थित आत्मा के समान ही प्रतीयमान अर्थ है—

विविध वाच्यवाचक रचना प्रपञ्चचारुण काव्यस्य स एवार्थ आत्मा।

इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार कविता का असाधारण तत्त्व प्रतीयमान है। वह काव्य के प्रतीयमान की सत्ता को अनिवार्य समझते हैं। उनका कहना है कि ध्वनिकाव्यता यद्यपि वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान की प्रधानता में ही निहित है तथापि उन स्थलों में भी जहाँ विशुद्ध रूप से अलंकारादि का ही सृजन हुआ होता है काव्यता का आधायक प्रतीयमान ही है। उनका विश्वास है कि महाकवियों की आलंकारिक रचनाओं में प्रतीयमान की छाया ही उनमें काव्यात्मक सौन्दर्य आधान करती है। अन्यथा वस्तुमात्र के वर्णन या केवल अलंकारों की सृष्टि से ही किसी रचना में काव्यात्मक चमत्कार उत्पन्न नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक बड़ी ही मार्मिक उपमा दी है कि नाना प्रकार के आभूषणों से लदी हुई नायिका में भी उसकी सहज स्वाभाविक लज्जाशीलता ही उसमें नायिकासुलभ रमणीयता का आधान करती है। यदि लज्जाभाव उसमें तनिक भी नहीं है तो सभी कीमती आभूषण मिलकर भी उसमें नायिकापन कदापि नहीं ला सकते। अतः किसी भी कविता में प्रतीयमान की छाया का होना परम आवश्यक है अन्यथा वह कविता ही नहीं है, उससे चमत्कार का आधान होना तो दूरापेत है—

मुख्यामहाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैव भूषा लज्जेव योषिताम् ॥

यहाँ पर आचार्य ध्वनि से भी नीचे उतर आये हैं और प्रधान या अप्रधान, जिस किसी रूप में प्रतीयमान की सत्ता को ही काव्य का असाधारण तत्त्व मान बैठे हैं। यहाँ 'काव्यस्यात्माध्वनि' के लिये कोई स्थान नहीं है। न सहृदय श्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ के लिये ही, जिसे उन्होंने 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्धन जिस व्यंग्य अर्थात् प्रतीयमान को लेकर काव्य की समीक्षा के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं उसी को उन्होंने काव्य के असाधारण तत्त्व होने का गौरव प्रदान किया है और उसे काव्यात्मा पद से अभिहित किया है। उनकी उक्तियाँ 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' और 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' का यही वास्तविक अभिप्राय है। अन्यथा महाकवियों के काव्यों के वे अनेक स्थल जहाँ वस्तु

अलंकार या रस की प्रधानता नहीं है अथवा वस्तुमात्र या अलंकारादि की ही जहाँ सृष्टि हुई है, अकाव्य हो जायेंगे जो किसी को भी सम्मत नहीं। और इस प्रकार ध्वनि अव्याप्ति दोषग्रस्त होने लगेगा।

रसवादी समीक्षकों ने भी यही प्रक्रिया अपनाई है और रसाभासतया ही सर्वत्र काव्य को व्यवस्थापित किया है। महिमभट्ट ने अनुमेयार्थ को वही स्थान दिया है जो ध्वनिकार ने प्रतीयमान को। किन्तु महिम ने तो अनुमेयार्थ की प्रतीतिमात्र से ही रचना में काव्यत्व का विधान स्पष्टतया कर दिया है। उनका कहना है कि अनुमेयार्थ ही काव्य का आधायक तत्त्व है, उसकी प्रतीति प्रधानतया या अप्रधानतया, जिस किसी भी प्रकार, अवश्य होनी चाहिये।

तस्मात्स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा।
वाच्य शक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते ॥[१]

व्यंग्यविहीन रचना में काव्यत्व की मान्यता मम्मट प्रभृति उत्तरवर्ती आचार्यों की है जिन्होंने चित्र-काव्य के नाम से व्यंग्यविहीन रचना को भी महत्त्व दिया है। यह उनके ऊपर रसवाद का प्रभाव मात्र है।

ध्वनि की आत्मा रस—जिस प्रकार प्राणियों की आत्मा के आत्मा परमात्मा होते हैं, उसी प्रकार काव्य की आत्मा ध्वनि के भी आत्मा का निरूपण ध्वनि सिद्धान्त में हुआ है और रसध्वनि को ही वह गौरव प्रदान किया गया है—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥[२]

यहाँ इस पद से ही भाव, रसाभास, भावाभास, भावशक्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता सब ग्रहण हो जाता है। क्योंकि सबकी प्रतीति असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के रूप में ही होती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उक्त रसादि सर्वत्र ही ध्वनि की आत्मा के रूप में नहीं होते अपितु जहाँ पर अङ्गी अर्थात् प्रधान रूप में इनकी अभिव्यक्ति होती है, वहीं वे ध्वनि की आत्मा हैं। इसीलिये कारिका में 'अङ्गिभावेन' की शर्त लगी है। अतएव वृत्ति में ग्रन्थकार ने इस पर विशेष जोर देते हुए कहा है—'स च (रसः) अङ्गित्वेन भावभासमानो ध्वनेरात्मा।' काव्य में रसादि

१. व्यक्तिविवेक, १।३२।
२. ध्वन्यालोक, २।३।

की प्रतीति दो प्रकार से सम्भव है—अङ्गरूप में तथा अङ्गीरूप में। जहाँ पर वाक्यार्थ ही प्रधान हो और रसादि उसके परिपोषण के रूप में आये हों वहाँ उनका स्थान गौण होता है मुख्य या प्रधान नहीं। वहाँ रस गुणीभूत व्यंग्य या अलंकारादि का माना गया है। कहा भी है—

> प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
> काव्येऽस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥[1]

इसके विपरीत जहाँ पर चारुत्व के हेतु वाच्य एवं वाचक सभी तत्वों का समग्रतः विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के रूप में रसपरक ही हुआ होता है वहीं ध्वनि का विषय है—

> वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
> रसादिपरतायत्र स ध्वनेर्विषयोमतः ॥

इन्हीं स्थलों में अङ्गी रूप से प्रकाशित होता हुआ रस ध्वनि की आत्मा पद के व्यपदेश का भाजन होता है।

किन्तु इसके पूर्व एक दूसरी जगह स्वयं ध्वनिकार ने ही मुख्यतया प्रकाशमान व्यंग्यमात्र को ध्वनि की आत्मा कहा है चाहे उसकी प्रतीति का क्रम संलक्ष्य हो या असंलक्ष्य। 'मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। स च वाच्यापेक्षया कश्चिद् लक्ष्यक्रमतया प्रकाशते कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः।' ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार रसध्वनि एकमात्र असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है जिसके प्रकाशन का क्रम लक्षित नहीं होता। पूर्वोक्त प्रकार से एकमात्र वही ध्वनि की आत्मा है। पर उक्त प्रकार से वस्तु तथा अलंकार व्यंग्य भी प्रधानतया प्रकाशमान होने पर ध्वनि के आत्मा पद के भाजन हो जाते हैं जिनकी प्रतीति का क्रम सर्वदा परिलक्षित होता रहता है।

इस प्रकार की परस्पर विरुद्ध उक्तियाँ ध्वनिकार के लिये नयी बात नहीं है। 'ध्वन्यालोक' में ऐसे अनेक स्थल हैं जो साक्षात् परस्पर विरुद्ध हैं। महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में उनका भली भाँति सोदाहरण प्रदर्शन किया है। इन्हीं स्थलों की संगति लगाने के लिये अभिनवगुप्त को अपनी टीकालोचन में शब्दों एवं भावों की बड़ी खींचातानी करनी पड़ी है। अभिनवगुप्त ने रस को ही ध्वनि की आत्मा स्वीकार किया है। मम्मट ने अन्य स्थलों की तरह यहाँ भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए

---

[1] ध्वन्यालोक २।५।

रस को ही अङ्गी और आत्मा कहा है—'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः'। मेरे विचार से ध्वनिकार को यह अभिप्रेत नहीं था। क्योंकि व्यंग्यव्यंजक भाव से व्यवस्थित ध्वनि की आत्मा के रूप में केवल रस को स्वीकार करने से वह काव्य जहाँ वस्तुमात्र या अलंकार की प्रधानतया अभिव्यक्ति होती है, आत्मारहित एवं निर्जीव हो जायेंगे। अथच फिर सर्वत्र रस की सत्ता ही काव्यता की विनियामक हो जायगी। फलतः ध्वनिसिद्धान्त और व्यंग्यव्यंजकभाव खटाई में पड़ जायेंगे। अतः व्यंग्य की प्रतीति मात्र से ध्वनि की विषयता एवं उसके प्राधान्य से आत्मत्व का विधान ही ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल एवं सम्मत है।

उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने आनन्दवर्धन के ध्वन्यात्मा या काव्यात्मा विषयक उक्त सिद्धान्त का निर्वाह अपनी कृतियों में नहीं किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने रस को ही काव्य की आत्मा माना है, ध्वनि या मुख्यतया प्रकाशित व्यंग्य को नहीं। अतएव वह ध्वनि के स्थान पर केवल रस को ही अङ्गी कहते हैं और उसे काव्य की आत्मा की उपमा देते हुए माधुर्यादि गुणों को शौर्यादि के समान ही आत्मा का नित्य धर्म स्वीकार करते हैं—

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणाः।[1]

काव्यलक्षण में काव्यप्रकाशकार ने गुण पद का जो सन्निवेश किया है उसका भी यही रहस्य है। वह ऐसी पदावली को काव्य की मान्यता देने के लिये तैयार नहीं है जो माधुर्यादि गुणों से रहित हो। कविता में गुणों की सत्ता अनिवार्य मानना प्रकारान्तर से उसमें रस की सत्ता की अनिवार्यता के सिद्धान्त में विश्वास करना है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जहाँ गुण हो वहाँ प्रतीयमान की प्रतीति मुख्यतया ही हो। इसके विपरीत वस्तु एवं अलंकार व्यंग्य के स्थलों में गुण की सत्ता का लेश भी न हो, यह सम्भव है।

काव्य की आत्मा रस है, यह सिद्धान्त मम्मट का अपना है, यह बात नहीं। अपितु उनके पूर्ववर्ती ध्वनि विरोधी अनेक आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा होने का प्रतिपादन किया है। साहित्यदर्पणकार ने ही उनमें से दो—अग्निपुराण[2] और व्यक्तिविवेककार[3] का उल्लेख किया है। उन्होंने तो ध्वनि के काव्य की आत्मा होने के

---

१. काव्यप्रकाश, ८।६६ सूत्र की वृत्ति।

२. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

३. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।

पक्ष का तर्क एवं युक्तियों से खण्डन भी किया है। उनका कहना है कि न केवल ध्वनि ही अपितु रीति[1] और वक्रोक्ति[2] भी काव्यात्मा का स्थान कदापि नहीं ग्रहण कर सकते। वह तो केवल रस ही है जिसमें काव्यात्मा पद के गौरव का भाजन होने की योग्यता है। काव्यपुरुष के बाह्याभ्यन्तर अङ्ग-प्रत्यङ्गों का रूपकात्मक निरूपण करते हुए उन्होंने कहा कि—शब्दार्थ युगल ही काव्यशरीर है तथा रस उसकी आत्मा। जिस प्रकार शौर्य आदि गुण आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं। काणत्व खण्डत्व के समान दोष, अवयव सस्थान के रूप में रीतियाँ तथा कटक एवं कुण्डल के समान अलकार काव्य पुरुष की श्री वृद्धि करते हैं। यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने की जो बात है वह यह है कि ध्वनिवादी होते हुए भी कविराज विश्वनाथ ने काव्यपुरुष के स्वरूप-निरूपण में ध्वनि को कोई स्थान नहीं दिया है जो आश्चर्य की बात है।

रस की आत्मा औचित्य—ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि तथा ध्वनि की आत्मा रस के होने का विधान करने के अनन्तर रस की भी आत्मा के होने का सकेत किया है और यह स्थान औचित्य को मिला है। उनका कहना है कि औचित्य के बिना रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। उचित रूप से सयोजित विभावादि से ही रसास्वाद सम्भव है। अनौचित्य ही रस के भग का प्रमुख कारण होता है। काव्य में जहाँ देश, काल एव पात्र के विविध क्रियाकलापों के उपनिबन्धन में जितना ही औचित्य रहेगा, रस का परिपाक उतना ही उत्तम एव प्रगाढ़ होगा। अत औचित्य का उपनिबन्धन रस की पराउपनिषद् है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥[3]

यहाँ औचित्य को रस की पराउपनिषद् कहने का अभिप्राय सारभूत गुह्य तत्त्व अर्थात् आत्मा से है, जिसका स्पष्टीकरण क्षेमेन्द्र के 'औचित्य विचारचर्चा' नामक ग्रन्थ में हुआ है, जहाँ उन्होंने औचित्य को रस-सिद्ध काव्य का स्थिर जीवित अर्थात् आत्मा कहा है—

औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।[4]

१ रीतिरात्मा काव्यस्य।
२. वक्रोक्ति काव्यजीवितम्।
३ ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।
४ औचित्य विचारचर्चा।

आनन्द ने ध्वन्यालोक में रस-ध्वनि के निरूपण के प्रसङ्ग में औचित्य एवं काव्य में उसके महत्त्व का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक कई पृष्ठों में किया है। अनन्तर क्षेमेन्द्र ने ध्वनिकार के विवेचन से ही प्रेरणा ग्रहण कर औचित्य का निरूपण काव्य के सर्वस्व के रूप में विस्तारपूर्वक किया। उनका कहना है कि उचित स्थान पर धारण करने पर ही कटक-कुण्डलादि अलंकार शोभा का आधान करने में समर्थ होते हैं तथा औचित्य की अवहेलना कर प्रदर्शित दयादाक्षिण्यादि गुण गुण न होकर दोष हो जाते हैं—

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येवगुणा गुणाः ॥[१]

संगति के लिये यहाँ रामानुजाचार्य की दार्शनिक पीठिका बैठाई जा सकती है। उनके यहाँ भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार प्राणी की जीवात्मा के भीतर अन्तरतम में उसका प्राण परमात्मा अनुस्यूत होता है। गीता में भी कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

इस प्रकार औचित्य ध्वनिकाव्य की आत्मा ध्वनि की आत्मा रस की भी आत्मा है।

व्यंजना वृत्ति

ध्वनि की व्युत्पत्ति का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रकार है—'ध्वन्यते व्यंज्यते वस्त्वलंकाररसादिः अनया इति व्यंजना वृत्तिः ध्वनिः।' जिस शक्ति द्वारा वस्तु, अलंकार एवं रसादि रूप अर्थ व्यक्त होते हैं उसे व्यंजना वृत्ति कहते हैं। वह भी ध्वनि का एक स्वरूप है।

व्यंजना वृत्ति के स्वीकार करने पर ही व्यंजक एवं व्यंग्य की सत्ता प्रमाणित होती है। यह व्यंजकत्व ही ध्वनि का प्रयोजक असाधारण तत्त्व है। व्यंजना शब्द-शक्ति है जिसकी कल्पना का श्रेय एकमात्र आनन्दवर्धन को है। इनके पूर्व दर्शन एवं व्याकरण के क्षेत्र में अभिधा एवं लक्षणा नाम की शब्द की दो शक्तियों के होने का उल्लेख प्राप्त है। अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने भी यथावसर अभिधा एवं गुण-वृत्ति की चर्चा की है। प्रकृति प्रत्यय की व्युत्पत्ति या लोक में प्रवृत्ति के आधार

---

१. औचित्य विचारचर्चा, ११६।

शब्द या वाक्य से जो अर्थ सामान्यतः समझा जाता है उसे वाच्य या अभिधेय कहते हैं। वह अभिधा शक्ति से ही निकलता है। अभिधा = व्युत्पत्ति एवं परस्पर अन्वय आदि के द्वारा दर्शाया अर्थ या धारण अथवा अभिपूर्वक 'धा' धातु का अर्थ होता है कहना—इस प्रकार शब्द का उच्चारण करते ही जो अर्थ का बोध दे उसे अभिधा-शक्ति कहते हैं। इसमें संकेतग्रह अनिवार्यरूप से अपेक्षित होता है।

लक्षणा उसे कहते हैं जहाँ वाक्य में या तो अन्वय नहीं बैठता हो अथवा तात्पर्य की अनुपपत्ति होती हो। अतः मुख्य अर्थात् वाच्य अर्थ का बाध होने पर वाच्य अर्थ से सम्बन्धित किसी ऐसे अर्थ की कल्पना की जाय जिससे वाक्यार्थ ठीक बन जाय, लक्षणा है। 'गंगायां घोषः' इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। यहाँ घोष = झोंपड़ी का आश्रय गंगा पद का वाच्यार्थ प्रवाह नहीं हो सकता अतः सामीप्य सम्बन्ध से गंगा पद की लक्षणा तट में करके 'गंगा तट पर घोष है' ऐसा अर्थ निकालते हैं। लक्षणा का प्रयोग मनमानी नहीं होता अपितु केवल उन्हीं स्थलों में जहाँ उस प्रकार की उक्ति का कोई प्रयोजन विशेष हो अथवा वह प्रयोग अतिप्राचीनकाल से रूढ़ हो।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने व्यंजना का शब्द शक्ति के नाम से निरूपण कहीं नहीं किया है जैसा कि मम्मट प्रभृति आचार्यों ने अपनी कृतियों में शब्द की शक्तियों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है।[१] प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के प्रसंग में ध्वनिकार ने वाच्य से प्रतीयमान के भेद का जो प्रदर्शन किया है वही व्यंजना का स्थल है। प्रतीयमान महाकवियों की अभिव्यक्ति का एक विलक्षण विषय है। सहज सुन्दर नायिका का लावण्य जिस प्रकार प्रसिद्ध अवयव-संस्थान से भिन्न वस्तु है उसी प्रकार प्रतीयमान वाच्य से सर्वथा पृथक् अर्थ होता है। इस प्रतीयमान की प्रतीति के लिये जिस शब्द-व्यापार का आश्रय लिया जाता है वह न तो अभिधा हो सकती है न लक्षणा—अपितु वही व्यंजना है। काव्यप्रकाशकार ने 'गतोऽस्तमर्क' का उदाहरण देकर वाच्य एवं व्यंग्य के भेद को बताया है। वाच्यार्थ सभी लोगों के लिये एक ही होता है जबकि प्रतीयमान तत्तत् प्रकरण वक्ता एवं बोद्धा के अनुसार नाना प्रकार का होता है। 'गतोऽस्तमर्क' का वाच्यार्थ सूर्यास्त होना है किन्तु वक्ता बोद्धा एवं

---

१ वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः। सा० द० २।३
(क) तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।
(ख) मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
(ग) रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिः। सा० द० २।६
(घ) विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥ सा० द० २।१३

प्रकरण भेद से इसी वाक्य से 'शत्रु के ऊपर आक्रमण का अवसर आ गया', 'काम वन्द कर देना चाहिए', 'दूकान सम्भालो', 'गायों को घर की ओर ले चलो', 'अभिसरण की तैयारी करना चाहिए', आदि अनेक अर्थों की प्रतीति होती है। इनमें से कोई भी वाच्य इसलिये नहीं हो सकता कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का इन अर्थों में संकेत-ग्रह नहीं है। न ही यहाँ वाक्यार्थ या उसके तात्पर्य में किसी प्रकार की अनुपपत्ति है जिसके लिये लक्षणा का आश्रयण किया जाय। अतएव मम्मट ने व्यंजना को अभिधा, तात्पर्या एवं लक्षणा तीनों व्यापार का अतिक्रमण करने वाला व्यापार कहा है। यही उसका ध्वनन कार्य जिसके लिये उसे ध्वनि की संज्ञा दी गई है।[1]

हम यहाँ व्यंजना के शब्दशक्ति होने की योग्यता का विचार महिमभट्ट की सरणि पर करेंगे। आचार्य महिमभट्ट ने एकमात्र अभिधा को ही शब्दशक्ति माना है। उनका कहना है कि स्वार्थ प्रकाशनसाध्य अभिधा व्यापार के अतिरिक्त लक्ष्य व्यंग्य आदि अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये जो लक्षणा, व्यंजना आदि व्यापारान्तर की कल्पना की गई है और उन्हें शब्द-व्यापार या शब्द-शक्ति कहा गया है, वह प्रमाण-पुष्ट नहीं। क्योंकि शब्द में यह सामर्थ्य ही नहीं कि वह अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति करा सके। अनेकविध अर्थ की प्रत्यायिका अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का कोई एक ही आश्रय हो सकता है, यह भी सम्भव नहीं। जहाँ पर अनेक शक्तियाँ एकाश्रय होती हैं वहाँ तीन बातें मुख्य रूप से परिलक्षित होती हैं—

(१) ये शक्तियाँ अन्योन्यनिरपेक्ष होती हैं।
(२) उनमें पूर्वापरभाव जैसा कोई नियम नहीं होता।
(३) कभी-कभी वे एक साथ ही अपना कार्य करती रहती हैं।

दाहकत्व और प्रकाशकत्व अग्नि की दो शक्तियाँ है जो परस्पर एक दूसरे को प्रवृत्त होने से रोकती नहीं, न उनमें कोई ऐसा नियम ही है कि पहले दाहकत्व प्रवृत्त हो तदनन्तर प्रकाशकता या इसके विपरीत। अपितु दोनों की प्रवृत्ति युगपत् भी पायी जाती है। शब्दाश्रित तथाकथित अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना नामक शक्तियों में उक्त प्रकार से अन्योन्यानपेक्ष प्रवृत्ति, पूर्वापरभाव की विरहिता एवं युगपत् कार्यकारित्व की बात किसी भी आचार्य को मान्य नहीं है। अपितु वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत है। ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार भी अभिधा के प्रकरणादि से नियन्त्रित होने पर ही दूसरी शक्तियों की प्रवृत्ति मानी गई है। इनकी प्रवृत्ति परस्पर सापेक्ष होती है। तात्पर्या तथा लक्षणा अभिधा की अपेक्षा करती हैं, तो व्यंजना, अभिधा एवं लक्षणा

---

१. न च......अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादि पर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव।

उभयमूला मानी है। यही नहीं क्रम पूर्वापर का नियम भी माना गया है। युगपत् कार्यकारित्व तो क्रम किसी भी प्रकार नहीं बन पाता। शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव न्याय से किसी भी वृत्ति के अधन काय में एकबार भी विरत होने पर पुन वहीं उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अत ये शक्तियाँ एकाश्रय शब्दनिष्ठ है ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिए।

आचाय महिमभट्ट ने अनेक युक्ति प्रयुक्ति के द्वारा यही सिद्ध किया है कि शब्दाश्रित होने से एकमात्र अभिधा ही शब्द शक्ति है। इसके अतिरिक्त लक्षणा एव विशेषकर व्यजना के क्षेत्रों में अथ ही उनका आश्रय है। अथगत व्यापार अर्थात् एक पदाथ से दूसरे पदाथ के ज्ञान की क्रिया का अनुमान से ही अन्तर्भाव साधित हो जाता है। एक अथ से अर्थान्तर का ज्ञान ही लिङ्गलिङ्गिभावजन्य अनुमान है। महिमभट्ट अथान्तर अथात् प्रतीयमान की वाच्य से सवथा भिन्न रूप में प्रतीति का निषेध नहीं करते। अपितु उन्हें भी यही सम्मत है। उनका विरोध व्यजना से है। वह प्रतीयमान को व्यग्य न कहकर अनुमेय कहना चाहते हैं। अनुमेयाथ की प्रतीति को ही वह स्वीकार मानते हैं।

तस्मात्स्फुटतया यत्र प्राधान्येनाप्रधानतया वा।
वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते॥ व्य० वि०, १।३२

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में व्यजना की सिद्धि का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया है और उसके विपरीत उठाई गई सभी प्रकार की विप्रतिपत्तियों के समाधान करने का स्तुत्य प्रयास किया है। उनका कहना है कि अभिधा लक्षणा एव अनुमान से जिन अर्थों की प्रतीति होती है उनका सम्बन्ध नियत होता है। अभिधा में उसका नियत्रक सकेतग्रह होता है लक्षणा मे मुख्याथ स्रय तो अनुमान में व्याप्तिग्रह। किन्तु व्यजना में प्रकरणादि विशेष का परामर्शमात्र अपेक्षित होने से प्रतीयमान का प्रकाशन नियत सम्बन्ध अनियत सम्बन्ध तथा सम्बद्ध सम्बन्ध से भी होता है। अत सब प्रकार के व्यापार के अतिवर्ती ध्वननादि का पर्याय व्यजना व्यापार की सत्ता ऐसी है जिसका कहीं भी अन्तर्भाव साध्य नहीं।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने काव्य के आधायक गुणालकारादि तत्त्वों में ध्वनि के अन्तर्भाव का विरोध व्यजना के आधार पर ही किया है। उनका कहना है कि गुणालकारादि निखिल प्रस्थानों का आश्रय वाच्यवाचकभाव है इसके विपरीत ध्वनि का आश्रय व्यङ्ग्यव्यजक भाव है। अत उनमें इसका अन्तर्भाव किस प्रकार हो सकता है।

व्यंग्यव्यंजकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचक-चारुत्व-हेत्वन्तः पातिता कुतः ॥

ध्वनिकाव्य एवं उसके भेद-प्रभेद—ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ध्वनि-पद से काव्य भी अभिप्रेत होता है—ध्वन्यन्ते वस्तुमात्रालंकाररसादयः प्राधान्येन व्यज्यन्ते यत्र तत् काव्यं ध्वनिः । आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के दो भेद होते हैं—(१) ध्वनि एवं (२) अलंकार । ध्वनि-काव्य वह है जहाँ पर वाच्य अर्थ या अलंकार की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ, अलंकार या रसादि प्रधानतया उपनिबद्ध हों ।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

आचार्य मम्मट एवं कविराज विश्वनाथ ने इसे ही उत्तम काव्य कहा है । इसके विपरीत जहाँ पर वाच्यार्थ या वाच्य अलंकार की प्रधानता हो तथा व्यंग्यवस्तु, अलंकार या रस वाच्य उसके अङ्ग हों; वह अलंकार काव्य है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥

मम्मट प्रभृति ने इसे ही गुणीभूत व्यंग्य काव्य की संज्ञा दी है और इसे मध्यम कोटि का काव्य ठहराया है । वाच्य और व्यंग्य में कहाँ कौन प्रधान है इसका भी निर्णय ध्वनिकार ने किया है । उनका कहना है कि चारुत्व का उत्कर्ष वाच्य या व्यंग्य में से एक को प्रधान एवं दूसरे को गौण बनाता है। जिसमें अधिक चारुता है वही प्रधान है ।

"चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।"

इनके अतिरिक्त चित्र-काव्य के नाम से अधम कोटि के काव्य के होने का भी प्रतिपादन मम्मट प्रभृति परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने किया है । उनका कहना है कि जहाँ पर विशुद्धरूप से शब्दालंकार या अर्थालंकार का ही सृजन होता है और वहाँ व्यंग्य का लेशमात्र भी नहीं होता, वही चित्र-काव्य है । चूँकि वहाँ प्रतीयमान की सत्ता नहीं होती, अतः वह अधम कोटि का काव्य है—

शब्दचित्रमर्थचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥

इस तीसरे प्रकार का काव्य कहना ध्वनिकार को अभीष्ट नहीं है। न हो ही सकता था। क्योंकि ध्वनि को ही वह काव्य की आत्मा कहते हैं। पहले बताया जा चुका है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि का निरूपण कहीं संकीर्ण रूप में—जहाँ वस्तु, अलंकार या रस प्रधानतया व्यंग्य हों तो कहीं व्यापक रूप में—व्यंग्यमात्र की सत्ता होने पर किया है। जब वह ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हैं तो उनका अभिप्राय व्यंग्य सामान्य से है व्यंग्य विशेषमात्र से नहीं। चूँकि व्यञ्जकत्व ही ध्वनित्व का प्रयोजक है अतः व्यंग्य-सामान्य की सत्ता से ही काव्य में ध्वनित्व आ जाता है। अतएव ध्वनिकार को वहाँ काव्यत्व कथमपि अभीष्ट नहीं जहाँ व्यंग्य की सत्ता हो न हो। उनका तो यहाँ तक कहना है कि महाकवियों की आलंकारिक रचनाओं में भी कामिनी का आधायक व्यंग्य ही होता है चाहे उसकी स्फुटतया प्रतीति भले न होती हो। अन्यथा आत्माहीन होने से वह निर्जीव पदार्थ के समान त्याज्य है। उसमें काव्यत्व सर्वथा नहीं।

मुख्या　　महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैव भूषा लज्जेव योषिताम्॥

संक्षेप में ध्वनि का यही विमर्श है जिसमें ध्वनि की सत्ता उसके लक्षण एवं स्वरूप काव्यात्मध्वनि व्यञ्जना एवं ध्वनिकाव्य नामक विषयों पर अतिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसमें ध्वनि सिद्धान्त पर एक ऐसे दृष्टिकोण से विचार किया गया है जो सम्भव है कि विद्वानों को खटके। किन्तु मैं समझता हूँ इन दृष्टियों से भी विचार होना आवश्यक है।
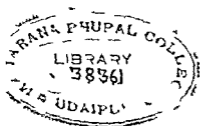
स्फोट : भारतीय प्रज्ञा का मौलिक एवं अद्भुत निदर्शन

डॉ० सत्यदेव चौधरी

लोक-व्यवहार के प्रचारण के लिए शब्द अर्थात् वाक्-शक्ति एक अनिवार्य तथा प्रमुख साधन है। इस साधन का सदा से गौरव-गान होता चला आया है। ऋग्वेद में वाक्-शक्ति की व्यापकता की तुलना ब्रह्म की व्यापकता से की गयी है।[1] प्रख्यात वैयाकरण भर्तृहरि के कथनानुसार वाक्-शक्ति न केवल बोलती है, वरन् वह देखती भी है। इसी में ही निहित अर्थ का विस्तार होता है। विभिन्न रूपों से युक्त यह संसार इसी में निबद्ध है, और इसी के विभागों पर संसार का व्यवहार आधारित है।[2] प्रख्यात काव्यशास्त्री दण्डी के कथनानुसार 'शब्द' नामक ज्योति से यह सम्पूर्ण जगत् देदीप्यमान है, इस ज्योति के बिना वह अन्धकाराच्छन्न हो जायगा।[3] यह स्पष्ट है कि शब्द के इस गौरवगान का एक ही कारण है—उसकी सार्थकता। निरर्थक वर्ण समुदाय तो उपचार-मात्र से ही 'शब्द' कहाता है, अतः निरर्थक शब्द उक्त स्तुति का अधिकारी नहीं है। शब्द और अर्थ के इस नित्य सम्बन्ध का आगे यथास्थान विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. शब्द के दो रूप : ध्वनि और स्फोट

शब्द के सम्बन्ध में वैयाकरणों के मत का सार है—शब्द दो प्रकार का है—कार्य (अनित्य) और नित्य।[4] 'अनित्य' शब्द से वैयाकरणों का तात्पर्य है उच्चारण-

---

१. यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।—ऋग्वेद

२. वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते॥ वा० प० १।११९।

३. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥—काव्यादर्श १।४

४. तत्र त्वेष निर्णयः। यद्येव नित्यः। अथापि कार्यः। उभययापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।
—महाभाष्य १ म० आ० पृ० १३।

जय बार श्रोत्रग्राह्य ध्वनि अथवा नाद तथा 'नित्य' शब्द से उनका तात्पर्य उस मूल शब्द तत्त्व से है जो न तो उच्चारणजन्य है और न श्रोत्रग्राह्य। इसे उन्होंने 'स्फोट' की संज्ञा दी है। स्फोट उसे कहते हैं जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द के दो रूप हैं—ध्वनि और स्फोट। वास्तविक शब्द तो 'स्फोट' है इसके विपरीत ध्वनि केवल शब्द का गुण अर्थात् नाद मात्र है।[१] ध्वनि से व्यक्त होने पर ही 'स्फोट' अर्थ विशेष का प्रत्यायक होता है। दूसरे शब्दों में स्फोट-व्यंग्य है और ध्वनि उसका व्यंजक है।[२]

ध्वनि और स्फोट के स्वरूप में विभाजक रेखा खींची जा सकती है। ध्वनि अल्प और दीर्घ होती रहती है पर स्फोट सदा एक रूप रहता है। ध्वनि में ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत तथा द्रुत अतिद्रुत विलम्बित अतिविलम्बित वृत्तियों के कारण अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है परन्तु स्फोट अभिव्यक्तानित्य निरवयव पूर्ण और नित्य है।[३] अर्थप्रत्यायन का मूल हेतु स्फोट है। अतः वस्तुतः स्फोट ही शब्द है। लोक व्यवहार में ध्वनि को भी शब्द नाम से पुकारना उपचार मात्र है।[४] लोक में जिस शब्द को अनित्य कहा जाता है वह ध्वनि है पर स्फोट तो नित्य है। अतः इसमें ध्वनि के समान पूर्वापरक्रम की अवतारणा की सम्भावना भी नहीं है।[५]

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित है कि वैयाकरण सिद्धान्त रूप में अखण्ड वाक्यस्फोट को ही स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार न तो कोई पद है न कोई पद का निर्माता वर्ण समूह है और न ही कोई वर्ण का निर्माता वर्णावयव है। पद और वाक्य में मूलतः कोई वास्तविक भेद नहीं है। व्याकरण प्रक्रिया में भले ही यह भेद स्वीकार किया जाय।[६] अर्थ का प्रत्यायक वाक्य ही है। पर सीधे श्रूयमाण वाक्य से भी अर्थ

---

१ एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। —महाभाष्य १ अ० आ० पृष्ठ १३।

२ ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्यव्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयोः॥ —वाक्यपदीय १।९८।

३ (क) स्फोटस्याऽभिन्नकालस्य ध्वनिकालाऽनुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥ —वा० प० १।७६।

(ख) शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥ —वा० प० १।७८।

४ अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्युत्पादितत्वाद् इहाऽभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः।
महाभाष्य—कैयटकृत व्याख्या, पृ० ३।

५ नास्य क्रमजातत्वान्न पूर्वो नाऽपरश्च सः। —वा० प० १।४९।

६ (क) पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ —वा० प० १।७४।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

की प्रतीति नहीं होती। यह प्रतीति ध्वनि द्वारा व्यक्त स्फोट से होती है। अतः वैयाकरणों ने अन्ततोगत्वा सिद्धान्त रूप में अखण्ड-वाक्यस्फोट को ही स्वीकार किया है।

२. स्फोटवाद और वर्णवाद

[क]

वैयाकरणों ने शब्द को नित्य माना है। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण नितान्त मौलिक और अपेक्षणीय है। जैसा कि पहले कह आये हैं, उनके मत में शब्द के दो रूप हैं—ध्वन्यात्मक (वर्णात्मक) और स्फोटात्मक। राम, गौ, अश्व, गमन आदि उच्चार्यमाण अथवा श्रोत्रग्राह्य शब्दों को ध्वन्यात्मक कहते हैं, और इनके अनादि काल से आगत रूप को स्फोटात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य हैं, क्योंकि वे देश, काल, वक्ता आदि के भेद से भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर लेते है। स्फोटात्मक शब्द नित्य हैं, क्योंकि वे अखण्ड सर्वदेशकाल-व्यापी और एक रूपात्मक हैं। अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति भी 'स्फोट' में ही है, न कि ध्वनि (नाद अथवा वर्ण-समुदाय) में।

निष्कर्षतः स्फोट ही वास्तविक शब्द है। 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है', इस सिद्धान्त-कथन में भी 'शब्द' से वैयाकरणों का अभिप्राय 'स्फोट' रूप शब्द से है, न कि ध्वनि (वर्ण-समुदाय) से। वैयाकरणों का 'स्फोटवाद' नैयायिकों और 'प्राभाकर' तथा 'भाट्ट' पूर्वमीमांसकों के 'वर्णवाद' से विपरीत एक वाद है। इसी कारण इस प्रसंग में नैयायिक और पूर्वमीमांसक आचार्य 'वर्णवादी' कहाते हैं और वैयाकरण 'स्फोटवादी'। वर्णवादी आचार्यों के मत में 'राम' आदि उच्चार्यमाण वर्णसमूह ही अर्थ का प्रत्यायक है, पर वैयाकरणों को इस प्रक्रिया पर दो प्रमुख आपत्तियाँ हैं :

पहली आपत्ति यह है कि वर्ण-समुदाय को अर्थ-प्रत्यायक स्वीकार करने पर प्रत्येक वक्ता की भिन्न-भिन्न उच्चारण शैली के कारण अथवा स्वर-लहरी की द्रुत, अति-द्रुत, विलम्बित, अति-विलम्बित आदि वृत्तियों के कारण उस वर्ण-समूह के अर्थ में अन्तर पड़ जाना चाहिए, पर वह नहीं पड़ता।

दूसरी आपत्ति यह है कि **'शब्दज्ञानकर्मणां द्विक्षणाऽवस्थायित्वम्'** [illegible] के ही इस सिद्धान्त के अनुसार उच्चार्यमाण कोई भी ध्वनि दो क्षण से अधिक [illegible]

(पिछले पृष्ठ का शेष)

(ख) पदानि असत्यानि। एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तद्बुद्धौ [illegible] विभागः कल्पितः। —पुण्यराज, वाक्यपदीय टीका २।[illegible]

रह सकती। उदाहरणार्थ र्+अ+आ+म्+अ' वर्ण-समुदाय रूप 'राम' शब्द के प्रत्येक उच्चरित वर्ण के अगले वर्ण के उच्चरित होते तक विनष्ट हो जाने के कारण इन वर्णों का आपस में संघात सम्भव नहीं है। 'र्' के उच्चारण कर लेने के पश्चात् 'अ' के उच्चारण करते ही 'र्' विनष्ट हो जायगा, और दूसरे 'अ' के उच्चारण करते ही पहले 'अ' का। इसी आधार पर कहा गया है कि—

क्रमवर्तिषु वर्णेषु संघातादि न युज्यते।

और इस संघात के अभाव में अर्थप्रत्यायन नितान्त असम्भव है।

वर्णवादी इस आपत्ति के उत्तर में कह सकते हैं कि वर्णों के विनष्ट हो जाने पर भी उनकी स्मृति बनी रहती है और प्रकृत शब्द के अन्तिम वर्ण के उच्चरित होते ही वे सभी वर्ण स्मृत होकर एक 'शब्द' के रूप में संयुक्त हो जाते हैं। पर स्फोटवादी इस युक्ति से सन्तुष्ट नहीं होते। इनके कथनानुसार यह सदा आवश्यक नहीं कि उच्चरित वर्णों की स्मृति सदा क्रमपूर्वक ही हो, आगे पीछे भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त वर्ण समुदाय की स्मृति 'राम' के स्थान पर 'मार', 'रमा', 'मरा' आदि संघातों के रूप में भी सम्भव है। शिशु द्वारा 'कलम' को 'कमल' पढ़ देना इसी का एक प्रमाण है।

[ख]

किन्तु वैयाकरणों के स्फोटवाद पर उक्त आपत्तियाँ घटित नहीं होतीं। इनके मत में उच्चरित वर्ण-समुदाय के अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ ही पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के संयोजन से 'स्फोट' रूप शब्द की अभिव्यक्ति होती है। अर्थ प्रत्यायन का उत्तरदायी यही 'स्फोट' होता है, न कि वर्णवादियों के समान 'वर्ण समुदाय'। स्फोट' शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है—

स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः।[1]

अर्थात् जिस शब्द से अर्थ स्पष्ट होता है उसे स्फोट कहते हैं। हर शब्द का अपना-अपना नियत स्फोट है, जो कि अखण्ड, निरवयव, पूर्ण और नित्य है। इन्हीं विशिष्टताओं के बल पर ही 'वर्णवाद' पर की गयी उक्त दोनों आपत्तियाँ इसके अर्थ-प्रत्यायन में बाधक सिद्ध नहीं होतीं। इस वाद पर न तो व्यक्तिगत उच्चारण शैली

---

१ शब्दकौस्तुभ (भट्टोजिदीक्षित), पृ० १२।

अथवा द्रुतविलम्बित आदि वृत्तियों का प्रभाव पड़ता है, और न नाद (ध्वनि) के समान इसमें वर्णों के क्रम-भंग की समस्या ही उपस्थित होती है।[1] 'र थ अ मृ अ' ध्वनि किसी भी स्वर-लहरी में उच्चरित होने पर अपने नियत क्रम में ही स्फोट की अभिव्यक्ति करेगी, जिससे नियत अर्थ का प्रत्यायन अवश्यम्भावी है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार वास्तविक शब्द स्फोट है। ध्वनि उसका गुण अर्थात् अभिव्यंजक है। भेरी पर किये गये आघात के समान ध्वनि (वर्ण-समुदाय) की स्वर-लहरी उच्च अथवा निम्न होती है, पर स्फोट अपने नियत रूप पर स्थिर रहता है—

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथं भेर्याघातवत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः। —महाभाष्य।

[ग]

ध्वनि और स्फोट में से कारण कौन है और कार्य कौन—इस स्वाभाविक शंका का समाधान भी वैयाकरणों ने प्रस्तुत किया है। व्यवहार रूप से ध्वनि भले ही स्फोट की उत्पादयित्री प्रतीत होती है, पर भर्तृहरि के कथनानुसार जिस प्रकार एक अरणि की ज्योति दूसरी अरणि की ज्योति का उत्पादक कारण है, उसी प्रकार बुद्धि में स्थित स्फोट-रूप शब्द ही श्रव्यमाण ध्वनियों का उत्पादक कारण है—

अरणिस्थं यथा ज्योति प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥
—वाक्यपदीय, १।४६।

निष्कर्ष यह है कि वर्णवादी ध्वनि (वर्ण-समुदाय) रूप शब्द से अर्थ प्रत्यायन स्वीकार करते हैं और स्फोटवादी ध्वनि (वर्ण-समुदाय) से स्फोट रूप (नियत) शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं, और फिर इस स्फोट से अर्थ-प्रत्यायन की। हाँ, दोनों पक्षों के मतानुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।

[घ]

इस निष्कर्ष पर अब स्वतन्त्र रूप से विचार करना अपेक्षित है। स्फोटवाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि वक्ता जो शब्द उच्चरित करता है और श्रोता जिसे उसी में ग्रहण करता है उसका बाह्य आकार एवं अर्थ अनादिकाल से नियत होता है। उसका

---

१. नादस्य क्रमजातत्वान्न पूर्वो नाऽपरश्च सः। —वाक्यपदीय १।४८।

यह रूप वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि में पूर्व स्थित रहता है। यही कारण है कि उच्चरित होने पर दोनों अपने भावों का आदान प्रदान सरलतापूर्वक कर सकते हैं। इस मान्यता की व्याख्या इस रूप में उपस्थित की जा सकती है। आदि मानव ने जब किसी नवीन' पदार्थ को देखा तो उसकी अपनी आवश्यकता, परिस्थिति और दृष्टिकोण के अनुकूल उसके मन पर उस पदार्थ का प्रभाव पड़ा, तदुपरान्त उस प्रभाव के फलस्वरूप उसके मुख में जो ध्वनि स्फुटित हुई, उसके अनुसार वह उसका नाम पड़ गया। इसी तरह दूसरे व्यक्तियों पर उनकी अपनी परिस्थिति एवं दृष्टिकोण के अनुकूल अन्य प्रकार का प्रभाव पड़ने के कारण उसके कई अन्य नाम पड़ गये, और अन्ततः स्वीकृत कहीं एक नाम हुआ अथवा कई नाम हुए जो समाज में किसी कारणवश प्रचलित हो गए। वैयाकरणों के अनुसार पदार्थ का यह नाम अर्थात् उच्चरित शब्द तो ध्वनि (वर्ण-समुदाय अथवा नाद) है, और उस पदार्थ का प्रभाव 'स्फोट' अथवा 'स्फोट शब्द' कहाता है। अतः स्फोट पूर्ववर्ती है और ध्वनि परवर्ती। इस ध्वनि के पुनः उच्चरित होने पर वह अपने 'स्फोट शब्द' को—जिसमें अर्थ-स्फुटन की क्षमता रहती है—प्रकट करती है। इस अवस्था में पहुँच कर ध्वनि आधार है और स्फोट आधेय। ध्वनि साधन है और स्फोट सिद्धि। इस प्रकार इन दोनों स्थितियों में स्फोट का पलड़ा भारी है। स्फोट कारण और सिद्धि है तथा ध्वनि कार्य और साधन। वैयाकरणों की यह मान्यता निस्सन्देह मनस्तोषक एवं स्वीकार्य है। इसे स्वीकार किये बिना भाषा द्वारा विचारों का आदान-प्रदान सम्भव नहीं है।

[५]

स्फोट के सम्बन्ध में अन्तिम विचारणीय प्रसंग यह है कि वह नित्य है। व्याकरण-दर्शन की उस भावभूमि तक पहुंचने के स्थान पर यदि हम व्यवहार के सामान्य धरातल पर रह कर ही इस प्रसंग पर विचार करें तो यह धारणा चिन्त्य एवं व्याख्यापेक्ष प्रतीत होती है। नित्य वस्तु अनादि और अनन्त होती है। स्फोट को नित्य मानने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक शब्द सदा से अपने अर्थ को प्रकट करता चला आया है और करता चला जायगा। किन्तु वस्तुतः 'नित्य' शब्द यहाँ लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। परमात्मा, आत्मा और प्रकृति (अथवा परमात्मा और आत्मा, अथवा केवल परमात्मा) के लिए नित्य शब्द का जो वाच्यार्थ अभिप्रेत है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि किसी शब्द के किसी अर्थ अथवा अर्थों के नियत होने से पूर्व वह शब्द किसी विशेष अर्थ का द्योतक न था, अतः वह तब तक स्फोट कहाने का अधिकारी भी नहीं था। इसी कारण उस स्थिति में उसे नित्य नहीं मान सकते। इसके अतिरिक्त इस शब्द के किसी कारणवश इस प्रचलित विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त न होने, अथवा स्वयं इस शब्द के ही लुप्त हो जाने के कारण उपर्युक्त सम्बन्ध भी नष्ट हो जायगा। हाँ, जब तक वह 'स्फोट' रहेगा, उसे नित्य माना जायगा अर्थात्

उस शब्द से सदा उस अर्थ की प्रतीति होती रहेगी । अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है । इस वाक्य में 'नित्य' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में ही स्वीकार करना चाहिए । अस्तु !

३. शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध

अब मूल बात पर आइए । ऊपर कह आये हैं कि प्रमुख वैयाकरणों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनिवार्य है । महाभाष्यकार पतञ्जलि के कथनानुसार शब्द का प्रयोग अर्थ-बोध कराने के लिए ही किया जाता है । कात्यायन-प्रस्तुत 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिक की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने कहा कि शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध अर्थात् नित्य है । यहाँ अर्थ से तात्पर्य है आकृति, न कि द्रव्य । आकृति का दूसरा नाम जाति अथवा शब्द का वाच्यार्थ है, और द्रव्य का दूसरा नाम लौकिक पदार्थ है । पतञ्जलि के अनुसार शब्द और आकृति (शब्द के वाच्यार्थ) में तो नित्य सम्बन्ध है; पर शब्द और द्रव्य में नित्य सम्बन्ध नहीं है ।[१] उदाहरणार्थ 'गौ' शब्द का द्रव्यमूलक अर्थ गाय नामक लौकिक पदार्थ तो नश्वर है, पर 'गौ' का आकृति (जाति) मूलक गाय का रूप वाच्यार्थ अनश्वर है, क्योंकि किसी एक गाय के नष्ट हो जाने पर भी यह अर्थ अन्य गायों के साथ सम्बद्ध रहता है ।[२] पतञ्जलि का शब्द का नित्य सम्बन्ध भी इसी आकृति (वाच्यार्थ) के साथ स्वीकार्य है, द्रव्य (नश्वर लौकिक पदार्थ) के साथ नहीं ।

महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने इस नित्य सम्बन्ध के कारण पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि द्रव्य रूपी अर्थ के अनित्य होने पर भी शब्द और जाति रूपी वाच्य अर्थ में नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति का एक ही कारण है—प्रत्येक शब्द में अर्थबोधन की योग्यता, और इसी कारण शब्द के साथ-साथ उसका वाच्य अर्थ भी नित्य है ।[३] इसी नित्यता का उल्लेख करते हुए भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को एक ही आत्मा के दो रूप बताते हुए इन्हें परस्पर अपृथग्भाव से स्थित अर्थात् अभिन्न माना है—

१-२. आकृतिर्हि नित्या, द्रव्यमनित्यम् । × × नित्याऽऽकृतिः । कथम् ? न च क्वचिद् उपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति । द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते ।

—महाभाष्य (पस्पशाऽऽन्हिक, पृ० ३०) ।

३. (क) अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यता इतिचेद् योग्यतालक्षणत्वात् सम्बन्धस्य । तस्याश्च शब्दाश्रयत्वाच्छब्दस्य च नित्यत्वाद् अदोषः ।

(ख) यदा यदा शब्द उच्चरितः तदा तदाऽर्थाकारा बुद्धिरुपजायते इति प्रवाह-नित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वम् इत्यर्थः । —महाभाष्य, कैयटकृत व्याख्या-भाग (तिमिरनाशक यन्त्रालय), पृ० १५, १६ ।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ ।
—वाक्यपदीय २।३१ ।

४ शब्द तथा अर्थ और संस्कृत के काव्याचार्य

इधर संस्कृत का काव्यशास्त्री भी वैयाकरणों के उपर्युक्त सिद्धान्तों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। अनेक आचार्यों ने शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध का स्वीकार किया है। भरत के अनुसार नाट्य (काव्य) मृदु एवं ललित पदों और अर्थों से युक्त होना चाहिए।[1] भामह ने शब्द और अर्थ के सहित भाव को काव्य की संज्ञा दी है और रुद्रट ने तद्रूप का।[2] मम्मट ने स्वाभिमत काव्य लक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है और राजशेखर, विश्वनाथ आदि ने काव्य पुरुष-रूपक में शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर बताया है।[3] दण्डी और जगन्नाथ ने स्वसम्मत काव्य-लक्षणों में शब्द और अर्थ का यदि पृथक्-पृथक् निर्देश किया है[4] तो भर्तृहरि व्याडि के अनुसार इसका यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हुए भी यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किए जाते हैं तो इसका कारण लौकिक व्यवहार ही है पर वस्तुतः वे अभिन्न और एक रूप में अवस्थित हैं—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया ।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम् ॥
—वा० पा० (१।२६) की वृत्ति में उद्धृत

काव्यशास्त्रियों पर वैयाकरणों—स्फोटवादियों का एक अन्य प्रभाव भी पड़ा है, वह है ध्वनि नामक काव्य-तत्त्व की स्वीकृति। वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। स्फोटवादियों ने उच्चार्यमाण शब्द' अर्थात् ध्वनि अथवा नाद को व्यंजक माना है और स्फोट को व्यंग्य। इधर काव्यशास्त्रियों ने व्यंजक शब्द और व्यंजक अर्थ

---

१ मृदुललितपदाढ्यं ।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥ —ना० शा० १७।१२३ ।

२ (क) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । —काव्यालङ्कार (भामह) १।१६ ।
(ख) ननु शब्दार्थौ काव्यम् ।—काव्यालङ्कार (रुद्रट) २।१ ।

३ (क) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि । —का० प्र० १।४ ।
(ख) काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् ।—सा० द० १म परिच्छेद ।

४ (क) शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । —का० द० १।१० ।
(ख) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । —र० गं० १म आनन ।

दोनों को 'ध्वनि' की संज्ञा दी है। स्वयं मम्मट ने ही इस अप्रत्यक्ष प्रभाव की चर्चा की है—

> बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि[1] न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थ-युगलस्य। का० प्र० १।४ (वृत्ति)।

ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों का 'ध्वनि' शब्द वस्तुतः केवल उक्त दो अर्थों तक ही सीमित नहीं है। इसके तीन अर्थ और भी है—व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और व्यंग्यार्थ-(ध्वनि-)प्रधान काव्य।

तात्पर्य यह कि काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द वैयाकरणों से लिया है और अपने शास्त्रानुसार इसका बहुविध प्रयोग किया है। दोनों के सिद्धान्तों में शब्द-साम्य होते हुए भी अन्तर स्पष्ट है—वैयाकरण नाद अथवा शब्द रूप व्यंजकों को 'ध्वनि' नाम से पुकारते हैं और व्यंग्य को 'स्फोट' नाम से। इधर काव्यशास्त्री शब्द और अर्थ रूप व्यंजकों को भी ध्वनि कहते है और इसके व्यंग्यार्थ को भी। वैयाकरणों की 'ध्वनि' केवल व्यंजक है, पर काव्यशास्त्रियों की 'ध्वनि' अपने विभिन्न अर्थों के कारण पंच-रूपात्मक। इसके पाँच अर्थ हैं—व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजना शब्दशक्ति, व्यंग्य अर्थ और व्यंग्यार्थ समन्वित काव्य।[2]

५. निष्कर्ष

उपर्युक्त समग्र विवेचन का निष्कर्ष इन शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) साधारण बोलचाल अथवा साहित्य में सार्थक शब्द का प्रयोग होता है, निरर्थक शब्द का नहीं।

(२) सार्थक शब्दावली का नाम भाषा अथवा वाणी है।

(३) अतः जो गुणगान भाषा अथवा वाणी का किया जाता है, वह उसकी सार्थकता के नाते किया जाता है, निरर्थकता के नाते नही।

---

१. वस्तुतः यहाँ 'तन्मतानुसारी' शब्द भ्रामक है। काव्यशास्त्री इस सम्बन्ध में वैयाकरणों के पूर्णतः अनुकारी नहीं हैं, जैसा कि स्वयं मम्मट ने यहीं स्वीकार किया है।

२. तथा च तथाविधः शब्दवाच्य व्यंग्य व्यंजनसमुदायात्मकः काव्यविशेषो ध्वनिरिति कथितः। —ध्वन्यालोक (बालप्रिया), पृ० १०६।

(४) दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है निरर्थक शब्द तो शब्द कहाने का अधिकारी ही नहीं है। अर्थात् जहाँ-जहाँ शब्द होगा वहाँ-वहाँ अर्थ भी अवश्य होगा।

(५) वैयाकरण शब्द के दो रूप मानते हैं—ध्वन्यात्मक और स्फोटात्मक। उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण शब्द ध्वन्यात्मक कहाता है और शब्द का अनादिकाल से आगत रूप स्फोट।

(६) शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। यहाँ शब्द से तात्पर्य है स्फोटात्मक शब्द संक्षेप में कहें तो स्फोट। स्फोट उस शब्द को कहते हैं जो अर्थ-स्फुटन में समर्थ हो।

(७) 'शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है', इस वाक्य में 'नित्य' शब्द लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

(८) इस नित्य सम्बन्ध को वैयाकरणों के अतिरिक्त काव्याचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

(९) वैयाकरणों के स्फोट और काव्याचार्यों के ध्वनि नामक तत्त्व में किञ्चित् अन्तर है। उधर ध्वनि शब्द एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु इधर पाँच विभिन्न अर्थों में।

अलंकार की परिभाषा

डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या में कहा गया है, "अलंकरोतीति अलंकारः"[1] जो किसी वस्तु को सुशोभित करे वह अलंकार है। इस प्रकार सौन्दर्यकारी— सभी साज-समाज इस के अन्दर आ जाते है।

शारीरिक सुषमा-समा को बढ़ाने वाले सभी पदार्थ, परिधान, आभूषणादि अलंकारों की श्रेणी में गिने जाते हैं। यों इस शब्द का अर्थ अलंकार करने, सजाने या सुशोभित करने से सम्बन्ध रखता है, किन्तु इस व्यापक अर्थ की सीमा संकीर्ण हो जाती है और अलंकार का अर्थ केवल आभूषण या भूषण (गहना) हो जाता है। जिस प्रकार आभूषण सुवर्ण से बनते हैं उसी प्रकार अलंकार भी सुवर्ण (सुन्दर अक्षर) से बनते हैं, जिस प्रकार सुवर्ण रचित-खचित आभूषणों में चातुर्य (कला-कौशल) चमत्कार एवं प्रतिभा (प्रभा या चमक) की चारुता रहती है उसी प्रकार अलंकारों में भी यही सब मनोरंजक साधन रहते हैं, उनमें भी कला (काव्य-कला), कौशल या चातुर्य, चमत्कार एवं प्रतिभा (काव्य-प्रतिभा) तथा मनोरंजक चारुता प्रकट होती है। इसी भाव को लेकर कदाचित् शब्दालंकारों (सुवर्णालंकारों) पर आचार्यों एवं कवियों ने सबसे प्रथम अधिक ध्यान दिया था और उन्हीं को प्रधानता दी थी, उन्हीं के कला-कौशल के साथ अनेक रूप रचे थे, और काव्य एवं भाषा के शारीरिक सौन्दर्य को अपनी प्रतिभा के द्वारा सुवर्ण-रचित सुन्दर शब्दालंकारों के आभूषणों से बढ़ाने-चढ़ाने का प्रयत्न किया था।

आभूषणों के द्वारा जैसे चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है, वैसी ही प्रसन्नता अलंकारों के द्वारा उत्पन्न करने के विचार से विद्वान् प्रकृति-ज्ञानपटु तथा शब्द, ध्वनि

---

१. देखो वामनकृत काव्यालंकार सूत्र। वामन ने अलंकार की महत्ता दिखलाते हुए अलंकार का लक्षण यों दिया है—'सौंदर्यमलंकारः'।

ग, भाषा-तत्वज्ञान, वर्ण विन्यास, शब्दों के सुन्दर संगठन तथा पदों के प्रमोदकारी स्पन्दन की व्यवस्था एवं संगठन के सिद्धान्त या नियम निकाले और तद्वत मनोविज्ञान एवं सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetic Science) के गूढ़ मर्मों की विवेचना एवं गवेषणा से संबद्ध था तथा इन सिद्धान्तों का प्रयोग इस ओर किया। फलतः अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों का आविर्भाव एवं विकास हो गया। इनमें प्रथम सुवर्ण-विवेचना की गई और सुन्दर, मंजुल मनोरम मधुर एवं मृदुवर्ण, कठिन, कठोर एवं कटु वर्णों से पृथक किये गये। फिर सुवर्णों के सुव्यवस्थित संगुम्फन का कार्य हुआ और इसके दो पथ हो गये— एक तो संगीत का, दूसरा काव्य या कविता का—प्रथम में स्वरों तथा राग रागिनी का विशेष ध्यान रखा गया, दूसरे में इनके ध्यान के साथ ही साथ मात्राओं एवं वर्णों की यथाक्रमता, लय तथा ताल आदि के लिये एक विशेष प्रकार की गणना—जिसका सम्बन्ध गणित शास्त्र से उत्तर काल में विकासमय हुआ और प्रस्तारादि की सृष्टि हुई— पदरचना या छन्दरचना का विशेष विचार रखा गया। इस प्रकार संगीत एवं गन्धर्वशास्त्र तथा पिंगलशास्त्र के जन्म हुए।

पिंगलशास्त्र में निश्चित किये हुए वर्ण विन्यास का वर्ण-विचार, शब्द विचार, भाषा-तत्वज्ञान तथा मानव प्रकृति के आधार पर परिमार्जन किया गया और जैसा हम अलंकार के विषय में कह चुके हैं शब्दालंकारों एवं अनुप्रासादि की कला निकल आई।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो शब्दालंकारों के आधारभूत सिद्धान्त ये ही जान पड़ते हैं—

(१) पुनरुक्ति—इससे रसना, मन, एवं मस्तिष्क को एक विशिष्ट सरलता, सुष्ठुता एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है, यह स्वाभाविक बात है। इसलिए न केवल काव्य में ही इससे सहायता ली गई है वरन् भाषा विज्ञान सम्बन्धी साहित्यिक शब्द-रचना से भी इसका बहुत बड़ा हाथ है, भाषा के अनेकों शब्द इसी आधार पर रचे गये हैं।

काव्य में इसके साहाय्य से अनुप्रास और यमकादि की उत्पत्ति हुई है। यह अवश्य है कि इसके कई रूप कर दिये हैं—

१ वर्णावृत्ति, जैसे अनुप्रास और उनके भेद देखे व यमक में।
२ शब्दावृत्ति जैसे यमक के दूसरे रूप, पुनरुक्तवदाभास तथा उनके भेदों में।
३ पदावृत्ति, जैसे लाटादि में।

(२) प्रयत्नलाघव—इसके द्वारा वृत्तियों एवं रीतियों का आविष्कार हुआ।

जिन वर्णों के बोलने में रसना तथा नाद-यंत्रों को सरलता होती है तथा उन्हें कम प्रयत्न करना पड़ता है, वे अल्पप्राण व्याकरण में और मंजुल या मृदुलवर्ण काव्य में माने जाते हैं, इससे उपनागरिका एवं कोमला वृत्तियाँ चलीं, इसके विपरीत बोलने में कठिन तथा अधिक प्रयत्न चाहने वाले वर्ण परुष, महाप्राण या कठोर माने जाते हैं, इनसे परुषा वृत्ति चली, ये सब वृत्यनुप्रास के ही अन्दर प्रथम के आवृत्ति सिद्धान्त के साथ रखी गई ।

(३) उच्चार साम्य या स्वर एवं ध्वनि-साम्य—ऐसे वर्णों के बोलने एवं सुनने में एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, जो एक ही स्थान से (नाद-यंत्रों के एक ही स्थल से) बोले जाते हैं । इसके आधार पर श्रुत्यनुप्रास का जन्म हुआ ।

यद्यपि काव्य में पुनरुक्ति एवं शब्दावृत्ति का निषेध किया गया है तथा उसे अच्छा नहीं कहा गया, तो भी उसके स्वाभाविक गुणों से आकृष्ट एवं बाध्य हो उसे भी काव्य गुणों एवं अनुप्रासों में स्थान दे ही दिया गया । इससे वस्तुतः कभी-कभी भावोत्कर्ष एवं रसोत्कर्षादि हो जाता है, इसीलिए वीप्सा आदि की महत्ता-सत्ता मानी गई है और उनसे अलंकारता की उत्पत्ति की गई है । इस प्रकार शब्दालंकारों का जन्म एवं विकास हुआ । अस्तु—

इन उपर्युक्त मानव-वृत्तियों के साथ ही साथ कुछ और विचित्र प्रकार की वृत्तियाँ मानव-प्रवृत्ति में पाई जाती है, और वे हैं—

(४) कौतुक-कुतूहल प्रियता—इसके कारण मनुष्य कौतुक एवं कुतूहल में संलग्न होता तथा आनन्द पाता है । उसे प्रत्येक पदार्थ के साथ कौतुक करना तथा उसके द्वारा एक विचित्र चित्ताकर्षक कुतूहल का उपजाना बहुत रुचता है । इस मनोवृत्ति के कारण अनेक प्रकार की कौतुक-कलाओं का जन्म हुआ है और कदाचित् इसी के आधार पर काव्य-कला में भी ऐसे अलंकारों की उत्पत्ति तथा वृद्धि हुई है, जैसे—चित्रकाव्य ।

(५) एक दूसरी मनोवृत्ति ऐसी भी है जो ठीक प्रथम वृत्ति (सरलताप्रियता) के प्रतिकूल है । यह मनोवृत्ति क्लिष्टता, जटिलता तथा उलझन में आनन्द पाती है और उसी की ओर आकृष्ट हो मन को जिज्ञासु बनाकर समुत्सुकता एवं उत्कण्ठा के साथ उसकी ओर लगा देती है । यह सीधे मार्ग पर चलना न पसन्द कर, वक्र मार्ग में अभिरुचि के साथ बढ़ती चलती है । इसी के कारण भाषा में वक्रता तथा घुमाव-फिराव के साथ किसी बात के कहने की रीति या शैली का प्रादुर्भाव होता है तथा

काव्य में ऐसे अलकारों का जन्म होता है, जैसे—वक्रोक्ति, अयोक्ति और विभावनादि।

इसी प्रकार की एक तीसरी मनोवृत्ति है जिसे किसी बात के छिपा देने तथा उसके द्वारा कुतूहल उपजाने तथा छिपी हुई बात के खोजने में आनन्द प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से काव्य में कूट (दृष्टकूटादि), प्रहेलिका (मात्राच्युतक, वर्णच्युतकादि), अन्तर्लापिका एवं बहिर्लापिकादि का प्रकाश होता है। अस्तु, ऐसी ही भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के (१ भावाभिव्यञ्जन—जिसके द्वारा मनुष्य अपने मन के भावों को दूसरों पर प्रकट करता तथा दूसरों के भावों को जानना चाहता है, २ न्यूनाधिक कारिणी—जिसके द्वारा मनुष्य किसी पदार्थ या बात को न्यून या अधिक रूप में दिखाना या देखना चाहता है, ३ तर्कना शक्ति—जिसके द्वारा मनुष्य तर्क का करना और सुनना चाहता है) आधार पर या इनके कारण से अर्थालंकारों, जैसे—उपमा, प्रतीप, अत्युक्ति, प्रमाणादि का प्रादुर्भाव गद्य एवं पद्य दोनों में हो गया है।

जिस प्रकार सुवर्ण-विरचित आभूषणों में अर्थ (धन) की कल्पना होती है, उसी प्रकार काव्यालंकारों में भी आभूषण जिस प्रकार सार्थकता (धनाढ्यता) का भाव रखते हैं, वैसे ही अलंकार भी सार्थकता (अर्थसंयुक्त) का भाव रखते हैं। इस विचार से अलंकारों की गति अर्थ एवं भाव की ओर झुकी, और उनमें सार्थकता का समावेश एवं सामञ्जस्य किया गया। बस अर्थालंकारों का विकास एवं विस्तार अनिवार्य एवं अवश्यम्भावी हो गया। इस कार्य के सफल होने में उपर्युक्त मनोवृत्तियों तथा तत्त्वों का बहुत बड़ा हाथ है। मनुष्य स्वभावतः ही सौन्दर्य, सजावट तथा रुचिर रचना का प्रेमी है, उसे रचना-वैचित्र्य से विशेष अनुराग है, इन्हीं वृत्तियों के कारण वह विचारों एवं उनको प्रकाशित करने वाली भाषा (शब्द एवं पदावली) में भी इन्हीं सब प्रिय एवं अभीष्ट बातों का समावेश करता रहता है। ऐसा करने से ही अलंकारों का जन्म हो गया है और होता चला आया है। साथ ही यह भी प्रकृति-सिद्ध बात है कि मनुष्य स्वविचारों को अनेक प्रकार के ढंगों से व्यक्त एवं प्रकट करना चाहता है तथा करता है, जिसके फलस्वरूप अलंकारों तथा शैलियों (रीतियों) का जन्म हो जाता है। इनकी जब एक बड़ी समष्टि बन गई तब मनुष्य के कला, प्रेम एवं व्यवस्थानुराग से काव्य-कला तथा काव्य-शास्त्र (काव्यालंकार शास्त्र) की रचना हुई। अस्तु—अलंकार के विस्तृत एवं व्यापक अर्थ के अन्दर, जिसे हम ऊपर लिख चुके हैं, सभी प्रकार के सौन्दर्यकारी साधन आ जाते हैं। इसीलिए कह सकते हैं कि अलंकार न केवल भाषा-भाव ही से सम्बन्ध रखते हैं वरन् रस, ध्वनि आदि से भी अपनी गाढ़ी मैत्री जोड़ते तथा उन्हें अपने में मिला लेते हैं। कदाचित् इसी कारण ऐसे अलंकारों

की भी कल्पना की गई है जो रस, ध्वनि एवं भाव आदि से सर्वथा सम्बन्ध रखते हैं, जैसे—रसवत्, प्रौढ़ोक्ति, भावोदयादि।

केशवदास ने केशवमिश्र के आधार पर अलंकार शब्द को एक विशिष्ट, व्यापक अर्थ में लिया है और अलंकारों के दो रूप या भेद ऐसे दिये हैं जिनका सम्बन्ध काव्य के दो मुख्य तत्त्वों से है। काव्य, कोई भी हो, मूलतः दो तत्त्वों से बनता है : (१) वर्ण्य-विषय, जिसका वर्णन कवि के द्वारा किया जाता है; (२) वर्णन, जो कुछ वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में कहा जाता है।

इन दोनों में सजावट-सौन्दर्य के लाने की आवश्यकता होती है, दोनों को सुन्दर एवं मनोरंजक बनाना अनिवार्य है, तभी काव्य सब प्रकार के अलौकिक आनन्द का देने वाला, रुचिर, रोचक तथा प्रशस्त हो सकता है। ऐसा करने के लिये कवि की कुशल प्रतिभा ही एकमात्र साधन है, इसी से वह स्वविवेकानुभव के साथ चुने हुए सुन्दर वर्ण्य-विषय की समस्त सामग्री (लोक-प्रवृत्ति-प्राप्त तथा कवि-कल्पना से कल्पित की हुई) से कला-कौशल के साहाय्य से एक रम्य काव्य-सदन का निर्माण कर सकता है। इसलिये सबसे आवश्यक बात कवि के लिये प्रथम अनुभव-ज्ञान (प्रकृति, मानव-प्रकृति, कला, शास्त्र, एवं अन्यान्य प्रकार का ज्ञान) है। तदनन्तर उसके लिये प्रत्येक पदार्थ के सब ओर से सब प्रकार के विवेचना-विश्लेषण, संश्लेषण एवं सुव्यवस्था से निपुण निरीक्षण और कल्पना-कौशल की आवश्यकता है। इन सबके आधार पर कवि एक सुन्दर वर्ण्य-विषय खोजकर प्राप्त कर सकता है। इसके प्राप्त हो जाने पर उसे यह आवश्यकता अनिवार्य होती है कि वह उस विषय से सम्बन्ध रखने वाले स्वमनगत विचारों एवं भावों को या उस वस्तु से समुत्पन्न होने वाली बातों, मनोवृत्तियों तथा कल्पनाओं को इस प्रकार की भाषा के रूप या ढंग में[१] रोचकता तथा विचित्रता के साथ प्रकट करे कि उनमें काव्य की कला-कुशलता, चमत्कृत चातुर्य्यमयी कुतूहलता से समुद्भूत होने वाली मनोरंजकता एवं समाकर्षक तथा प्रभावोत्पादक चारुता आ जाये।

---

१. भाषा के रूपों से काव्यगुणों का जन्म होता है, यदि भाषा का रूप सरल, स्पष्ट तथा विचारों को सत्यता (यथार्थता) के साथ प्रकाशित करने वाला व स्वाभाविक है तो उसमें प्रसाद गुण कहा जाता है, यदि भाषा व शैली में मधुरता है तो उसमें माधुर्य गुण तथा यदि उसमें कुछ कठोरता का आवेश झलकता है तो उसमें ओज गुण माना जाता है, यों ही और गुणों की भी कल्पना भाषा के रूप में देखकर की जाती है।

भाषा के ढंगों से अलंकारों की उत्पत्ति तथा भाषा की पदावली की गति या रीति से वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है।

ऐसा करने के लिए वह एक विशेष प्रकार की भाषा तथा उसके विशेष प्रकार के रूप रचना या ढंग का आश्रय लेता है। इसी से काव्य भाषा (जो साधारण गद्य की साहित्यिक भाषा से सर्वथा पृथक होती है) तथा अलंकारों का प्रादुर्भाव होता है।

काव्य को उक्त नाना तत्त्वों पर समाधारित कर केशव ने दो प्रारम्भिक भेद अलंकार के (व्यापक अर्थ लेकर) किये हैं। प्रथम भेद को जिसका सम्बन्ध वर्ण्य विषय से है सामान्य तथा दूसरे को जिसका सम्बन्ध भाषा तथा वर्णन से है विशिष्ट कहा है। विशिष्टालंकार के अन्दर ही हमारे काव्यालंकार आते हैं।

काव्यालंकार शास्त्र के प्रारम्भिक काल में अलंकार शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में होता रहा था जैसा वामनकृत काव्यालंकार सूत्र की परिभाषा से स्पष्ट है।[1] साथ ही तत्सम्बन्धी नियमोपनियमों एवं सिद्धान्तों का प्रदर्शन कराने वाले शास्त्र का नाम अलंकार या काव्यालंकार शास्त्र रखा जाता था। किन्तु जब काव्य की आत्मा एवं आन्तरिक सुन्दरता की खोज हुई और उसकी विवेचना की ओर आचार्यों का ध्यान गया तब इस शब्द के व्यापकार्थ में संकीर्णता आ चली और इस शब्द से केवल उपमादिक का ही अर्थ ही लिया जाने लगा। साथ ही इसके शास्त्र का नाम भी बदल गया और वह साहित्य-शास्त्र कहा जाने लगा।

काव्य सौन्दर्य के यों दो पृथक रूप कर दिये गये (१) अन्तरंग सौन्दर्य (२) बहिरंग सौन्दर्य। प्रथम में काव्यात्मा एवं प्राण का निरूपण हुआ और कई सिद्धान्त निकल खड़े हुए।[1] दूसरे में अलंकार का संकीर्ण रूप जो उपमादिक को सूचित करता है निर्धारित किया गया।

एक प्रणाली और भी ऐसी प्रचलित हो गई जिसमें कविता को एक नायिका के समान ठहराया गया[2] और अलंकार उसके बाह्य सौन्दर्य को उत्कर्ष देने वाले आभूषणों

---

१ काव्य की आत्मा या प्राण को मुख्यतः इन रूपों में दिया गया है—
  (१) काव्य का प्राण रस है। —विश्वनाथ—रससिद्धान्तवादी
  (२) रीति ही काव्य की आत्मा है। —रीतिवादी दण्डी एवं वामन
  (३) ध्वनि को ही आत्मा कहना चाहिए। —आनन्दवर्धनाचार्य एवं मम्मट
  (४) गुण ही काव्य का प्राण है।
  प्रथम अलंकार को ही (उसके व्यापक एवं विशदार्थ में) काव्य का प्राण माना जाता था।
  (५) वक्रोक्ति ही काव्यात्मा है। —कुन्तल

२ साहित्य विद्या रूपी नायिका का वर्णन राजशेखर में देखिए।

के सदृश दिखलाये गये। इस प्रकार इसका सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक अंगों से सर्वथा पृथक् सा हो गया और वाह्यांगों से भी वे पृथक् ही रखे गये, हाँ इनको उसके कलेवर पर शोभा बढ़ाने के लिये अवश्य रखा गया और यह आवश्यक एवं समीचीन भी ठहरा। यदि इनको काव्य-शरीर पर न भी सजाया जाये तब भी कविता-कामिनी का स्वाभाविक-सौन्दर्य अपनी प्रतिभा एवं छटा दिखलाता ही रहेगा और कुछ हानि भी न होगी। इस औपम्यात्मक एवं अलंकृत परिभाषा का प्रचार सर्वमान्य एवं साधारण सा ही व्यापक हो गया। हिन्दी भाषा के प्रायः सभी लेखक इसी के आधार पर चलते हैं और अलंकार शब्द के स्थान पर भूषण या आभूषण का प्रयोग करते हुए दोनों शब्दों को एकार्थ या समानार्थवाची अथवा पर्यायवाची शब्द मानते हैं। हाँ, कुछ लेखक अवश्य ही ऐसा नहीं करते, वरन् अलंकार की उपयुक्त परिभाषा वैज्ञानिक रीति से देते हैं। प्रथम हम संस्कृत के आचार्यों के द्वारा दी गई परिभाषाओं की विवेचना करेंगे, फिर हिन्दी के आचार्यों के मत दिखलायेंगे।

निष्कर्ष रूप में अब यों कह सकते हैं कि अलंकार के दो अर्थ लिये गये हैं : (१) व्यापकार्थ—जिसके आधार पर काव्य-सौन्दर्य को ही, चाहे वह वर्ण्य में हो या वर्णन में, अलंकार कहते हैं। (२) संकीर्णार्थ—जिसके आधार पर काव्य-शरीर अर्थात् भाषा के शब्दार्थ से सुसज्जित एवं सुन्दर बनाने वाले चातुर्य-चमत्कार-पूर्ण मनोरंजक ढंग को अलंकार कहते हैं।[१] यह द्वितीय अर्थ उत्तर काल में इतनी दृढ़ता के साथ प्रचलित हुआ कि अद्यापि इसमें किसी भी प्रकार का घुमाव एवं परिवर्तन नहीं हो सका।

---

१. वस्तुतः यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो काव्य का मुख्याधार भाषा है (जो शब्द एवं अर्थ की एक अभंग संसृष्टि या समष्टि है—कहा भी है "वागर्थाविव संपृक्तौ" रघुवंशे) इसी पर काव्य का महत्त्व टिका है। भाव, विचार और कल्पनाएँ आदि सभी मनुष्यों में न्यूनाधिक एवं साधारण रूप में रहती ही हैं और उनका प्रकाशन भाषा के द्वारा वे दूसरों पर किसी-न-किसी प्रकार करते ही हैं।

विद्वानों, तत्त्वज्ञों एवं दार्शनिकों आदि में उच्च, प्रौढ़, विचित्र, गूढ़ तथा गम्भीर विचारादि बहुत विशेष रूप एवं संख्या में रहते हैं, किन्तु वे कवि नहीं होते।

भावनाओं, मनोवृत्तियों एवं रसादिकों की विद्यमानता तो किसी न किसी रूप में प्रायः प्रत्येक मानव-मन या हृदय में अवश्य ही मिलती है, और उनकी आत्मा उनकी भाषा में भी झलकती है, वे उनका प्रकाशन भी करते हैं, किन्तु इससे वे कवि नहीं कहे जाते या हो सकते हैं। यही करने वाला ही कवि नहीं है। अब प्रश्न होता है कि काव्य में क्या विशेषता होनी चाहिये, उत्तर में कह सकते हैं और कहा भी गया है कि काव्य में प्रधानतया सुन्दर भाषा में चातुर्य-चमत्कार का चारुतापूर्ण वैचित्र्य ऐसा होना चाहिए, जिससे स्वभावतः ही मनो-

(शेष अगले पृष्ठ पर)

काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी ने अलंकार की परिभाषा में यों कहा है— काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते अर्थात् काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।

इसी परिभाषा को परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हुए विश्वनाथ जी अपने साहित्यदर्पण में कहते हैं—

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तो ऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥''

अर्थात् शब्द एवं अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं जो शब्दार्थमय काव्य की शोभा को प्रवर्धित करते हैं तथा रस और भावादि के उपकारक एवं उत्कर्षक हैं। यहाँ यह विचार कर लेना चाहिए कि उक्त पद्धतिवाले रस सिद्धान्तवादी हैं, इसीलिए 'रसादीनुपकुर्वन्तो' पद और रख देते हैं।

श्री मम्मटाचार्य अपने काव्यप्रकाश में कहते हैं— काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' अर्थात् 'काव्य में शोभा लाने वाले को गुण कहते हैं उनके अतिशय या उत्कर्ष के हेतु अलंकार हैं।" इस प्रकार अलंकारों को काव्य-सौन्दर्यकारी गुणों का उत्कर्षक माना है। इसका कारण यह है कि आप गुण एवं रीति सिद्धान्त के अनुयायी थे।

इस सिद्धान्त के विरोधियों ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिखाया है कि गुण और रीति वास्तव में वर्णों एवं शब्दों की सुव्यवस्था या क्रमानुसार विरचित विधानों के नियमों से नियमित होने वाले शब्दगुम्फन के विशिष्ट मार्ग एवं शैली हैं। इनका सम्बन्ध अलंकार से कुछ भी नहीं, ये एक प्रकार के स्वतः शब्दालंकार या वर्णालंकार

(पिछले पृष्ठ का शेष

रंजन प्राप्त हो, ऐसे ढंग से भावादि का भाषा में अनुवाद किया जाय जो साधारणतः प्रयुक्त होने वाले ढंग से सर्वथा विचित्र हो।

जिस प्रकार विचित्र दृष्टिकोण के साथ सूक्ष्मतापूर्ण निरीक्षण से वर्ण्य वस्तु देखी जाती है, उसी प्रकार वैचित्र्य के साथ ढंग विशिष्ट से उसका वर्णन भी चमत्कृत भाषा में होना आवश्यक है, इसी को काव्य-कला कहते हैं और यही काव्य का मूल तत्त्व या सिद्धान्त है, ऐसा करने वाला ही सर्वथा सफल कवि कहा जाता है। इसलिए भामह एवं कुन्तलादि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा तथा अलंकारों को (जिनका आधार वक्रोक्ति है) काव्य का प्राण मानते हैं, और इन्हीं की उपस्थिति से काव्य में सजीवता तथा कला-कुतूहल से समुत्पन्न उत्कृष्ट आनन्दप्रदता, मनोरंजकता तथा समाकर्षकता आती है।

हैं। गुणों का आधार विशेषतया व्याकरण सम्बन्धी, सामाजिक नियमों तथा उनकी न्यूनाधिकता पर ही है, यही बात वृत्ति के साथ भी है।[१] यदि इन्हें गुणोत्कर्ष का हेतु मान लेंगे तो अर्थालंकारों में से बहुत से अलंकार परिभाषा के अन्दर ही न आयेंगे और परिभाषा व्यापक न ठहर कर मान्य न रहेगी।

आचार्य वामन का भी वही मत है जो आचार्य दण्डी का है; हाँ, यह अवश्य है कि वे गुणों की अपेक्षा रीतियों तथा वृत्तियों पर, जिन्हें वे काव्यात्मा मानते हैं—('रीतिरात्मा काव्यस्य', किन्तु साथ ही 'विशेषो गुणात्मा' भी कहते हुए गुणों का भी प्रधानत्व दिखाते हैं और कदाचित् इस प्रकार रीति एवं गुण दोनों सिद्धान्तों के सामंजस्यभूत सिद्धान्त के अनुयायी हैं) विशेष बल देते हैं।

मम्मटजी ने भी गुणों को रसों का अंगी धर्म, शौर्यादिक आत्मांगी धर्मों के समान तथा रसों को उत्कर्ष के हेतु मानते हुए अलंकारों को हारादि भूषणों के समान, अंगद्वार से उन गुणों का उपकार करने वाला कहा है—

"ये रसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥"
—काव्यप्रकाश।

भाष्यकार ने 'अलंक्रियतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या अलंकार शब्दः'—कह कर इन्हें शोभाकारी ही प्रकट किया है।

हेमचन्द्र ने भी अलंकारों को काव्यांगाश्रित ही कहा है और आभूषणों के ही समान माना है—

"अंगाश्रिता अलंकाराः।"

भाष्यकार यहीं पर कहते हैं—'रसस्यांगिनो यदङ्गं शब्दार्थौ तदाश्रिता अलंकाराः'—रस के अंगी रूप शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले अलंकार हैं।

इस प्रकार संस्कृत के प्रधान, प्रधान आचार्यों ने अलंकार शब्द की व्याख्याएँ

---

१. देखिये रुद्रट कृत काव्यालंकार।

एवं परिभाषाएँ दी हैं जिनसे हम यह निर्णय निकाल सकते हैं कि काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। भाषा-सौन्दर्य प्रवर्धक ये अलंकार रूपी अस्थिर धर्म शब्द और अर्थ (ये दो मुख्य तत्त्व जो भाषा एवं काव्य को बनाते हैं तथा अनिवार्य और अत्यावश्यक तत्त्व हैं) पर सब प्रकार समाधारित हैं। इनसे काव्यात्मा रूपी रस के गुणों का उत्कर्ष एवं माहात्म्य प्राप्त होता है और अर्थादि में विशिष्ट वैचित्र्य एवं चमत्कार आ जाता है।

हिन्दी के आचार्यों का मत

भाषा के आचार्यों में से दो ही एक ऐसे हैं जिन्होंने अलंकार शब्द की परिभाषा दी है प्रायः और सभी आचार्य इस विषय में मौनवृत्ति ही धारण करते हैं। प्राचीनाचार्यों के प्राप्य ग्रंथों में से प्रथम मतिरामजी कृत 'ललित ललाम' ही ऐसा है जिसमें अलंकार की परिभाषा भी मिलती है—

> "रस अथवन तें भिन्न जो, शब्द अर्थ के माँहि।
> चमत्कार भूषण सरिस, भूषन मानत ताँहि॥"

अर्थात् अलंकार या भूषण वह है जो आभूषण के समान हो (कला-कौशल पूर्ण, चमत्कारयुक्त तथा सुवर्ण रचित रुचिर रोचक और प्रतिभापूर्ण विचित्रता से युक्त हो) रस और अर्थ (भावादि) से पृथक् तथा शब्द और अर्थ पर (जिनसे काव्य भाषा का शरीर बनता है) सजाया गया हो।

भिखारीदास ने यद्यपि अलंकार विषय का, यदि पूर्ण विस्तृत नहीं तो सर्वथा पर्याप्त या उससे अधिक विवेचन दिया है, किन्तु खेद है कि आपने अलंकार की एक वैज्ञानिक, व्यापक तथा सर्वांगपूर्ण शुद्ध परिभाषा नहीं दी।

उन्होंने अर्थान्तरों को ही विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए कहा है "कहुँ बचन कहुँ व्यंग में, परे अलंकृत आय" अर्थात् ' अलंकार (चमत्कार या सौंदर्य वैचित्र्य) कभी वचन (वाच्यार्थ या स्पष्ट स्वाभाविक अर्थ) और कभी व्यंग्य (सूक्ष्मार्थ, जो स्पष्ट नहीं रहता वरन् उससे पृथक् सा ही किसी अन्य विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत या सूचना देता है) में आ पड़ता है।" यह लक्षण अलंकार का ठीक नहीं, क्योंकि यह अलंकारों के ऊपर घटित नहीं होता।

अन्य सभी वे लेखक, जिनके ग्रन्थ प्राप्त हैं अलंकारों को एक ओर से उठाकर क्रमशः उनके पृथक्-पृथक् लक्षण एवं उदाहरण ही देते हैं। किसी ने भी अलंकार शब्द

की व्याख्या, व्युत्पत्ति एवं परिभाषा, जो सर्वथा सब पर लागू हो तथा स्वाभाविक, व्यापक, वैज्ञानिक और सर्वांग शुद्ध हो, नहीं दी। अस्तु, हम यही कह सकते हैं कि कदाचित् अलंकार के रूप, गुण एवं लक्षणादि से हमारे साहित्य का वायुमण्डल ऐसा भरा हुआ था तथा जनसमूह उससे ऐसा पर्याप्त परिचित था कि इन लोगों ने उसके परिचय देने की आवश्यकता ही न समझी थी।

रीति और आचार्य परम्परा

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

संस्कृत वाङ्मय में रीति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। सर्वप्रथम रीति शब्द ऋग्वेद में स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] सायण रीति का अर्थ 'स्तुति' करते हैं।[2] विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार रीति के अनेक पक्षों का प्रतिपादन किया है। भामह काव्य, दण्डी और भोज मार्ग, वामन रीति, आनन्द पद-संघटना, कुन्तक कविप्रस्थानहेतु, रुद्रट एवं मम्मट वृत्ति और विश्वनाथ रीति के नाम से सम्बोधित करते हैं। हिन्दी में रीति शब्द का अर्थ पद्धति लिया जाता है। भोज रीङ् गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय करके रीति शब्द की निष्पत्ति मानते हैं और उसका अर्थ उन्होंने मार्ग (पन्था) किया है।[3] अग्निपुराणकार 'वक्तृत्व कला' को रीति नाम से अभिहित करते हैं।[4] वक्तृत्व कला को यदि हम अभिव्यक्ति कला का ही रूपान्तर मानें तो रीति का अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। वामन विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं। विशिष्ट का अर्थ है गुणसम्पन्न, और गुणसम्पन्नता ही सुन्दरता का द्योतक है अतः सुन्दर पद-रचना करने की कला को रीति समझना चाहिये।[5] हिन्दी-साहित्यमनीषी इसे शैली कहते हैं। सुन्दरतम रचना रस, अलङ्कार, गुण, शब्दशक्ति आदि सभी के समावेश होने पर ही होती है और पद-रचना में विशिष्टतापूर्वक इन्हीं का समावेश करने पर हमें शैली या रीति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

रीति के अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पतञ्जलि के महाभाष्य में

---

१ महीव रीतिः शवसासरत् पृथक्। (ऋ० वे० २।२४।१४)
२ महीव रीतिः महतीस्तुतिरिव। (ऋ० वे० सायणभाष्य)
३ वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ॥
  रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते। (स० क० २।२७)
४ वाग्विद्या सम्प्रतिज्ञाने रीतिः। (अ० पु० ३४४।१)
५ विशिष्टा पदरचनारीतिः। विशेषोगुणात्मा। (का० १।२।७-८)

सकती है। अतः वेदों का काव्य-सौन्दर्य आदिकाल से ही रीति के अस्तित्व का निदान कराता है।

वैदिक काल में प्रवृत्त रीति ने ब्राह्मण काल में परिवर्तित होकर एक नया स्वरूप ग्रहण किया। उस समय रचनाशैली आख्यानात्मक एवं वर्णनात्मक हो गई। वैदिक काल के अन्त में शैली (रीति) में नवीन परिवर्तन हुआ, लोग अधिक से अधिक बातों को संक्षेप में कहना चाहते थे अतः सूत्र शैली का सृजन हुआ। इसी शैली में सूत्र, व्याकरण, दर्शन आदि साहित्य निर्मित हुए। वेद के व्याख्यात्मक रूप में यास्क का निरुक्त एवं निघण्टु उपलब्ध होता है जहाँ पर शैली का केवल सूत्रात्मक रूप ही नहीं बल्कि उसका अलंकृत स्वरूप भी प्राप्त होता है। निरुक्त में उपमा के अनेक भेदों का निरूपण उपलब्ध होता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में तो उपमा के स्वरूप का सम्यक् निर्धारण हो चुका था। काव्यशास्त्र की अभिधा आदि शब्द शक्तियों का विवेचन दर्शन-शास्त्र में प्रारम्भ हो गया था जिसको कि काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। व्याख्यात्मक शैली की उद्भावना पतञ्जलि के समय हुई। शांकर भाष्य आदि इसी शैली के परिचायक हैं। इनमें सूत्रों की ललित गद्य शैली में व्याख्याएँ हैं। पश्चात् नव्य-न्याय दर्शन में एक नवीन शैली का सृजन हुआ, जिसमें शब्दाडम्बर अधिक होता था, बाण ने गौड़ी रीति में स्वीकार किया है। इस प्रकार शैली के विभिन्न रूपों का दर्शन हम संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है।

लौकिक साहित्य के उदय की प्रभात वेला में जबकि क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को व्याध के द्वारा विद्ध देखकर महर्षि वाल्मीकि के मुख से सरस्वती सहसा फूट पड़ी[१], एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। वह 'रसमयी पद्धति' कहलाई, जिसे कि 'सुकुमार' मार्ग के नाम से अभिहित किया जाता है। सुकुमार मार्ग में कोमल शब्दों का प्रयोग होता है। वाल्मीकीय रामायण इसी शैली में निबद्ध किया गया। और इसी शैली में महाभारत, पुराण साहित्य एवं कालिदास आदि के ग्रन्थ रचे गये। यह युग 'रसयुग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार नाट्य-शास्त्र के पूर्व तक साहित्य-रचना की अनेक शैलियाँ विकसित हो चुकी थीं, किन्तु उनका शास्त्रीय विवेचन नहीं हो पाया था।

रीति का शास्त्रीय विवेचन नाट्य शास्त्र से प्रारम्भ होता है। वहाँ पर स्पष्ट रूप से रीति नाम से विवेचन तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु प्रवृत्ति के अन्तर्गत आवन्ती,

---

१ मा निषाद ! प्रतिष्ठात्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ (वाल्मीकीय रामायण)

दाक्षिणात्या, पाञ्चाली, उड्मागधी ये चार शैलियाँ मानी गई हैं।[1] नाट्य-शास्त्र में पृथ्वी के नाना देशों के वेश-भूषा, भाषा, आचार-वार्त्ता को प्रकट करने वाली प्रवृत्ति कही गई है।[2] इस प्रकार देश की प्रमुख विशेषताओं के आधार पर शैली का निर्माण हो चुका था, और उसके शास्त्रीय विवेचन की रूपरेखा नाट्य-शास्त्र से प्रारम्भ होती है। नाट्य-शास्त्र के इस विवेचन के आधार पर अग्निपुराणकार ने रीति का स्पष्ट विवेचन किया है। वहाँ पर 'वक्तृत्व कला' के रूप में रीति का स्वरूप स्वीकार कर रीति के चार भेद स्वीकार किये गये हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी।[3] वस्तुतः ये नाम-भेद से नाट्य-शास्त्र की प्रवृत्ति के ही रूप हैं—

अग्निपुराण	नाट्य-शास्त्र
वैदर्भी	दाक्षिणात्या
गौड़ी	उड्मागधी
पाञ्चाली	पाञ्चाली
लाटी	आवन्ती

इस प्रकार अग्निपुराणकार ने चारों रीतियों का पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्दिष्ट कर शास्त्रीय रूप प्रदान किया। रीति का व्यापक अर्थ लेते हुए रीति को समास, अलङ्कार एवं मृदु पदावली से सम्बद्ध किया, जो कि काव्यशास्त्रियों के लिए विवेच्य विषय रहा। बाण ने यद्यपि रीतियों का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है किन्तु रीति के सम्बन्ध में वे अग्निपुराण की ही मान्यता स्वीकार करते हैं। उत्तर भारत के लोग श्लेषप्राय, पश्चिम के लोग अर्थगौरव, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा और पूर्व भारत के लोग अक्षरडम्बर पसन्द करते हैं।[4] बाण का कथन है कि नवीन भावसौन्दर्य, अग्राम्या जाति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकटाक्षरबन्ध इन सबका एकत्र सन्निवेश दुर्लभ है।[5] बाण के इस कथन से हमारे ही मत की पुष्टि होती है। बाण स्पष्ट रूप से रीति का नाम नहीं लेते हैं, किन्तु उनकी विवेचन शैली से यह तात्पर्य प्रस्फुटित होता है कि रीति एक रचना शैली है। उनकी इस शैली के अन्तर्गत रस, गुण, अलङ्कार

---

१. चतुर्विधाप्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्मागधी ॥ (नाट्य-शास्त्र १४।३६)

२. पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। (नाट्य-शास्त्र)

३. वाग्विद्या सम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापिचतुर्विधा ॥ (अ० पु० ३४०।१)

४. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौड़ेष्वक्षरडम्बरः (हर्षचरित)

५. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटोरसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥ (बाणभट्ट)

आदि सभी समाविष्ट हैं। उस समय रीति के विभाजन का आधार प्रादेशिक था किन्तु भामह ने स्वयं उसको महत्त्व नहीं दिया है। भामह इस प्रादेशिक आधार को मान्यता न देते हुए रीति का व्यापक अर्थ लेते हुए रीति के अर्थ में 'काव्य' का प्रयोग करते हैं। वे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के अनुसार काव्य का स्वरूप निर्धारित कर काव्य के प्रकारों में गौड और वैदर्भ का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि अमुक काव्य वैदर्भ होने से श्रेष्ठ है और अमुक गौड होने से हेय, यह उचित नहीं है। कोई भी वस्तु नाममात्र से सुन्दर या असुन्दर नहीं होती। वैदर्भ काव्य में भी यदि स्पष्टता (प्रसादगुणयुक्त) सरलता एवं कोमलता हो, पुष्टार्थता एवं वक्रोक्ति न हो तो वह संगीत के समान केवल श्रुतिमधुर होता है। इसी प्रकार गौड काव्य भी अलङ्कार युक्त अग्राम्य अर्थवान् न्यायसम्मत तथा अनाकुल होने से श्रेष्ठ होता है। अन्यथा इन गुणों से हीन वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं होता है।[1] अतः भामह के अनुसार दोनों प्रकार के काव्य अपने अपने स्थान पर प्रशस्त हैं। भामह के इस 'काव्य' शब्द का तात्पर्य समझने के लिए उनकी पूर्वापर शब्द-योजना पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। काव्य के ये दो ही प्रकार हैं, यह उनकी शब्द योजना से स्पष्ट नहीं होता है। जहाँ वे अलंकारवादी आचार्य हैं वहाँ वे शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के साथ साथ काव्य में निर्दोषता एवं गुणयुक्तता का भी विधान करते हैं और अलंकार प्रसादादिगुण युक्त एवं ग्राम्यादि दोषरहित (अग्राम्य) काव्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इनके ये दो प्रकार तो उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् इनके अतिरिक्त काव्य के और भी प्रकार हो सकते हैं जैसा कि दण्डी की शब्द-योजना से स्पष्ट होता है। 'यद्यपि वाणी के अनेक मार्ग हैं और उनमें सूक्ष्म भेद भी होता है किन्तु वैदर्भ और गौड दो ही मार्ग प्रशस्त हैं क्योंकि इन दोनों का भेद स्पष्ट है।'[2] दण्डी के इस कथन में यही तात्पर्य प्रस्फुटित होता है कि शब्द रचना के अनेक मार्ग हैं अर्थात् रचना का अनेक शैलियों में विभाजन किया जा सकता है। और यही दण्डी की रीति विवेचना है। दण्डी का यह विवेचन भामह के मत की स्पष्टता का पूरक है। इस प्रकार भामह रीति के व्यापक अर्थ का ही समाधान करते हैं।

इन शैलियों का विवेचन भामह एवं दण्डी के पूर्व भी विद्यमान था। उस समय भी विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की शैलियाँ प्रचलित थीं। आज भी विभिन्न प्रान्तों की विभिन्न भाषाएँ एवं विभिन्न रचना शैलियाँ विद्यमान हैं। उस समय विभिन्न

---

१ अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥ (का० अ० भा० १।३४–३५)

२ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥ (का० आ० १।४०)

देशों की रचनापद्धतियों में विशेषताएँ थीं जिन्हें कि बहुमत मान्य करता था। उन्हीं के आधार पर इन शैलियों का विभाजन हुआ होगा, किन्तु बाद में काव्य-पद्धतियों के विकास के साथ-साथ उन विशेषताओं का बन्धन भी शिथिल हुआ, कवियों के स्वभाव एवं रुचि के अनुसार उनमें परिवर्त्तन हुआ, किन्तु परिवर्त्तन के बाद भी नाम उसी रूप में रहे। जब उनका शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ हुआ; अग्नि-पुराण के समय वे केवल देश-विशेष से सम्बद्ध न रहकर रचनाशैली से सम्बद्ध हो गये। भामह, जिन्होंने प्रायः अग्निपुराण का अनुसरण किया है, वे भी अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए देश-विशेष की सीमा में नियन्त्रित शैली विभाजन का विरोध करते हैं। किन्तु उस समय उसका स्वरूप क्या रहा, यह सम्भवतः आज के आलोचकों को ज्ञात नहीं है। तत्तद्देश की वेश-भूषा, रहन-सहन एवं भाषण-शैली विभिन्न प्रकार की होती रही है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि इनका यह स्वरूप रूढ़ हो गया होगा, जैसाकि पतञ्जलि के इस कथन से स्पष्ट होता है कि देश-देशान्तरों में एक ही शब्द विभिन्न प्रकार से उच्चरित होते रहे हैं।[1] क्या यह उस देश की उच्चारण शैली नहीं कही जा सकती? इसी प्रकार तत्तद्देश की रचना-शैली भी पृथक्-पृथक् रही होगी। काव्यशास्त्रियों ने उसे नियन्त्रण में बाँध कर उसे रीति के स्वरूप में सीमित कर दिया। और उसे शास्त्रीय विवेचन का स्वरूप दे दिया। यद्यपि यह कार्य नाट्य-शास्त्र एवं अग्निपुराण के समय ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु श्रेय भामह एवं दण्डी को मिला। भामह ने उसके उसी व्यापक अर्थ का स्वरूप शास्त्रीय रूप में परिणत किया, किन्तु दण्डी उसका स्वरूप गुणों तक ही सीमित रखते हैं। जहाँ भामह के विचार से रीति (काव्य) का स्वरूप अलंकार, गुण एवं दोष आदि के विचारों तक निर्धारित करते हैं, वहाँ दण्डी ने उनकी अपेक्षा रीति का स्थान सीमित कर केवल वैदर्भ मार्ग को ही दश गुणों से सम्बद्ध कर उसे वैदर्भ मार्ग का प्राण बताया है।[2] दण्डी की इस शिथिल विचारधारा को ध्यान में रखकर वामन ने रीति को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में देखा।[3] यही नहीं, बल्कि वामन ने रीति की व्यापकता को पुनः प्रस्फुटित कर उनके अन्तर्गत काव्य की सभी रूपविधाओं का समावेश कर दिया। वामन के मत में रीति तीन प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली। उनके अनुसार समस्त काव्यसौन्दर्य इन तीन रीतियों में इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र

---

१. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे चेतिप्रयोक्तव्ये लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते। ....सर्वेऽपि स्वल्वेते शब्दाः देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। ....यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जन्ते।

(महाभाष्य पस्पशाह्निक)

२. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः। (काव्यादर्श)

३. रीतिरात्मा काव्यस्य। (का० अ० सू० १।२।६।)

प्रतिष्ठित होता है।[1] वामन के अनुसार रीति का अर्थ है रचना शैली, जो गुणाश्रित है, गुण काव्य सुशोभित करने वाले नित्य धर्म हैं। दोष गुणाभाव के रूप हैं। गुण के योग एव दोष के त्याग से काव्य म सौन्दय आता है। अत सौन्दर्य रस तथा बाह्य-सौन्दय अलकार हैं।[2] इस प्रकार वामन की इस शब्द-योजना के अन्तर्गत गुण, दोष, रस अलकार आदि सभी समाविष्ट हैं।

वामन के पश्चात् आनन्दवद्धन पदसघटना को रीति मानते हैं। वामन की पद-रचना और आनन्द की सघटना एक ही हैं, किन्तु जहाँ वामन रीति को गुणाश्रित मानते हैं वहाँ आनन्द गुणाश्रित होन हुए भी रसाभिव्यक्ति का साधन बताते हैं।[3] उन्हें रीति की आत्मतत्त्व वाली मान्यता मान्य न हुई और उन्होने ध्वनि को आत्मा के स्थान पर आरोपित कर ध्वनिवाद का प्रवत्तन किया। ध्वनिवाद के इस युग म रीति के शास्त्रीय महत्त्व म शिथिलता हुई और इसी युग म कुन्तक ने, जिन्हे ध्वनि के आत्म-तत्त्व का पक्ष स्वीकार नहीं है वक्रोक्ति को आत्मस्थान प्रदान किया।[4] कुन्तक ने यद्यपि वक्रोक्ति को काव्य का जीवन स्वीकार किया किन्तु उन्होंने रीति की भी व्यापकता स्वीकार करते हुए उसे 'कविप्रस्थान' हेतु कहा है। इसका अर्थ होता है जिससे कवि प्रस्थान करे। दूसरे शब्दो म यह रचना शैली है। क्योंकि मानव स्वभाव के आधार पर सुकुमार आदि तीन माग रचना शैली से पृथक् नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार कुन्तक ने प्रकारान्तर से रीति की व्यापकता को स्वीकार किया है। राजशेखर 'वचनविन्यास-क्रम' को रीति मानते हैं।[5] यह वचनविन्यासक्रम रचना शैली से पृथक् नहीं है। वचन का अथ है शब्द और विन्यासक्रम का अर्थ है रचना। इस प्रकार शब्द-रचना, रचना शैली से भिन्न नहीं कही जा सकती।

मम्मट रीति का पृथक् विवेचन न कर अनुप्रासालकार के अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला इन तीन वृत्तियों का प्रतिपादन करते हैं। ये ही तीन रीतियाँ वामन आदि आचार्यों के मत मे मान्य तीन रीतियाँ हैं।[6] ऐसी मान्यता प्रदान कर मम्मट नियत वणगतरसविषयक व्यापार को वृत्ति मानते हैं।[7] मम्मट ध्वनिवादी

---

१ एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रकाव्य प्रतिष्ठितमिति।
(का० अ० सू० वृ० १।२।१३)

२ का० अ० सू० प्रथमाधिकरण।

३ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसादीन् । (ध्व० ३।६)

४ वक्रोक्ति. काव्यजीवितम्। (कुन्तक)

५ वचन विन्यास क्रमोरीति । (काव्यमीमासा)

६ एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वदर्भी गौडीया पाञ्चाल्याख्या रीतय उच्यन्ते।
(काव्यप्रकाश, नवम उल्लास)

७ नियतवणगतोरसविषयको व्यापार (काव्यप्रकाश वृत्ति)

आचार्य हैं। वे रीति की व्यापकता-अव्यापकता को अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहते थे। उन्हें तो ध्वनिवाद की स्थापना कर व्यञ्जना सिद्धि करना था। सम्भवतः उन्हें रीति की व्यापकता का ध्यान रहा हो और उसे शैली के रूप में स्वीकृत कर सभी काव्यतत्त्वों को उसी में समाविष्ट कर ध्वनि काव्य का विवेचन किया हो और वृत्ति का विवेचन पृथक् रूप से किया हो। विश्वनाथ रसों का उपकार करने वाले अङ्ग-संस्थान के समान पदों की संघटना को रीति मानते हैं।[1] विश्वनाथ यद्यपि काव्य के अनेक भेद मानते हैं जो शैली के परिचायक हैं। लौकिक साहित्य की प्रभातकालीन 'रसमयी शैली' को काव्य का स्वरूप माना है किन्तु रीति नाम से नहीं। सम्भवतः उन्होंने मौलिकता दिखाने के लिए ही ऐसा किया होगा और रीति को रसोपकारक काव्य के रूप में। जहाँ वामन ने उसे आत्मा का स्थान प्रदान किया था, विश्वनाथ अंगसंस्थान तक ही सीमित रखते हैं।

इस प्रकार रीति के स्वरूप का विवेचन कर हम देखते हैं कि वह काव्य की आत्मा है, काव्य के कलेवर को मनोरूप देने वाली सज्जा है, उसके प्रभाव में मादक स्पन्दन उत्पन्न करने वाली गति है। वेद की ऋचाओं में उनका जन्म हुआ और कवियों ने उसी के आश्रय में अपने-अपने काव्य को चमत्कृत किया है। ऐसा स्वीकार करने में कि सम्भवतः आचार्यों ने उसके चमत्कारी स्वरूप की चकाचौंध के कारण ही उसकी अनेक नामों से संस्तुति की है, उसे अनेक आभरण पहनाये है, उसके अंग-प्रत्यङ्गों में से किसी को कोई अत्यन्त रुचिर प्रतीत हुआ तो किसी को कोई, हमारे सम्मुख कोई बाधा नहीं है।

---

१. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थान विशेषवत्।
उपकर्त्रीरसादीनां। (सा० द० ९।१)

सस्कृत काव्य-शास्त्र मे वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

सस्कृत का काव्यशास्त्र ससार का सबम अधिक समृद्ध काव्यशास्त्र है। भरत मुनि स लकर भामह, दण्डो, वामन, उद्भट रुद्रट, आनन्दवधन, अभिनवगुप्त, मम्मट क्षमेन्द्र कुन्तक प्रभृति अनेक आचार्यों न अपनी मौलिक प्रतिभा और सार-ग्राहिणी मनीषा से इस शास्त्र की विभिन्न अज्ञात दिशाओ का रहस्योद्घाटन किया है। काव्य के विभिन्न पक्षो का जैसा गम्भीर चिन्तन और सिद्धान्त-निर्धारण इन आचार्यों न किया है वैसा अन्य किसी भी भाषा के आचार्य नही कर सके। इन सब विद्वानों ने जिस दिशा मे प्रस्थान किया है, उसका एक एक कोना वे देख आये हैं। किसी न यह अनुभव किया है कि 'रस' काव्य की आत्मा है तो किसी न अलकार, गुण, रीति ध्वनि, औचित्य या वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। मान्यताओ के इस विभेद के कारण सस्कृत-काव्यशास्त्र के निम्नाकित छ प्रमुख सम्प्रदाय हो गय हैं—

(१) रस-सम्प्रदाय—इसक प्रवत्तक भरतमुनि माने जात हैं।
(२) अलकार-सम्प्रदाय—भामह ने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रवर्त्तन किया तथा उद्भट और रुद्रट ने अपनी टीकाओं से उसका समथन किया।
(३) रीति-गुण-सम्प्रदाय—दण्डी और वामन इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।
(४) ध्वनि-सम्प्रदाय—इसके प्रवत्तक आनन्दवधन और समर्थक अभिनवगुप्त थे।
(५) औचित्य-सम्प्रदाय—आचाय क्षमेन्द्र न इस सम्प्रदाय के सिद्धान्ता को शास्त्रीय रूप देकर काव्यशास्त्र के एक नये पथ का उद्घाटन किया।
(६) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय—आचाय कुन्तक इस सम्प्रदाय के प्रवत्तक माने गये हैं।

इन छ सम्प्रदायो के सिद्धान्तो म परस्पर बहुत मतभेद पाया जाता है। प्रत्येक सम्प्रदाय काव्य की आत्मा का निर्धारण अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार करता है। किन्तु साहित्यशास्त्र का निष्पक्ष दृष्टि से मन्थन करने वाले विभिन्न

आचार्यों की अब तक की उपलब्धियों से यह स्पष्ट है कि इन सबमें वक्रोक्ति-सिद्धान्त ही सर्वाधिक व्यापक तथा सामंजस्यपूर्ण काव्य-सिद्धान्त है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्तक काश्मीर के निवासी थे। उन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ की रचना करके इस सिद्धान्त का प्रचलन किया था। इसमें पूर्ववर्ती सभी काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है। इसलिए कुन्तक ही प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में फैले हुए विवादों का एक सामंजस्यपूर्ण समाधान खोजने की चेष्टा की। उन्होंने यह घोषणा की थी कि—

वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्

तथा

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।

कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त कितना महत्त्वपूर्ण है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इस सिद्धान्त ने केवल संस्कृत-काव्य-सिद्धान्तों में ही समन्वय उपस्थित नहीं किया, अपितु आधुनिक प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के मतान्तरों में भी सामंजस्य उपस्थित करने की बहुत बड़ी क्षमता उसमें निहित है। आधुनिक विद्वानों ने भी यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वाधिक मौलिक सिद्धान्त है।

कुन्तक से पहले वक्रोक्ति का अस्तित्व अन्य किसी कवि या आचार्य ने स्वीकार न किया हो ऐसी बात नहीं है। बाण की कादम्बरी में 'वक्रोक्ति निपुणेन विलासी जनेन' कहकर इस शब्द का सैद्धान्तिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। सुबन्धु की रचनाओं में भी इस शब्द के सन्दर्भ मिलते हैं। काव्यालंकार के रचयिता भामह ने 'इष्टावाचामलंकृति' कहकर शब्द और अर्थगत वैचित्र्य के रूप में वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल सिद्ध किया है। उनकी मान्यता है कि वक्रोक्ति से रहित चमत्कारहीन वाक्य काव्य के स्तर से गिर जाता है और 'वार्ता' मात्र रह जाता है। वे कहते हैं—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते। (काव्या० २।८७)

भामह का विश्वास था कि वक्रोक्ति के बिना काव्य में सौन्दर्य नहीं आ सकता। उन्होंने लिखा है कि—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥
(काव्या० २।८५)

इस प्रकार भामह ने ही जो अलंकारवादी थे वक्रोक्ति के अन्तर्गत शब्द और अर्थ का अन्तर्भाव करके समन्वय का वह मार्ग खोल दिया था जिसको आगे चलकर कुन्तक ने स्वीकार किया किन्तु भामह की मान्यताएँ वक्रोक्ति को अलंकार की सीमा से आगे न ले जा सकी थीं। उन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति का समान अर्थ में प्रयोग किया था तथा वक्रोक्ति के बिना अलंकार का अस्तित्व अस्वीकार कर दिया था।

भामह के पश्चात् दण्डी का नाम आता है जिन्होंने अपने 'काव्यादर्श' ग्रन्थ में सम्पूर्ण वाङ्मय को स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति के दो भेदों में विभाजित कर वक्रोक्ति की महिमा स्वीकार की। उन्होंने लिखा है—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥
(काव्या० २।३६२)

भामह स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से भिन्न नहीं कर पाये थे, किन्तु दण्डी ने दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता का उद्घोष किया। नवीं शताब्दी में आचार्य वामन ने अपने 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' ग्रन्थ में 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' कहकर वक्रोक्ति को अलंकार के रूप में स्वीकार किया परन्तु उनकी मान्यता में कोई मौलिकता नहीं थी। इसी शताब्दी के एक दूसरे आचार्य रुद्रट ने भी वक्रोक्ति को अलंकार तक ही सीमित रखा। आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्याय बताकर भामह के मत का अप्रत्यक्ष में समर्थन किया। अभिनवगुप्त ने भी वक्रोक्ति को स्वीकार किया किन्तु शब्द और अर्थ की लोकोत्तर अतिशयता से आगे वे भी उसे न ले जा सके।

अतः वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले प्रथम आचार्य कुन्तक ही हैं। उन्होंने इस मान्यता का खण्डन किया कि वक्रोक्ति शब्दालंकार या अर्थालंकार मात्र है। उन्होंने वक्रोक्ति को एक व्यापक अर्थ में स्वीकार किया तथा 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकि', 'अतिक्रान्तप्रसिद्ध व्यवहारसरणि' आदि कहकर उसकी नये ढंग से व्याख्या की।

कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त की व्यापकता उनके काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण

की व्यापकता पर आधारित है। वे शब्द और अर्थ दोनों के समुचित समन्वय को काव्य की संज्ञा देने वाले प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ में लिखा है कि—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यंतद्विदाह्लादकारिणि॥
(वक्रो० जीवि०, १।७)

इस प्रकार कुन्तक के मतानुसार शब्द और अर्थकाव्य का शरीर हैं, अतः वे अलंकार्य की सीमा में आते हैं और वक्रोक्ति ही उस शरीर का एकमात्र अलंकार है। उन्होंने लिखा है—

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भंगी-भणितिरुच्यते॥
(व० जी०, १।१०)

इस युक्ति के आधार पर वक्रोक्ति के सम्बन्ध में कुन्तक की धारणा को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। ध्यान देने की बात है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति को जिस रूप में अलंकार कहा है, उस रूप में वह पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं से बहुत भिन्न है। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्द या अर्थगत अलंकार न मानकर इन दोनों से बनने वाले काव्य शरीर की आत्मा माना है। जिस प्रकार शरीर की समस्त शोभा प्राण पर निर्भर है, उसी प्रकार काव्य की शोभा उसकी वक्रोक्ति रूपी आत्मा पर निर्भर है। इसलिए कुन्तक ने कवि-कर्म की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार के ऊपर आश्रित एक विशेष कथन-शैली के रूप में वक्रोक्ति की महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत योजना, प्रबन्ध कल्पना आदि सबको वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्थान दिया है। अतः उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति का आशय केवल वक्र उक्ति (टेढ़ी बात) अर्थात् किसी बात को सीधे ढंग से कहने के स्थान पर वक्र ढंग से कहना मात्र नहीं है। वे अभिनव गुप्त की इस मान्यता से वक्रोक्ति की अर्थ-सीमा को बहुत आगे खींच ले गये हैं—

"शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणवस्थानमिति अयमेवासौ अलंकारस्यालंकारान्तर भावः॥"

अतः वक्रोक्ति केवल "वाक्-चातुर्य" अथवा "उक्ति-चमत्कार" नहीं है। कुन्तक ने उसे कवि-व्यापार या कवि-कौशल के रूप में स्वीकार किया है। वे एक

ओर तो रस को वक्रोक्ति का प्राण रस मानते हैं और दूसरी ओर कवि-कल्पना को भी स्वीकार करते हैं। या रसगत भावना और अलकारगत कल्पना का सामजस्य उनकी वक्रोक्ति म मिलता है। ध्यान रखने की बात यह है कि उन्होंने रस को अग रूप म स्वीकार किया है तथा अगी वक्रोक्ति को ही माना है। उनके मतानुसार रस के बिना भी वक्रता की रक्षा हो सकती है, किन्तु व एसी वक्रता को आदरणीय नही मानते।

वास्तव म कुन्तक ने अपने पूववर्ती रस, अलकार तथा ध्वनि सिद्धान्तो की एकागिता को देख और समझ कर दोनो का समन्वय करने के लिए अपना वक्रोक्ति-सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। रस अलकार या ध्वनि को पृथक्-पृथक् काव्य की आत्मा मानने से काव्य की विराट् सत्ता खण्डित हो रही थी। कुन्तक ने अपने सिद्धान्त म काव्य की पूर्ण सत्ता को स्वीकार किया। यही कारण है कि उनका वक्रोक्ति-सिद्धान्त काव्य के कला-पक्ष पर अधिक बल देता हुआ भी उसके वस्तु तथा भावपक्षो की पूर्ण रक्षा करता है। उनकी वक्रोक्ति का क्षेत्र काव्य की समस्त परिधि को ढके हुए है। व यह नही मानते कि वचन की वक्रता केवल शब्द या अर्थ तक सीमित रहती है। उनकी मान्यता है कि जब भाव या रस उद्दीप्त होता है तो उक्ति की वक्रता स्वत उत्पन्न हो जाती है। अत रस निष्पत्ति के सिद्धान्त म विश्वास रखने वालो स कुन्तक का कोई विरोध नहीं है और न अलकारवादियो का सिद्धान्त ही उनकी वक्रोक्ति की सीमा के बाहर पहुचता है। उनके मत से एक ओर तो रस विहीन काव्य केवल शब्द या अर्थ की क्रीडा का चमत्कार रह जाता है और दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि कवि-कौशल के अनिवार्य धर्म वचन-वक्रता के बिना काव्य मे रस या भाव की स्थिति सम्भव नही हो सकती।

कुन्तक न वक्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन ध्वनि सिद्धान्त क आधार पर किया है। उन्होन वक्रोक्ति के क्षेत्र को उन्ही सीमाओ तक विस्तृत किया है जिन सीमाओ तक ध्वन्यालोककार न ध्वनि को व्यापक बनाया है। इससे भी कुन्तक की समन्वयात्मिका वृत्ति का पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्तक रस अलकार, ध्वनि आदि का महत्त्व तो पहचानते थ किन्तु वे उसकी एकागिता स असन्तुष्ट थ। वे किसी एसे सूत्र की खोज म थे, जो इन सबकी विश्रृङ्खलता को समाप्त कर काव्य की अखण्ड सत्ता का उद्घोष कर सक। वक्रोक्ति-सिद्धान्त उनक उसी प्रयत्न का सुपरिणाम है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को छ भेदो म विभाजित किया है। वे भेद इस प्रकार हैं—

(१) वर्ण वक्रोक्ति—यह वक्रोक्ति व्यजन वर्णों के सौन्दर्य पर आश्रित है।

प्राचीन विद्वानों ने अनुप्रास एवं यमक को इसके अन्तर्गत माना है। कुन्तक की मान्यता है कि अनुप्रास का विधान कवि को अधिक निर्बन्ध होकर नहीं करना चाहिये। उसे पूर्ण आवृत्त वर्णों का मधुर तथा सुन्दर ढंग से प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने लिखा है कि—

नातिनिर्बंधविहिता नाप्यपेशल भूषिता।
पूर्वावृत परित्याग नूतनावर्त्तनोज्वला॥
(व० जी०, २-४)

कुन्तक ने यमक में सौन्दर्योद्भावना के लिए प्रसाद गुण, सुकुमारता तथा औचित्य की आवश्यकता भी बतलाई है।

(२) पद-पूर्वार्द्ध वक्रोक्ति—यह वक्रोक्ति पद के पूर्वार्द्ध की वक्रता में निहित रहती है। पर्याय, रूढ़ि, उपचार, विशेषण, संवृति, लिंग तथा क्रिया इत्यादि के विशेष प्रयोगों का वर्णन इसमें स्थान पाता है। इन्हीं के अनुसार उसके रूढ़ि-वैचित्र्य, पर्याय-वक्रोक्ति, उपचार-वक्रोक्ति, विशेषण-वक्रोक्ति, संवृति-वक्रोक्ति, प्रत्यय-वक्रोक्ति, वृत्ति-वक्रोक्ति, भाववैचित्र्य-वक्रोक्ति, लिंग-वैचित्र्य वक्रोक्ति तथा क्रिया वक्रोक्ति आदि कई भेद हो जाते हैं। इन भेदों के अनुसार कवि पर्याय, रूढ़ि आदि का सहारा लेकर वचन की वक्रता दिखलाता है। उदाहरणार्थ, रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रोक्ति वहाँ होती है, जहाँ कवि किसी वस्तु का अलौकिक ढंग से तिरस्कार करना चाहता है या उत्कर्ष दिखाना चाहता है। कुन्तक ने निम्नांकित श्लोक में यही वक्रोक्ति सिद्ध की है—

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

इस श्लोक में द्वितीय कमल शब्द लक्ष्मीपात्रत्व आदि गुणोपेत कमल का अर्थ देता है। यह कमल की लोकोत्तर प्रशंसा है, जो रूढ़ि पर आश्रित है। अतः इसमें रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रोक्ति है।

(३) पद-परार्द्ध वक्रोक्ति—पद के उत्तरार्द्ध में प्रत्यय के द्वारा जब वक्रता प्रकट की जाती है, तब पद-परार्द्ध वक्रोक्ति या प्रत्यय-वक्रोक्ति कहते हैं। यह वक्रोक्ति काल-वैचित्र्य, कारक, संख्या, पुरुष, धातु-पद (उपग्रह), प्रत्यय एवं पद के अनुसार सात प्रकार की होती है। कारक के अनुसार पद-परार्द्ध वक्रता का एक उदाहरण लीजिए—

स्तन द्वन्द्वम् मन्द स्नपयति बलाद् वाष्पनिवहो ।
हठादन्त कण्ठ लुठति सरस पञ्चमरव ॥
शरज्ज्योत्स्नापाण्डु पतति च कपोल करतले ।
न जानीमस्तस्या क इव हि विकार व्यतिकर ॥

इसका भाव यह है कि प्रियतम के विरह म किसी तन्वगी की देह-लता की मनोहर मुद्रा उन्मीलन को प्राप्त हुई है। उसके नेत्रो म निकल कर अश्रु उसके दोनो स्तनो को धो रहे हैं। सरस पचम स्वर कण्ठ के अन्दर हठ-पूर्वक लोट रहा है। शरच्चन्द्रिका क समान पीत कपोल हथेली पर गिर रहा है। उस (नायिका) के हृदय म कितने विकार उठ रहे हैं, यह किसी को ज्ञात नहीं। इस उदाहरण म अश्रु, स्वर तथा कपोल को चेतन व्यक्ति की क्रियाएँ करते हुए दिखाया गया है। अत यहाँ कारक की सहायता से वक्रता प्रकट हुई है।

(४) वाक्य-वक्रोक्ति—जब वाक्य के अन्दर वचन की वक्रता पाई जाती है तब वाक्य-वक्रोक्ति होती है। इसी वक्रोक्ति क अन्तर्गत कुन्तक न अलकारों को सम्मिलित किया है। उसने इनके कई भेद माने हैं। वाक्य का प्रयोग जितने प्रकार स हो सकता है, उतने ही प्रकार की वाक्य-वक्रोक्ति भी सम्भव है। कुन्तक ने इसके अन्तगत रस तथा वस्तु के वचित्र्य को भी सम्मिलित किया है।

(५) प्रकरण-वक्रोक्ति—प्रबन्ध क अन्तर्गत प्रकरण की चारुता को प्रकरण वक्रोक्ति माना जाता है। विभिन्न प्रकरणो के सहयोग से ही प्रबन्ध को प्रकृष्टता प्राप्त होती है। जिन प्रसगो से प्रकरण उपादेय तथा सुन्दर हो सकता है, उनका कुन्तक न विस्तार स उल्लेख किया है। उन्होंने बताया है कि प्रकरण की वक्रता उत्पन्न करन के लिए कवि को नायक के चरित्र म सौन्दर्याधायक प्रसगो का आयोजन करना चाहिए तथा प्रकरण को रस निर्भर बनाकर एव मूल इतिवृत्त के अनुचित प्रकरण म परिवर्तन करके नवीन प्रकरण की कल्पना करनी चाहिये।

(६) प्रबन्ध-वक्रोक्ति—इसे कुन्तक न सब स अधिक व्यापक वक्रोक्ति माना है। यह समस्त काव्य पर आधारित होती है। यह प्रबन्ध वक्रोक्ति कृति क अगीभूत सौन्दर्य की परिचायिका है। उसे सौन्दर्य-बोध की सबसे अधिक व्यापक दृष्टि भी कहा जा सकता है। कवि मूल कथानक क रस को बदलकर जब नूतन चामत्कारिक रस की सृष्टि करता है तब यह वक्रोक्ति मानी जाती है। प्रबन्ध वक्रोक्ति म कुशल कवि कथा क नीरस अशों को छोड़कर केवल सरस अशो की अभिव्यक्ति करता है। वह कथा क नायक को अभीष्ट फल के अतिरिक्त अन्य कई फलो की भी अनायास

उपलब्धि करा देता है। प्रबन्ध का नामकरण भी वह किसी विशेष घटना पर आधारित करता है।

वक्रोक्ति के इन प्रमुख भेदों को देखने से पता चलता है कि—

(१) वक्रोक्ति कथन के किसी-न-किसी वैचित्र्य या असाधारणता पर आधारित होती है।

(२) वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार काव्य-वस्तु का विकास कवि की विशेष दृष्टि से एक विशेष रूप में होता है।

(३) वक्रोक्ति-सिद्धान्त में रस और ध्वनि का समाहार हो जाता है तथा सौन्दर्य-बोध का व्यापक दृष्टिकोण भी विकसित होता है।

(४) वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार काव्य में कवि-व्यापार का विशेष महत्त्व है।

(५) कुन्तक ने भाव, अलंकरण और कल्पना तीनों का अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त में समन्वय कर दिया है।

अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति-सम्प्रदाय काव्य-शास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। वक्रोक्ति को व्यापक रूप में स्वीकार करने वाले कुन्तक तथा अन्य आचार्य उस विवेक से समृद्ध हैं, जिस विवेक से किसी वस्तु की रचना के सिद्धान्तों का निष्पक्ष वैज्ञानिक पद्धति से अनुशीलन किया जा सकता है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने अलंकार, रस, ध्वनि आदि सिद्धान्तों की एकांगिता का निवारण करके काव्य के पूर्ण स्वरूप तथा तत्त्वों का परिचय दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद को "पाश्चात्य विचारक क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विलायती उत्थान" बताकर वक्रोक्ति की उस व्यापकता की उपेक्षा की है, जिसका कुन्तक ने बार-बार संकेत किया है। दुःख है कि आचार्य कुन्तक के पश्चात् इस सम्प्रदाय का अधिक प्रचार सम्भव नहीं हुआ। आधुनिक नया साहित्य जिन नये आयामों से निकल रहा है, उनकी अधिकांश पृष्ठभूमि वक्रोक्ति में निहित है। अतः यह आशा की जा सकती है कि जब हिन्दी के नये साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन किया जायगा, तब संस्कृत के वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थायी महत्ता का पूर्ण रहस्योद्घाटन सम्भव होगा।

सस्कृत काव्य-शास्त्र मे औचित्य-सम्प्रदाय

डा० चन्द्रहस पाठक

सस्कृत काव्य शास्त्र म औचित्य की चचा करने स पूव यह आवश्यक है कि पन्त सम्प्रदाय शब्द पर थोडा विचार कर लिया जाय। अधिकांश विद्वान् सिद्धान्त और सम्प्रदाय शब्द म कोई तात्त्विक भेद नहीं समझते। रस और अलकार सिद्धान्त क्रमश रस-सम्प्रदाय और अलकार सम्प्रदाय भी कहलात है। पर वस्तुत यह एक परम्परा की बात है जो बहुत लचर है। सिद्धान्त और सम्प्रदाय दो विभिन्न वस्तुएँ हैं भल हा सिद्धान्त के आधार पर किमी सम्प्रदाय का निर्माण होता हो और सम्प्रदाय का ही कोइ सिद्धान्त क्या न हा। इन दोना म व्याप्य-व्यापक अथवा अगागिभाव सम्बन्ध है। सिद्धान्त अग या व्याप्य है और सम्प्रदाय अगी अथवा व्यापक। सिद्धान्त का क्षेत्र कम है और सम्प्रदाय का अधिक। किसी भी तत्त्व का स्वतन्त्र विचार सिद्धान्त कहा जा सकता है परन्तु जब तक वह सिद्धान्त अपने भीतर अन्य सम्बद्ध सिद्धान्तों को इस प्रकार नहो समेटता है कि वे सिद्धान्त सापेक्ष रूप म उस एक ही सिद्धान्त के भीतर समाविष्ट हो जायें और एक ही सैद्धान्तिक मान्यता का अनुविधान करने लग तब तक वह सम्प्रदाय नही कहला सकता। भरतमुनि ने रस तथा अलकार दोनो का विचार किया है। परन्तु उनकी दोनो स्थापनाएँ सिद्धान्त ही रही जायगी सम्प्रदाय नहीं। इन दोनो सिद्धान्तो का साम्प्रदायिक रूप देने वाले आचाय हैं विश्वनाथ और जयदेव। विश्वनाथ के यहाँ काव्यमात्र रसात्मक होना चाहिये और जयदेव की दृष्टि म काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व एक मात्र अलकार ही है। इस प्रकार सम्प्रदाय काव्य क समष्टि रूप का स्वरूप उपस्थित करता है किन्तु सिद्धान्त म इस प्रकार भावा नहीं रहता। औचित्य सम्प्रदाय भी एक ऐसा ही सम्प्रदाय है जो काव्य शास्त्र के समस्त सिद्धान्तो को अपने भीतर समेट कर काव्य के समष्टि रूप का स्वरूप उपस्थित करता है। यहाँ हम औचित्य सिद्धान्त के सम्प्रदाय बनने तक की प्रक्रिया का सक्षिप्त विचार कर रहे हैं।

यदि विद्वानो का यह कथन सत्य मान लिया जाय कि सम्प्रदाय शब्द से वह

सिद्धान्त अभिहित किया जाना चाहिये, जिसका आगे चलकर अन्य आचार्यो द्वारा अनुकरण एवं अनुगमन हुआ हो तथा इसके द्वारा उनकी मान्यताओं का परिवर्धन हुआ हो,"[१] तो हमारे प्रतिपाद्य को और भी अधिक बल मिल जाता है। क्योंकि औचित्य के भावदर्शी आचार्यों में भरत, भामह, दण्डी एवं प्रत्यक्षदर्शी आचार्यों में रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट और भोज प्रमुख माने जाते हैं। इन सबके औचित्य सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि औचित्य का सैद्धान्तिक इतिहास भी एक सहस्र वर्ष से भी अधिक अवधि को अपने भीतर समाविष्ट किये हुए है। पर इस का साम्प्रदायिक स्वरूप आचार्य क्षेमेन्द्र ने ही स्पष्ट किया है, जिसकी प्रसंगतः चर्चा आगे की जायेगी।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र का शृंखलाबद्ध विवेचन भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र से प्रारम्भ होता है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य नाट्य-शास्त्र है, अतः नाट्यांगों के भीतर सापेक्ष सम्बन्धों के रूप में उनकी औचित्य भाव की दृष्टि प्रसार पा सकी है। औचित्य शब्द का सिद्धान्त के रूप में यद्यपि साक्षात् अभिधान भरतमुनि ने नहीं किया है किन्तु पर्याय वृत्ति से इसके अर्थ या भाव की प्रतिष्ठा जितनी उन्होंने की है, उसके सामने आचार्य क्षेमेन्द्र की स्थापना भी हल्की पड़ती है। क्षेमेन्द्र के औचित्य का सारांश यही निकलता है कि वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध अनुरूप होना चाहिये।[२] भरत नाट्य-शास्त्र में इस अनुरूपता के कम से कम सैकड़ों उदाहरण हैं। नाटक-उत्पत्ति, रस, भाव, अभिनय, छन्द, अलंकार, वृत्ति आदि के निरूपण में अनुरूप, अनुसरण, अनुकरण, यथाविधि, यथावसर, यथाचार, यथारूप आदि पर्यायवाची शब्दों से सर्वत्र औचित्य का ही प्रसार दिखाई पड़ता है। औचित्य के निर्णायक तत्त्व का विचार तो आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी नहीं किया, पर भरतमुनि ने नाट्य प्रयोग के निर्णायक के रूप में दो धर्मी माने हैं—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। इन्हीं दो धर्मियों के भीतर समस्त नाटकीय औचित्य के निर्णय हैं। नाट्य-विवादों के अवसरों पर भरतमुनि ने जो विभिन्न पहलुओं के निर्णायकों का विचार किया है, वह भी इन्हीं धर्मियों की प्रत्यक्ष व्याख्या है।[३] भरतमुनि ने जिन ११ नाट्यांगों और उनके उपांगों के विधान का विचार किया है वह भी इसी औचित्य के अनुरोध से है कि ये नाट्यसिद्धि की ओर बढ़ने वाली प्रभावान्विति में अपने को अविरोधी और पोषक रूप में समर्पित कर दें। साहित्य में

---

१. 'संस्कृत काव्य-शास्त्र का सर्वेक्षण' एक लेख, 'साहित्य सन्देश' (जुलाई-अगस्त १९६२, पृष्ठ २५)

२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
(औचित्य विचार-चर्चा, ७)

३. नाट्यशास्त्र, २७, ६३–६७।

क्या रस भी काव्य के लिए उसी प्रकार है जिस प्रकार मनुष्य के लिए पारद रसायन। परन्तु औचित्य तो उस रससिद्ध काव्य का भी मनुष्य के जीवनतत्त्व की भाँति स्थायी जीवन तत्त्व है।

स्पष्ट है कि काव्य के आत्मतत्त्व शृंगारादि रस की अपेक्षा भी क्षेमेन्द्र ने औचित्य की महत्ता बढ़कर मानी है। क्षेमेन्द्र ने अपने गुरु अभिनवगुप्त और अभिनव गुप्त के भी परम व्याख्येय ध्वनिकार के सिद्धान्तों का खण्डन न करते हुए भी अपने औचित्य सिद्धान्त को साम्प्रदायिक होने का महत्त्व प्रदान किया है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि यहाँ बड़ी सूक्ष्म है और दूरदर्शिनी भी। रस को काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार करके भी उनकी मौलिक स्थापना यह है कि जीवित तत्त्व ही उसका व्यवहारक है। आत्मा काव्य का नितान्त किंवा एकान्त अन्तःपक्ष है। बिना जीवन की सत्ता पाये आत्मा व्यवहार्य नहीं हो सकता। जीवन या जीवित तत्त्व ही इसे इस व्यवहार की योग्यता प्रदान करता है। यह बाह्य-आभ्यन्तर और जड़ चेतन का मिश्रित रूप जो ठहरा। संसार स्वयं ही अपने प्रत्येक पर्याय में जीवन का उदाहरण है। इस प्रकार जहाँ रस *काव्य के केवल अन्तःपक्ष की ही सत्ता का बोधक है वहाँ* औचित्यापर पर्याय जीवित काव्य के बाह्य पक्ष को भी अन्तःपक्ष के साथ अविनाभावी रूप में मिलाकर काव्य व्यवहार के भीतर रस को भी व्यवहार्य बनाता है। इसीलिये औचित्य रस का भी जीवित है और रससिद्ध काव्य का भी स्थायी जीवित है। यही इन दो पंक्तियों की सगति है —

'रसजीवितभूतस्यविचारं कुरुतेऽधुना।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"

यही औचित्य का साम्प्रदायिक स्वरूप है जिसे दूसरे शब्दों में औचित्य सम्प्रदाय का सिद्धान्त कह सकते हैं। काव्यशास्त्र के भीतर इसकी प्रधानता भी है और व्यापकता भी। काव्य के आत्मस्थानीय तत्त्व रस का भी यह जीवित तत्त्व है इसलिये काव्य के क्षेत्र में यह सर्वप्रधान है। काव्य के अन्तःपक्ष रसादि की नसों में भी जिस प्रकार यह फैला हुआ है उसी प्रकार उसके बाह्यपक्ष गुणालंकार के स्वरूप में भी यह एकमात्र आधायक तत्त्व है।

जहाँ तक इस सामान्य औचित्य सिद्धान्त की साम्प्रदायिक औचित्य किंवा औचित्य-सम्प्रदाय के साथ संगति का सवाल है वह बहुत ही स्पष्ट है। अपनी सामान्य परिभाषाओं में औचित्य एक सम्बन्ध विशेष ही है। जो जिसके अनुरूप हो वह उचित है और उसी का भाव औचित्य है जो कि अनुरूपता का पर्याय है। यह अनुरूपता

अनेक वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध के रूप में ही नहीं है, बल्कि उनके सम्बन्धों के सम्बन्ध के रूप में भी आती है।

यही किसी सिद्धान्त का साम्प्रदायिक रूप होता है जब वह क्षेत्रीय सम्प्रदायों के मान्यभूत सिद्धान्तों को अपना अंग बनाकर समेटता हुआ चला जाय और जिस क्षेत्र या विषय का वह सिद्धान्त होता है उसका एकमात्र प्रधान तत्त्व बन बैठे। क्षेमेन्द्र के यहाँ औचित्य इसी प्रकार का साम्प्रदायिक सिद्धान्त है जो रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदायों की फूलमाला बनाता हुआ डोरे की भाँति इनके अन्तराल से निकल कर सुमेरु बन बैठा है। क्षेमेन्द्र ने जो रसौचित्य, गुणौचित्य, अलंकारौचित्य आदि २६ औचित्य प्रकारो का विवेचन किया है वह इसी का प्रमाण है।

क्या रस भी काव्य के लिए उसी प्रकार है जिस प्रकार मनुष्य के लिए पारद रसायन। परन्तु औचित्य तो ऐसे रससिद्ध काव्य का भी मनुष्य के जीवनतत्त्व की भाँति स्थायी जीवन तत्त्व है।

स्पष्ट है कि काव्य के आत्मतत्त्व शृंगारादि रस की अपेक्षा भी क्षेमेन्द्र ने औचित्य की महत्ता बढ़कर मानी है। क्षेमेन्द्र ने अपने गुरु अभिनवगुप्त और अभिनव गुप्त के भी परम श्लाघ्यतम ध्वनिकार के सिद्धान्तों का खण्डन न करते हुए भी अपने औचित्य सिद्धान्त को साम्प्रदायिक होने का महत्त्व प्रदान किया है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि यहाँ बड़ी सूक्ष्म है और दूरदर्शिनी भी। रस को काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार करके भी उनकी मौलिक स्थापना यह है कि जीवित तत्त्व ही उसका व्यवहारक है। आत्मा काव्य का नितान्त किंवा एकान्त अन्तःपक्ष है। बिना जीवन की सत्ता पाये आत्मा व्यवहार्य नहीं हो सकता। जीवन या जीवित तत्त्व ही इसे इस व्यवहार की योग्यता प्रदान करता है। यह बाह्य-आभ्यन्तर और जड़ चेतन का मिश्रित रूप जो ठहरा। संसार स्वयं ही अपने प्रत्येक पर्याय में जीवन का उदाहरण है। इस प्रकार जहाँ रस काव्य के केवल अन्तःपक्ष की ही सत्ता का बोधक है वहाँ औचित्यापरपर्याय जीवित काव्य के बाह्य पक्ष को भी अन्तःपक्ष के साथ अविनाभावी रूप में मिलाकर काव्य व्यवहार के भीतर रस को भी व्यवहार्य बनाता है। इसीलिए औचित्य रस का भी जीवित है और रससिद्ध काव्य का भी स्थायी जीवित है। यही इन दो पंक्तियों की संगति है —

'रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।"

यही औचित्य का साम्प्रदायिक स्वरूप है जिसे दूसरे शब्दों में औचित्य-सम्प्रदाय का सिद्धान्त कह सकते हैं। काव्यशास्त्र के भीतर इसकी प्रधानता भी है और व्यापकता भी। काव्य के आत्मस्थानीय तत्त्व रस का भी यह जीवित तत्त्व है इसलिये काव्य के क्षेत्र में यह सर्वप्रधान है। काव्य के अन्तःपक्ष रसादि की सीमा में भी जिस प्रकार यह फैला हुआ है उसी प्रकार उसके बाह्यपक्ष गुणालंकार के स्वरूप में भी यह एकमात्र आधायक तत्त्व है।

जहाँ तक इस सामान्य औचित्य सिद्धान्त की साम्प्रदायिक औचित्य किंवा औचित्य-सम्प्रदाय के साथ संगति का सवाल है, वह बहुत ही स्पष्ट है। अपनी सामान्य परिभाषाओं में औचित्य एक सम्बन्ध विशेष ही है। जो जिसके अनुरूप हो वह उचित है और उसी का भाव औचित्य है जो कि अनुरूपता का पर्याय है। यह अनुरूपता

अनेक वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध के रूप में ही नहीं है, बल्कि उनके सम्बन्धों के सम्बन्ध के रूप में भी आती है।

यही किसी सिद्धान्त का साम्प्रदायिक रूप होता है जब वह क्षेत्रीय सम्प्रदायों के मान्यभूत सिद्धान्तों को अपना अंग बनाकर समेटता हुआ चला जाय और जिस क्षेत्र या विषय का वह सिद्धान्त होता है उसका एकमात्र प्रधान तत्त्व बन बैठे। क्षेमेन्द्र के यहां औचित्य इसी प्रकार का साम्प्रदायिक सिद्धान्त है जो रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदायों की फूलमाला बनाता हुआ डोरे की भाँति इनके अन्तराल से निकल कर सुमेरु बन बैठा है। क्षेमेन्द्र ने जो रसौचित्य, गुणौचित्य, अलंकारौचित्य आदि २६ औचित्य प्रकारों का विवेचन किया है वह इसी का प्रमाण है।

औचित्य की जन्मजात स्थिति की सहज कल्पना का बहुत कुछ आभास भरत मुनि के विवेचन में उपलब्ध है।

भरत मुनि के साथ ही भामह और दण्डी ये दो आचार्य और ऐसे हैं जिनमें औचित्यमूलक भाव दृष्टि दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों को सामने रख कर विकसित हुई है। भामह ने काव्यालंकार के छः परिच्छेदों में जिन पाँच बातों का विचार किया है[1] वह भी प्रकारान्तर से काव्य के स्वरूप और उत्कर्षाधान और अपकर्ष का ही विचार है। उत्कर्ष औचित्यमूलक होता है तथा अपकर्ष अनौचित्य मूलक। दण्डी के काव्यादर्श का दोष-परिहार व्यवस्था भी दूसरे शब्दों में औचित्यमूलक ही है।[2]

भरत भामह और दण्डी के बाद इतिहास का यह स्वाभाविक आग्रह था कि जो सिद्धान्त भावरूप में या पर्यायान्तर से साहित्य का प्रयोजनीय तत्त्व बन गया था, उसका प्रत्यक्ष अभिधान एवं अंकन हो। रुद्रट ने सबसे पहले उचित भाव का काव्याङ्गों के भीतर शब्दों में प्रयोग किया है।[3] भामह आदि की अपेक्षा रुद्रट का औचित्य के सम्बन्ध में ही ऐतिहासिक महत्त्व है। आनन्दवर्धन ने काव्यांगों के भीतर औचित्य का साक्षात् प्रतिपादन ही नहीं किया अपितु उनका नियामक भी उन्होंने उसी को सिद्ध किया।[4] औचित्य सिद्धान्त के इतिहास में इसीलिए आनन्दवर्धन का सबसे ऊँचा स्थान है। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर लोचन टीका लिखने वाले और औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र के गुरु आचार्य अभिनवगुप्त का विवेचन वह संघटक सूत्र है जो औचित्य सिद्धान्त और सम्प्रदाय की संक्रान्ति सीमा उपस्थित कर देता है।[5]

कुन्तक का महत्त्व इसलिए है कि उनके 'वक्रोक्ति जीवित' में औचित्य कहीं-कहीं उनके प्रतिपाद्य वक्रभाव का पर्याय बन बैठा है[6] और यह बोधित करता है कि उसमें साहित्य के एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में ढलने की क्षमता है। महिमभट्ट ने तो औचित्य को साहित्य का उतना जाति सामान्य और सर्वसाधारण तत्त्व ही बना डाला है कि वह साहित्य के स्वरूप में ही अवसित हो गया है जिससे उसके पृथक् निर्देश की

१ काव्यालंकार (उपसंहार)
२ काव्यादर्श ४, १७६ तथा ३, १३२।
३ काव्यालंकार २, ३२ तथा ३, ५६।
४ ध्वन्यालोक ३, १५।
५ लोचन टीका, पृ० ७५।
६ तत्र परस्य तावदौचित्य बहुविधमेतद्भिन्ने वक्रभाव। (वक्रोक्ति जीवित, उन्मेष, २)

आवश्यकता ही न रह गई।[1] भोज ने फिर से औचित्य को काव्य के गुणालंकारों की स्वरूप प्रतिपत्ति में उपजीवित किया। उन्होंने औचित्य की लघु-औचित्य एवं व्यापक-औचित्य नामक दो कोटियाँ ही सिद्ध कर दीं।[2]

यह औचित्य सिद्धान्त का इतिहास है जो क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती लक्षणग्रन्थों में अपनी मोटी-पतली और विशेष सामान्यधारा में प्रवहमान था। इसके आगे औचित्य-सिद्धान्त का इतिहास औचित्य-सम्प्रदाय के रूप में है, जिसके प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि औचित्य "अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत बनाने का हेतु है। अलंकार आदि पाँच काव्य-सिद्धान्तों के प्रवर्तक अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्यांगों को समाविष्ट करते हैं या अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं। पर औचित्य नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र इनमें से किसी भी प्रवृत्ति को नहीं अपनाते।"[3]

विद्वान् अपने उपर्युक्त शब्दों के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं, हमें इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि में उन्होंने जो उद्धरण दिये हैं, उन्हीं के द्वारा औचित्य का साम्प्रदायिक स्वरूप आचार्य क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट किया है। अपनी कारिका के

"अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥"

उत्तरार्ध में औचित्य का साम्प्रदायिक स्वरूप भी उन्होंने दे दिया है। इस पद्य की व्याख्या करते हुए क्षेमेन्द्र ने स्वयं अपना आशय स्पष्ट किया है। उनका मतलब है कि परस्पर सहयोगी सुन्दर शब्द और अर्थ का शरीर धारण करने वाले काव्य के उपमा, उत्प्रेक्षा आदि प्रचुर अलंकार मनुष्य के कटक, कुण्डल, हार आदि की तरह बाह्य शोभा का विधान करते हैं। विद्वानों के द्वारा लक्षित काव्य के गुण भी मनुष्य के प्रसिद्ध सत्यशील आदि की भाँति ही औपचारिक होते हैं। परन्तु जिसका लक्षण आगे किया जायेगा वह औचित्य तो काव्य का अविनाशकारी तत्त्व है, इसके बिना गुणालंकारों से लदा हुआ काव्य भी निर्जीव है। गुणालंकारों की तो बात ही

---

१. व्यक्ति विवेक २, १२६, तथा २, १५२।
२. सरस्वती कण्ठाभरण १, ७६।
३. 'साहित्य सन्देश', जुलाई-अगस्त १९६२, पृ० २६।

शब्द-शक्ति विवेचन

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत

सार्थक शब्द-सृष्टि मात्र साहित्य है। सहृदय हृदय संवादी सौन्दर्य से विशिष्ट होने पर उसी को काव्य कहते हैं। उसके इस सौन्दर्य की स्वरूप व्याख्या भिन्न भिन्न आचार्यों ने अलग-अलग अभिधानों से की है। दण्डी, रुद्रट, उद्भट और जयदेव आदि ने उसे अलंकार कहा है। वामन ने उसी को रीति की संज्ञा दी है। आनन्दवर्धन ने उसकी प्रतिष्ठा ध्वनि के रूप में की है। अभिनवगुप्त ने उसे रसरूप में आस्वाद्य बताया है। क्षेमेन्द्र का औचित्य उसी का नामान्तर है। भट्टनायक ने उसी को भोगरूप कहा है। चमत्कार चन्द्रिकाकार के शब्दों में वह चमत्कार शब्द से अभिधेय है। प्रश्न उठता है कि एक ही सौन्दर्य के अभिधान एवं रूप-वैविध्य का क्या कारण है? इसका उत्तर देने के लिए हम थोड़ा गहराई में विचार करना पड़ेगा। भर्तृहरि ने शब्द के रूप में दो रूपमान बताये हैं एक ग्राह्य दूसरे ग्राहक।[1] प्रथम विषयीगत है और दूसरा विषयगत। विषयगत रूप-वैविध्य का कारण विवर्त है। वाक्यपदीयकार ने शब्द को अधिष्ठान और अर्थ को अध्यस्त रूप माना है।[2] जिस प्रकार अधिष्ठान एक और अध्यस्त अनेक रूप होता है उसी प्रकार शब्द एक और काव्यगत सौन्दर्य अनेक रूप है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में अध्यस्त रूप की विविधता का कारण दृष्टाभेद बताया है।[3] दृष्टाभेद से निरूपित अध्यस्त अर्थ सौन्दर्य ही काव्यशास्त्र में अलंकार, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति, औचित्य, भोग, चमत्कार आदि विविध नामरूपों में प्रकट हुआ है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि अर्थ-वैविध्य-रूप अध्यास का कारण दृष्टाभेद मात्र है। जिस प्रकार ब्रह्मरूपी अधिष्ठान पर जगत् रूपी अध्यास की विवर्तता उसी की

---

१ ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वञ्च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिव स्थिते ॥

२ अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ का० १॥

३ संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुव।
तथाप्यावृत्ति निर्ह्रास तारतम्यात्सा लक्ष्यते ॥

शक्ति माया है उसी प्रकार अर्थ रूपी अध्यास की विधात्री शब्द की शक्तियाँ होती हैं। इसका स्पष्ट संकेत वाक्यपदीयकार ने अपनी कारिकाओं में किया है।[1] साहित्याचार्यों ने इन्हीं शक्तियों का अनुसंधान कर उनसे विवर्तित अर्थों के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन किया है। इनको समझे बिना काव्य का मर्म जाना नहीं जा सकता, अतएव यहाँ पर हम उनका संक्षिप्त विवेचन कर रहे हैं।

शब्दों के अर्थ आचार्यों ने अधिकतर तीन प्रकार कहे है : अभिधेय, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य। इनका विवर्तन करने वाली शक्तियों को क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के अभिधान दिये गये हैं। साक्षात् संकेतित अर्थ को अभिधेयार्थ, मुख्यार्थ या वाच्यार्थ कहते हैं। मुख्यार्थ के बाध होने पर उसी से सम्बन्धित प्रयोजन या रूढ़ के कारण जो अर्थ लिया जाता है उसकी संज्ञा लक्ष्यार्थ है। इन दोनों अर्थों से विलक्षण प्रसङ्ग या प्रकरण आदि के कारण जो सर्वथा एक नवीन अर्थ ग्रहण किया जाता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। इन तीनों अर्थों की विधायिनी शक्तियो के नाम क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना हैं। कुछ आचार्यों ने तात्पर्या नाम की एक चौथी शक्ति भी मानी है किन्तु वह शब्द शक्ति न होकर वस्तुतः वाक्य शक्ति है। किन्तु फिर भी अर्थ के प्रसङ्ग में उसका विवेचन भी अपेक्षित रहता है। आगे हम उन शक्तियों और उनसे उद्भूत अर्थों की अलग-अलग विवेचना करेंगे।

जिस शक्ति से शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है उसे अभिधा की संज्ञा और उससे युक्त शब्द को वाचक का अभिधान दिया गया है। प्रश्न उठता है कि शब्द में संकेत की प्रतिष्ठा कैसे होती है? और अमुक शब्द का अमुक अर्थ ही है इसका आधार क्या है? इस सम्बन्ध में दो मत विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ भारतीय दार्शनिकों की धारणा रही है कि संकेत का आधार ईश्वरेच्छा है। हाँ, कुछ पारिभाषिक शब्दों के संकेत शास्त्रकारों के द्वारा निर्धारित किये गये हैं। किन्तु आजकल के वैज्ञानिक लोग ईश्वरेच्छा को संकेतग्रह का कारण मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। इन लोगों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि संकेत का आधार सामाजिक चेतना का विकास है। इनमें से किसी भी मत को आत्यन्तिक नहीं माना जा सकता। मेरी अपनी धारणा है कि संकेतग्रह का आधार मानव-मन की वह बोध-वृत्ति है जो कुछ सहज रूप से और कुछ सामाजिक प्रेरणाओं से अनुप्रेरित होकर शब्द-विशेष में संकेत विशेष की प्रतिष्ठा करती है।

संकेत के आधार के साथ-ही-साथ संकेत के आश्रय का प्रश्न भी विचारणीय है। इस सम्बन्ध में भी विविध-मत प्रचलित हैं। नव्यनैय्यायिक व्यक्ति शक्तिवादी हैं।

---

१. देखिए दूसरी एवं छठी कारिकायें।

प्राचीन नव्यायिकों ने जाति विशिष्ट व्यक्ति में सकेत माना है। मीमांसक लोग जातिवादी हैं। इनके कई उप-सम्प्रदाय हैं। उन उन में भी अन्तर है। भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि पदों से व्यक्ति का स्मरण या अनुभव नहीं होता अपितु व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप के सहारे होता है। आक्षेप जाति के द्वारा होता है। श्रीधर का कहना है कि उपादान में व्यक्ति का ग्रहण होता है। मण्डन मिश्र ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि व्यक्ति का ग्रहण लक्षणा शक्ति से ही सम्भव है। ज्ञान शक्तिवादियों का कहना है कि शब्द का संकेत जाति व्यक्ति या जाति विशिष्ट व्यक्ति में न होकर ज्ञान में होता है। बौद्ध लोग अपोहवादी हैं। इनका कहना है कि शब्द का संकेत अपोह या अतद्व्यावृत्ति में होता है। अतद्व्यावृत्ति का अर्थ है कि संसार के समस्त पदार्थों का निराकरण करके केवल बचे हुए पदार्थ में संकेत स्वीकार करना। वैयाकरणों ने संकेतग्रह उपाधि में माना है। उपाधि के उन्होंने चार भेद बताए हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। साहित्याचार्यों ने विशेषकर नव्य आलंकारिकों ने यही मत माना है। हमारी अपनी धारणा भी यही है कि उपाधि वाला मत ही अधिक तर्कसंगत है।

अभिधा शक्ति तीन प्रकार की होती है—रूढ़ि योग एवं योगरूढ़ि। रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने इन्हीं को क्रमशः समुदाय शक्ति केवलावयव शक्ति तथा समुदायावयव शक्ति संकर भी कहा है। जहाँ शब्द समुदाय के रूप में अर्थ-बोध कराते हैं वहाँ रूढ़ि शक्ति मानी जाती है। केवलावयव शक्ति या यौगात्मक अभिधा शक्ति वहीं होती है जहाँ किसी अर्थ की प्रतीति के लिए शब्द के अवयवों के ज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित होती है। अर्थ विधान में जब अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति दोनों की अपेक्षा अनुभव होती है तब वहाँ समुदायावयव शक्ति संकर माना जाता है। इन तीनों के क्रमशः उदाहरण हैं—घड़ा सुधांशु और वारिज। घड़े में अवयवार्थ नहीं है। इसके विपरीत सुधांशु में सुधा और अंशु इन दो अवयवों का योग है। वारिज में वारि का अर्थ जल है और जो वस्तु जल में पैदा होती है उसे वारिज कहते हैं। किन्तु जल में उत्पन्न होने वाली और भी वस्तुएँ हो सकती हैं किन्तु वारिज शब्द कमल के अर्थ में ही रूढ़ है। इसलिए यह योगरूढ़ शब्द है।

अभिधा के प्रसङ्ग ही में हम तात्पर्यावृत्ति की चर्चा कर देना चाहते हैं। यह वृत्ति भी एक अभिधावृत्ति का रूपान्तर ही है। अभिधावृत्ति से व्यस्त शब्द का ही साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है। वाक्य के अर्थ विधान उससे सम्भव नहीं। अतः कुछ आचार्यों ने वाक्य के अर्थ विधान के लिए तात्पर्यावृत्ति की कल्पना की। अभिधा के द्वारा प्रतिपादित अर्थों को एक सूत्र में अन्वित करके उनसे जिस एक विशेष वस्तुरूप अर्थ का बोध कराया जाता है उसकी बोधिका शक्ति को तात्पर्या शक्ति कहते हैं। तात्पर्यावृत्ति से वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध

में दो मत विशेष उल्लेखनीय हैं। एक अन्विताभिधानवाद, दूसरे अभिहितान्वयवाद। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर भट्ट का कहना है कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण अन्वित पदों का वाक्यार्थ है। संक्षेप में अन्वित पद ही तात्पर्यवृत्ति वाक्यार्थ के विधायक होते हैं। दूसरा मत कुमारिल भट्ट का अभिहितान्वयवाद है। इसके अनुसार पहले पद पदार्थों की प्रतीति कराते हैं। उसके बाद आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि से युक्त होकर तात्पर्यवृत्ति से पदार्थों के संसर्गरूप वाक्यार्थ का बोध कराते है। इन्होंने तात्पर्य्य शक्ति का प्रमुख प्रतिपाद्य पदार्थ संसर्गरूप वाक्यार्थ ही है। दोनों में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। अभिहितान्वयवाद मे अन्विति अर्थ वाच्य रहता है जबकि अन्विताभिधानवाद में पदार्थान्वित अर्थ तात्पर्य रूप में ग्रहण किया जाता है।

वाक्यार्थ प्रतीति की प्रक्रिया को प्रकट करने वाले उपर्युक्त दोनों मतों के अतिरिक्त तीन मत और हैं। इनमें एक वैयाकरणों का, दूसरा मीमांसकों का और तीसरा प्राचीन नैय्यायिकों का है। प्रथम मतवादियों का कहना है कि वाक्य का अखण्डत्व ही वाक्यार्थ का कारण है। वाक्य के पद, वर्ण आदि को वह अभिधाजन्य ही मानते हैं। दूसरे मत वालों के अनुसार वाक्यार्थ का बोध अन्तिम वर्ण के ज्ञान से होता है। इस अन्तिम वर्ण का ज्ञान पूर्व पदों के अर्थज्ञान के संस्कार से युक्त रहता है। तीसरे मत वालों की धारणा है कि वाक्यार्थ बोध का निमित्त वह वर्ण-माला है जिसकी प्रतिच्छाया हमारे स्मृति-पटल पर दृश्य-जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों की अनुभूत भावना के साथ प्रतिफलित होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों में बड़ा मतभेद है। इनमें प्रथम दो मत तात्पर्यवादी हैं।

इसी प्रसंग में अभिहितान्वयवादी मत के पोषक भट्ट लोल्लट ने दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापार वाला मत सामने रक्खा है। इन्होंने लिखा है कि "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः" का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इनका कहना है कि अभिधाव्यापार की कोई मिति नहीं है कि वह केवल इतना अर्थ देवे। जहाँ तक तात्पर्य का पूर्ण-बोध नहीं होता, अभिधा की क्रिया वहाँ तक चलती है। वह दीर्घ से दीर्घतर अर्थ बोध का व्यापार है। अतः अभिधा के अतिरिक्त और किसी भी नये व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य कुन्तक भी अभिधावादी है। उन्होने वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' कहा है। इस विचित्रा अभिधा से अधिक चारुतर कोई दूसरा अर्थ-व्यापार नहीं है। मुकुल भट्ट और महिम भट्ट भी प्रसिद्ध अभिधावादी आचार्य हैं। मुकुल भट्ट ने अपने महान् ग्रंथ 'अभिधावृत्तिमातृका' लिखकर स्पष्टरूपेण सिद्ध कर दिया है कि अभिधा के अतिरिक्त और कोई शब्द शक्ति है ही नहीं, उन्होंने अनेक प्रमाणों से प्रमाणित कर दिया है कि लक्षणा, व्यञ्जना आदि सब का कार्य अभिधा से ही चल जाता है।

व्यावहारिक जीवन म हम कभी-कभी ऐसा देखते है कि मुख्यार्थ का ग्रहण हास्यास्पद अथवा अनौचित्यपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु फिर भी वह प्रयोग-लोक म परम्परा मे प्रचलित और प्रतिष्ठित है। इसीलिये आचार्यों को अभिधा से अतिरिक्त शक्तियो की कल्पना करनी पडी। अभिधा स इतर शक्तियो म सवप्रथम लक्षणा उल्लेखनीय है।

शब्दार्थ म लक्षण शक्ति के प्रयोग के कारणभूत तत्त्वा म सकोच, मयादा, उक्तिवचित्र्य शालीनता प्रभाववशिष्ट्य की योजना-कामना अधिक मे अधिक तथ्य को कम स कम शब्दों म व्यक्त करने की कामना आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्ही कारणो स अभिभूत होकर मनुष्य अपनी वाणी म कुछ ऐस प्रयोग करता है जिनके मुख्याथ का प्रत्यक्ष रूप म सवथा ग्रहण अनौचित्यपूण होने के कारण बाधित समझा जाता है किन्तु किसी प्रयोजन या परम्परागत प्रयोग के कारण उसी स सम्बन्धित कोई दूसरा अथ ग्रहण कर लिया जाता है। जैसे परम्परागत उदाहरण है— गगा म आभीरो की बस्ती' (गगाया घोष) म गगा म आभीरो की बस्ती का होना सवथा असम्भव है। अत मुख्याथ का बाध हो गया। किन्तु वक्ता न इस वाक्य का प्रयोग प्रभाववैशिष्ट्य दिखाने के लिए किया है। अत 'गगा मे' स सम्बन्धित अथ गगा-तट' ग्रहण करना उचित समझा गया। इस औचित्य का कारण वक्ता की वह कामना है जिससे प्ररित हो वह यह व्यञ्जित करना चाहता है कि आभीरो की बस्ती गगा के शत्य और पावनत्व का अधिक-से अधिक लाभ उठाती है। अतएव यहाँ लक्षणा शक्ति स अथ की प्रतीति मानी गई है। इस प्रकार लक्षणा के लिए तीन शर्तें आवश्यक हुईं, (१) मुख्यार्थ बाध, (२) तद्योग, (३) प्रयोजन अथवा रूढ़ि।

रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर आचार्यों न लक्षणा के मुख्य रूप से दो भेद मान हैं—रूढा और प्रयोजनवती।

अब हम रूढ़ा लक्षणा के औचित्य और स्वरूप पर विचार करेंगे। मेरी अपनी धारणा है कि रूढा लक्षणा को लक्षणा का स्वतन्त्र भेद नही मानना चाहिए। उसका अन्तर्भाव प्रयोजनवती मे ही हो जाता है। रूढा लक्षणा के मूल मे भी कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। आचार्य मम्मट न रूढा लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशल' बताया है। यहाँ पर रूढ़ा लक्षणा से कुशल का अथ निपुण लिया गया है। कुशल का मुख्याथ है कुशाओ को लाने वाला। उस मुख्याथ स निपुणता व्यङ्ग्य है। परम्परा ने धीरे-धीरे मुख्याथ का त्याग कर प्रयोजनरूप निपुण अथ को ग्रहण कर लिया। रूढा लक्षणा म प्रयोजन ही लक्ष्याथ रूप म रूढ हो गया है। अत इसको रूढा प्रयोजनवती कहना चाहिए और उस प्रयोजनवती का ही एक भेद मानना चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्र एवं विश्वनाथ 'कुशल' को रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण मानते ही नहीं । उनका कहना है कि कुशल का निपुण या चतुर अर्थ भी मुख्यार्थ है, वह लक्ष्यार्थ है ही नहीं, किन्तु मैं इनके मत से सहमत नहीं हूं । 'निपुण' 'कुशल' का साक्षात् संकेतित अर्थ नहीं है, अतः उसके मुख्यार्थ होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । आचार्य विश्वनाथ ने रूढ़ा का उदाहरण—'कलिंग साहसी है', 'श्वेत दौड़ रहा है' । इन दोनों में भी प्रयोजन सन्निहित है । वक्ता प्रथम वाक्य में समस्त कलिंग के मनुष्यों के शौर्य-रूप प्रयोजन की व्यञ्जना करना चाहता है । इसी प्रकार 'सफेद दौड़ता है' उससे भी शीघ्रगामित्व रूप प्रयोजन की व्यञ्जना अभीष्ट मालूम होती है। जो भी हो रूढा लक्षणा को स्वतन्त्र लक्षणा मानना निरापद नहीं है।

प्रयोजनवती लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ हम मुख्यार्थ से सम्बन्धित लक्ष्यार्थ का ग्रहण किसी प्रयोजन विशेष से करते हैं । 'गंगा में आभीरों की बस्ती' इसका प्रसिद्ध परम्परागत उदाहरण है । इस प्रयोजनवती लक्षणा के अनेक भेदोपभेद बताए हैं । प्रयोजनवती शुद्धा और गौणी भेद सर्वप्रथम विचारणीय हैं । गौणी वहाँ होती है जहाँ लक्ष्यार्थ पर उपचार आधारित रहता है । शुद्धा वही मानी जाती है जहाँ इतर किसी अन्य सम्बन्ध के कारण लक्षणा ग्रहण की जाती है । उपचार का स्थूल अर्थ है साधर्म्य उपचार । दो वस्तुओं में जो वैभिन्य होता है उसका निराकरण कर डालता है ।

आचार्य मुकुल भट्ट की धारणा है कि गौणी और शुद्धा का भेदीकरण उपचार के आधार पर नहीं किया जा सकता । उनका कहना है कि गौणी लक्षणा में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य सम्बन्ध के कारण अभेदभाव रहता है । इसके विपरीत शुद्धा में यह अभेद का अभाव रहता है । इसका कारण वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्येतर सम्बन्ध का पाया जाता है । अतः शुद्धा और गौणी का विभेदीकरण अभेद और भेदभाव पर आधारित है । किन्तु आचार्य मम्मट मुकुल भट्ट के इस मत से सहमत नहीं हैं । वे कहते हैं कि भेद और अभेद के आधार पर हम गौणी और शुद्धा का भेद-भाव नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि शुद्धा जिसमें मुकुल भट्ट वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भेद मानते है वास्तविक भेद नहीं होता । उनका तर्क है कि यदि गंगा पर आभीरों की बस्ती, में 'गंगा' पर से केवल तट का बोध कराना मात्र ही उद्देश्य होता तो 'गंगा में' के स्थान पर 'गंगातट' ही कह देते, किन्तु वक्ता का प्रयोजन शैत्य और पावनत्व की प्रतीति कराना भी है । अतः यहाँ पर भी अभेद प्रतिपत्ति हुई । इसलिए भेद और अभेद के आधार पर शुद्धा और गौणी का विभाजन न किया जाकर उपचार के ही आधार पर किया जाना चाहिए ।

शुद्धा लक्षणा के भी दो प्रमुख भेद किये गये हैं—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा । उपादान लक्षणा वह है जो अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य का आक्षेप करे

जैसे लट्ठ चल रहे हैं । यहाँ पर उपादान लक्षणा से लट्ठ लिये हुए मनुष्य का उपादान किया गया है । लक्षणलक्षणा उसे कहते हैं जहाँ पर कोई शब्द अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने को समर्पित कर दे जैसे कुआँ खारा है । यहाँ पर कुआँ शब्द का अर्थ है जल । इन दोनों लक्षणाओं के नाम अजहत्स्वार्था एवं जहत्स्वार्था भी हैं ।

इनके भी सारोपा और साध्यवसाना भेद होते हैं । जहाँ आरोप्यमाण और आरोप के विषय दोनों शब्द द्वारा व्यक्त किये जाते हैं वहाँ सारोपा रहती है । इसके विपरीत जहाँ पर आरोप का विषय शब्द द्वारा व्यक्त न हो सके, केवल आरोप्यमाण का ही कथन हो वहाँ पर साध्यवसाना लक्षणा होगी । इन दोनों के उदाहरण क्रमशः 'वाहीक बैल है' और 'बैल आ रहा है' हैं । इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा प्रमुख रूप से छः प्रकार की हुई—गौणी शुद्धा, उपादान, लक्षण, सारोपा, साध्यवसाना । कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार लक्षणा के छः भेद हैं—रूढ़ा गौणी शुद्धा के चार भेद (उपादान, लक्षण सारोपा साध्यवसाना) । कुछ दूसरों के अनुसार शुद्धा सारोपा उपादान, शुद्धा साध्यवसाना उपादान, लक्षणा, शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा, साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा । कुछ दूसरे विद्वानों के मतानुसार आचार्य मम्मट के 'षड्विधातेनलक्षणा' अर्थात् लक्षणा छः प्रकार की होती है । इस कथन से उनका तात्पर्य प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेदों से है । वे इस प्रकार हैं—

(१) सारोपा गौणी लक्षणा, जैसे 'वाहीक बैल है' ।
(२) सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा, जैसे 'भाले आ रहे हैं' ।
(३) सारोपा शुद्धा लक्षणलक्षणा, जैसे 'घृत आयु है' ।
(४) साध्यवसाना गौणी लक्षणा, जैसे 'बैल आ रहा है' ।
(५) साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा, जैसे 'भाले आ रहे हैं' ।
(६) साध्यवसाना शुद्धा लक्षणलक्षणा, जैसे 'यही आयु है' ।

मैं लक्षणा के इन्हीं भेदों को उपयुक्त मानता हूँ । प्रयोजनवती लक्षणा के उपयुक्त छः ही भेदों में प्रयोजन सदा व्यङ्ग्य रहता है । यह व्यङ्ग्य कभी गूढ़ होता है कभी अगूढ़ रहता है । इस प्रकार लक्षणा १२ प्रकार की हो जाती है । रूढ़ा लक्षणा मिलाकर कुल भेद १३ हो जाते हैं । यह विवेचन आचार्य मम्मट सम्मत है ।

साहित्यदर्पणकार ने लक्षणाओं के ८० प्रकार माने हैं । उन्होंने गौणी के भी उपादान और लक्षणलक्षणा ये दो भेद माने हैं । इनके भी उसने सारोपा और साध्यवसाना दो भेद माने हैं । इस प्रकार गौणी के चार और शुद्धा के चार भेद हो गये । गूढ़ व्यङ्ग्य एवं अगूढ़ व्यङ्ग्य की दृष्टि से इनके कुल मिलाकर १६ भेद हो गये । यह १६ पदगत एवं वाक्यगत भेद से ३२ । इनके ८ रूढ़ा लक्षणा मिलाकर ४० हो गईं । धर्मगत एवं धर्मीगत भेद से ८० प्रकार की लक्षणाएँ हुईं ।

लक्षणा शक्ति शुद्ध अभिधावादियों को मान्य नहीं है। आचार्य मुकुल भट्ट एवं महिम भट्ट अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा या व्यञ्जना जैसी कोई शक्ति नहीं मानते। मुकुल भट्ट ने लक्षणा का अन्तर्भाव अपने दस प्रकार के अभिधा स्वरूपों में ही कर लिया है। महिम भट्ट अनुमानवादी है। वे 'गंगायां' का अर्थ 'गंगातट' अनुमितिगम्य लेते हैं। इसी प्रकार उन्होंने सब प्रकार की लक्षणाओं को अनुमितिगम्य मात्र माना है। आचार्य कुन्तक ने भी प्रत्यक्षरूप से लक्षणा नहीं स्वीकार की है किन्तु उनकी उपचार-वक्रता में अप्रत्यक्ष रूप से लक्षणा स्वीकार की गई है। अभिधावादियों के अधिकांश तर्क हठधर्मी मात्र हैं क्योंकि असाक्षात् संकेतित अर्थों के लिए उनके पास कोई समाधान नहीं है।

तीसरी शक्ति का नाम व्यञ्जना है। कहीं-कहीं वक्ता ऐसे वाक्-चातुर्य से काम लेता है कि प्रत्यक्षवाक्य का अभिधेयार्थ या लक्ष्यार्थ ऐसा साधारण व्यक्ति को ग्राह्य नहीं होता, केवल सहृदय ही उसके प्रतीयमान अर्थ को समझ-समझ कर रस-विभोर होता है और वास्तविक अभिप्राय पूर्णरूपेण समझ लेता है। इसी अभिधा और लक्षणा से विलक्षण शक्ति को व्यञ्जना कहते हैं। यदि अनेक व्यवस्थित शब्दों में उसे परि-भाषाबद्ध करना चाहें तो कहेंगे कि अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यञ्जना कहते हैं। व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यङ्ग्यार्थ, ध्वन्यर्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमानार्थ भी कहते हैं। इस व्यञ्जना व्यापार की विशेषता यह है कि अभिधा और लक्षणा व्यापार तो केवल शब्द व्यापार भर हैं, किन्तु व्यञ्जना व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में होता है। इसका अर्थ यह है कि व्यञ्जना के स्थूल रूप से दो भेद हुए एक शाब्दी व्यञ्जना, दूसरे आर्थी व्यञ्जना।

शाब्दी व्यञ्जना भी अभिधा और लक्षणा भेद से दो प्रकार की होती है। एक अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना और दूसरी लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना वहीं होती है, जहाँ अनेकार्थी शब्दों का संयोग आदि के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। उससे जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। अनेकार्थी शब्दों के एक अर्थ में नियन्त्रित करने वाले नियामक १४ बताये हैं। संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर है। इनसे नियन्त्रित अर्थ वाच्यार्थ होता है, किन्तु शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के कारण अप्राकरणिक अर्थ की व्यञ्जना भी होती है जो सहृदयगम्य मात्र होती है। इस व्यञ्जना को ही अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। इसका एक उदाहरण है—

"कहा सोनार पास जेहि जाऊँ ।
देइ सुहाग करै एक ठाऊँ ॥"

यहाँ पर सोनार और सुहाग शब्द मात्र का आभूषण बनाने वाले एवं सुहागे के अर्थ में नियन्त्रित हो गये हैं किन्तु प्रकरणजन्य यहाँ एक व्यञ्जना भी है। वह यह है कि उस स्त्री को कहीं प्राप्त करूँ जो मिलन का सुख दे सके। यह अर्थ शाब्दी व्यञ्जना से ही प्राप्त होता है।

यहाँ पर यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि महिमभट्ट और व्यक्तिविवेककार ने अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के अस्तित्व का ही विरोध किया है, किन्तु विश्वनाथ तथा मम्मट आदि आचार्यों ने उनका सतर्क खण्डन कर दिया है। अतः विस्तार भय से इस प्रसङ्ग को यहाँ नहीं उठा रहे हैं। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार एवं वृत्तिकार आनन्दवर्धन के मत को भी जान लेना आवश्यक है। इनका कहना है कि अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना वहीं होगी जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अलङ्कार रूप होगा। वस्तुरूप व्यङ्ग्य होने पर वहाँ श्लेष अलङ्कार मात्र मानेंगे। मेरी अपनी धारणा है कि अप्राकरणिक अर्थ यदि विशेष चमत्कारक है वह चाहे वस्तुरूप हो या अलङ्काररूप, तो उसे अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना माना जायगा।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना वहीं होती है जहाँ प्रयोजनवती-लक्षणा का प्रयोजन प्रधानरूप व्यङ्ग्य होता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में उसका स्वरूप इस प्रकार है 'जिस प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है उस प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शक्ति को लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं।" इसका एक उदाहरण है—'फूल झड़े जो जो कहे बाता'। यहाँ पर नायिका का मोदुभाय और वाक् माधुर्य व्यङ्ग्य है। इसकी व्यञ्जिका लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना है।

जब व्यञ्जना अर्थजन्य होती है तब उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। अतः आर्थी व्यञ्जना भी तीन प्रकार की होती है—१ वाच्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना, २ लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना, ३ व्यङ्ग्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना।

वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ से किसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति पर बल दिया जाता है। एक उदाहरण है—

"नौ पौरी पर दसम दुवारू ।
तेहि पर बाजराज घरियारू ॥"

यहाँ पर वाच्यार्थ से सिंहलगढ़ का वर्णन है, किन्तु व्यञ्जना ब्रह्मरन्ध्रस्थ अनहदनाद की भी की गई है। इस व्यञ्जना का कारण वाक्यवैशिष्ट्य है।

जहाँ लक्ष्यार्थ के सहारे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना मानी जाती है। इसका उदाहरण पद्मावत की यह पंक्ति है—

"जो फर देखिअ सोई फीका,
ताकर कोइ हराहिअ न नीका।"

यह उक्ति 'पद्मावत' के पद्मावती की नागमती विवाह खण्ड में पद्मावती की नागमती के प्रति कही गयी है। इसका वाच्यार्थ है—इस वाटिका में जो फल देखो वही हर्ष का कारण है। ऐसी बगीची की थोड़ी सराहना क्या की जाय। इसका विपरीत लक्षणा से अर्थ है कि यहाँ जो फल देखो वही फीका है। इसमें कोई अच्छाई है ही नहीं। इसके विपरीत लक्षणा का प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य है नागमती के रूप की हेयता। इससे कवि ने पद्मावती के अभिमान-भाव की व्यञ्जना की है। यह लक्ष्यार्थ सम्भाव्य व्यञ्जनाजन्य है।

इसी प्रकार जहाँ व्यङ्ग्यार्थ किसी पूर्व-व्यङ्ग्यार्थजन्य होता है तब वहाँ व्यङ्ग्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

"तू ससि रूप जगत उजियारी,
मुख न झाँप निसि होइ अँधियारी।"

यहाँ पर प्रथम व्यङ्ग्यार्थ है पद्मावती का प्रफुल्लित होता हुआ रूप और यौवन। इस व्यङ्ग्यार्थ से प्रकरणवश दूती का व्यङ्ग्यार्थ है कि 'तू खूब भोग विलासकर और नये रसिक की खोज करले तथा तेरे लिये मैं उसे खोज दूँगी' इत्यादि। इस प्रकार यहाँ पर एक व्यङ्ग्यार्थ से दूसरा व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित किया है, इसको ध्वनित करने वाली शक्ति को व्यङ्ग्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। ये तीनों ही क्रमशः—वक्तृवैशिष्ट्यमूलक, बोधव्यवैशिष्ट्यमूलक, काकुवैशिष्ट्यमूलक, वाक्यवैशिष्ट्यमूलक, वाच्यवैशिष्ट्यमूलक, अन्यसन्निधिमूलक, प्रस्ताववैशिष्ट्यमूलक, देशवैशिष्ट्यमूलक, कालवैशिष्ट्यमूलक और चेष्टावैशिष्ट्यमूलक भेद से क्रमशः दस-दस प्रकार की होती हैं।

व्यञ्जना के प्रसङ्ग में ध्वनि की स्वरूप व्याख्या कर देना आवश्यक है। वैयाकरणों ने ध्वनि स्फोट को कहा है किन्तु साहित्यक्षेत्र में ध्वनि उस काव्य-विशेष

का पारिभाषिक मत है जिसमे प्रतीयमान अर्थ का प्रधानता होता है। इस ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ की विधात्री शक्ति व्यञ्जना ही है। अब मैं यहाँ व्यञ्जनावृत्ति के मानने की और अनिवार्यता और औचित्य पर विचार कर लेना चाहता हूँ।

बहुत से अभिधावादियों की धारणा है कि व्यञ्जनावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता ही नही है क्योंकि व्यञ्जना का सारा काम अभिधा से ही चल जाता है। अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का कहना है कि वाक्य का पूरा आशय तात्पर्य नामक वृत्ति से प्रकट हो जाता है। यह तात्पर्यावृत्ति एक प्रकार से वाक्यमूलक अभिधा है। जब वाक्य का पूरा आशय प्रकट हो जाता है तो फिर उसके अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति की कल्पना करना अनावश्यक है। आचार्य धनिक भी तात्पर्यवादी हैं। उनका कहना है कि प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं है। कोई ऐसी तराजू नहीं है जिस पर तोलकर यह कहा जा सके कि तात्पर्य इतना ही है। जहाँ तक तात्पर्य है वहाँ तक तात्पर्यावृत्ति का विस्तार-क्षेत्र है। मीमांसकों का एक अभिधावादी सम्प्रदाय निमित्तवादी है। इनका कहना है कि किसी भी वस्तु को देखकर उसके निमित्त की कल्पना की जाती है। प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का निमित्त शब्द है। अतः शब्द एवं प्रतीयमान अर्थ में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही मानना पड़ेगा। निमित्तनैमित्तिक भाव में अभिधा के अतिरिक्त और कोई दूसरी शक्ति नहीं होती फिर व्यञ्जना नामक किसी नई शक्ति की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। भट्ट लोल्लट आदि दीर्घतर व्यापारवादी हैं। इनका कहना है कि वाक्य के जितने भी अर्थ निकलते हैं उनकी विधात्री अभिधा ही है। अभिधा को वे 'दीर्घदीर्घतरव्यापारवाली' मानते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए उन्होंने बाण का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार एक ही बाण के वेगव्यापार के द्वारा शत्रु कवच को विदीर्ण कर हृदय में प्रविष्ट हो प्राणों का अपहरण करता है ठीक उसी प्रकार एक ही अभिधाव्यापार पदार्थ की उपस्थिति, अन्वयबोध तथा व्यङ्ग्यप्रतीति इन तीनों कार्यों को करता है। अतः व्यञ्जना नामक अभिधा से भिन्न किसी शक्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है।

ध्वनिवादियों ने अभिधावादियों के उपर्युक्त पाँचों मतों का खण्डन कर व्यञ्जना जैसी स्वतन्त्र वृत्ति को स्वीकार करने की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया है। अपने मत के पोषण में उन्होंने अनेक तर्क भी दिये हैं। अत्यन्त संक्षेप में हम यहाँ पर उनका संकेत कर रहे हैं। पहले हम उपर्युक्त मतों के खण्डनपरक तर्कों का उल्लेख करेंगे। बाद में मण्डनपरक तर्कों की मीमांसा करेंगे। अभिहितान्वयवाद का खण्डन करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है।

अन्विताभिधानवादियों के मत में भी व्यञ्जना जैसी अभिधा से भिन्न कोई शक्ति नहीं है। इनके अनुसार पहले वाक्य के समस्त पद अन्वित होते हैं बाद में वे

अभिधा से अर्थबोध कराते हैं। यह अर्थ-विशेष रूप न होकर सामान्यरूप ही होता है क्योंकि मीमांसकों ने सामान्यरूप अर्थ में ही संकेतग्रह माना है। व्यङ्ग्यार्थ विशेषरूप अर्थ होता है अतः उसका बोध कराने वाली व्यञ्जना नामक स्वतन्त्रवृत्ति माननी ही पड़ेगी। निमित्तवादियों का खण्डन भी मम्मट कर चुके है। उनका तर्क है कि निमित्त दो प्रकार के होते हैं—एक कारक-निमित्त और दूसरा ज्ञापक-निमित्त। घट का कारक-निमित्त घट है और ज्ञापक-निमित्त दीपक जो उसका बोध कराता है। शब्द प्रतीयमान अर्थ का कारक-निमित्त न होकर ज्ञापक-निमित्त ही माना जा सकता है किन्तु उसे हम यह भी नही मान सकते क्योंकि ज्ञापक सदा पूर्व सिद्ध वस्तु को ज्ञापित करता है। अतः शब्द प्रतीयमान अर्थ को ज्ञापित नही करता है। अतः अभिधा से प्रतीयमान अर्थ के बोध होने का प्रश्न ही नही उठता। अतः उसके बोधन करने वाले व्यञ्जनाव्यापार को मानना ही पड़ेगा। दीर्घ-दीर्घतर व्यापार वालों का खण्डन ध्वनिवादियों ने ही नहीं, अनुमानवादी महिम भट्ट ने भी किया है। उनका कहना है कि अभिधा के सम्बन्ध में बाण का दृष्टान्त सर्वथा अनुचित है। बाण जैसा भेदन, छेदन व्यापार अभिधा नही कर सकती। आचार्य मम्मट ने इनका खण्डन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। वे कहते हैं कि 'ब्राह्मण तेरी कन्या गर्भिणी है।' इस वाक्य मे ब्राह्मण के शोक की अभिव्यक्ति दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से किसी प्रकार भी सम्भव नही है। अतः उसके लिए व्यञ्जना शक्ति और उससे उद्भुत व्यङ्ग्यार्थ को स्वीकार करना आवश्यक है। मम्मट का इनके विरोध में एक तर्क बड़ा सुन्दर है। वे कहते हैं कि जब आप अभिधा को दीर्घ-दीर्घतर व्यापार मानते हैं तो फिर उन्हें लक्षणा मानने की क्या आवश्यकता है। जब वे लक्षणा स्वीकार करते है तो फिर व्यञ्जना मानने में ही क्यों कष्ट है। धनिक के मत का खण्डन भी आचार्यों ने किया है। धनिक का कहना है कि तात्पर्या शक्ति की सीमा वहाँ तक है जहाँ तक कार्य होता है। उनके अनुसार काव्य में प्रयुक्त शब्दों का कार्य रस ही है। रस अभिधेय नही हो सकता वह व्यङ्ग्य है। अतः उनके अनुसार भी व्यञ्जना का मानना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार व्यञ्जनावादियों ने अभिधावादियों के समस्त मतों का खण्डन कर यह सिद्ध कर दिया है कि व्यञ्जना के बिना अभिव्यक्ति का काम ही नही चल सकता। अपने मत के पोषण मे उन्होंने कुछ मण्डनात्मक तर्क भी दिये हैं। सब से पहले उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है। इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कई तर्क दिये हैं। पहला तर्क है कि काव्य-दोष दो प्रकार के होते हैं, एक नित्य दूसरे अनित्य। च्युत-संस्कृति आदि नित्य दोष हे और श्रुतिकटुत्वादि अनित्य। अनित्य इसलिए हैं कि रौद्रादि रसों में वे गुण हैं। अतः रसों में और श्रुतिकटुत्वादि दोषों मे व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। व्यञ्ज मानने पर वृत्ति की आवश्यकता अपने आप सिद्ध हो जाती है कि कभी-क कई पर्यायवाची शब्दों में किसी भाव-विशेष को प्रकट शिष्ट शब्द प्रयोग किया जाता है। यह विशेष-भाव अभिधेय : तो

संकेतित अर्थ मात्र होता है। अतः इस विशेष भाव को प्रकट करने के लिए व्यञ्जना-वृत्ति मानना आवश्यक है। जैसे—'जानि न जाय निसाचर माया', यहाँ पर निसाचर शब्द से कवि ने विभीषण की दुष्टता छलपूर्णता आदि भावों की व्यञ्जना की है जो राक्षस आदि दसों पर्यायवाची से प्रकट नहीं की जा सकती है। इन भावों की अभिव्यक्ति भावों से नहीं व्यञ्जना से ही सम्भव है। उनका तीसरा तर्क है, बोद्धा, स्वरूप, सख्या, निमित्तकार्य, प्रतीतिकाल आश्रय विषय के कारणों से भी अभिधा से व्यञ्जना का पार्थक्य सिद्ध किया जा सकता है। वाच्यार्थ का बोध उन्हीं को होता है जो साक्षात् सकेतित अर्थ से परिचित होते हैं, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का बोध सहृदय-मात्र को हो सकता है, अतः बौद्धा भेद हुआ। इसलिए अभिधा और व्यञ्जना में अन्तर मानना पड़ता है। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के स्वरूप में भी अन्तर होता है। वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप और निषेधरूप होने पर विधिरूप आदि बिलकुल भिन्न होता है। अतः दोनों में अन्तर मानना अनिवार्य है। वाच्यार्थ में संख्याभेद भी है। वाच्यार्थ सदा एक ही होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अगणित हो सकते हैं जैसे 'सूर्यास्त हो गया'। इस वाक्य के प्रकरण भेद से सैकड़ों व्यङ्ग्यार्थ हो सकते हैं जैसे दो पढ़ने वाले विद्यार्थी कहते तो व्यञ्जना होगा 'पढ़ने चलना चाहिए', यदि छात्र सिनेमा प्रेमी हैं तो व्यञ्जना हुई कि 'चलो भाई सिनेमा देखने चलें' आदि आदि है। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में निमित्त भेद भी है। वाच्यार्थ का निमित्त शब्दोच्चारण-मात्र है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिए निर्मल प्रतिभा की आवश्यकता होती है। दोनों में कार्य भेद भी है। वाच्यार्थ का कार्य केवल अर्थ प्रतीति-मात्र कराना है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ चमत्कार उत्पन्न करता है। प्रतीति में कालान्तर भेद होने से भी अभिधा और व्यञ्जना में अन्तर होता है। वाच्यार्थ की प्रतीति पहले होती है व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति बाद में होती है। दोनों में आश्रय भेद भी पाया जाता है। वाच्यार्थ का आश्रय केवल शब्द है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का आश्रय शब्द और अर्थ दोनों होते हैं। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ विषय की दृष्टि से भी भिन्न होते हैं। वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों को एक समान प्रतीत होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की अनुभूति सहृदय भेद से भी होती है। जिस सहृदय की प्रतिभा और अनुभूति जितनी निर्मल होती है उसे व्यङ्ग्यार्थ उतना ही स्पष्ट अनुभव होता है। इस प्रकार व्यञ्जनावादियों ने अनेक तर्क देकर अभिधावादियों का खण्डन कर अभिधा से भिन्न व्यञ्जना का अस्तित्व दृढ़ तर्कों के आधार पर प्रमाणित कर दिया है।

बहुत से ऐसे आचार्य हैं जो अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा नामक काव्य-शक्ति में तो आस्था रखते हैं किन्तु वे व्यञ्जना को मानने में संकोच करते हैं। यहाँ पर हम इन लोगों के मतों और व्यञ्जनावादियों द्वारा दिये गये उनके खण्डन और उनके विरोध में किये गये स्वमतमण्डन की भी चर्चा करेंगे।

ध्वनिकार अभिनवगुप्त आदि ने लक्षणावादियों को भाक्त की संज्ञा दी है। लक्षणावादी आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य मुकुल भट्ट का मत विवेच्य है। इन्होंने

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधावृत्तिमातृका' में सबसे अधिक महत्त्व अभिधा को दिया है और अभिधा के अन्तर्गत ही उन्होंने लक्षणा को समेटने की चेष्टा की है। उन्होंने लक्षणा के भेदक तत्त्व तीन माने—वक्ता, वाक्य, वाच्य। इसी आधार पर उन्होंने लक्षणा तीन प्रकार की मानी है—वक्तृनिबन्धना, वाक्य निबन्धना और वाच्य निबन्धना। पहली में लक्ष्यार्थ का बोध वक्ता के रूप की पर्यालोचना के द्वारा होता है। जैसे 'तू ससि रूप जगत उजियारी, मुख न झांपु निसि होइ अँधियारी।' यह दूती के वचन पद्मावती के प्रति हैं। इसकी व्यञ्जना है कि तू खिन्न होकर भोग-विलास से उदासीन न हो। इसको मुकुल भट्ट वक्तृ निबन्धना लक्षणा मानते हैं किन्तु व्यञ्जनावादी यहाँ पर वक्तृवैशिष्ट्यमूलक वस्तु लक्षणा मानते हैं। वाक्य निबन्धना लक्षणा वहाँ मानी जाती है जहाँ वाक्य वैशिष्ट्य के कारण लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। ध्वनिवादी के अनुसार ऐसे स्थलों पर प्रायः वाक्यवैशिष्ट्यमूलक वस्तुध्वनि या अलंकारध्वनि, रसध्वनि हुआ करती है। इसी प्रकार वाच्यनिबन्धना वाच्य की पर्यालोचना के बाद होती है। ध्वनिवादी इसमें भी ध्वनि मानते हैं। उन्होंने इनके लक्षणावाद का खण्डन कर दिया है और सिद्ध कर दिया है कि जिन अर्थों को यहाँ ग्रहण किया गया वहाँ 'तद्‌योग' वाली लक्षणा की आवश्यक बातें ही पूरी नहीं होती। अतः यहाँ लक्षणा न मानकर व्यञ्जना ही माननी पड़ेगी। ये लोग व्यङ्ग्यार्थ को लक्षणा का एक अंग मानते हैं। ध्वनिवादियों ने व्यञ्जना को लक्षणा से विलक्षण एक तीसरी शक्ति मानने के पक्ष में अपना एक तर्क यह दिया है कि प्रयोजनवती लक्षणा में जो प्रयोजन है उसके बोध के लिए व्यञ्जना मानना अत्यन्त आवश्यक है। इसका बोध लक्षणा से किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि यहाँ लक्ष्यार्थ प्रयोजन विशिष्ट तद्युक्त अर्थ ही लक्ष्यार्थ होता है अर्थात् 'गंगायां' का लक्ष्यार्थ 'शीतलता और पवित्रता' से युक्त 'गंगा-तट' है तो ठीक नहीं है। इसका खण्डन आचार्य मम्मट ने मीमांसकों के इस सिद्धान्त को सामने रखता है कि ज्ञान का विषय दूसरा और ज्ञान का फल दूसरा होता है। 'गंगायांघोषः' में तट विषय है और शैत्य एवं पावनत्व फल हैं। इन दोनों को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता। इनमें केवल तट लक्ष्यार्थ और शैत्य पावनत्व व्यङ्ग्यार्थ हैं। यदि कोई शैत्य पावनत्व आदि को लक्ष्यार्थ मानने की हठधर्मी करे ही तो भी उसे लक्ष्यार्थ इसलिए नहीं मान सकते हैं कि उसमें लक्षणा की 'मुख्यार्थबाद' वाली शर्त नहीं पूरी होती। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के प्रयोजन के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानना सर्वथा अनिवार्य है। लक्षणा में व्यञ्जना के अन्तर्भाव न करने के पक्ष में ध्वनिवादी एक तर्क और देते हैं। उनका कहना है कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ऐसे स्थलों पर भी होती है जहाँ लक्षणा का कोई अस्तित्व नहीं रहता। उनका कहना है कि व्यञ्जना को अभिधा और लक्षणा के सदृश किसी भी निश्चित हेतु की आवश्यकता नहीं रहती। अभिधा के संकेत और लक्षणा को मुख्यार्थ बाधादि 'निश्चित' हेतुओं की अनिवार्य आवश्यकता रहती है किन्तु व्यञ्जना के लिए लक्षणा की अनिवार्य आवश्यकता नहीं रहती है। अभिधामूला व्यञ्जना में लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। अतः

लक्षणा का जहाँ अस्तित्व हो नहीं होता वहाँ उसमें किसी के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि व्यञ्जना लक्षणा से भिन्न कोई तीसरा शब्द शक्ति अवश्य होती है।

यहाँ पर हम व्यञ्जनाविरोधी कुछ और मतों की चर्चा कर देना चाहते हैं। इनमें अखण्ड बुद्धिवादी अर्थापत्ति प्रमाणवादी और अनुमानवादियों के मत विशेष उल्लेखनीय हैं। अखण्ड बुद्धिवादी वेदान्ती हैं। इनका कहना है कि वेदान्तवाक्यों की वाच्यार्थ प्रतीति अखण्ड बुद्धि से होती है। इनका कहना है कि पद वर्ण आदि का भेद अज्ञानमूलक है। वास्तविक तत्त्व अखण्ड वाक्यार्थ ही है। आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि अखण्ड बुद्धि निर्ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ है। यह स्वीकार कर लेने पर भी निषेधपरक वाक्यों का विधिपरक अर्थ कदापि नहीं लिया जा सकता। उसके लिए व्यञ्जना हमें माननी ही पड़ेगी।

कुछ लोग व्यञ्जना का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में मानने के पक्षपाती हैं। मीमांसक अर्थापत्ति को एक प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि जहाँ उपपाद्य ज्ञान से उपपादक ज्ञान की कल्पना की जाती है वहाँ अर्थापत्ति होती है जैसे 'स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता' इसका अर्थापत्ति से यह अनुमान किया कि वह रात्रि में खाता है। अर्थापत्ति वास्तव में अनुमान का ही रूपान्तर है। अनुमेयार्थ व्यङ्ग्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। यह बात आगे के विवेचन से स्पष्ट प्रमाणित हो जायगी।

व्यञ्जना के विरोधी आचार्यों में अनुमानवादी महिम भट्ट का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव करने की कामना से अपना 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ ही लिख डाला है। महिम भट्ट ने दो ही प्रकार के अर्थ माने हैं वाच्यार्थ और अनुमेयार्थ। वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्भाव उन्होंने अनुमेयार्थ में किया है। व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाने के लिए इन्होंने ध्वनि के बहुत से भेदों के व्यङ्ग्यार्थ को अनुमान प्रक्रिया से प्राप्त सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने अनेक तर्कों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि व्यङ्ग्यार्थ अनुमान का विषय नहीं हो सकता। इस बात को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण विचारणीय है—

भ्रम। धार्मिक। विस्रब्ध स शुनकोऽद्यमारितस्तेन
गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्त सिंहेन।'

इस उदाहरण में अनुमानवादियों के अनुसार अनुमान का स्वरूप होगा गोदावरीतीरे धार्मिक भ्रमणायोग्य सिंहवत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्। इस अनुमान में सिंहवत्वात् यह हेतु हुआ और भीरुभ्रमणायोग्यत्वम् साध्य हुआ। व्याप्ति का रूप होगा 'यत्र यत्र

सिंहवत्वम् तत्र तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम्' किन्तु मनुष्य इस निष्कर्ष को मानते हुए भी वहीं जाते हैं क्योंकि व्याप्ति को वे अयोग्य समझते हैं। जब व्याप्ति ही अयोग्य है तो फिर अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः ऐसे स्थलों पर विधिरूप वाक्य से निषेध रूप अर्थ की व्यञ्जना करने वाली शक्ति व्यञ्जना ही है। इस प्रकार ध्वनि के समर्थक आचार्यों ने ध्वनि-विरोधी समस्त मतों का खण्डन कर व्यञ्जनावृत्ति की बड़ी दृढ़-भूमिका पर प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार काव्य में प्रतिष्ठित तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

लक्षणा

डॉ० मनोहरलाल गौड़

लक्षणा का जन्म भाषा के इतिहास में कभी हुआ, इस विषय में महाकवि शैली के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उनका कहना है कि यह कल्पना का वाहन है। कल्पना जाति की किसी विशेष आयु में नहीं उत्पन्न होती वरन् वह जन्म की सहचरी है। मानव को जब से बुद्धि मिली है तभी से उसकी क्रिया, कल्पना भी उसे मिली है। पर संसार के शब्द कल्पना को व्यक्त करने के लिये नहीं बनते। कल्पना व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वह व्यक्ति के हिसाब से न्यूनाधिक किंवा विभिन्न रूप की होती है। शब्दों का सृजन और भाषा का निर्माण सामूहिक प्रयत्नों के लिए होता है। इसीलिए हमारे शब्द अधिकतर प्रमेय वस्तुओं जैसे, वृक्ष, नदी, पर्वत, गाय आदि के संकेत पर हैं। भाववाचक शब्द जाति के विचारों के समृद्धिकाल में, जबकि व्याकरण के द्वारा भाषा के बालों की खाल निकाली जाने लगती है, प्रत्ययादि के परिवर्धन द्वारा बनाये जाते हैं। वे भी संख्या में बहुत कम होते हैं और भावों की एक सामान्य दशा के रूप के परिचायक होते हैं, उदाहरण के लिए वेदना शब्द तो एक है पर व्यक्तिगत रूप से वेदना के अनन्त भेद होते हैं। इन बारीकियों, व्यक्तिगत अनुभूतियों के लिए शब्दों की सदा से कमी रही है। जिस अनुपात से नूतन भावों की उत्पत्ति होती गई उस अनुपात से उनके प्रतिपादक शब्दों की सृष्टि न हो सकी और उन्हीं पुराने शब्दों की संगति बैठाकर रूपक के रूप में उनका व्यवहार कर डाल के नये अर्थ के उद्देश्य की सिद्धि की गई। भावों की अभिव्यंजना के समय कवि अनुभव करता है कि भाव का ठीक-ठीक द्योतन करने वाला शब्द तो नहीं है, पर ऐसे शब्द अवश्य विद्यमान हैं जो हैं तो वस्तु विशेष में संकेतित ही, पर जिन में अभिद्योत्य भाव के गुण वर्तमान हैं। वह उसी वस्तु विशेष के वाचक शब्द को लेकर उसे भाव का वाचक या लक्ष्य बना लेता है।[1] प्रिय के रूप पर रीझ जाने से प्रेमी के हृदय में जो एक विशेष प्रकार की अशान्ति उत्पन्न हुई वह वही जानता था। उसके लिए नियत संकेत वाला जब कोई शब्द उसे नहीं मिला तो उसने 'बिलोना' क्रिया का उसके लिये

---

१ रोमांटिक साहित्य शास्त्र महाकवि शैली प्रकरण।

प्रयोग किया यद्यपि विलोना दही का होता है। 'रीझ विलोएई डारति हैं हियें'[1]। इसी प्रकार हल्के वस्त्रों में से बाहर दिखाई देने वाली आह्लादकारिणी सुजान की अंग: दीप्ति का कवि 'बरसति अंग रंग माधुरी बसन छनि' वाक्य द्वारा अभिव्यंजना करता है। 'अंग अंग आली छवि छलक्यो करत हैं', 'लाजनि लपेटी चितवनि भेद भायभरी' आदि वाक्य उपर्युक्त आवश्यकता की ही सृष्टि हैं। इस प्रकार शब्दों की परस्पर में कलम लग जाने से बड़े मधुर और अपूर्व फल आते हैं। इसी को संस्कृत आचार्यों ने आरोपा नाम से कहा है जो लक्षणा का स्वरूप लक्षण है।[2] इसलिए शैली उन लोगों से सहमत नहीं है जो कहते हैं कि भाषा की आद्य दशा में ही काव्य की सृष्टि हो सकती है। उनका कहना है कि समाज की शैशवावस्था में भाषा स्वयं ही काव्य है। अतः वे लोग भ्रम में हैं जो काव्य की स्थिति एक विशेष युग में ही समझते हैं।[3] समाज की शैशवावस्था में काव्यमय भाषा के होने का सबसे उत्तम निदर्शन ऋग्वेद की भाषा है। स्वर्गलोक का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि हम उन स्थानों पर जाने की कामना करते हैं जहाँ ऊँचे और बड़े सींगों वाली गाय जाती हैं।[4] यहाँ गाय ऊर्ध्वगामिनी सूर्य किरणें हैं जो ऊपर को सींग कर भागती हुई गायों जैसी ऋषि को प्रतीत हुईं। इसी प्रकार उषा का वर्णन किया गया है। जिसका बछड़ा चमकीला है वह स्वयं भी चमकीली है। उसके लिए कृष्ण रात्रि ने स्थान खाली कर दिये हैं। वे दोनों समान रूप की बहन हैं। अमृत हैं। एक दूसरे के अनुगत हैं और स्वर्गरूप से आकाश में घूमती हैं।[5] यहाँ चमकीला बछड़ा सूर्य है। रात्रि और उषा को बहन कहा गया है। उन्हें अमृत तथा एक दूसरे की अनुवर्तिनी भी बताया गया है। यह सब लक्षणा के श्रेष्ठ रूप हैं।

इस तरह लक्षणा भाषा की वह अक्षय शक्ति निधि है जो उसकी आद्य दशा में कम हो जाती है और आरम्भ की दीन-हीन अवस्था में अधिक-से-अधिक बढ़ती है। इसके रहते भाषा में किसी प्रकार का सामर्थ्याभाव नहीं भासित होता।

शास्त्रीय-विवेचन

ऊपर बताया गया है कि जब एक शब्द से कोई भाव या स्थिति का पूर्ण

---

१. सुहि० १७५।
२. लक्षणारोपिता क्रिया, काव्यप्रकाश।
३. डा० देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्यशास्त्र, पृ० ८८-८९।
४. ऋग्वेद १, १५४ : ६, "तां वां वास्तून्युश्मसिगमध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः"
५. ऋग्वेद १, ११३ : २,
रुशद्वत्सा रुशतीश्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समान बन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्ण चरत आमिनाने। ऋग्वेद ॥

अभिव्यञ्जन नहीं हो सकता तो कवि दूसरे शब्दों का प्रयोग करता है। वह प्रयुक्त शब्द प्रकृत में संगत नहीं होता। विर्वान की बानि प आनि बवरी' वाक्य में बखेरना व्यापार का ज्ञान के साथ सम्बन्ध असंगत है। इसे शास्त्रों में अनुपपत्ति कहा है। यह कभी अन्वय की होती है जैसे इसी वाक्य में और कभी तात्पर्य की होती है। दूसरे प्रकार के स्थलों में अन्वय तो ठीक हो जाता है पर वक्ता का तात्पर्य ठीक नहीं बैठता। किसी निर्दय साहूकार से ऋणी की यह उक्ति कि 'आपने बड़ा अच्छा किया। मेरी जमीन तो ले ही ली थी मकान भी ले लिया'—दूसरे प्रकार की है।[1] इसमें तात्पर्य की अनुपपत्ति है। तात्पर्य ही वाक्यों में मुख्य होता है। अतः मुख्यार्थ-बाधादि जो तीन हेतु लक्षणा के लिए आवश्यक माने जाते हैं वे सार्वत्रिक नहीं हैं। तात्पर्य पर विशेष दृष्टि रखने वाले वैयाकरण इसलिए लक्षणा नहीं मानते। उनका कहना है कि मुख्यार्थ बाधादि के बिना भी विपरीत लक्षणा के स्थल में तात्पर्य बदलना पड़ता है। अतः यह मानना चाहिए कि शब्दों की अर्थ-द्योतन शक्ति सीमित अथवा अपरिवर्तनीय नहीं होती। प्रसङ्ग के अनुसार वह बढ़ या परिवर्तित हो जाती है। जिसे लक्षणा मानने वाले लक्ष्यार्थ कहते हैं वह वाच्यार्थ के ही क्रोड में आ जाता है। लक्षणा की आवश्यकता नैयायिक अधिक समझते हैं। उसका हेतु उनका अति तार्किक स्वभाव है।

शब्दों की अभिधा शक्ति में किस प्रकार शनैः शनैः परिवर्तन आ जाते हैं इसका इतिहास स्वयं लक्षणा का विवरण उपस्थित करता है। आचार्य मम्मट ने 'यह व्यक्ति अपने कार्य में कुशल है', इस वाक्य में लक्षणा मानी है। विश्वनाथ ने यह कहकर इसका खंडन किया है कि कुशल शब्द का 'चतुर' वाच्यार्थ ही है। यहाँ लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं। मम्मट कुशल शब्द का वाच्यार्थ कुशा का लाने वाला (कुश+ल) समझते थे। विश्वनाथ ने अपनी मान्यता में यह युक्ति दी है कि शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त कुछ और होता है तथा व्युत्पत्ति निमित्त कुछ और।[2] पर वास्तव में व्युत्पत्ति निमित्त (योगार्थ) ही पहले-पहले शब्द का वाच्यार्थ या प्रवृत्ति निमित्त होता है। यदि ऐसा न होता तो वह अर्थहीन कहलाता। जिस शब्दार्थ सम्बन्ध का व्यवहार नहीं है वह सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। जब कोई शब्द अपने पहले अर्थ से सम्बन्धित दूसरे किसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है तो साधारण लोग उसी को लक्षणा कहते हैं। पहले वह लक्षणा प्रयोजनवती होती है। समयान्तर में व्यवहारा-भ्यास के कारण वह प्रसिद्ध हो जाती है। प्रयोजन का भान मंद पड़ जाता है। यही रूढ़ लक्षणा है। तीसरे विकास क्रम में लक्षणा की भी अनुभूति नहीं होती। वह शब्द

---

१ मिलाइये झूठ की सचाई छाक्यौ त्यों हित कचाई पाक्यौ।
ताके गुन गन घन आनन्द कहा गनौ। घ० क० २०।

२ अन्यद्धि शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तम् अन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम्।
—साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद

लक्ष्यार्थ का रूढ़िवाचक बन जाता है। पशु, कुशल, मृग, महाशय, गुरु आदि शब्द इसी अर्थ परिवर्तन के इतिहास को बताते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में वाग्देवतावतार मम्मट का कुशल शब्द में लक्षणा मानना तथा १४वीं शताब्दी के अन्त में साहित्यिक विश्वनाथ का चतुर अर्थ को वाच्यार्थ कहना दोनों ही ठीक हैं। शब्दार्थ सम्बन्ध के विकास क्रम के द्योतक दोनों पक्ष हैं। विवाद केवल शब्द शक्ति के परिवर्तन सिद्धान्त को न मानने से खड़ा हुआ था। समय का अन्तर इसका कारण था। रूढ़िमूला तथा प्रयोजनवती लक्षणाओं का भेद भी इस प्रकार शब्द के विकास क्रम के ही भेद हैं, लक्षणा के मूल स्वभाव में कोई अन्तर नहीं होता। दोनों एक ही प्रकार की लक्षणाएँ होती हैं। रूढ़िमूला में प्रयोजन का भान व्यवहाराभ्यास से घिसकर मंद हो जाता है। सर्वथा लोप फिर भी नहीं होता। 'कलिंग साहसी देश है', इसमें भी समस्त की प्रतीति प्रयोजन है जो कलिंगवासी कहने से नहीं सिद्ध होती। रूढ़िमूला लक्षणाओं में ही नहीं मुहावरों में भी जो रूढ़ि लक्षणाओं के भी घिसे रूप हैं, प्रयोजन की प्रतीति होती है। 'रात बीतती है' न कह कर 'रात भीजती है' कहने से रात के चौथे पहर में ओस की सजलता तथा आर्द्रता की धीमी प्रतीति होती है। तभी आनन्दघन 'जीव सूक्यो जाय ज्यौं-ज्यौं भीजी सरवरी' में विरोध की व्यञ्जना करते हैं।

शास्त्रकारों ने लक्षणा को जघन्यवृत्ति माना है। इसके समझने और संगति बिठाने में बुद्धि को परिश्रम करना पड़ता है। यदि उसके प्रयोग में कोई विशेष फल न हो तो यह कष्ट प्रयासकरणीय ही न रहे। इसलिए अनुभव यही बताता है कि प्रत्येक लाक्षणिक प्रयोग में चाहे वह रूढ़ हो या योग, प्रयोजन अवश्य रहता है। फलतः रूढ़ा और प्रयोजनवती भेद व्यंग्यार्थ की मंदता तथा स्पष्ट प्रतीति के कारण होते हैं, उसकी विद्यमानता तथा अविद्यमानता के कारण नहीं। वैयाकरणों ने शब्दार्थ सम्बन्ध के इस परिवर्तमान स्वरूप को पहचानकर लक्षणावृत्ति को नहीं माना। वे लोग केवल अभिधा और व्यंजना दो वृत्तियाँ मानते हैं। अभिधा का वाच्यार्थ दो प्रकार का होता है—प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध। दूसरे लोग जिसे लक्ष्यार्थ कहते हैं, वह वैयाकरणों के यहाँ अप्रसिद्ध वाच्य अर्थ है।

व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करने का कारण यह है कि उसके द्वारा ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जिसका शब्द से सम्बन्ध नहीं रहता। वाक्यगत प्रसङ्ग के बल से उसका भान होता है। अभिधावृत्ति 'सम्बन्धित मात्र अर्थ का प्रत्यायन करा सकती है, असम्बन्धित अर्थ का नहीं। लक्षणा के द्वारा जिस अर्थ की उपस्थिति होती है वह सम्बन्धित ही होता है।'[१] अतः अभिधा लक्ष्यार्थ की प्रतीति तो करा सकती है,

---

१. नैयायिकों ने सम्बन्ध को ही लक्षणा माना है,
शक्य सम्बन्धी लक्षणा उनका सिद्धान्त है।
—देखिए विश्वनाथ पंचानन की न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, शब्द प्रकरण।

व्यग्याथ नहीं। व्यंजक वाक्यों में सम्बन्ध बनाने तक की सगति करने के लिए आता है। अन्यथा प्रयोजन तो व्यंग्यार्थ होता है। इसलिए उस (लक्ष्यार्थ) मानने या न मानने में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

व्यग्यार्थ की सिद्धि भी लक्षणा में किस प्रकार होती है इस पर विचार होना चाहिए। क्या व्यग्यार्थ ऐसी कोई वस्तु है जिसकी पहले कोई सत्ता न थी ? व्यजक वाक्य में एक विशेष प्रकार के प्रसग के घटित हो जाने से उसकी अकस्मात् उत्पत्ति हो गई या उसका कार्य रूप या सूक्ष्म रूप से वाक्य में वर्तमान रहता है ? इसके उत्तर में यही कहा जाएगा कि व्यग्यार्थ की जिस रूप में व्यजक वाक्य द्वारा प्रतीति होती है वह उस रूप में पूर्व सिद्ध नहीं है। नहीं तो वाच्यार्थ हो जाता। सर्वथा अमूल प्रतीति भी उसकी नहीं होती। उसके कुछ बीज वाक्य के वाच्यार्थ में निहित रहते हैं। लक्षण वाक्यों में वाच्य अर्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता। उसकी प्रतीति भी व्यग्यार्थ के साथ-साथ होती रहती है। यद्यपि वह स्फुट नहीं होता। उपादान लक्षणाओं में तो वाच्यार्थ का भान सब मानते ही हैं। लक्षणलक्षणाओं में भी वह लुप्त नहीं होता। गंगा में घोष है वाक्य को प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा का भेद माना जाता है अर्थात् यहाँ वाच्यार्थ का भान नहीं होता यह इसका सारांश सिद्ध होता है। पर शीतलता तथा पावनता की प्रतीति जो इस लक्षणा का प्रयोजन है, वह गंगा के वाच्यार्थ प्रवाह का ही गुण है। इसलिए तो गंगा के किनारे झोपड़ा है न कह कर गंगा में झोपड़ा है कहा जाता है। वास्तव में सभी प्रकार की लक्षणाओं में वाच्यार्थ की सत्ता बनी रहती है। उसमें मिलकर ही लक्ष्यार्थ व्यग्यार्थ की उपस्थिति करता है। 'मन ढरकौं हा बानि ... नावनि लपटी चितवनि' 'लहकानि की आन परी छलक' 'ननति वारति रूप के भौंरे' 'मानस की बन है जग' 'प्रान घर मुरझ' आदि आनन्दघनजी के इनके वाक्यों में 'ढरकौं हो' 'लपटी' 'छलक' 'बौरेउ' 'बन' 'मुरझ' आदि शब्द जो अनुभूति की एक दिशा की ओर सकेत करते हैं वह वाच्यार्थ के आधार पर ही। मुरझाना रूप मुरझाई वनिता की सी प्राणों की स्थिति का द्योतन वाच्यार्थ द्वारा ही करता है। इस प्रकार व्यग्यार्थ में वाच्यार्थ का बड़ा योग रहता है। महाकवि देव ने जो अमिधा को सब वाक्यों में श्रेष्ठ माना है वह इस ही द्योतक गुणों के कारण माना है। विरोधादि चमत्कार जहाँ लक्षक वाक्यों में आते हैं वे सब भी वाच्यार्थ पर ही आश्रित होते हैं। उदाहरण के लिए, 'गति न चलनि लति मति मति पगु होति' 'जतन बढ़े है सब वाकी झर जाति' 'इत मौन में व्याकुल प्रान पुकारें' 'बूयउत्क्ष्म बोरई सीवौ' 'मारिबौ बनमीच बिना जिय जीबौ' आदि वाक्यों में विरोध वाच्यार्थ ही में है लक्ष्यार्थ तो उसकी उलटा संगति मिलाता है। अत निष्कर्ष में यही आता है कि लक्षण वाक्यों में वाच्यार्थ की उपस्थिति अप्रकट रूप से होती ही है। विपरीत लक्षणाओं के विषय में शंका हो सकती है कि यहाँ लक्ष्यार्थ का तनिक भी भान नहीं होता। पर नहीं वहाँ भी लक्ष्यार्थ यदि विध्यात्मक है तो वह

वाच्यार्थ निषेधात्मक पर आधारित है। उसी प्रकार लक्ष्यार्थ निषेधात्मक हैं तो वह वाच्यार्थ के विध्यात्मक रूप का सहारा लेता है। जैसे—'झूठ की सचाई छाक्यौ त्यों हित कचाई पाक्यौ ताके गुनगन घन आनंद कहा गनौं' वाक्य में गुनगन का अर्थ अवगुण गुण है। इस प्रकार बिना वाच्यार्थ के वहाँ भी लक्ष्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। यह एक व्यवस्था सिद्धि होती है कि लक्षक वाक्यों में अस्फुट रूप से वाच्यार्थ का अवश्य भान होता है और लक्ष्यार्थ के साथ उसी के योग से व्यंग्यार्थ की सिद्धि होती है। उपादान लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा का भेद भी फिर वाच्यार्थ की प्रकट तथा अप्रकट प्रतीति के कारण बनता है उसके सर्वथा उपस्थित होने या न होने के कारण नहीं बनता। इस प्रकार लक्षणा के चार भेद रूढ़ा, प्रयोजनवती, उपादान लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा बहुत अधिक तात्त्विक नहीं है। दो भेद शेष रह जाते हैं गौणी तथा शुद्धा। ये लक्षणाओं के मौलिक अन्तर पर आधारित है। शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सादृश्य तथा सादृश्येतर दो प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। पहले सम्बन्ध में पहली और दूसरे में दूसरी की प्रतीति होती है।

सिसृक्षा का स्वरूप

आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

पुरान शास्त्रकारो ने जग को नामरूपात्मक कहा है। इसका मतलब यह है कि दृश्यमान चराचर जगत् वस्तुत दो प्रकार के तत्त्वो स बना है—नाम और रूप, पद और पदार्थ। नाम कान का विषय है, रूप चक्षुरिन्द्रिय का। हम जो कुछ सुनते हैं वह शब्द है नाम है, पद है, जो कुछ देखते है वह अर्थ है, नामी है, पदार्थ है। आधुनिक प्राणिशास्त्री बताते हैं कि मनुष्य जिस गम खून वाली जन्तु-श्रेणी का जीव है वही बोल सकती है। वाक्-सम्पत्ति इस दुनिया म सबको नही मिली। दृष्टि-सम्पत्ति इस श्रेणी व जीवो के अतिरिक्त कुछ औरो को भी प्राप्त है। परन्तु वाक्-सम्पत्ति बहुत थोडे जीवो का ही मिली है। इस वाक्-सम्पत्ति का जैसा वैभव मनुष्य को मिला वैसा किसी को नही मिला। इन्द्रियार्थ कई हैं—शब्द है, स्पश है, रूप है, रस है, प्राण है। कई इन्द्रियार्थ अन्य जन्तुओ को भी सुलभ हैं। कई जन्तु मनुष्य से अधिक दृष्टि शक्ति, स्पश शक्ति, घ्राण शक्ति और रस शक्ति के अधिकारी हैं, पर शब्द शक्ति मे मनुष्य सर्वोत्तम है। इस विषय मे उससे अधिक शक्ति सम्पन्न जन्तु को हम नही जानते।

इस श्रेणी के जन्तुओ म वाक्-शक्ति का विकास विभिन्न स्तरो पर हुआ है। परन्तु कुछ मानस भावो को व्यक्त करने के लिय निश्चित प्रकार की बोलियो का अस्तित्व पाया जाता है। चिडियाघरो के विशेषज्ञो ने ग्रामोफोन की सहायता से विभिन्न भावो को प्रकट करन मे समथ पशु-पक्षियो की भाषा का सन्धान पाया है। साधारणत भय, उल्लास, सगमेच्छा आदि मनोभावो को व्यक्त करने के लिये ये जन्तु विभिन्न प्रकार की ध्वनियो का व्यवहार करत हैं। मनुष्य पूव रूप से इस वतमान रूप मे आने के बीच हजारो वर्षों का समय लगा होगा। उस अवधि मे मनुष्य

मिलती-जुलती अविभाज्यवर्ण-वैशिष्ट्य वाली भाषा बोलता होगा। वर्ण या अक्षर रूप में इस वाणी का विभाजन नाद में हुआ है। उस समय की मामूली भावनाओं की अभिव्यक्ति में अक्षर एक-दूसरे से इस प्रकार अविभाज्य रूप में गुँथे रहते होंगे जिस प्रकार जल-प्रवाह में जल-बिन्दु गुंथे रहते हैं। संगीतात्मकता या स्वरों के आरोह और अवरोह से वे एकीकृत या प्रवाहरूप भाषा होगी। संगीत में उसी पुरानी पद्धति का विकसित और क्रमबद्धीकृत रूप उपलब्ध होता है। आदिम जातियों की भाषा में अब भी संगीतात्मकता अधिक मिलती है। नये भाषा वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म ध्वनिग्राही यन्त्रों की सहायता से सभ्य जातियों की भाषा के अधिक विशिष्टीकृत ध्वनियों में भी ध्वनिग्राम का सन्धान पाया है। कहने का मतलब यह है कि आदिम मानव की भाषा अविभाज्य वर्ण-वैशिष्ट्यवती और लयात्मक थी। संगीत आदि-मानव का प्रथम आविष्कार नहीं है, प्रथम प्रयत्न-साध्य त्याज्य वस्तु है। वर्ण-वैशिष्ट्यवती भाषा और पदार्थों के नामकरण के प्रयत्न ने धीरे-धीरे संगीतात्मक भाषा से मुक्ति पाई है।

इसका मतलब यह हुआ कि सभ्यता की ओर अग्रसर होते समय मनुष्य संगीत को छोड़कर संगीत-विरहित भाषा प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हुआ था।

क्यों उसने संगीत से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया?

सभ्यता का अर्थ है बाह्य तथ्यात्मक जगत् से अधिकाधिक परिचय। मनुष्य ने नई परिस्थितियों पर विजय पाने के लिए नये-नये पदार्थों का परिचय पाया। संघबद्ध रूप में वह कदाचित् पहले भी रहता था। प्राणिशास्त्री ऐसा ही कहते हैं। परन्तु बौद्धिक विकास के साथ उसकी संघबद्धता के नियमों, रूढ़ियों और आचारों की व्यवस्था करनी पड़ी। उसे केवल कंठोष्ठ उच्चरित भाषा का ही नहीं, इशारों और अभिनयों की भाषा का भी सहारा लेना पड़ा। और जो बात कभी नहीं हुई थी वह भी हुई। बाह्य तथ्यात्मक जगत् के साथ संघर्ष के लिए उसे उसी से प्राप्त वस्तुओं का सहारा लेना पड़ा। भाषा के तुरन्त बाद ही उसे हाथ से बाह्यजगत् की वस्तुओं का अपने हित के लिए निर्माण करना पड़ा। सभ्यता आगे बढ़ी। पारस्परिक सहयोग और बाह्यजगत् से संघर्ष—इन दो उद्देश्यों से मनुष्य को 'प्रयोजन' के वश में आना पड़ा। केवल अन्तर की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति से वह आत्मरक्षा नहीं कर सकता था। काम नहीं चला तो कामचलाऊ (या प्रयोजनपरक) माध्यम की जरूरत हुई। संघर्ष की वृद्धि और सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता से उसे 'संगीतात्मकता' को छोड़कर गद्यात्मकता की ओर अग्रसर होना पड़ा। यह प्रयोजन (अर्थ) की मार

महँगी पड़ी। सभ्यता की ओर अग्रसर होता था वह अपनी अन्तर्निहित आवश्यकताओं से ही बाध्य था। जिजीविषा की दुर्निवार शक्ति ने उसे उधर ठेल दिया पर संगीत के लिए वह व्याकुल था। इसी व्याकुलता ने रचनाओं को जन्म दिया। कविता आई अभिनय आया चित्र आया। प्रत्येक अर्थ या प्रयोजन की मार से बचने का प्रयास। बीसवीं शताब्दी के कवि (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) भी इसी अर्थभारग्रस्त भाषा के दम घुटने से उतने ही व्याकुल हैं। रवीन्द्रनाथ की एक कविता की कुछ पंक्तियों का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार होगा—

> हाय भाषा मनुज की है बँधी कठिन अर्थ के इद्रपाश में,
> चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को ही घेर घेर।
> अविराम बोझिल मानवीय प्रयोजनों से रुद्ध हो आया गिरा का प्राण।'

यह प्रयोजनवती गद्यात्मक भाषा क्या है?

विभिन्न अर्थों में संकेतित कुछ शब्द या अक्षर-समवाय हैं जो केवल एक व्यक्ति के नहीं बल्कि समूचे समाज में समान रूप से गृहीत होते हैं। बाह्यजगत् में जो पदार्थ हैं उनके निये ये प्रतीक रूप में व्यवहृत होते हैं। व्यक्ति विशेष के मुख से उच्चरित ये प्रतीकात्मक शब्द श्रोता के चित्त में बाह्यजगत् में स्थित पदार्थों का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) करते हैं। ये शब्द बहुधा आन्तरिक भावों का प्रक्षेपण भी करते हैं। ये प्रतीकात्मक शब्द आपस में व्याकरण और वाक्यविन्यास की सुगठित व्यवस्था द्वारा संघटित होकर भाषा का रूप ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि से ये शब्द मनुष्य द्वारा क्रमोद्भावित और समाज द्वारा सर्वात्मना स्वीकृत स्वतन्त्र व्यवस्था (व्याकरण वाक्यविन्यास) के अधीन हैं। दूसरी ओर इनके द्वारा अभिव्यक्त अर्थ बाह्य (या आन्तर) जगत् की प्रकृति प्रदत्त स्वतन्त्र व्यवस्था के अधीन है। शब्द प्रतीकों द्वारा प्रक्षेपित अर्थ (पदार्थ) दोनों स्वतन्त्र व्यवस्थाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करके ही सार्थक बनते हैं। भाषा दोनों व्यवस्थाओं के बीच जब तक सामंजस्य स्थापित नहीं करती तब तक चरितार्थ नहीं होती। 'अग्निना सिंचति' (आग से सींचता है) व्याकरण और वाक्य रचना की व्यवस्था की दृष्टि से पूर्णतः ठीक है पर बाह्य जगत् के 'आग' पदार्थ और 'सींचना' क्रिया के साथ सामंजस्य न होने से निरर्थक है। मजेदार बात यह है कि इस सीमा की जानकारी होते हुए भी कभी-कभी भाषा में एक प्रकार के अनमिल प्रयोग इसलिए किये जाते हैं कि वह अत्यधिक सार्थक बन सके। प्रयोजन के अत्यधिक दबाव के भीतर से प्रयोजनातीत की व्यंजना भी भाषा का ही काम है। एक ऐसे ही अनमिल प्रयोग का उदाहरण होगा—कमल की पखुड़ियों से बबूल को काटता है। पर सचमुच ही कालिदास ने ऐसी बात कही है—

इदं किला व्याज मनोहरं वपुः
तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीं तरुं छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ।

[शकुन्तला के इस सहज मनोहर शरीर को जो ऋषि तप के योग्य बनाना चाहता है, वह निश्चय ही नील कमल की पंखुड़ियों की धार से शमी वृक्ष को काटना चाहता है।]

यहाँ 'शमी वृक्ष', 'नीलोत्पलपत्र धारा' और 'काटना' के प्रक्षेपित अर्थों का समवाय बाह्यजगत् में असम्भव व्यापार है। कवि यही कहना चाहता है कि वह ऋषि असम्भव की कामना कर रहा है। प्रक्षेपित अर्थों के द्वारा इस असम्भव और अनुचित कार्य का जो भाव-चित्र बनता है वह अर्थ की प्रतीति को गाढ़ बनाता है। बिना भावचित्र को प्रत्यक्ष कराये कवि यह बात नहीं कह सकता था। भाषा उसे कहने में असमर्थ है। एक 'उफ्' या 'अह्' कह कर मनुष्य जितना कह जाता है उतना भी भाषा नहीं कह पाती। 'उफ्' या 'अह्' यद्यपि भाषा में लिख बोल लेने की व्यवस्था कर ली गई है पर वह वास्तव में अविभाजवर्ण वैशिष्ट्य वाली आदिम भाषा के ही भग्नावशेष हैं। भाषा सब कहाँ कह पाती है? आज भी हम भावावेश की अवस्था काकु और स्वराघात के तारतम्य के अनुसार कह जाते हैं। हाथ घुमाकर, मुँह बनाकर, आँखों की विशिष्ट भंगियों के द्वारा हम अनकही कहने की कोशिश करते हैं। मनुष्य उस भूली हुई कहानी को अनजान में स्मरण करता रहता है। छन्द, सुर, लय द्वारा हम भाषा में उसी अकह कहने की शक्ति भरते हैं। कविता मनुष्य की अन्तःस्थित सहजात भावधारा और बाह्यजगत् की वास्तविकता के व्याकुल संघर्ष की उपज है। कविता समस्त कलाओं की जननी है। कविता आदिम है। पदार्थ से पद का महत्व उसमें कम नहीं है, कुछ अधिक ही है। इसीलिए वह अनुवादित नहीं हो पाती। पदार्थ का व्याकरणसम्मत व्यवस्थापन उसे दरिद्र ही बनाता है।

सामान्य प्रयोजनों को पूर्ण करने वाली गद्यात्मक भाषा दो व्यवस्थाओं से चलित होती है—एक तो तथ्यात्मक जगत् की बाह्य सत्ता की व्यवस्था से और दूसरी अपनी ही व्याकरणात्मक और वाक्य-विन्यास-मूलक व्यवस्था से। कविता को इन दोनों व्यवस्थाओं को स्वीकार करना पड़ता है पर साथ ही उसकी अपनी स्वतन्त्र एक तीसरी व्यवस्था है। छन्द, लय, यति, तुक आदि की भी एक व्यवस्था है, जो कविता की अपनी व्यवस्था है। यह शब्दों की सजावट पर आधारित है। इनके प्रयोग से कविता बाह्यजगत् और व्याकरण की व्यवस्थाओं से एक अन्य प्रकार की व्यवस्था के अधीन हो जाती है। यद्यपि कविता अर्थ से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकती,

और सच तो यह है कि शब्द और अर्थ के सहित-सहित बने रहने के कारण ही किसी समय इसे साहित्य कहा गया था पर शब्द उसके मुख्य उपादान हैं। आदिम जातियों में शब्द को अर्थ से अभिन्न माना जाता है। तान्त्रिक श्रेणी की आदिम प्रक्रियाओं में देवदत्त शब्द को शूलविद्ध करने से देवदत्त पदार्थ को भी शूलविद्ध करने का विश्वास पाया जाता है। आदि मानव शब्द को अर्थ का ही अभिन्न रूप मानता था। वहाँ शब्द में एक विशिष्ट शक्ति मानी जाती थी जो अर्थ तक सीधे पहुँचती थी। शब्द वहाँ प्रतीक नहीं बहुत कुछ अर्थ का समशील होता था। कविता शब्द की इस रहस्यमयी शक्ति में आज भी विश्वास करती है। इसीलिए कविता का अनुवाद कठिन होता है। केवल संकेतित अर्थ का प्रक्षेप-मात्र कराके कविता विरत नहीं हो जाती। लय, ताल, सुर और झंकार के मिलित योग से वह प्रक्षिप्त अर्थ से अतिरिक्त ध्वनित कर जाती है। प्रक्षिप्त संकेतित अर्थ कई बार वहाँ निष्प्रभ या अत्यन्त तिरस्कृत' होता है। आदि मानव के शब्दार्थ समशीलता के निकट पहुँचाने में कविता सर्वाधिक समर्थ कला है। शब्द की इस महिमा को ठीक-ठीक पहचानने के कारण ही पण्डितराज जगन्नाथ ने शब्द को ही काव्य माना था। उनके मत से, शब्द, अवश्य ही 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' होना चाहिए अर्थात् बाह्यजगत् की व्यवस्था से उसे एकदम असपृक्त रहना चाहिए। निःसन्देह कविता में शब्द मुख्य है, उसमें पदार्थ से अभिन्न बनने की रहस्य-मयी शक्ति है। यह आदिम प्रवृत्ति कविता की एक मुख्य विशेषता है, किन्तु अर्थ-विरहित काव्य संगीत-मात्र है।

चित्र या मूर्ति में शब्द प्रतीकों का व्यवहार नहीं होता। वहाँ समाज चित्त में गृहीत अर्थ को जिस प्रकार प्रतीक रूप में व्यवहृत शब्द व्यक्ति चित्त में प्रक्षिप्त करते हैं, उस प्रकार की प्रक्रिया नहीं होती। वहाँ अर्थ की प्रतीति साक्षात् होती है। चित्रनिर्मित घोडा व्यक्ति-मानस में अनुभूत घोड़े की स्मृति जाग्रत करता है। व्यापक अर्थों में प्रतीक वह भी है पर शब्द समान संकेतित प्रतीक नहीं है। शब्द संकेतित और समाज चित्त का स्वीकृत प्रतीक है, अर्थ के साथ वह एकदम असपृक्त है। जबकि चित्रलिखित या मूर्तिव्यक्त वस्तु, रूप रंग आदि के सादृश्य में बाह्य पदार्थ से साक्षात् सम्बन्धित है। वह बाह्य पदार्थ के अधिक निकट है। वह बाह्य जगत् के पदार्थों का ऐसा तकसंगत वैचित्र्य उपस्थित करता है, जो शब्दों द्वारा अप्रकाश्य है। इस तकसंगत वैचित्र्य के उपस्थापन को सीधी-सादी भाषा में सादृश्य' कहा जाता है।

शब्द के आरम्भ से अन्त तक उच्चारण करने में समय लगता है। इसीलिए वह काल के आयाम में व्यक्त होता है। वह गतिशील है। कविता का यही आयाम है—काल। प्राचीन आगम शास्त्री शब्द, गति और काल को एक ही श्रेणी में नहीं रखते, एकार्थक भी मानते हैं। नाद या शब्द उनके मत से इच्छा रूप होने से गत्यात्मक है—कन्टि नु अम। बिन्दु या स्थान क्रिया रूप होने से स्थित्यात्मक होता

है—स्पेस्टम् । चित्र और मूर्ति बिन्दु-समवाय हैं—स्थितिशील । कविता नाद समवाय है—गतिशील । कविता का एक आयाम है—काल । चित्र के दो हैं लम्बाई और चौड़ाई—दैर्घ्य और प्रस्थ । मूर्ति के तीन हैं, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई—दैर्घ्य, प्रस्थ और स्थौल्य । बाह्यजगत् की सत्ता चार आयामों में है—लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई और काल । इस प्रकार न तो कविता में और न चित्र-मूर्ति में ही पूरी तौर से बाह्य सत्ता आ सकती है । इस दृष्टि से बाह्य जगत् को यथार्थतः मनुष्योद्भावित शिल्प में व्यक्त करना केवल बात-की-बात है । यथार्थता केवल आपेक्षिक तत्त्व है फिर भी मनुष्य बाह्य सत्ता को कलाओं में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है । कैसे वह इसमें सफल होता है ?

इस कौशल को अन्यथाकरण कह सकते हैं । अंग्रेजी में इसे 'डिस्टार्शन' कहते हैं । मनुष्य जो कुछ भी रचता है उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मसाला संग्रह करता है । पर उसे ज्यों-का-त्यों वह ले ही नहीं सकता । उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक में बदलना पड़ता है । यह कुछ-न-कुछ छोड़ने को बाध्य है । वह तथ्यात्मक बाह्य सत्ता को बदलता है, अन्यथा बनाता है । इसलिए उसके इस प्रयत्न को अन्यथा-करण कहते हैं । अन्यथा-करण अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना । फिर भी वह वस्तु को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास करता है । रेखा से, रंग से वह कमियों को पूरा करता है । इस कौशल पर ही कलाकार का वैशिष्ट्य है । कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में एक स्थान पर एक बात बड़े आकर्षक ढंग से कही है । राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बनाया था । उस चित्र को देखकर राजा ने कहा था कि चित्र में जो कुछ साधु नहीं होता अर्थात् जैसा है वैसा नहीं बन पाता उसे 'अन्यथा' कर दिया जाता है । फिर उस (शकुन्तला) का लावण्य रेखाओं से कुछ जुड़ ही गया है, बढ़ ही गया है—

"यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥"

यहाँ इस श्लोक को उद्धृत करने का उद्देश्य सिर्फ यही नहीं है कि 'अन्यथा-करण' शब्द के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया जाय बल्कि यह भी है कि इस बात को विशेष रूप से दृष्टिगोचर किया जाय कि कालिदास ऐसा मानते थे कि यद्यपि अन्यथा-करण के द्वारा बाह्य-जगत् ज्यों-का-त्यों नहीं आ जाता, बल्कि उत्तम कोटि का चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता है—किंचित् अन्वितम् । ऊपर-ऊपर से यह बात ऐसी अटपटी मालूम होती है कि बहुत-से पंडित इस श्लोक का अर्थ ही बदलने पर उतारू हो गये हैं । उनका कहना है कि इसका अर्थ है कि फिर भी इसमें उसका लावण्य कुछ-कुछ उभर ही गया है ।

हर पंडित में लोहा लेने किन्न की स्पर्धा तो मुझमें नहीं है पर मुझे लगता है कि कालिदास का तात्पर्य वही है जो पहले कहा गया है। इसका प्रमाण उन्हीं के ग्रन्थों से दिया जा सकता है पर बात बढ़ाने में कोई लाभ नहीं है। मैं जिस बात को स्पष्ट करने जा रहा हूँ उसीसे इसका समर्थन हो जायगा।

प्रश्न यह है कि मनुष्य क्यों इस प्रकार का प्रयत्न करता है। यह सहज-सर्जना शक्ति उसमें क्यों विकसित होती गई ?

जैसा कि पहले ही बताया गया है, मनुष्य-पूर्व जन्तुओं में भी कुछ-न-कुछ भाव प्रकाशनशीला भाषा पाई जाती है। परन्तु उसकी सीमा है। भय, उल्लास, संगमेच्छा आदि भावों को प्रकट करने की सहजात प्रवृत्तिजन्य वाकशक्ति ही उनका सब-कुछ है। एक पशु या पक्षी के भय व्यंजक चीत्कार को सुनकर उस श्रेणी के सभी जन्तुओं में भय का भाव अपने आप उदित होता है और वे बिना सोचे समझे युगपत् भाग उठते हैं। इस भय व्यंजक चीत्कार के दो अर्थ हैं—(१) मैं डरा हूँ (ज्ञातृपक्ष) और (२) भयजनक हेतु आ गया है (ज्ञेय पक्ष)। इसलिए इस भाषा को ज्ञातृ-ज्ञेय विवेक से असंपृक्त भाषा कह सकते हैं। मनुष्य का शारीरिक संगठन और मानसिक विकास कुछ इस प्रकार हुआ है कि वह ज्ञातृ-ज्ञेय विवेक में समर्थ हो गया। यहीं से मनुष्य मनुष्येतर सृष्टि से अलग हो गया। उसने ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष में भेद किया। ज्ञेय के स्वरूप को समझने के कारण प्रतिकार के उपाय भी उसे सूझे। इस उपाय के लिये उसने प्रथम बार इच्छा शक्ति का उपयोग किया। इच्छा शक्ति के सहारे उसने ज्ञेय जगत् का अन्यथाकरण शुरू किया—अन्यथाकरण अर्थात् ज्ञेय जगत् के पदार्थों को अपनी सुविधा के अनुसार अन्य रूप देना। कदाचित् उसने पेड़ की डाल को छील छालकर दूर तक फेंके जाने योग्य डंडा बनाया। उसने पत्थर ढालकर कुल्हाड़ा बनाया। इसके पूर्व भी मनुष्येतर जगत् में कुछ-न-कुछ अन्यथाकरण की प्रवृत्ति थी। पक्षियों के घोसले, दीमकों के वल्मीक, घोंघों के शंख, मधुमक्खियों के छत्ते उसके उदाहरण हैं। इनमें और मनुष्य के अन्यथाकरण में मूल अन्तर यह है कि एक सहजात प्रवृत्तियों की उपज है दूसरा इच्छित है। भाषा ने इनमें मनुष्य की मदद की। नये अनुभवों और जानकारियों से संकेतित भाषा समृद्ध होने लगी। नये-नये संकेतों से ज्ञातृपक्ष और ज्ञेय पक्ष अधिकाधिक विविक्त होते गये। भाषा क्रमशः जिस मात्रा में विशिष्ट से विशिष्टतर होती गई ज्ञातृपक्ष और ज्ञेय पक्ष उसी मात्रा में पृथक्-से-पृथक्तर होते गये। धीरे धीरे मनुष्य ने दो प्रकार की तथ्यात्मक सृष्टि को प्रत्यक्ष किया—भावनाजगत् (ज्ञातृपक्ष) और परिदृश्यमान या अनुभूयमान जगत् (ज्ञेयपक्ष)। एक का ग्रहीता अन्तःकरण है दूसरे का बहिःकरण। एक मनोगम्य है दूसरा इंद्रिय-ग्राह्य। निश्चय ही यह प्रक्रिया उसके शारीरिक और मानसिक विकास में अन्तर्निगूढ़ थी। जो था वही हुआ जो नहीं था वह रह गया—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' अर्थात् भावना या अनुभूत जगत् भी समग्र सत्ता के अंश ही हैं। इससे भिन्न कुछ

रह गया हो तो वह हमारा जाना हुआ नहीं है—मनुष्य की ग्राहिका शक्ति की पकड़ मे आने योग्य नहीं है।

जिसे हम परिदृश्यमान बाह्यजगत् कहते हैं उसकी सच्चाई क्या है ? एक व्यक्ति इसे जैसा देखता है उसे ही ठीक देखना परिदृश्यमान जगत् की सच्चाई नहीं है। सारा मनुष्य समाज जैसा देखता है वैसी ही उसकी सच्चाई है। एक व्यक्ति किसी चीज को पीला देखे और बाकी लोग सफेद देखें तो सफेद ही सच्चाई है, पीला अवनार्मल दृष्टि का प्रसाद है। इस प्रकार परिदृश्यमान जगत् की सच्चाई व्यक्ति-दृष्ट नहीं, बल्कि समाज-दृष्ट सच्चाई है। परिदृश्यमान बाह्य जगत् स्थूल होता है, उसकी सच्चाई का मापदण्ड आसान होता है। समाज-दृष्ट बाह्य जगत् के कारण-कार्यो का विश्लेषण करके नये-नये तथ्यों की जानकारी प्राप्त करके नये सिरे से नई वस्तुओं का निर्माण मनुष्य करता ही रहता है। इस विश्लेषण और अन्यथा-करण की गठनात्मक नव व्यवस्थापन की प्रक्रिया, विज्ञान का कार्यक्षेत्र है। इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति या व्यक्ति-समूह निरन्तर परिवर्तन करते रहते हैं। परन्तु अन्तर्जगत् इतना स्थूल नहीं है। कलाकार भी विज्ञानी की भाँति ही नित्य परिवर्तन करता रहता है, किन्तु इन सूक्ष्म अनुभूतियों के विश्लेषण और अन्यथाकरण की प्रक्रिया कुछ और तरह की होती है। यही कलाकार का कार्य-क्षेत्र है। अन्तर्जगत् की अनुभूतियों की सच्चाई भी समाज चित्त की ही सच्चाई है। एक प्रकार के रूप से यदि एक आदमी अत्यधिक प्रीत भाव अनुभव करता है पर बाकी लोग वैसा भाव अनुभव नहीं करते तो प्रीत भाव अनुभव करने वाला ही अवनार्मल माना जाता है, वैसा अनुभव न करना ही अन्तर्जगत् की सच्चाई मानी जाती है। भाषा अवनार्मल भाव के लिये नहीं बनती, वह समाज चित्त की अनुयायिनी होती है। जबकि बाह्य जगत् के विषय-परक होने से व्यक्ति-दृष्टि कम बाधक सिद्ध होती है, अन्तर्जगत् के विषयी-परक होने के कारण वह अधिक व्यक्ति-परक होती है और अधिक बाधा उत्पन्न करती है। मैं यह तो मान लेने को तैयार हो सकता हूँ कि जो चीज मुझे पीली दिखाई दे रही है वह वास्तव में सफेद है और मुझे अपनी आँखों की दवा करानी चाहिए पर यह मानने में बड़ी कठिनाई है कि सेंहुड़ का काँटा जो मुझे अच्छा नहीं लगता वह वास्तव में अच्छा ही लगने-योग्य है। अन्तर्जगत् की अनुभूतियों के लिए जो भाषा बनी है उससे व्यक्ति चित्त पूरा-पूरा कभी सन्तुष्ट नहीं होता और अधिकांश व्यक्तियों में अन्तर्द्वन्द्व बना रहता है। समाजचित्त को परिवर्तित करना इस क्षेत्र में कठिन कार्य है। कलाकार को यही करना पड़ता है। बाह्य तथ्यात्मक जगत् सदा अन्तर्जगत् के व्यक्तिचित्त को वैसा ही नहीं दिखता जैसा समाज-चित्त उसे देखा करता है। अन्यथाकरण की निर्माणोन्मुखी प्रक्रिया बाह्य जगत् के समाज-स्वीकृत रूपों से संगृहीत जड़खण्डों को भावना के सीमेंट से जोड़कर नहीं अर्थो में उपलब्ध कराती है। द्रष्टा सिर्फ यह नहीं समझता कि वह जान रहा है, बल्कि यह अनुभव करता है कि वह देख रहा है, पा रहा है। ज्ञात वस्तु दृष्ट होती, दृष्ट,

उपलब्ध। स्पष्ट ही कलाकार अन्ययाकृत बाह्य जगत् के अनुभवों से उतना ही नहीं देता जितना बाह्य जगत में मिलता है बल्कि उसमें कुछ और जोड़ता है—रेखया किंचदन्वितम्। यही उसकी रचनात्मक शक्ति का वशिष्ट्य है।

समाज चित्र शब्द ऊपर से जितना सरल दिखता है उतना सरल है नहीं। सभ्यता के अग्रसर होने-होने समाज की जटिलताएँ भी बढ़ती गई हैं। श्रेणियों का विभाजन हुआ है सुविधा भोग की क्षमता और उपलब्धि में तारतम्य आया है। उसी अनुपात में भाषा विभेद उत्पन्न हुआ है। ज्ञानार्जन में भेद आया है, पोषणतत्त्वों की उपलब्धि में अन्तर आया है मन और बुद्धि के स्तर पर मनुष्य बहुधा विभक्त हो गया है। मानस-स्तर पर अनुभूतियों में भी अन्तर आया है और प्रकाशन भंगिमा और क्षमता में भी। एक श्रेणी के सभी पक्षी एक निश्चित वातावरण में एक ही तरह के घोंसले बनाते हैं पर मनुष्य के लिए यही बात नहीं कही जा सकती। इसीलिए प्रतिभा अभ्यास और नैपुण्य के क्षेत्र में बहु विचित्र फलों की उपलब्धि होती है। श्रव्य कलाओं के क्षेत्र में वह संगीत से बढ़ता हुआ काव्य महाकाव्य और उपन्यास के रूप में विचित्ररूपा सम्पद् प्राप्त करता है। बहिःप्रकाश्य दृश्य कलाओं में चित्र मूर्ति वास्तु-शिल्पों में और अन्तर्बहिः प्रकाश्य दृश्य-कलाओं में अभिनय, नृत्य नाटक फिल्म में रूपायित होता है। एक-दूसरे से अन्तर्ग्रथित होकर इन शिल्पों की अभिव्यंजना पद्धति में बहुत अन्तर आ जाता है। जितनी ही सामाजिक व्यवस्था जटिल से-जटिलतर होती जाती है उतना ही प्रकाशन भंगिमा में बाह्य जगत् की व्यवस्था का मिश्रण अधिकाधिक मुखर होता जाता है। कविता की तुलना में महाकाव्य में और महाकाव्य की तुलना में उपन्यास में नृत्य की अपेक्षा नाटक में और नाटक की अपेक्षा फिल्म में चित्र की अपेक्षा मूर्ति में और मूर्ति की अपेक्षा वास्तु में बाह्य जगत् की व्यवस्था अधिक सबल और मुखर हो जाया करती है। इसका अर्थ यह है कि कविता, चित्र और अभिनय अधिक आदिम मानव सिसृक्षा के रूप हैं। संगीत और नृत्य तो जैसा कि पहले ही बताया गया है मानवपूर्ण सहजात धर्म हैं। मनुष्य के श्वास प्रश्वास और नाड़ी के रक्तस्पंदन में जो छन्द है लय है, ताल है, गति है उसी में उनका निवास है। परवर्ती काल के संगीत और नृत्य वाक्तत्त्व के यत्नसाधित मिश्रण हैं। यतितत्त्व ही उन्हें कला का रूप देता है।

स्थूल प्रयोजनवती गद्यात्मिका भाषा शब्द प्रतीकों द्वारा बाह्य और आन्तरिक योग स्थापित करती है। उसमें दो व्यवस्थाओं का अनुशासन रहता है। एक तो शब्दों की व्याकरण-सम्मत और वाक्यविन्यास मर्यादित व्यवस्था और दूसरी शब्दों द्वारा प्रज्ञापित किये जाने वाले पदार्थों की वास्तविक बाह्यजगत् व्यवस्था। परन्तु वह एक तीसरा अनुशासन चाहती है। शब्दों की केवल व्याकरणसम्मत और वाक्यविन्यास मर्यादित व्यवस्था ही उसके लिए पर्याप्त नहीं है। उसे शब्दों की निजी व्यवस्था,

उनकी अर्थ से अभिन्न बनने की अतिप्राकृत शक्ति की और लय, छन्द आदि की मिलित जटिल व्यवस्था के अनुशासन में भी रहना पड़ता है। यही कारण है कि कविता को गद्य कर देने से या दूसरी भाषा में अर्थानुसारी अनुवाद कर देने से उसका पूरा रस नहीं रह जाता। वह खो जाता है।

अन्य ललित कलाओं की तुलना में कविता में बाह्यजगत् के अन्यथाकरण की सीमा अधिक है। वह चार आयामों के जगत् को केवल एक आयाम में बदलने का प्रयत्न करती है। यह आयाम काल है। कविता मानव-चित्त के निगूढ़ अन्तस्तल के आवेगों को शब्दों में ढालने का प्रयत्न करती है। 'आवेग' इसलिए आवेग होते हैं कि उनमें गति होती है, वेग का प्राबल्य होता है। गति काल में ही सम्भव है पर कविता को केवल काल में नहीं रहना पड़ता है। आवेगों को वह स्थिर रूप प्रदान करती है। शब्दों के जादू के बल पर कविता किसी काल में व्यक्त किये गये आवेग को किसी काल में उपस्थित कर सकती है। इसीलिए कविता काल में व्याप्त होने पर भी देश के साथ असंपृक्त नहीं रहती। देश तीन आयामों में व्यक्त होता है। परन्तु कविता इन तीन आयामों से स्वतन्त्र रहती है। यह विचित्र बात है पर सत्य है। देश 'नियत' होता है। पुराने शास्त्रकारों को जो जीव में अपने को सर्वव्यापक न समझ कर नियत देशवासी समझने की भ्रान्ति उत्पन्न करती है, 'नियति' कहा है। यह माया का एक कंचुक है। कविता इस नियति के नियमों से बँधी नहीं होती, इसीलिए पुराने शास्त्रकारों ने इसे 'नियतिकृतनियमरहिता' कहा है। कविता काल में प्रवाहित होती है और देश में स्थिति प्राप्त करती है। यह बात उसे अन्य कलाओं से अलग कर देती है। गति द्वारा स्थिति उत्पन्न करना कठिन कार्य है।

एक दूसरी कला और है जो कविता से भी अधिक सूक्ष्म है। मूलतः वह मनुष्य पूर्व है। उसका नाम संगीत है। इसमें भाषा के व्याकरण और वाक्य-विन्यास का बन्धन नहीं होता। परन्तु उसी प्रकार की एक अन्य व्यवस्था का अनुशासन उसे मानना पड़ता है। वह व्यवस्था है रूप और गठन की—फार्म और स्ट्रक्चर की। भाषा जिस प्रकार व्याकरण और वाक्य-विन्यास के तर्क-संकत नियमों से बँधी होती है उसी प्रकार संगीत भी अपने रूप और गठन की व्यवस्था से तर्क-संगत रूप में अनुशासित होता है। परवर्ती संगीत में भाषा का योग है, पर भाषा वहाँ अविच्छेद्य वर्ण-वैशिष्ट्य स्वरूप की ओर लौटती है। पहले ही बताया गया है कि आदिमानव के लिए अहंता-परक और इदंतापरक शब्द और शब्दार्थ बहुत-कुछ एकमेक थे—'कहियत भिन्न-न-भिन्न' होकर विद्यमान थे—संगीत में लय और तान वर्ण-वैशिष्ट्य को मिटाते हैं। अर्थबन्ध से विरहित कविता संगीत की कोटि में चली जाती है। अर्थबन्ध से अनुशासित संगीत, कविता की ओर अग्रसर होता है। बाह्यजगत् में दिन-रात, ऋतु-परिवर्तन और

तारामण्डल का नियत आवर्तन आदि की अनुक्रमता जब मानव के अहं-तत्त्व के चित्त में प्रतिफलित होती है तो वह अर्थ को जन्म देता है। जब उसकी व्यवस्था बाह्यजगत् की अनुक्रमता के साथ मिलती है तो गणित शास्त्र का कारबार शुरू होता है। इसका प्रधान उपजीव्य है दृश्यमान अनुक्रमता। जब अहंता-प्रधान अन्तर्जगत् के श्वास-प्रश्वास या स्पन्दन से प्रतिभासित अनुक्रमता हृदय में आती है तो संगीत का उद्भव होता है और संगीत का कारबार शुरू होता है। संगीत बहिर्जगत् की अनुक्रमता का अन्तर्मुखी प्रतिफलन है, गणित अन्तर्जगत् के अनुक्रम-बोध का बहिर्मुखी प्रतिफलन है। चेतना के एक छोर पर संगीत है दूसरे पर गणित।

गणित और संगीत दोनों में ही परिदृश्यमान जगत् का अन्यथाकरण होता है। अन्तर यह है कि संगीत बहिर्जगत् की व्यवस्था को अन्तर्मुख करता है जबकि गणित अन्तर्जगत् की अनुक्रमता (Periodicity) को बहिर्मुख करता है।

शब्द पदार्थों में प्रतीक का काम करते हैं। इसलिए रूढ़ होते हैं। शास्त्रकारों ने तीन प्रकार के शब्द बताये हैं—यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़। परन्तु कुछ ध्वनि-अनुकरणों से बने शब्दों को छोड़ दिया जाय तो भाषा के सभी शब्द सामान्य अर्थ में रूढ़ हैं। जिन्हें हम यौगिक शब्द कहते हैं वे भी रूढ़ धातुओं, रूढ़ प्रत्ययों और रूढ़ प्रतिपादकों के योग से ही बनते हैं। शब्द वस्तुतः रूढ़ ही होते हैं। इनके व्यवहार का कोई तर्कसंगत कारण नहीं बताया जा सकता। इसलिए उनके द्वारा जिन अर्थों का आहरण होता है वे प्रत्यायित होते हैं। चित्रकला में रूढ़ प्रतीकों का व्यवहार नहीं होता। चित्रलिखित घोड़े को घोड़ा कहना भी वस्तुतः एक प्रकार के प्रतीकों का ही व्यवहार है। पर वे रूढ़ नहीं होते। उनके अर्थाहरण की क्षमता सादृश्य में है। चित्रलिखित घोड़ा इसीलिए घोड़ा कहा जाता है कि उसमें तथ्यात्मक जगत् का सा सादृश्य होता है। रेखाएँ सादृश्य को व्यक्त करती हैं, पर बाह्यजगत् का पदार्थ रेखाओं के माध्यम से कुछ और होकर प्रकट होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि गधे को कोई भला आदमी अपने ड्राइंगरूम में घुसने देना पसन्द नहीं करेगा पर रेखांकित गधे को शौक से ड्राइंगरूम में सजाने में नहीं हिचकेगा। यह बात ही इसका सबूत है कि चित्रलिखित गधा कुछ और है। रंगों को भरकर चित्र में उभार ले आने का प्रयत्न किया जाता है। रंग आकृति के विशिष्ट धर्मों को उन्मीलित करते हैं, चित्र में वैशिष्ट्य-वैचित्र्य का संचार करते हैं। कालिदास ने भी कहा है—उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्। इसीलिए रंग भरना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु चित्र और कविता दोनों में यही गुण होता है कि वह द्रष्टा और श्रोता के अहं को उस जगह ले जाते हैं जहाँ चित्रकार या कवि खड़ा होकर बाह्य जगत् को देखता है। यह तादात्म्यीकरण कलामात्र का विशिष्ट धर्म है।

चित्र चक्षुर्ग्राह्य कला है। वह स्थिर होता है। चक्षुर्ग्राह्य या दृश्य कला का एक गतिशील रूप नृत्य और ताण्डव आदि में पाया जाता है। चित्र का परवर्ती विकास भी गतिशीलता में होता है। चलचित्र या फिल्म गतिशील दृश्य कला है। स्थिर चित्र को चल बनाने के लिए वस्तुतः अचल चित्रों की परम्परा को इस प्रकार कालव्यापी बनाया जाता है कि उसमें गति की प्रतीति हो। काल एक प्रतीति-मात्र है। वह केवल द्रष्टा के चित्त प्रतीयमानासक्ति का सबूत है।

अब हम मूल प्रश्न पर आ सकते हैं।

साधारणतः कलाकार के लिए कहा जाता है कि वह आत्माभिव्यक्ति का अर्थात् अपने आपको अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। आत्माभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है। सृष्टि में सर्वत्र आत्माभिव्यक्ति का यह प्रयास दिखाई देता है। एक तो जीव का सहज धर्म है। लता, वृक्ष, पशु, पक्षी में निरन्तर विकसित होकर युवावस्था तक आना और फिर क्षीण होते हुए मृत्यु की ओर बढ़ना सहज जीव-धर्म है। लता का पुष्पित होकर रूप-वर्ण-गन्ध-रस द्वारा दूसरों को आकृष्ट करने का प्रयत्न सहज आत्माभिव्यक्ति का प्रयत्न है। मयूर का उन्मत्त नर्तन और पुंस्कोकिल का कूजन सहज, अथच सोद्देश्य, आत्माभिव्यक्ति है। मनुष्य का शिशु अवस्था से युवावस्था में परिणत होना सहज जीवधर्म है। कहते हैं युवावस्था में जो शरीर की उच्चावचता का विकास होता है—जिसे कालिदास ने 'वपुर्विभिन्नं नवयौवनेन' कहकर उल्लेख किया है—वह सोद्देश्य है, सहज तो है ही। इस अवस्था में आँख, स्वर यन्त्र, त्वक् आदि इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप मन में भी विस्फार वृत्ति का उदय होता है। यह सृष्टि-क्रम को अग्रसर करने के लिए पारस्परिक आकर्षण के साधन के रूप में प्रकृति का स्वयंदत्त प्रसाद है। इसमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। यह अनचाहे भी आ जाता है। प्रकृति ने रूप-रस-वर्ण-गन्ध आदि के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का साधन स्वयं जुटा दिया है। मौग्ध्य भाव के वर्णन के प्रसंग में कवियों ने दिल खोलकर इस अनायास-लभ्य सम्पद् का वर्णन किया है। पर इस सहज धर्म का उद्देश्य सब समय पूरा नहीं होता। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक नियमों के विधि-निषेधों का अम्बार लग जाता है। भाषा इन विधि-निषेधों को दीर्घ-स्थायी और बाद में निरुद्देश्य बनाकर भी जिलाये रहती है। यहीं द्वन्द्व शुरू होता है। मानव द्वारा इच्छित समाज-व्यवस्था और प्रकृति द्वारा प्रदत्त सहज धर्म का संघर्ष शुरू होता है। उस समय अभिव्यक्ति भी इच्छित प्रयत्नों का माध्यम खोजती है। आत्माभिव्यक्ति का यह इच्छित प्रयत्न ही कलाओं के रूप में प्रकट होता है। इच्छित होने के कारण ही वह अभ्यास और नैपुण्य की अपेक्षा रखती है। कविता में, चित्र में, मूर्ति में वह बहु-विचित्र आकार ग्रहण करती है। परन्तु इतना ही सब-कुछ नहीं है। और भी बातें हैं। उनकी जानकारी भी आवश्यक है।

आदि मानव अपने इर्दगिर्द के वातावरण को जीवन्त रूप में देखता था। उसके लिए पेड़ पशु, पक्षी नदी पर्वत सब-कुछ जीवित-व्यक्तियों से दिखाई देते थे। वह अपने ही समान उनको दुःखी या सुखी समझता था। यह व्यापक धारणा सभी आदिम जातियों में अब भी प्राप्त है। पदार्थ विवेक के साथ जब जड़ चेतन विवेक कुछ प्रबल हुआ तो भी उसने उनमें एक प्रकार की आत्मा की कल्पना कर ली थी। ये प्रच्छन्न आत्माएँ मनुष्य में अधिक शक्तिशाली थीं क्योंकि ये प्रच्छन्न रहकर बड़े-बड़े काम कर सकती थीं। वे आँधी के रूप में पेड़ों को उखाड़ सकती थीं, बाढ़ के रूप में गाँव-के-गाँव उजाड़ सकती थीं—महामारी के रूप में जनपदों का विध्वंस कर सकती थीं—वे अतिमानव बनती गई। उनकी शक्ति पद-पदार्थों में बँधी हुई बाह्यजगत् की व्यवस्था के ढाँचे में नहीं अट पाती थी। फिर तो मनुष्य की भाषा में मिथक तत्त्व का आविर्भाव हुआ। उसने कार्य-कारण की अतिप्राकृत व्याख्या के रूप में पौराणिक गाथाओं की रचना की। भाषा में इस मिथक योजना ने बाह्यजगत् की व्यवस्था से भिन्न एक कल्पलोक का निर्माण किया। इससे इस अतिप्राकृत तत्त्व को कभी अत्यधिक मान दिया था। आज सभ्यता की अग्रगति के साथ-साथ मनुष्य ने पद-पदार्थ विवेक के क्षेत्र में बहुत उन्नति की है परन्तु साथ-ही-साथ वह बंधनों में भी बँधता गया है। बाह्यजगत् की तर्कसंगत जानकारी ने उसे अतिप्राकृत तत्त्व को छोड़ने को मजबूर किया है, तथापि उसका चित्त उस अतिप्राकृत तत्त्व को भूल नहीं पाया है। रूपकों और मानवीकरण के प्रयासों द्वारा वह उसी आदिम मनोभाव को प्रकट करता रहता है। वह अनुभव करता है कि उनके बिना यह प्रयोजनवती गद्यात्मक भाषा—भाषा जो बाह्यजगत् की तर्कसंगत व्यवस्था से बुरी तरह बंध गई है—वह सब-कुछ व्यक्त नहीं कर पाती जिसे वह कहना चाहता है। वह घूम फिरकर मिथक तत्त्व का आश्रय लेता है। छन्द से, आवर्गोच्छन्न भंगिमा से, रंग सामंजस्य से, छाया और आलोक की कृत्रिमता से, राग से वह उस अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है जो भाषा की उस व्यवस्था में अँट नहीं पाई है जो बाह्यजगत् से बुरी तरह बंधी हुई है।

इस अभिव्यक्ति का रहस्य ही मनुष्य की मनुष्यता है। वह जो कुछ अनुभव करता है उसे समाज-सम्पद् बनाने के लिए व्याकुल है। अनादिकाल से चली आती हुई सहजात अभिव्यक्ति के अतिरिक्त यह अभिव्यक्ति मनुष्य की निजी विशेषता है। कोई नहीं जानता कि यह दुर्वारशक्ति उसके भीतर क्यों विकसित हुई। अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को विश्वजनीन बनाने की वह व्याकुलता उसमें क्यों आ गई। परन्तु इतना निश्चित है कि यह उसका अन्तर्निगूढ़ धर्म है। जो शक्ति उसमें थी उसी का प्रकाशन हुआ है। वृहत्तर अर्थों में इसे भी 'सहजात' कह सकते हैं पर मनुष्य का यह सहजात धर्म उसकी अपनी विशेषता है। और जीवों में यह नहीं पाई जाती। जो व्यक्तिगत है उसे विश्वजनीन बनाने के प्रयास मनुष्य के आविर्भाव के साथ-साथ विकसित

होते गये हैं। जो था, वही आज भी सम्भव हुआ है। मानना पड़ेगा कि मनुष्य में जो जनि-तत्त्व है, जिस बात ने मनुष्य के 'जेनो-टाइप' को विद्यमान रूप दिया है, उसी में यह अन्तर्निगूढ़ धर्म था, जिन्होंने व्यक्तिगत अनुभूतियों के 'सामाजिकीकरण की प्रवृत्ति उसमें पैदा की है। वचनात्मक भाषा का विकास भी उसी सहजात धर्म का रूप है। पर आगे चलकर मनुष्य अपने इसी सहज प्रयत्न का वशवर्ती हो गया। वह सीमा में बँधता गया है। उसे असन्तोष है। यह असन्तोष—'नाल्पे सुखमस्ति'—ही उसे अभिव्यक्तियों के लिए उत्साहित करती हैं जो सीमा के परे हैं, जो भाषा की चहारदीवारी में बन्द रहने से छटपटा उठती हैं। सामाजिकीकरण द्वारा उसे उस असन्तोष से राहत मिलती है। इस बात का निषेधात्मक नाम 'विरेचन' है, वैध नाम 'आनन्द' है। गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है, काव्य, चित्र, अभिनय और मूर्ति, प्रयोजनातीत 'आनन्द' की। समस्या-समाधान गद्य का काम है, जीवन की चरितार्थता काव्य का अभिप्रेत है। काव्य में, शिल्प में, नृत्य में, गीत में, धर्म में, भक्ति में, मनुष्य को उस अपार भूमा का रस मिलता है जो उसे प्रयोजन की सीमा से ऊपर उठाता है। तभी मानो वह उपनिषद् के ऋषि के शब्दों में कह उठता है—'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति'।

यह तो निश्चित है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य जी नहीं सकता और न अपने देशकाल की सीमाओं से अस्पष्ट रह कर कोई शिल्प-सृष्टि ही कर सकता है। काव्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता। काव्य ही क्यों, कोई भी शिल्प स्थूल जगत् से अर्थ आहरण बिना रह नहीं सकता। पुराने पंडितों ने जब कहा था कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य बनते हैं तो उनका यही अभिप्राय था। अर्थ वस्तुतः शब्दों द्वारा सूचित बाह्य जागतिक सत्ता के साथ निरन्तर सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं। एक व्यक्ति के चित्त में स्थित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कंपित और आन्दोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थों से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कहीं अधिक को प्रकाशित करने वाली शक्ति को प्राचीनों ने कई नामों से स्पष्ट करने की कोशिश की है। सबसे अधिक प्रचलित और मान्य शब्द 'व्यञ्जना' है। अनुरणन के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजन्य कम्पन की ओर इशारा किया है। छन्द उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और संमूर्तन तो हो जाता है पर आवेग का कम्पन नहीं होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जाने वाली भाषा में भी एक प्रकार का छन्द होता है—एक प्रकार की वक्र कम्पनशील नृत्य-भंगिमा। वह भाषा ही छन्दोमयी है। सीधी-सी-बात है कि एक था राजा। उसे कहने के लिए कवि कहेगा—कनदर्पकन्दर्पसौंदर्यसोदर्यहृदयानवद्यरूपाभूपोवभूव। इसमें छन्द है, झंकार है, लोच है, वक्रता है जो अर्थ में आवेग भरने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यास में ये आवेग कम होते हैं क्योंकि उसकी भाषा में गद्यात्मकता होती है। परन्तु जहाँ कहीं भी उसमें

आवेग का स्पन्दन आता है वहीं प्रच्छन्न रूप में छन्द भी विद्यमान रहता है। अनुप्रास
आलोचना में नृत्य का छन्द आता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहराई जाती है
तो श्रोता आवेग की चरमता में बहुत ही प्रभावित होता है। यदि काव्य में से अर्थ
प्रकाशक शब्द हटा दिये जायें तो जो ध्वनिप्रवाह बच जायगा वह संगीत बन जायगा।
वस्तुतः बाह्यजगत् से सम्बन्ध अर्थ न रहे तो ध्वनि प्रवाह संगीत ही होता है। उसमें
भी बाह्यजगत् की उस सत्ता से जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग
रहता है। और उसी प्रकार जिस प्रकार संगीत में उस आन्तर सत्ता से जो आवेग-
कम्पित स्वर में प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है। कविता के एक प्रान्त
पर संगीत है दूसरे पर गणित। संगीत में जिन स्वर रहता है वह एक प्रकार का बन्ध
न है। बाह्य अर्थों से मुक्त होने पर वह नियत आवेग के रूप में प्रकट होता है परन्तु
काव्य जिस प्रकार शब्द प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय-सत्ता में बँधा रहता है उस
प्रकार संगीत नहीं बँधा रहता। वह राग स्वर आदि के माध्यम से अपने आप ही
स्पन्दित होता रहता है। ताल या लय उसमें उसी प्रकार अनुभूतिगतता भरता है जिस
प्रकार छन्द काव्य में। काव्य और संगीत द्वारा स्पन्दित मानवचित्त आवेगों में थोड़ा
अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह बाह्य सत्ता से
सम्बन्ध होने के कारण 'नियत' होता है। हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चलित
होते रहते हैं। काव्य, पाठक के सुख-दुःख में आवेग उत्पन्न करते हैं। मनुष्य दूसरों
के सुख-दुःख से प्रभावित होता है। उनके साथ उसकी 'सम-वेदना' होती है और
अन्ततोगत्वा उस सुख-दुःख को आत्मसात् करके अनुभव करने लगता है। इस प्रकार
काव्य मनुष्य-मनुष्य के बीच विद्यमान 'एकत्व' का प्रतिष्ठापक होता है। काव्य प्रमा-
णित कर देता है कि व्यक्ति-मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे एक अभेद है, 'एकता' है।

कहते हैं विभिन्न रागों से भिन्न भिन्न जाति के आवेग और कम्पन उत्पन्न
होते हैं। संगीत से भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं जैसे काव्य से। फिर भी
संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्यसत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में
वैसी गाढ़ 'नियत' अनुभूति नहीं हो पाती जितनी काव्य-जनित आवेगों के कम्पनों से
होती है। टोड़ी के आलाप से जो एक प्रकार की उदास और विरह-व्याकुल वेदना
उमड़ आती है वह विश्वजनीन तो होती है पर अविच्छिन्न या एब्स्ट्रैक्ट होने के कारण
अनुभूति में वैसी सान्द्रता नहीं ला पाती, जो काव्य के करुण रस में उत्पन्न होती है।
क्योंकि संगीत की अनुभूति अहेतुक होती है। मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य-कारण की
शृंखला खोजता रहता है। अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी। काव्यजन्य अनुभूति
की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेग-चालित-अवस्था में भी
कार्य-कारण शृङ्खला के प्रति सचेत बना ही रहता है। जहाँ वह उसे नहीं पाता वहाँ
देर तक जमना नहीं चाहता। जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न
करता है, अर्थ का भार कम होता है वह कुछ-कुछ उसी प्रकार की असान्द्र अनुभूति पैदा

करता है जैसी संगीत पैदा करता है। पर उसमें संगीत की अबाध गति भी नहीं होती और अर्थजगत् से सम्पूर्ण विच्छेद भी नहीं होता, क्योंकि उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते हैं। अर्थ भारहीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं, और न संगीत का प्रवाह ही। वे केवल दोनों के घटिया प्रभाव उत्पन्न करके विरत हो जाते हैं। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अर्थ का भार बना रहता है वहाँ वे काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहजगति भर देते हैं। परन्तु अर्थालंकार शब्द के प्राण-प्रद और विशेषाधानहेतुक दोनों ही धर्मों से गाढ़ अनुभूति का रस ले आते हैं। उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणों को और क्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेषाधानहेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हों या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारों से इस प्रकार संमूर्तित होते हैं कि पाठक के चित्त में अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुतः जब अलंकार आवेग सहचर होकर आते हैं तो काव्य में अत्यधिक ऊर्जस्वित तेज भर देते हैं, पर जब आवेगहीन होकर आते हैं तो चामत्कारिक उक्ति भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था में बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते हैं।

शब्दों और रंगों की पारस्परिक समशीलता को इन दिनों विज्ञान ने प्रत्यक्ष करा दिया है। विभिन्न प्रकार के आवेग-कम्पन विभिन्न ढंगों की तरंगें उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः कवि जिस प्रकार का आवेग शब्दों के माध्यम से श्रोता के चित्त में उत्पन्न करता है, उसी प्रकार का आवेग चित्रकार रंगों के माध्यम से पैदा कर लेता है। अन्तर सिर्फ यह है कि कवि कान के माध्यम से ऐसा करता है और चित्रकार आँख के माध्यम से। एक श्रोत्रग्राह्य बनाकर ऐसा करता है, दूसरा चक्षुग्राह्य बनाकर। परन्तु अन्तर का एक और पहलू भी है। चित्र सादृश्य द्वारा रसबोध कराने के कारण अधिक बाह्य प्रकृति के निकट होता है परन्तु शब्द जिस प्रकार बाह्य जगत् का अर्थ श्रोता के चित्त में प्रक्षिप्त करता है, उस प्रकार के अर्थ रेखा और रंग नहीं करते। रेखा और रंग चित्रकार के अन्तर्जगत् के अर्थों का प्रक्षेपण करते हैं। बाह्य जगत् तो सादृश्य द्वारा गृहीत होता है। रेखा और रंग अन्तर्जगत् की भावनाओं का प्रक्षेपण करते हैं। जिस चित्र की रेखा और रंग केवल बाह्य जगत् के सादृश्यमात्र की व्यञ्जना करते हैं वे घटिया किस्म के चित्र होते हैं। वे अभिधेयमात्र का इंगित करके विरत हो जाते हैं। रंगों और रेखाओं का व्यवस्थापन चित्रकार के अन्तर्जगत् की कहानी होती है। जैसे-जैसे सभ्यता आगे बढ़ती गई है, वैसे-वैसे यथार्थानुकरण की प्रवृत्ति घटती गई है। कविता के शब्दों की भाँति चित्रों की आकृति भी तांत्रिक प्रक्रिया के रूप में प्रकट हुई थी। परन्तु क्रमशः रंगों और रेखाओं में एक प्रकार का छन्द प्रधान होता गया है जो चित्रकार के अन्तर्जगत् के भावतरंगों से ताल मिलाकर चलता रहा है।

मानवात्मा के भावावेग को इस प्रकार सर्वसाधारण तक पहुँचा देने की जो व्याकुलता है उसे ही 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' कहा जाता है। यह व्याकुलता ही सिसृक्षा का रहस्य है। अपने-आप को 'सहृदय' के साथ एकमेक करने की व्याकुलता ही निरंतर कला प्रयत्नों को उकसाती रहती है।

सौन्दर्यिक कल्पना और सौन्दर्य-बोध

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

सौन्दर्य जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है, अतः इसकी विवेचना अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। सौन्दर्य के सम्बन्ध में मैंने 'कला का मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—

"सौन्दर्य क्या निरपेक्ष है? सौन्दर्य-बोध को विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश दिलाने वाले क्रोसे के अनुसार राग-द्वेषात्मक, सुख-दु:खात्मक अनुभूति के अतिरिक्त सौन्दर्य-बोध की अनुभूति मनुष्य में है। कलावादी सत्य और शिव को परे खींचकर सौन्दर्य को समक्ष उपस्थित करता है। प्रश्न यह नहीं कि मनुष्य में सौन्दर्य-बोध है अथवा नहीं, अथवा सौन्दर्य-विषयक स्वतंत्र सहज-ज्ञान उसमें है अथवा नहीं, बल्कि यह है कि अन्य अनुभूति के अन्तर्गत इसकी अन्तर्भावना है अथवा नहीं, एवं इसकी स्वतन्त्र स्थिति की सम्भावना है क्या? अथवा इस प्रश्न को इस प्रकार भी उपस्थित किया जा सकता है कि सौन्दर्य साधन है अथवा साध्य? सौन्दर्य की हेतुक वासना अथवा अन्यथा है। उषा का स्वर्णिम हास, ज्योत्स्ना का रजतविलास, निर्झरी का उन्मुक्त संगीत अथवा रूपसी के विह्वल अंग-विलास में सौन्दर्य की भावना आनन्दोद्रेक आधार है, सौन्दर्य के सहज-बोध के आधार पर टिकी सौन्दर्यानुभूति में स्थायित्व नहीं (किसी भी प्रकार की अनुभूति में स्थायित्व नहीं) चिन्तन और कल्पना के द्वारा ही आनन्दोपलब्धि सम्भव है, और इसे ही संस्कृत साहित्य-शास्त्री 'चर्वण' कहते हैं और वर्ड्सवर्थ का 'Recollection in tranquility' सम्भव है। इसके साथ व्यक्ति की निजी अनुभूति सम्बद्ध है, जिसके कारण सौन्दर्यानुभूति में तीव्रता आती है। सौन्दर्यानुभूति के निरपेक्ष सिद्धान्त को स्वीकार करने में हमें किसी प्रकार की द्विधा नहीं होती, यदि सौन्दर्य की स्थिर भावना होती और सुन्दर कही जाने वाली वस्तु से सभी को समान रूप से अनुभूति होती। देश-काल-पात्र की विभिन्नता से सौन्दर्य-भावना में अन्तर होता है।" सौन्दर्य की स्थिर भावना के अभाव में भी सौन्दर्य-बोध स्वतंत्र रूप रख सकता था। किन्तु "सौन्दर्यानुभूति वस्तुतः रसानुभूति और आनन्दानुभूति का मूल है, इस आनन्दानुभूति का विश्लेषण

हमें करना पड़ेगा। आनन्द मन की एक अवस्था मात्र है। आनन्द को उच्च और निम्न श्रेणी में विभाजित करने का कारण आनन्द की मात्रा एवं गहराई रहा, उसके गुण नहीं, बल्कि नैतिक तत्वों का आगम है। नैतिकता की भावना में सामाजिकता का आरोप है। सामाजिक भावनाएँ जो राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुई हैं, नैतिकता को ऊपरी सतह पर लाती हैं। इस प्रकार आनन्दानुभूति का विचार करते समय पात्र विशेष की स्थिति—देश और काल—का ज्ञान आवश्यक होगा। आनन्दानुभूति मनुष्य की चेतना का फल है और स्वयं चेतना की सृष्टि स्वच्छन्द और अनियन्त्रित नहीं। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध किसी भिन्न रूप में सामने नहीं आता। सौन्दर्य-बोध और सौन्दर्य भोग दोनों एक ही नहीं हैं। भोग के क्षणों में वृत्ति की एकाग्रता सौन्दर्य के स्वरूप निरूपण अथवा व्याख्या एवं रसानुभूति नहीं होती। भोग के क्षणों का आनन्द मानसिक कम शारीरिक अधिक है। शारीरिक तनाव (tension) के शिथिल होने के कारण शिथिलताजन्य आनन्द का एक और ही प्रकार है। कल्पना-जगत् में सम्भोगेच्छा की सम्पूर्ति में वास्तविक उपस्थिति की परिकल्पना एवं इस प्रकार उस तनाव में शिथिलीकरण का सन्निवेश हो जाता है। किसी वस्तु में सौन्दर्य है इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उस वस्तु विशेष द्वारा हमारी सौन्दर्यात्मक वृत्तियाँ परितुष्ट होती हैं। सौन्दर्य विषय और द्रष्टा के सम्बन्ध पर निर्भर करता है। निराकांक्ष सौन्दर्य की कल्पना सम्भव नहीं। रागात्मक आवेश आने पर ही सौन्दर्य की कल्पना सम्भव हो सकती है। इस प्रकार गीति-काव्य में सौन्दर्य-बोध का आधार इतना ही है कि मानवीय सौन्दर्य-वृत्ति की परितुष्टि इसके द्वारा होती है। गीति-काव्य का विधान सौन्दर्यिक है, किन्तु इस सौन्दर्य शब्द का प्रयोग इसके व्यापक रूप में हुआ है। सौन्दर्य केवल विषय में ही नहीं बल्कि शब्द, संगीत, अर्थ, भावना आदि सभी वस्तुओं में है और उन्हें प्रत्यक्ष करना गीतिकार का लक्ष्य है। कलाकार और साधारण व्यक्ति में मात्र इतना अन्तर होता है कि कलाकार वस्तु के अन्तर्निहित सौन्दर्य को परख लेता है और उसे जन-साधारण के समक्ष उपस्थित करता है, उस समय पाठक अथवा दर्शक चमत्कृत हो उठता है और सहसा बोल उठता है, 'अरे यह सौन्दर्य तो मैंने देखा न था'।[1] इस प्रकार सहृदय और सौन्दर्य-बोध के बीच कलाकार माध्यम बन जाता है। सौन्दर्य बोध की सहज-वृत्ति और सौन्दर्य से प्रभावित होने की क्षमता के अभाव में किसी सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। साधारण भाषा में जिसे लोग कलाकार की अभिनव सौन्दर्य रचना कहकर प्रशंसा और स्तवन का ढेर लगा देते हैं, वह वास्तव में उस वस्तु के अन्तर्निहित सौन्दर्य का आत्मनिष्ठ प्रत्यक्षीकरण है, कारण सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ नहीं, नितान्त आत्मनिष्ठ भी तो नहीं, किन्तु दोनों की प्रवृत्ति के सामंजस्य के कारण है। इस प्रकार का निरूपण भी सौन्दर्यिक कल्पना के अभाव में नहीं हो सकता। कला विषय को रहस्यात्मकता प्रदान करती है, रहस्या-

---

१ पारिजात प्रथम संख्या पृ० ६२।

त्मकता शब्द का प्रयोग यहाँ रहस्यवादिता के अर्थ में नहीं हुआ है। रहस्यात्मकता प्रदान करने का अर्थ होता है कि कला-विषय को अनुमित करना (apprehend) होता है। इतिहास जहाँ तथ्य का वर्णन कर चुप हो जाता है, कला सत्याभास उत्पन्न करती है। इस प्रकार के सत्याभास के मूल में वही सौन्दर्यिक कल्पना है। गीति-काव्य अनुभूति और अभिव्यंजना प्रधान है, आनन्दानुभूति का आधार अभिव्यक्ति के चमत्कार में है और चमत्कार सौन्दर्य का आधार है। जो साधारण है, सामान्य है, उसमें सौन्दर्य नहीं, वल्कि सौन्दर्य की स्थिति इस जन-रव से भिन्न रहती है जो साधारण नहीं, जो सामान्य नहीं, वह सुन्दर है। सौन्दर्य-बोध चेतनागत आकांक्षा की सम्पूर्ति और रागात्मक अनुभूति के आधार पर होता है। 'सत्य सौन्दर्य है और सौन्दर्य सत्य' (Beauty is Truth and Truth is Beauty) के मूल में सत्य को सौन्दर्यात्मक रूप में रखने का अभिप्राय निहित है।

गीति-काव्य की उपर्युक्त विवेचना में रागात्मक आवेश और रसानुभूति की विस्तृत चर्चा की गयी है। इसमें हमने देखा है कि गीति-काव्य की अन्विति और इकाई का आधार रागात्मिका अनुभूति का अविच्छेद रूप में एक रहना है। इसका प्रभाव अपेक्षाकृत क्षणस्थायी है, कारण रागात्मक आवेश की अवधि भी सीमित और परिमित है। गीति-वृत्ति का आधार पूर्णतः आत्मनिष्ठ है किन्तु इसका आवेग और आवेग वाह्यज हो सकता है। विषय की विशिष्ट स्थिति गीतिकार के मानस में विशिष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है और उस मानसिक आवेश को बन्दी करने का प्रयास गीति-काव्य में होता है।

पीला चीर कोर में जिसकी
चकमक गोटा-जाली
चली पिया के गाँव उमर के
सोलह फूलों वाली।
—दिनकर

× × ×

सरकाती—पट
खिसकाती—लट—
शरमाती—झट
नव नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।
—पन्त

× × ×

वह मग में रुक
मानो कुछ झुक

आंचल सम्भालती, फेर नयन मुख
पा प्रिय की आहट ।
—पन्त।

परिस्थिति एवं वस्तु विशेष अथवा सादृश्य के कारण, जिनका कवि के लिए और कोई दूसरा महत्त्व नहीं, कोई विचार, अथवा स्वानुभूति के आलोकित क्षण का उन्मेष गीति-काव्य का सृजन करता है। विषय-विशेष का अपना कोई महत्त्व नहीं होता, उसके महत्त्व का कारण कवि की संवदनशीलता जाग्रत करने में है। अधिकांश गीति-काव्य का जन्म इसी अवस्था में होता है।

आज मुझसे दूर दुनिया।
× × ×
वह समझ मुझको न पाती,
और मेरा दिल जलाती,
है चिता की राख कर में, माँगती सिन्दूर दुनिया।
आज मुझसे दूर दुनिया।
—बच्चन

× × ×

शलभ मैं शापमय वर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृङ्गार-माला,
ज्वाल अक्षय कोष-सी
अंगार मेरी रंगशाला,
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।
—महादेवी।

अथवा

अलि, घिर आये घन पावस के।
लख ये काले काले बादल,
नील सिन्धु में खुले कमल दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल
सौरभ के रस के—
अलि, घिर आये घन पावस के।

× × ×

छोड़ गये गृह जब से प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम,
क्यों न रहे बसके—
अलि, घिर आये घन पावस के।
—निराला।

पावस के घन की यथार्थता एकाकीपन के भाव, ग्लानि, शोक, तर्क, आदि भावों के जाग्रत कर सकने में है। जहाँ विषय स्वतन्त्र रूप में उपस्थित होता है, अथवा जहाँ विचार रागात्मक प्रभाव के विरुद्ध आ खड़ा होता है वहाँ गीति-काव्य की अन्विति नष्ट हो जाती है। यहाँ रागात्मक साहचर्य का अर्थ केवल उसकी समानता से नहीं लेना चाहिए। साहचर्य के नियम (Law of Association) द्वारा यह प्रभाव नियन्त्रित होता है। साधर्म्य, सारूप्य और वैधर्म्य द्वारा चित्रों में प्रभाव आता है और रागात्मक अनुभूति जाग्रत होती है।

रवि ने अपना हाथ बढ़ाकर
नभ-दीपों का तेज लिया हर,
जग में उजियाला होता है, स्वप्नलोक में तम छाता है।

संसार का प्रकाश स्वप्न-लोक के अन्धकार का कारण बन जाता है। यहाँ प्रभाव वैपरीत्य के कारण है। इस प्रकार गीति-काव्य की परिणति रागात्मक आवेश की अन्विति में है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गीति-काव्य में से अधिकांश में इस अन्विति पर ध्यान नहीं रखा जा सकता।

गीति-काव्य की अनिवार्य प्रकृति का सम्बन्ध अतः कवि की अन्तर्वृत्ति अथवा आकांक्षा से है। कवि अपनी अन्तर्वृत्ति रागात्मक अनुभूति एवं कल्पना के सहारे विषय अथवा वस्तु को आदर्श, मुझे भावात्मक कहना चाहिये, बना देता है। वस्तु की निरपेक्ष अपेक्षा कभी जीवन में नहीं, आवश्यकता एवं पूर्ति की सम्भावना की मात्रा के अनुसार वस्तु का मूल्य है। भावनाओं एवं विचारों के सम्बन्ध में भी यह कथन उपयुक्त है। ऐसी अवस्था में विषय का महत्व कवि की भावना का माध्यम बनने में है। विषय की अन्तर्भूत भावना के दर्शन के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में सदा स्मरण रखने योग्य है कि वस्तु से अनुभूति की ओर नहीं बल्कि कवि अनुभूति के अनुरूप विषय चुनता है। प्रकृति के विशाल प्रांगण में अनेक उपकरण हैं, उसके सामने सारा संसार फैला है, उसकी दृष्टि इस विस्तृत भूमिका की किसी एक विशिष्ट वस्तु पर अटक जाती है और उसकी अन्तर्वृत्ति को अभिव्यंजना के लिए एक माध्यम मिल

जाता है। यही कारण है कि एक ही वस्तु में विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। गोपाल के विरह में आनन्ददायिनी कुञ्ज 'अग्नि' हो जाती हैं। जल-थर जहाँ मिलन के क्षणों में आनन्दाश्रु बहाते हैं वहीं वियोग के क्षणों में अग्नि-वर्षा करते हैं अनः स्पष्टतया कवि अपनी अनुभूति और भावना के अनुरूप विषय को रंग देता है। ऐसी अवस्था में आन्तर बाह्य उत्तेजना—जो चाहे विषय कहिए—के साथ कवि की अन्तवृत्ति अभिन्न हो जाती है वह उस तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है जिसके कारण विषय और द्रष्टा में अन्तर नहीं रह जाता जहाँ गायक और गेय एकाकार एकात्म हो जाते हैं। गीति-काव्य की पूर्णता और सफलता का यही रहस्य है। जहाँ कवि विषय के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करता, वहाँ गीति-काव्य नहीं हो सकता, और किसी दूसरे काव्य की रचना चाहे वह कर ले। गीति-काव्य की सफलता का रहस्य जैसा मैंने ऊपर लिखा है अनुभूति की अन्विति में है अतः अन्तर्द्वन्द्व का रूप इसमें प्रकट नहीं हो सकता। अन्तर्द्वन्द्व में भावना का भावना के साथ द्वन्द्व है। भ्रमवश मनुष्य अपने में एक ही व्यक्तित्व मानता है जिसे हम अन्तरात्मा कहते हैं, वह भिन्न व्यक्तित्व का सूचक है। अन्तर्द्वन्द्व में अन्तरात्मा या संस्कार अन्य भावना का विरोध करता है। अन्तरात्मा संस्कार का फल है। नाटक में इस अन्तर्द्वन्द्व का प्रमुख स्थान है। बहिर्द्वन्द्व को उसकी पीठिका के रूप में होना चाहिए अतः नाटक उपन्यास अथवा महाकाव्य में इस संघर्ष का स्थान प्रमुख है बल्कि संघर्ष के अभाव में इनमें से कोई टिक नहीं सकता। गीति-काव्य संघर्ष को नहीं समन्वय और सन्तुलन को देखता है विज्ञान और काव्य में उद्देश्य लेकर विरोध नहीं बल्कि पद्धतियों का विरोध है। गीति-काव्य कविता की कविता है इसलिए इसमें अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि भावना के सामंजस्य रूप का उपस्थित होना है, रागात्मक उत्तेजना अथवा प्रेरणा के समय उसकी मीमांसा का समय नहीं रहता ऐसी अवस्था में भावनाओं के संघर्ष का अवसर कहाँ ?

गीतिकार आवेश के क्षणों को वाणी देता है; आवेश के क्षण स्थायी नहीं, अभ्यासगत जीवन में ऐसे क्षणों का ही मूल्य है। ऐसे क्षण जीवन में इसलिए आ पाते हैं कि मानसिक स्थिति प्रभावित होने के लिए तैयार है। शान्त ज्वालामुखी पर्वत हलके कम्पन के द्वारा विक्षुब्ध हो उठता है और उसका विस्फोट समीपस्थ स्थान को आक्रान्त कर उठता है वहाँ भी ज्वाला उसे उभाड़ने के लिए एक मधुर स्पर्शमात्र की अपेक्षा थी कवि की मानसिक स्थिति उस रूप में रहती है। वैसी अवस्था में कवि की अनुभूति पूर्णतया आत्मनिष्ठ है और एकान्तिक है। ऐसी अवस्था में पाठक या श्रोता पर पड़ने वाले प्रभाव का कारण क्या है ? साहित्यशास्त्र के अनुसार काव्य के व्यापक प्रभाव का कारण साधारणीकरण द्वारा अनुभूति अथवा भावना को व्यक्ति विशेष का न बना अधिक-से-अधिक लोगों का बनाना है। दोनों में यहाँ विरोध नहीं विरोधाभास मात्र है। साधारणीकरण द्वारा कवि अपनी भावना को विस्तृत क्षेत्र देता है। गीति-काव्य में, अन्य उपकरणों से प्रभविष्णुता मिलने पर भी प्रभाव का

कारण रागात्मक आवेश की अक्षुण्णता के साथ उसका सामान्य रूप ही है। अनुभूति वैयक्तिक होकर भी सहृदय की है। प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, शोक के कारणों में भिन्नता होती है, अनुभूति में अन्तर रहता है किन्तु सामान्य धर्म के कारण अनुभूति में एकात्म-भाव भी है। पाठक वहाँ दूसरे के प्रेम-व्यापार के कारण प्रभावित नहीं होता बल्कि कवि द्वारा वर्णित विषय उपलक्ष्य मात्र हो जाता है और उसकी अनुभूति आ जुटती है। इस प्रकार गीति-काव्य में सामान्य को विशेष और विशेष को सामान्य रूप प्राप्त होता है।

काव्य मे अभिव्यंजना

डॉ० सावित्री सिन्हा

हिन्दी म अभिव्यजना शब्द का प्रयोग अग्रेजी के शब्द 'एक्सप्रेशन' के पर्याय-रूप मे होता है। सदभ के पार्थक्य को ध्यान मे रखते हुए इस शब्द के विभिन्न अर्थों को निम्नोक्त प्रमुख वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है[1]—

(१) व्यजना, प्रकाशन, बोधन ज्ञापन, आविष्करण, स्थापन, निरूपण।
(२) निष्पीडन, निष्कषण।
(३) वदन, आस्य, आकृति।
(४) कथन, वचन, उक्ति, वाक्य, पद, शब्द।
(५) रीति, माग, पद्धति, सरणि।

प्रथम वग के शब्दों म व्यक्तीकरण का माध्यम निर्दिष्ट नही है। अनुभूतियो तथा भावनाओ का व्यक्तीकरण मनुष्य की प्रकृत और अनिवाय आवश्यकता है जिसकी पूर्ति वह अपने विशिष्ट ऐन्द्रिय अनुबोध के आधार पर विभिन्न कलाओ के रूप मे करता है। अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष तथा प्रधान माध्यम वाणी है, परन्तु चित्र-कला, वास्तु-कला, नृत्य-कला, सगीत-कला इत्यादि मे प्रयुक्त अभिव्यजना मे वाणी का स्थान या तो है ही नही अथवा बहुत गौण है। प्रथम वर्ग के शब्दो का प्रयोग साधारण काय-व्यापार, विभिन्न कलाओं तथा विज्ञान सभी क्षेत्रो मे हो सकता है। कला-सम्बन्धी अभिव्यजना के प्रसग मे वग के पाँचवें शब्द 'आविष्कार' का प्रयोग अपने सहज स्वीकृत रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता। आविष्कार का अथ है खोज अथवा शोध। कलात्मक अभिव्यजना के क्षेत्र मे आविष्कार' को प्रसग-गर्भित रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है। अत्यन्त सक्षेप में कहा जा सकता है कि कलात्मक अभिव्यजना मानव के मानस पर अकित उन चित्रो का मूत्त रूप है जिसका आविष्कार वह व्यक्तीकरण के पहले ही कर चुकता है, चाहे उन चित्रो की आधार-भित्ति ज्ञान अथवा भाव

१ इगलिश सस्कृत कोश, पृष्ठ १३७—वी० एस० आप्टे।

हो या इच्छा। अभिव्यंजना के तत्वों का आविष्कार उसे सचेष्ट और सयत्न होकर करना पड़ता है तथा वास्तव में कला का अस्तित्व आत्म-आविष्करण की प्रक्रिया का ही परिणाम है। अतः आविष्कार शब्द को अभिव्यंजना के सहज मान्य रूप में चाहे न ग्रहण किया जा सके, परन्तु कलात्मक प्रक्रिया में 'आविष्कार' का महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

प्रथम वर्ग के शेष अर्थ हैं 'स्थापन' तथा 'निरूपण'। 'स्थापन' में वाणी के प्रयोग का संस्पर्श है। 'स्थापन' का अर्थ है 'घोषणा' तथा 'प्रकटीकरण'। अतएव 'अभिव्यंजना' के पर्यायरूप में इस शब्द को भी स्वीकार किया जा सकता है। 'निरूपण' का अर्थ केवल विवेचन मात्र नहीं है, 'आकृति', 'खोज', 'शोध' इसकी परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं और अभिव्यंजना के विविध तत्वों द्वारा व्यक्त काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण रूप ही आकृति है।

द्वितीय वर्ग के शब्दों के साथ अभिव्यंजना के वाच्यार्थ 'व्यक्तीकरण' को सहज रूप में ग्रहण करना कठिन है परन्तु लक्ष्यार्थ द्वारा उसे स्वीकार किया जा सकता है। ये शब्द हैं 'निष्पीड़न' और 'निष्करण'। प्रथम शब्द का अर्थ है 'दबाकर निकालना' अथवा 'निचोड़ना' तथा द्वितीय का अर्थ है 'खींचकर निकालना'। दोनों शब्दों में ही यत्न का प्राधान्य है। जीवन के स्थूलतम अंगों से लेकर सूक्ष्मतम उपकरणों तक में अभिव्यंजना की प्रक्रिया में यत्न और चेष्टा का स्थान अवश्यम्भावी है। काव्य-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी यही बात बड़े ही उपयुक्त शब्दों में कही गई है।[1]

तृतीय वर्ग में जहाँ एक्सप्रेशन का अर्थ मुख अथवा वदन से लिया गया है, वहाँ मुख की आकृति से होकर मुख पर व्यक्त भावों से है जो मनुष्य के व्यक्तित्व का आभास देने में समर्थ होते हैं। चतुर्थ वर्ग में अभिव्यंजना शब्द का प्रयोग अभिव्यंजना के प्रधान रूप वाणी के विविध अंगों के रूप में ही किया गया है। इनमें से मुख्य हैं वचन अथवा कथन, उक्ति, वाक्य, पद, शब्द। वचन तथा उक्ति तो अभिव्यंजना के सर्वप्रधान रूप हैं ही। वाक्य शब्द के तीन प्रकार के अर्थ हैं—

(१) एक भाव अथवा विचार की सम्पूर्णाभिव्यक्ति।
(२) तर्क।
(३) विधि, नियम, सूक्ति, सूत्र, वचन।

---

1. "A poem is expressed in the most vivid sense of that word. It is pressed out of the poet, forced out of him."
(*Poetic Process*, p. 12—George Whalley.)

वाक्य शब्द के तीन ही अर्थ अभिव्यंजना के मुख्य तत्त्वों के अन्तर्गत आते हैं।

'शब्द' शब्द का प्रयोग दो प्रमुख अर्थों में किया जाता है—

(१) ध्वनि श्रवणेन्द्रिय का बोध-तत्त्व तथा आकाश की सम्पत्ति।

(२) अक्षरों का समूह।

प्रथम अर्थ में एक विशिष्ट मानवेन्द्रिय का बोध-तत्त्व होने के कारण 'ध्वनि' स्वतः ही मानव-हृदय की प्रतिक्रियाओं के व्यक्तीकरण का साधन है। द्वितीय अर्थ में शब्द काव्य अभिव्यंजना का प्रधान तत्त्व है।

पंचम वर्ग के अर्थों के अनुसार 'एक्सप्रेशन' शब्द रीति, पद्धति अथवा मार्ग के रूप में लिया गया है। अभिव्यंजना का यह अर्थ भी काव्य-सम्बन्धी अभिव्यंजना में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। एक विशिष्ट पद्धति का निर्धारण करके ही अभिव्यंजना का रूप निर्माण होता है। विज्ञान तथा शास्त्र-सम्बन्धी अभिव्यंजना यदि निगमन तथा आगमन पद्धतियों के आधार पर रूप ग्रहण करती है तो कलात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति विविध शैलियों के आधार पर होती है। अतएव अभिव्यंजना और रीति को हम चाहे पर्यायवाची शब्दों के रूप में न ग्रहण करें परन्तु उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार विभिन्न प्रसंगों में अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थ हैं जिनमें सन्दर्भ-सम्बन्धी पार्थक्य के विद्यमान रहते हुए भी एक मूलगत ऐक्य है। प्रत्येक प्रसंग में अभिव्यंजना का अर्थ किसी न किसी रूप में व्यक्तीकरण की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। प्रकाशन, कथन, ज्ञापन आदि से यदि अभिव्यंजना क्रिया के समग्र रूप का बोध होता है तो आविष्करण, निष्पीडन, निष्करण आदि उसकी प्रक्रिया के किसी अंश का अर्थ वहन करते हैं। कथन, उक्ति, वचन, शब्द इत्यादि शब्दों का अभिव्यंजना से सम्बन्ध तो स्वतः स्पष्ट है। मानवीय अनुभूतियों के व्यक्तीकरण का प्रमुख माध्यम वाणी है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस क्षेत्र में अन्य इन्द्रियाँ सर्वथा निष्क्रिय हैं। वाणी यदि ध्वनि की वाहक है तो श्रवणेन्द्रिय ग्राहक। नेत्रों की भाव-व्यंजकता से कौन अपरिचित है? संगीत का स्वर, नृत्य की गति, वास्तु-कला का शिल्प, चित्रकला की स्निग्ध रंगीनियाँ केवल वाणी के माध्यम से ही नहीं व्यक्त होतीं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अभिव्यंजना के क्रियात्मक तथा व्यवहारात्मक रूप में वाणी का उपयोग अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। अतः अभिव्यंजना शब्द के समग्र रूप में अर्थ-संकोच अस्वाभाविक नहीं है। विविध ललित कलाओं तथा काव्य-कला में मुख्य अन्तर यह है कि काव्य रचना के माध्यम शब्द हैं जिनका प्रयोग केवल कला में ही न होकर मनुष्य के

सभी कार्य-कलापों मे और विचारों के आदान-प्रदान के साधन रूप में किया जाता है। रीति अभिव्यंजना की सरणि है जिस पर कलाकार की कल्पना सयत्न मार्ग बनाती है। इस प्रकार अभिव्यंजना शब्द के विभिन्न अर्थों में मूल अन्तर अर्थ-विस्तार अथवा अर्थ-संकोच का ही है। इस शब्द के विकास में इन दोनों का अनुक्रम क्या है, यह निश्चय करना भाषा-विज्ञान का कार्य है।

काव्य में अभिव्यंजना-तत्व का स्थान

'अभिव्यंजना' शब्द के विभिन्न अंगों का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अभिव्यंजना व्यक्तीकरण की चेतन प्रक्रिया है। कवि की अनुभूतियों का विस्तार और संप्रेषण केवल मानसिक और अमूर्त्त स्तर पर नहीं हो सकता, रूपात्मक स्थिति की प्राप्ति उसके लिये अनिवार्य होती है। कवि की अनुभूतियाँ, गृहीत सत्य की यथावत् रक्षा करते हुए जो रूप ग्रहण करती हैं उसी के माध्यम से सहृदय उसका रसास्वादन करते हैं। कृति के रूपात्मक आधार पर ही कलाकार, कृति तथा सहृदय में गत्यात्मक सम्बन्धों की स्थापना होती है। ग्रन्थिल, जटिल और संश्लिष्ट सत्यानुभूति का संगठन और उसकी यथावत् अभिव्यक्ति सरल कार्य नहीं है। हर्बर्ट रीड के शब्दों में काव्य-प्रक्रिया को दो विभागों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रथम संवेदनात्मक अनुभूति के चरम क्षणों मे 'सत्य' की अखण्डता की रक्षा, द्वितीय उस अखण्ड सत्य की शब्दों द्वारा अभिव्यंजना।[1] प्रथम सोपान कृति के रूपात्मक अस्तित्व प्राप्त करने से पूर्व की अवस्था है। भौतिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश से गृहीत वस्तु-तत्त्व के द्वारा कवि की संवेदना तथा कल्पना उसकी प्रतिकृति का निर्माण करती है। इस स्थिति में कल्पना का महत्त्व केवल अमूर्त्त स्तर पर ही होता है। इन अन्तःक्रियाओं का अस्तित्व इतना सत्य है कि क्रोचे जैसे चिन्तक ने प्रक्रिया की इसी स्थिति को सम्पूर्ण सृजन-प्रक्रिया मान लिया है। क्रोचे की मान्यताओं का विस्तृत विश्लेषण आगे के पृष्ठों में किया जायगा। कल्पना-प्रधान कृति में सृजनात्मक कल्पना प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, मूर्त्त तथा अमूर्त्त के समीकरण की प्रक्रिया होती है। प्रक्रिया के इस व्यक्तिपरक अंश में कलाकार के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। कवि के जन्मजात संस्कार तथा परिवेश के प्रभाव द्वारा निर्मित व्यक्तित्व उसकी कृतियों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस व्यक्तिपरक स्थिति में भी सृजन-प्रक्रिया कलाकार के चेतन मन तथा अचेतन मन दोनों से सम्बन्ध रखती है। प्रक्रिया की वस्तु-परक स्थिति में कवि अपनी मन.सृष्टि को भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है। भाषा के प्रमुख उपकरण हैं शब्द। शब्द में अनेक विशिष्ट शक्तियाँ अन्तःस्थ रहती हैं। ध्वनि, अनुभूति, गुण, अर्थ इत्यादि उनमें अन्तर्निहित रहते हैं। इस स्थिति में तकनीक

1. *Form in Modern Poetry*, P. 44—Herbert Read.

का प्रमुख स्थान रहता है। अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने तथा अपने भावों के अनुरूप अभिव्यंजना का निर्माण करने की क्षमता कवि में होनी चाहिये। इस स्थिति में मस्तिष्क और लेखनी साथ-साथ चलते हैं, कल्पना और शिल्प सूत्रबद्ध होते हैं। यह कल्पना कवि के 'आत्म-दर्शन' को शब्दों के द्वारा रूपात्मक आधार प्रदान करती है। इस प्रकार काव्य-सृजन में तन्त्र अथवा विधा सम्बन्धी तत्त्वों की उपेक्षा करना पूर्ण रूप से असम्भव है। विधा को साधारणतः काव्य का बाह्य अंग माना जाता है। विधा के समुचित प्रयोग के लिए कला-शिल्प सम्बन्धी अभ्यास अनिवार्य होता है। कवि में शब्द चयन, प्रमाणित तथा परिमार्जित शब्दावली का ज्ञान तथा उनके उपयुक्त प्रयोग की क्षमता, लोकोक्ति, मुहावरों, वर्णयोजना, उक्ति-वैचित्र्य इत्यादि अभिव्यंजना के विभिन्न तत्त्वों के समुचित प्रयोग की क्षमता होना आवश्यक है। शिल्प विधान की इस स्थिति में व्यक्ति-परक रूप में प्राप्त अमूर्त भावनाओं और प्रतिमूर्तियों के भी अनेक संशोधन और परिवर्तन होते हैं जिसके द्वारा कला का सौन्दर्यगत मूल्य और भी बढ़ जाता है। ऐसी भी स्थिति आ जाती है जब इन उपादानों का प्रयोग साधनमात्र न रहकर साध्य का रूप धारण कर लेता है। साध्य-रूप में ग्रहण किये जाने पर उनका उद्देश्य चमत्कारवादी हो जाता है। अभिव्यंजना का आदर्श रूप वही होता है जहाँ वह सृजन में सहायक तत्त्वों के रूप में प्रयुक्त होती है। इन भौतिक उपादानों के माध्यम से व्यक्त हुए बिना अमूर्त अनुभूतियों का अस्तित्व कुछ अर्थ नहीं रखता।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि अभिव्यंजना की क्रिया जागरूक प्रयोगों की स्थिति है जिसके द्वारा कवि की अमूर्त भावनाएँ परिवर्तित, संशोधित और कुछ सीमा तक परिष्कृत होकर मूर्त रूप धारण करती हैं। निम्नलिखित रूपरेखा से विषय-वस्तु तथा अभिव्यंजना में भेद की स्थापना पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायेगी—
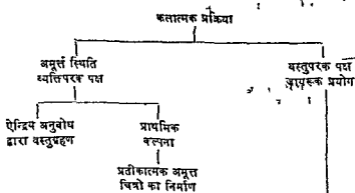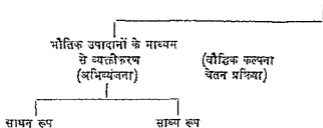
इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र के अन्तर्गत काव्य-सम्बन्धी अभिव्यंजना को बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में ही ग्रहण किया गया है। भौतिक उपादानों के जिस संगठन द्वारा कवि अथवा कलाकार अपने अभिप्रेत की अभिव्यक्ति करता है वही अभिव्यंजना है। इन उपादानों में अन्तःस्थ व्यंजक शक्तियों को संकलित तथा संगठित करके कवि अपनी भावनाओं को आबद्ध करता है। इस संगठन द्वारा आविर्भूत रूपात्मक विन्यास ही कलाकृति का आयाम है और यही अभिव्यजना है। काव्य में विषय-वस्तु और उसके व्यंजक उपादानों का विन्यास इतना संश्लिष्ट होता है कि कुछ दार्शनिकों ने उसे पूर्ण रूप से अविभाज्य और अखण्ड सिद्ध किया है। इस क्षेत्र में सर्वप्रमुख नाम इटली के दार्शनिक बेनेदेत्तो क्रोचे का है। काव्य विभाज्य है अथवा अविभाज्य, इस प्रश्न को लेकर हिन्दी-जगत् में काफी वाद-विवाद हुआ है और हिन्दी के प्रमुख आचार्य आलोचकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यंजना-पक्ष का स्वतन्त्र और पृथक् अस्तित्व होता है यह बात पूर्ण रूप से मान लेने के पूर्व क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा उससे सम्बद्ध मतों का विवेचन समीचीन होगा।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

क्रोचे के अनुसार साधारण अनुभूति तथा कलात्मक अनुभूति, अथवा आध्यात्मिक तथ्य और भौतिक तथ्य में एक तात्त्विक अन्तर है। कला की प्रक्रिया आध्यात्मिक अथवा आत्मदर्शन की प्रक्रिया है, यह आत्मदर्शन स्वयमेव अभिव्यक्त होता है। अभिव्यंजनात्मकता के अभाव में सहजानुभूति नहीं, केवल ऐन्द्रिय-अनुबोध होता है। सहजानुभूति अखण्ड होती है, उसको खण्ड-खण्ड नहीं किया जा सकता। अन्तःज्ञान की इस स्थिति की अभिव्यक्ति के लिये विचार की अपेक्षा नहीं होती, वह सहजोपलब्ध होता है। क्रोचे के अनुसार यह उक्ति अविश्वसनीय इसलिये लगती है कि हम अभिव्यंजना शब्द को केवल वाणी के अर्थ में ग्रहण करते हैं, परन्तु चित्रकला, वास्तु-शिल्प तथा अन्य ललित कलाओं में जहाँ अभिव्यंजना का माध्यम केवल वाणी नहीं है, इस तथ्य की अनुभूति पूर्ण रूप से की जा सकती है कि अभिव्यंजना को अनुभूति से पृथक्

नहीं किया जा सकता। सहजानुभूति का आध्यात्मिक आन्तरिक अवचेतन की अस्पष्ट, अस्पष्ट स्थिति से चलकर मन की निर्धारित स्थिति को प्राप्त करता है, परन्तु उसका रूप उसके पहले ही पूर्ण रहता है। प्रातिभ ज्ञान अथवा सहजानुभूति और अभिव्यंजना तदात्म है। उसका आविर्भाव और निर्माण एक साथ और एक समय में होता है, उनका परिच्छेदन अथवा विभाजन करना असम्भव है। सहजानुभूति की स्थिति में भावनाएँ स्वयं ही सम्पन्न मधुर और उपयुक्त साँचों में ढल जाती हैं और अपने आप व्यक्त हो जाती है। यह साधारण विश्वास है कि कला के प्रेरक तत्त्व या प्रत्येक व्यक्ति के अवचेतन में अव्यक्त रूप में पड़े रहते हैं कलाकार अथवा कवि कलाभिव्यक्ति की क्षमता के कारण ही व्यक्त करने या मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। क्रोचे के अनुसार यह धारणा भी भ्रामक है। आत्म चिन्तन के एकाग्र क्षणों में भावनाएँ स्वतः रूप ग्रहण करती हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए क्रोचे ने दो कलाकारों के उदाहरण दिये हैं। प्रसिद्ध चित्रकार माइकल एन्जेलो ने कहा है कि चित्रकार तूलिका से नहीं मस्तिष्क से चित्र बनाता है।[1] लनार्डो के शब्दों में "प्रतिभावान् व्यक्तियों का मन बाह्य-चेष्टाओं के अभाव के समय में ही आविष्कार तथा सृजन में सबसे अधिक क्रियाशील होता है।"[2]

कलाकार, कलाकार इसलिये होता है कि साधारण मनुष्य जिस वस्तु के प्रत्यक्ष मात्र का आभास भर कर सकने में समर्थ होता है, कलाकार उसकी पूर्णानुभूति करता है। साधारण व्यक्ति की अनुभूतियाँ, संवेदना और एंद्रिय अनुभूति तक ही सीमित रह जाती हैं, सृजन के क्षणों का आत्मदर्शन उनमें नहीं आने पाता। कलाकार अपनी शक्ति द्वारा सहजानुभूति की इस स्थिति को प्राप्त करता है। सहजानुभूति का रूप व्यंजक होता है अतएव बौद्धिक व्यापार से इसका स्वतन्त्र और स्वाधीन अस्तित्व रहता है। यह स्थिति रूपबद्ध स्थिति है। इस प्रकार प्रतिकृति की सीमा में आबद्ध अनुभूति ही अभिव्यंजना है और दोनों अविभाज्य हैं।

अभिव्यंजनावाद की परिसीमाएँ

क्रोचे द्वारा स्थापित आत्मदर्शन की यह आध्यात्मिक प्रक्रिया पूर्णतः ग्राह्य नहीं हो सकती। उनके सिद्धान्तों में भौतिक उपादानों में निहित क्रियात्मक शक्ति की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त जिन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सन्दर्भों में मन-

---

1 One does not paint with the hands but with ones brain

2 The minds of men of lofty genius are most active in invention when they are doing the least external work

—*Aesthetic* p 10-B Croce

सृष्टि का निर्माण होता है उसकी भी क्रोचे ने पूर्ण उपेक्षा की है। चित्रकार की तूलिका, वास्तु-शिल्पी की टाँकी, कवि की भाषा किसी आध्यात्मिक अथवा नैसर्गिक शक्ति से प्रेरणा प्राप्त कर अनायास ही व्यक्त नहीं हो जाती। यह पूर्णता कलाकृति में तभी आती है जबकि विषय-वस्तु को व्यक्त करने के लिये सयत्न प्रयास किया जाता है। अभिव्यक्ति-क्रिया की इस स्थिति में अनेक नये तथा सूक्ष्म तथ्य तो प्रकट होते ही हैं प्रायः अनेक नई अनुप्रेरणाएँ भी प्राप्त होती हैं। विविध अनुशोधनों तथा संशोधनों के द्वारा कलाकृति का रूप 'अनुभूति रूप' की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जित, परिष्कृत और सुन्दर हो जाता है। वास्तव में अखण्ड सौन्दर्यानुभूति ही काव्य का सार-तत्त्व है। परन्तु महानतम कलाकार को भी अखण्ड सौन्दर्यानुभूति की यह स्थिति भौतिक उपादानों के सम्पर्क द्वारा ही प्राप्त होती है।

हिन्दी आचार्यों की दृष्टि में अभिव्यंजनावाद

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद में प्रतिपादित काव्य-प्रक्रिया तथा अभिव्यंजना और विषय-वस्तु के एकात्म्य दोनों ही दृष्टिकोणों का पूर्ण खण्डन किया है। इस प्रसंग में शुक्लजी के विचारों को उद्धृत करना आवश्यक है। क्रोचे द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रक्रिया के सम्बन्ध में शुक्लजी के तीन मुख्य आक्षेप हैं :

(१) "क्रोचे ने कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर उसका रूप ज्ञानात्मक कहा है। हमारे यहाँ रस सिद्धान्त के अनुसार उसका मूल रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है। कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (Perception) मात्र को 'ज्ञान' कहना उसे ऊँचे दर्जे को पहुँचाना है।"[1]

× × ×

(२) "मूर्त्त भावना अथवा कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया नहीं है। जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है वे वास्तव में वाह्य जगत् से प्राप्त किये हुए रूप हैं। इन्द्रियज ज्ञान के जो संस्कार मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी भाव के धक्के से यों ही, भिन्न ढंग से अन्वित होकर जागा करते हैं। यही मूर्त भावना या कल्पना है। इस अन्वित रूप-समूह को आध्यात्मिक साँचा कहना और पृथक्-पृथक् रूपों को उस साँचे में भरा जाने वाला मसाला बताना वितण्डावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?"[2]

१. चिन्तामणि, भाग २, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ १८०-१८१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
२. वही, पृष्ठ १८३।

× × ×

(३) 'अभिव्यंजनावाद बेलबूटा और नक्काशियों के सम्बन्ध में तो बिलकुल ठीक घटता है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से यह बहुत दूर रहता है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य, सच्ची भावानुभूति नहीं, तो उसका मूल्य मनोरंजन करनेवाली सजावट या खेल-तमाशे के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं। अभिव्यंजनावाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनिया में ढूंढ़ निकालने की चेष्टा की है।"[1]

काव्य-प्रक्रिया सम्बन्धी इन तीनों आक्षेपों को एक-एक करके देखना आवश्यक है।

रूप-प्रतीति को ज्ञान बताने का मुख्य कारण यह है कि पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र में अनुभूति की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व को काव्य की प्रक्रिया में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रूप प्रतीति की यह स्थिति साधारण संवेदना की स्थिति नहीं है, यह तो मानना ही पड़ेगा। आचार्य शुक्ल ने यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ पूर्णतया रूढ़ रूप में ग्रहण किया है। रूप प्रतीति की स्थिति को ज्ञान मानते हुए भी क्रोचे ने उसे मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय से अधिक सम्बद्ध माना है। रूप-प्रतीति की जिस प्रक्रिया का उसने उल्लेख किया है, उसमें हृदय का योग मस्तिष्क की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस प्रसंग में ज्ञानात्मकता का अर्थ केवल रूप-व्यंजकता से है, ज्ञान के अलौकिक तत्त्व का समावेश उसमें नहीं है। ज्ञान से तात्पर्य पूर्ण रूपात्मक स्थिति की अनुभूति से ही है। क्रोचे द्वारा मान्य काव्य-सृजन की प्रक्रिया पर किंचित् ध्यान देने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रोचे की रूप प्रतीति न तो साधारण ऐन्द्रिय संवेदन है और न उसका प्रयोग ज्ञान के उस रूढ़ अर्थ में किया गया है जिसके द्वारा अध्यात्म-साधक योगी को परम-ज्योति के दर्शन होते हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य शुक्ल का यह तर्क बिलकुल दुर्बल पड़ जाता है।

क्रोचे ने संवेदना तथा सहजानुभूति में स्पष्ट भेद माना है। काव्यानुभूति की स्थिति सहजानुभूति की स्थिति है, ऐन्द्रिय संवेदनमात्र की नहीं। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति की प्रक्रिया प्रज्ञानात्मक (Cognitive) है, ऐन्द्रिय संवेदन की नहीं। साधारण अर्थ में संवेदनशीलता और कलाकार की अखण्ड संवेदना में स्पष्ट अन्तर है। प्रज्ञानात्मक स्थिति में संवेदना का रूप व्यंजक है। हम सहजानुभूति की अखण्डता को मानें या न मानें, यह प्रश्न दूसरा है, परन्तु सृजन-प्रक्रिया का जो विश्लेषण क्रोचे

१ चिन्तामणि, भाग २, काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १७०—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

ने किया है[1], उसे साधारण संवेदना मानकर ही नहीं छोड़ा जा सकता और न उसे ज्ञान के रूढ़ अर्थ में लिया जा सकता है।[2] कल्पना-तत्त्व के प्राधान्य के कारण शुक्लजी ने 'सहजानुभूति' का रूप मूलतः ज्ञानात्मक मान लिया है। उनके विवेचन-विश्लेषण से ऐसा जान पड़ता है कि क्रोचे ने काव्य के मूल तत्त्व अनुभूति अथवा भाव की उपेक्षा की है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। यद्यपि काव्य-प्रक्रिया को 'आध्यात्मिक क्रिया' कहने का लोभ वह नहीं कर पाये हैं परन्तु उन्होंने भौतिक उपादानों का पूर्ण रूप से निषेध नहीं किया है। उनमें अन्तर्निहित भावात्मकता की स्वीकृति ही इस बात का प्रमाण बनने के लिये यथेष्ट है।

एक प्रश्न और उठता है कि क्या मानव-मन की ईहात्मक तथा अनुभूत्यात्मक स्थितियाँ एक दूसरे की पूर्णतया विरोधी हैं ? कला-प्रक्रिया के संश्लिष्ट विन्यास में क्या एक की अवस्थिति दूसरी के निषेध से ही सम्भव हो सकती है ? सहजानुभूति-मूलक ज्ञान व्यंजक ज्ञान है। सहजानुभूतिमूलक ज्ञान दूसरे शब्दों में अनुभूतिमूलक ज्ञान ही है क्योंकि उसके मूल में अखण्ड संवेदना की अवस्थिति है। डॉ० नगेन्द्र ने भी एक स्थल पर दोनों का प्रयोग साथ-साथ किया है।[3] श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु को भी सहजानुभूति को अनुभूतिवाद से सम्बद्ध करने में विशेष आपत्ति नहीं है।[4]

'आत्मा के कारखाने' की बात भी इतनी हास्यास्पद नहीं है जितनी कि शुक्लजी ने बना दी है। कल्पना अथवा मूर्त्त भावना आत्मा की अपनी क्रिया है। इसे शुक्लजी दार्शनिकता का मजहबी पुट मानते हैं जिसका प्रयोग आवश्यकता

---

1. Everyone can experience the internal illumination which follows upon his success in formulating himself his impressions and feelings, but only so far as he is able to formulate them. Feelings or impression, then pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit. *Aesthetic*, p. 14-B, Croce.
2. Matter is emotivity—*Aesthetic*, p. 16-B, Croce.
3. जहाँ तक कला की अनुभूति या सहजानुभूति का प्रश्न है कोई भी उसकी अखण्डता में सन्देह नहीं करता, वह अखण्ड है।
—अलंकार और अलंकार्य, पृ० १२, अलीगढ़ विश्वविद्यालय में दिया गया अभिभाषण।
4. सहजानुभूति को अनुभूतिवाद से सम्बद्ध करने में हमें विशेष आपत्ति नहीं है। दोनों को हम एक भी नहीं मान सकते। परन्तु दोनों में जो समानता है, उसी से दोनों को सम्बद्ध किया जा सकता है।
—काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ३४—लक्ष्मीनारायण सुधांशु।

प्राप्त करने की प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, चाहे इस दशा को आप आनन्द कहिये या न कहिये। आनन्द कहियेगा तो उसके पहले 'अलौकिक' लगाना पड़ेगा।"[१] इस व्यक्तिबद्ध (स्थूल) घेरे से छूटना ही क्रोचे के अनुसार काव्य-प्रक्रिया का सूक्ष्म मानसिक स्तर है और स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में भावानुभूति के साथ कल्पना का भी स्पष्ट आभास मिलता है। प्रज्ञान और अनुभूति के इस योग की अपार्थिवता सिद्ध करने के लिये उन्हें भी अलौकिक शब्द का प्रयोग करना पड़ा है। शुक्लजी का 'अलौकिक आनन्द' और क्रोचे की 'आध्यात्मिक सहजानुभूति' मेरी धारणा में एक दूसरे के बहुत निकट हैं। कला तथा साहित्य के शाश्वत उपादानों को समझ और पहचान कर भी क्रोचे ने उन पर दार्शनिकता का जो आवरण चढ़ाया है, वही इस भ्रम के लिए उत्तरदायी है।

(३) "बेलबूटे और नक्काशियों के सम्बन्ध में तो अभिव्यंजनावाद ठीक घटता है परन्तु काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से वह दूर रहता है।" शुक्लजी की यह उक्ति भी क्रोचे के सिद्धान्तों को खण्ड रूप में ग्रहण करने पर आधृत है। बेलबूटे और नक्काशी से तात्पर्य कला के शिल्प-विधान से ही हो सकता है। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति ही स्वयं प्रकाश्य है, रूपबद्ध है। जहाँ अनुभूति ही रूपमयी है वहाँ शिल्प-विधान का महत्व क्या है? सहजोक्ति में कला प्रधान है या भाव, यह विवादरहित तथ्य है। शिल्प-विधान चेतन मन की क्रिया है जिसे क्रोचे की काव्य-प्रक्रिया में बहुत ही गौण स्थान प्राप्त है। उन्होंने वाग्वैचित्र्य को अभिव्यंजनावाद की एक विशेषता माना है परन्तु जहाँ क्रोचे उक्ति को ही कला मानता है वहाँ उसका तात्पर्य विचित्र उक्ति से नहीं सहज उक्ति से ही अधिक है। क्रोचे ने तो वाह्य रचना की सत्ता 'सहजानुभूति की पुनरुद्-बुद्धि के विभावक' तथा 'स्मृति के सहायक' आदि के रूप में ही स्वीकार की है। उसे केवल आनुषंगिक माना है, काव्य का अनिवार्य अंग नहीं।

डा० नगेन्द्र के अनुसार क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक है जिसने अपने ढंग से आत्मा की अन्तःसत्ता की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने क्रोचे द्वारा प्रतिपादित कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के पाँच चरणों का उल्लेख किया है: (१) अरूप संवेदन, (२) अभिव्यंजना अर्थात् अरूप संवेदनों की आन्तरिक समन्विति—सहजानुभूति, (३) आनन्दानुभूति—सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति, (४) आन्तरिक अभि-व्यंजना अथवा सहजानुभूति का शब्द-ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक तत्वों में मूर्ति-करण और (५) काव्य, चित्र इत्यादि—कलाकृति का भौतिक मूर्त रूप। इन पाँचों में मुख्य क्रिया दूसरी है। उनके अनुसार क्रोचे वैचित्र्यवादी तथा आलंकारिक नहीं है। "उसके प्रतिपाद्य का मूल आधार है उक्ति, जिसमें वक्र और ऋजु, वक्रता और वार्ता

---

१. चिन्तामणि, भाग २, पृ० २०६—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

का भेद नहीं है।" उनकी मान्यताएँ इस विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता से बिलकुल भिन्न हैं। उनके विचार में क्रोचे के अनुसार वक्रोक्ति भी सहजोक्ति ही है क्योंकि अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करने के लिए वही एकमात्र साधन हो सकती थी। आचार्य शुक्लकी भाँति वे क्रोचे के सिद्धान्तों को बेल-बूटे और नक्काशी से सम्बद्ध कवि-व्यापार-प्रधान नहीं मानते प्रत्युत उनकी दृष्टि में क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति ही काव्य की आत्मा है। सहजानुभूति 'आध्यात्मिक सृजन' और 'आन्तरिक क्रिया' है, 'प्रातिभ-अन्तःस्फुरण' है। उसका वक्ता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। सहजानुभूति का अर्थ उन्होंने भी लगभग उसी रूप में लिया है जिस रूप में हर्बर्ट रीड ने, जिनके मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है।[1] सहजानुभूति अखण्ड है। वस्तु-तत्त्व और रूप आकार अथवा अलंकार की पृथक् सत्ता उसमें नहीं है। (सहृदय द्वारा) कला की सहजानुभूति अविवेच्य है—अनिर्वचनीय है।

'अभिव्यंजनावाद' में बेलबूटे और पच्चीकारी को प्रधान मानकर आचार्य शुक्ल ने उसे आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा था। क्रोचे की 'उक्ति' तथा कुन्तक की 'वक्रोक्ति' को एक रूप में ग्रहण करके उन्होंने अपना यह निर्णय दिया था। उनके रसवादी दृष्टिकोण में क्रोचे की कला सम्बन्धी स्थापनाएँ वितण्डावाद के अतिरिक्त कुछ न थी परन्तु रसवादी आलोचना की परम्परा के प्रमुख आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने अभिव्यंजनावाद की आत्मा सहजानुभूति को 'प्रतिपादित' रूप में स्वीकार करते हुए क्रोचे के सिद्धान्त के उस दुर्बल स्थल को स्पर्श कर लिया है जिसका 'समाधान क्रान्तदर्शी आचार्य कुन्तक ने एक सहस्र वर्ष पूर्व ही प्रस्तुत कर दिया था।" कुन्तक के साथ क्रोचे के विचारों में उन्होंने साम्य की स्थापना शुक्ल जी की भाँति वैचित्र्यवाद के आधार पर नहीं की, प्रत्युत तत्त्वदर्शी क्रोचे के सिद्धान्तों के अमूर्त स्थलों का पूरक मानकर की है। व्यावहारिक दृष्टि से क्रोचे के सिद्धान्त अपूर्ण हैं। कुन्तक के मन्तव्य में सहजानुभूति अखण्ड है। परन्तु फिर भी काव्य-सौन्दर्य को हृदयंगम करने के लिए व्यवहार रूप में विषय-वस्तु और अभिव्यंजना के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है।[2]

---

1 *Form in Modern Poetry*, p 44—Herbert Read

२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, वक्रोक्ति और अलंकार, पृ० १३३—डॉ० नगेन्द्र।

काव्य और प्रकृति

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

इस दृश्यमान् अखिल चराचर जगत् को जीव और प्रकृति इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। स्रष्टा तथा नियामक के रूप में ईश्वर या ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त है। जीव उस विराट् चेतन सत्ता का अंश और दृश्य प्रकृति उसका पार्थिव पसारा है। तात्त्विक दृष्टि से प्रकृति सत् है, जीव सत् और चित् है तथा ईश्वर सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। प्राकृतिक उपादानों द्वारा जहाँ जीवयोनि का भरण-पोषण होता है वहाँ सृष्टि की श्रेष्ठतम रचना 'मानव' को उसके द्वारा अपने भाव-जगत् के निर्माण की अमूल्य सामग्री तथा कल्पना और चिन्ता की विविध दिशाओं का नूतन संकेत भी मिलता है।

यों तो मानव भी अपने सत् रूप में प्रकृति का ही एक रूप है किन्तु वह अपने को प्रकृति से पृथक् करके देखता है। इस भेद-बुद्धि को स्वीकार करने पर भी मानव प्रकृति से सर्वथा अलग या असम्पृक्त नहीं है। प्रकृति मानव की चिर-सहचरी है जो उसके जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती हुई अन्तरंग अनुभूतियों को भी अपने रूप-सौन्दर्य से प्रभावित और चमत्कृत करने की अद्भुत क्षमता रखती है। इसी कारण सृष्टि के आदि से ही मानव का प्रकृति के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह स्पन्दनशील एवं संवेदनशील सत्ता के रूप में ही हुआ। प्रकृति अपने असंख्य रूपों में हमारे सम्मुख आती है और हम नाना रूपात्मक, गतिमान, परिवर्तनशील, विविध ध्वनि-नाद-युक्त सृष्टि को देखकर विस्मय-विमुग्ध होने के साथ एक अव्यक्त जिज्ञासा से प्रश्नशील हो उठते हैं। प्रकृति के प्रति पूजा-आराधना का भाव भी कदाचित् इसी कारण मानव के मन में उदय हुआ कि वह उसके कोमल और कर्कश, कमनीय और विकराल, शान्त और प्रचण्ड रूपों से उल्लसित एवं आतंकित हुए बिना न रह सका। उसने अपने भाव-लोक में प्रकृति की व्यक्त सत्ता का जो विराट् रूप अंकित किया वही काव्य, साहित्य, संगीत, चित्र आदि विभिन्न ललित कलाओं द्वारा प्रस्फुटित होकर हमारे रागात्मक जगत् का अभिन्न अंग बन गया। फलतः विश्व साहित्य में प्रकृति-वर्णन की अनिवार्यता स्वीकार की गई और मानव ने सौन्दर्य-तृप्ति के

शोध के लिए ही नहीं वरन् अपनी आभ्यन्तर जिज्ञासा, वैचित्र्यजन्य कुतूहल, मोहक विस्मय तथा आतंकमय आश्चर्य के शमन के लिए भी प्रकृति के विविध रूपों को काव्य में ग्रहण किया।

वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन इस बात का प्रमाण है कि उस काल के ऋषि-मुनियों ने विराट-सत्ता के स्तवन प्रसंग में उषा, सविता, वरुण, चन्द्र, मरुत आदि प्रकृति-तत्त्वों का प्रचुर परिमाण में वर्णन किया था। इनके निरतिशय सौन्दर्य एवं देदीप्यमान तेज का वर्णन जिन प्रकृति-उद्गीथों में किया गया है उसे पढ़कर पाठक का मन केवल अभिव्यंजना की प्रौढ़ शैली एवं कल्पना की समृद्धि पर ही मुग्ध नहीं होता अपितु प्रकृति की व्यापक सत्ता तथा दुर्दम क्षमता पर भी रीझ उठता है। उषासूक्त, वरुणसूक्त, मरुतसूक्त, वर्षासूक्त आदि में यद्यपि देवता-परक दृष्टि से इनका स्तवन-वर्णन हुआ है तथापि इनके स्थूल दृश्य-रूप का सर्वथा तिरस्कार नहीं है। देवता-परक भावना से हटकर जब हम इनके मांसल प्रकृति-रूप का अवगाहन करते हैं तब ये सब पदार्थ अपने भौतिक स्वरूप में हमारे हृदयाकाश में भासमान हो उठते हैं। वेदसंहिताओं के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय के अन्य अंग ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक में भी प्रकृति के प्रतीक, उपमान, रूपक आदि की भरमार है। रहस्य-भावना के अंकन में प्रकृति-प्रतीकों की जैसी सुन्दर योजना उपनिषदों में हुई वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। प्राकृतिक वैभव का चित्रण भी इन ग्रन्थों में विशेष रूप से हुआ है।

भारतीय दर्शन अपने सूक्ष्म विवेचन के लिए प्रसिद्ध है। स्थूल के प्रति उनका अपेक्षाकृत न्यून आग्रह है। फिर भी कपिल और कणाद ऋषि ने प्रकृति की मीमांसा बड़ी विशद एवं सन्तुलित शैली से अपने दर्शन-ग्रन्थों में प्रस्तुत की है। सांख्य दर्शन में पुरुष के आकर्षण-सूत्र में आबद्ध प्रकृति को सृष्टि-रचना करने में सबसे अधिक प्रयोजनीय कहा गया है, और भौतिक जगत् में उसकी असीम शक्ति वर्णित की गई है। वैशेषिक दर्शन में, मूल प्रकृति रूप पंचभूतों का विश्लेषण तात्त्विक दृष्टि से हुआ है। अन्य दर्शनों में कहीं प्रकृति को माया, कहीं प्रपंच-प्रसारिका, कहीं मायाविनी नटी आदि नाना रूपों में स्मरण किया है। दर्शनों में प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही रूप आये हैं जो सृष्टि-रचना के रहस्योद्घाटन में तथा संसार के सरणशील बने रहने में अपनी उपादेयता रखते हैं। प्रकृति की सर्जन-शीलता का सम्मान मानव ने केवल उसके जड़-उपादान के रूप में नहीं किया, वह तो आदि काल से उसे क्रियाशील मानकर उसके नाना रूपों पर प्रसन्न, मुग्ध, तुष्ट और लुब्ध होकर उसकी पूजा-आराधना, स्तवन-कीर्तन, अंकन-चित्रण आदि करता रहा है। यथार्थ में जीवन के समानान्तर ही प्रकृति का उपयोग किया गया है। अतः प्रकृति और मानव चिर-सहचर बन गये हैं।

संस्कृत-महाकाव्यों में प्रकृति का ग्रहण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप में हुआ। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत में दृश्य-प्रकृति चित्रों का जैसा संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है वैसा कालिदास और भवभूति के सिवाय किसी अन्य कवि के काव्य में दृष्टिगत नहीं होता। प्रकृति को विभाव की कोटि में आलम्बन मानकर वर्णन करने की शास्त्रीय मर्यादा परवर्ती महाकाव्यों और खण्डकाव्यों में नहीं रही। इसी कारण प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णनों में उतनी तल्लीनता और सटीकता नहीं पाई जाती। उद्दीपन के फेर में पड़कर कवियों की भावना में परिवर्तन आ गया और वन, उपवन, गिरि, निर्झर, सर, सरिता, वर्षा, शरद्, कमल, मालती, चन्द्र, चाँदनी सभी पदार्थों में उन्होंने अपनी भावना का आरोप करना प्रारम्भ कर दिया। कहना न होगा कि यह परिपाटी शास्त्रीय रूढ़िवाद की दृष्टि से समीचीन भले ही प्रतीत हो किन्तु प्रकृति के वस्तुगत रूप के प्रति घोर उदासीनता की द्योतक है। रामायण से संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण के ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें प्रकृति को शुद्ध वस्तु रूप में स्वीकार करके कवि ने उसका आलम्बनपरक वर्णन किया है। मन्दाकिनी का वर्णन करते हुए राम सीता से कहते हैं—

विचित्र पुलिनां रम्यां हंससारससेविताम्।
कुसुमैः सुप सम्पन्नां पश्य मंदाकिनीं नदीम्॥
मारुतोद्धूत शिखरैः प्रनृत इव पर्वतः।
पादपैः पुष्प पत्राणि सृजद्भि रभितोनदीम्॥
निर्धतान्वायुना पश्य विततान्पुष्प' संचयान्।
यो प्लूयमानान परान् पश्य त्वं तनुमध्यमे॥
—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, स० ९५, श्लोक ३-८

"इस विचित्र पुलिनवाली रमणीय मन्दाकिनी को देखो जिसके तट पर हंस और सारस क्रीड़ा कर रहे हैं और जो पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभायुक्त लग रही है। मारुत के वेग से प्रताड़ित शिखरों से नृत्य-सा करता हुआ पर्वत (अपने ऊपर स्थित) अपने वृक्षों से नदी पर चारों ओर से पुष्प और पत्र विकीर्ण कर रहा है। वायु के झोंकों से नदी के किनारे फैले हुए पुष्पों के ढेर को देखो और साथ ही उन पुष्पों को भी देखो जो उड़कर पानी में जा गिरे हैं—वे पानी में कैसे तैर रहे हैं।"

उपर्युक्त वर्णन में मन्दाकिनी के पुलिन-प्रदेश, पक्षियों के कल्लोल, क्रीड़ा, पुष्पित वृक्षों का आमोद-वितरण, पर्वत की शोभा, पुष्प और पत्रों का झड़कर जल में विकीर्ण होना इतने स्वाभाविक रूप में अंकित किया गया है कि पाठक के अन्तर्नेत्रों के सम्मुख नदी का ब्यौरेवार समग्र चित्र उपस्थित हो जाता है। इसमें नायक-नायिका की किसी व्यक्त-अव्यक्त भावना का उद्दीपन कवि को अभीष्ट नहीं है। ऐसे और इससे

रा वही सुन्दर वणन रामायण और महाभारत मे भरे पड़े हैं। ये वणन इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि भारतीय काव्य परम्परा म प्रकृति वणन को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त था या और हमारे कविगण प्रकृति की अवतारणा मनोविकार के उद्दीपन की पीठिका म ही न रखकर उसके शुद्ध-स्वतन्त्र रूप म भी करत थे। इस तथ्य की पुष्टि म नाना विध उदाहरण संस्कृत काव्यो मे दिये जा सकते हैं किन्तु मौलिक सिद्धान्त की स्थापना के बाद प्रमाणो के अम्बार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कालिदास और भवभूति के ग्रन्थो म प्रकृति को पीठिका बनाकर जो दृश्यांकन हुआ है वह शुद्ध आलम्बन का ही रूप है उद्दीपन उसका आनुषंगिक फल हो तो कवि को उसम आपत्ति नहीं है।

संस्कृत के गद्य-साहित्य म भी प्रकृति वणन उसी शैली से हुआ है जिस शैली से काव्य-साहित्य म। काव्य नाटक और गद्य रचना शैली म भिन्नता होते हुए भी प्रकृति वणन के मूलभूत सिद्धान्त म समानता है। बाणभट्ट दण्डी श्रीहर्ष आदि सभी प्रमुख गद्यकारो ने प्रकृति-वणन म आलकारिक शैली की छटा दिखाते हुए वस्तु रूप को ही प्रधानता दी है। बाणभट्ट जैसा प्रतिभाशाली गद्य प्रणेता अपनी रचनाओ म जहाँ एक ओर सफल चित्रकार प्रतीत होता है वहाँ दूसरी ओर उसकी सूक्ष्म दृष्टि का पता उन वणनो से लगता है जिसमे उसने जीर्ण शाल्मली शून्याटवी ऊजड़ ग्राम पवत वन घाटी चैत्य आदि का अकन सागोपाग एव सजीव रूप म किया है। पदलालित्य आलकारिकता परिमाजन और प्रौढता आदि गुण तो दण्डी और श्रीहर्ष म भी हैं किन्तु सूक्ष्म दशन की दृष्टि म बाणभट्ट उनसे आगे है। प्रकृति के सम्बन्ध म भारतीय काव्य-समीक्षा और काव्य-परिपाटी का भेद प्रदर्शित करने के लिए हमने इस प्रसग को यहाँ संकेत रूप मे उपस्थित किया है। शास्त्रकार भले ही प्रकृति को आलम्बन न मानें भले ही उनकी दृष्टि म प्रकृतिजन्य रस शुद्ध काव्य रस की कोटि म न आये किन्तु काव्य रसिक सहृदय कवियो के लिए तो प्रकृति रस भी शुद्ध रस बनकर ही आया है और आता रहेगा।

पालि प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य म भी प्रकृति को ठीक वही स्थान मिला है जो वैदिक और संस्कृत साहित्य म है। पालि के जातक ग्रन्थो मे वस्तु-परक का अभाव है क्योकि उनम लघु कथानको का ऐसा जाल बिछा है कि प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों की अवतारणा के लिए अवकाश ही नहीं रहता। हाँ प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य म शुद्ध प्रकृति-वणन के प्रसगो की न्यूनता नहीं है। रूपक उपमान और प्रतीक शैलियों द्वारा प्रकृति-वणन की शैली इन दोनो भाषाओं म संस्कृत के समान ही मिलती है।

हिन्दी साहित्य क अन्तगत प्रकृति का जिस रूप म ग्रहण हुआ वह न तो मौलिक

है और न उद्भावना की दृष्टि से ही नवीन कहा जा सकता है। आदिकाल के साहित्य में प्रकृति को उपयुक्त स्थान नहीं मिला। भक्तियुग में सूर और तुलसी ने प्रकृति का उपयोग आलम्बन और उद्दीपन दोनों दृष्टियों से किया। कबीर और जायसी ने रहस्य-भावना के वर्णन में प्रकृति के प्रतीक ग्रहण किये और अप्रस्तुत विधान की योजना करके प्रकृति को पर्याप्त स्थान दिया। रीतिकालीन कवियों ने शास्त्र-मर्यादा तथा नायिका-भेद के भँवर-जाल में फँसकर प्रकृति की क्षमता को सीमित बना दिया और प्रकृति के वस्तु-सौन्दर्य से आँख हटाकर उसे अपने मनोविकारों की पृष्ठभूमि में ला खड़ा किया। फलतः प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता विलीन हो गई और उसका अनवद्य सौन्दर्य उनकी दृष्टि में नायक या नायिका के मन को रिझाने या रिसाने वाला बन गया। उद्दीपन की यह प्रणाली यद्यपि नूतन न थी तथापि अपने प्रयोग की क्षुद्र सीमा-परिधि में बँधकर वह कवि और काव्य दोनों को कुण्ठित करने वाली सिद्ध हुई। केशवदास, चिन्तामणि, देव, पद्माकर और भारतेन्दु तक यही प्रणाली चलती रही। सन्तोष का विषय है कि द्विवेदी युग में प्रकृति ने फिर से उन्मुक्त वातावरण में साँस ली और तथाकथित शास्त्रीय बन्धन से छूटकर वह कवि के मानस में हर्षोल्लास की तरंग उत्पन्न करने की क्षमता जुटा सकी। छायावादी युग में आकर तो प्रकृति-अप्सरा को अपने पंखों में पूरी उड़ान भरने को नील-गगन दिखाई दिया और पन्त, प्रसाद, निराला के काव्य-कानन में प्रकृति परी को स्वच्छन्द विहार करने का अवसर मिला। शास्त्र की शृंखला से छूटने पर प्रकृति में रूपातिशय के साथ वस्तु और भाव दोनों का सम्मिश्रण इन कवियों द्वारा हुआ और प्रकृति को सापेक्ष दृष्टि से न देखकर स्वतन्त्र और निरपेक्ष दृष्टि से देखना ही श्रेयस्कर समझा जाने लगा। प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण का यह स्वस्थ परिवर्तन हिन्दी कविता में व्यापकता लाने का कारण बना।

विदेशी भाषाओं के साहित्य में भी प्रकृति को समुचित स्थान मिला है। अंग्रेजी भाषा में तो प्रकृति के दृश्य रूप को चेतन सत्ता के रूप में ग्रहण करके मानवीकरण द्वारा अनेक कवियों ने वर्णित किया है। मिल्टन से लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक कवि प्रकृति को वर्ण्य-वस्तु को प्रधानता देकर उसमें नाना रूप, ध्वनि, नाद और सौन्दर्य का दर्शन करते रहे। प्रभंजन को सम्बोधन करके लिखी हुई कवि शेली की 'ओड टु दी वेस्टविंड' कविता की दुर्निवार शक्ति पर किसे आश्चर्य नहीं होता। वर्ड्सवर्थ के प्रकृति-प्रेम पर कौन सहृदय मुग्ध नहीं होता? कीट्स की कमनीय कल्पना पर कौन रसिक लुब्ध नहीं होता? टेनीसन के प्रकृति क्रीड़ा-वर्णन शैली पर कौन अनुरक्त नहीं होता? निश्चय ही अंग्रेज कवि प्रकृति को संवेदनशील और स्पन्दनशील मानकर ही उसका वर्णन करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की परिभाषा की तरह उन्होंने प्रकृति को उद्दीपन की परिधि में आबद्ध नहीं किया है। अतः उनका वर्णन संश्लिष्ट होने के साथ ही सजीव और प्राणवान् हुआ है।

कविता और प्रकृति के अभिन्न सम्बन्ध की स्थापना करने के लिए जिन आधारभूत मौलिक प्रश्नों को उठाया जाता है, उन पर विचार करना भी हम आवश्यक समझते हैं। इस सैद्धान्तिक विवेचन को हम तीन-चार प्रश्नों में बाँटकर उसकी मीमांसा करेंगे। पहला प्रश्न है प्रकृति को काव्य में किस रूप में ग्रहण किया जाय—आलम्बन या उद्दीपन विभाव में से किसके अन्तर्गत रखा जाय? दूसरा प्रश्न—प्राकृतिक सौन्दर्य का अवस्थान कहाँ है—दृश्य में या दर्शक की भावना में? इस प्रश्न का अवान्तर प्रश्न है कि—दृश्यमान् वस्तु तत्त्वत सुन्दर है या कलात्मक अभिव्यंजना का फल है? तीसरा प्रश्न है कि प्रकृति-प्रेम का रस की दृष्टि से शुद्ध रसानुभूति माना जाय या केवल भाव या रसाभास समझा जाय? चौथा प्रश्न है—काव्य और प्रकृति के मिलन का धरातल क्या है? क्या मानवीकरण और प्रतीक-विधान की आलंकारिक पद्धति को स्वीकार करके हम प्रकृति को सवेदनशील बना लेते हैं अथवा उसमें स्वय प्रबुद्ध चेतना का वही रूप है जो जीव-योनि में होता है? इन प्रश्नों के सिवाय कुछ छोटे-मोटे प्रश्न भी उठ सकते हैं जो साधारणीकरण की प्रक्रिया को लेकर उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करते समय प्रकृति के विविध रूप हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रकृति-सौन्दर्य के असख्य स्तर हैं। अनेक रूपों में प्रकृति हमारे नेत्रों के सामने बिखरी पड़ी है। उसके कोमल-कमनीय रूप ही नहीं, भयानक और वीभत्स रूप भी हमें देखने को मिलते हैं। अत उसकी कोई एक निश्चित कल्पना हम नहीं कर सकते। प्रकृति और मानव को मिलाने वाले और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने वाले कारणों की भी इयत्ता नहीं है। किन्तु काव्य और प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित करने वाला हेतु स्पष्ट है और वह है सौन्दर्यानुभूति। सौन्दर्य के धरातल पर काव्य और प्रकृति का कवि की अनुभूति, कल्पना और भावना के द्वारा सगम होता है। प्रकृति के विशद विस्तार से जो सौन्दर्य कवि अपनी कल्पना में ग्रहण करता है वही उसके काव्य में अभिव्यक्ति पाता है। सौन्दर्य को इसलिए वस्तु-परक मानने की अपेक्षा कुछ लोग मनस्-परक अधिक मानते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'एस्थिटिक्' में प्रतिपादित किया है कि प्रकृति की सौन्दर्य-भावना मनस्-परक है। प्रकृति स्वय तो मूक और जड़ है, कलाकार जब तक उसे वाणी नहीं देता उसका सौन्दर्य मुखरित नहीं हो पाता। प्रकृति-सौन्दर्य को हृदयगम करने के लिए केवल बाह्य दर्शन ही पर्याप्त नहीं, उसे भलीभाँति समझने के लिए कलात्मक मानसिक स्तर का होना भी अनिवार्य है। वस्तुपरक दृष्टि से विचार करने पर वस्तु दृश्य की अनिवार्यता भी सामने आती है और लगता है कि स्थूल-रूप के बिना भाव की स्थिति नहीं होगी। अत वस्तु और भाव दोनों से सम्बन्धित और समन्वित रूप को ही सौन्दर्य की व्याख्या में रखना सगत होगा।

प्रकृति के विराट् सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवि काव्य रचना करता है, उसके सौन्दर्य को अपनी कल्पना और अनुभूति का विषय बनाता है। यह अनुभूति ही अभिव्यक्ति का विषय बनकर कविता का रूप धारण करती है। अतः ऐसी स्थिति में काव्य में प्रकृति को आलम्बन माना जायगा और कवि होगा उन भावों का आश्रय। आलम्बन रूप इस प्रकृति को हम वस्तु-आलम्बन और भाव-आलम्बन दो रूपों में देख सकते हैं। जहाँ किसी घटना, स्थल, दृश्य आदि को स्पष्ट करने और कथानक आदि की पृष्ठभूमि तैयार करने में इसका उपयोग होता है वहाँ वस्तु-आलम्बन के रूप में इसका ग्रहण होगा। इन वर्णनों में कवि स्वतन्त्र शैली से वस्तु-रूपों को इतना प्रमुख स्थान देता है कि उसका रूप हमारे अन्तःकरण में रसानुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होता है। भाव-आलम्बन में मानवीय भावों के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना ही कवि को अभीष्ट है। प्रकृति के पुष्प, पत्र, लता, विहंगों का कलरव, निर्झर का कल-कल नाद कभी नायक-नायिका के स्वागत करने के लिए भाव की पृष्ठभूमि में वर्णित होते हैं, कभी किसी अन्य भाव को व्यंजित करने के लिए। आलम्बन की यह स्थिति तभी स्वीकार की जायगी जब काव्य में दूसरा आलम्बन न होगा या किसी अन्य परोक्ष आलम्बन का इस वर्णन से उद्दीपन रूप का सम्बन्ध न होगा। यदि किसी अन्य आलम्बन से इस वर्णन का सम्बन्ध हुआ तो वहाँ यह आरोपित उद्दीपन ही समझा जायगा।

साधारणतः भारतीय प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति के इस आलम्बन रूप को स्वीकार नहीं किया और रस-सिद्धान्त के विवेचन में कहा कि प्रकृति के अचेतन होने के कारण, तज्जन्य भाव रस रूप में परिणत नहीं हो सकता। प्रकृति हमारे भावों के साथ आदान-प्रदान नहीं करती, उसके प्रति व्यक्त प्रेम भी एकांगी होता है। अतः वह भाव ही होगा, रस नहीं। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन ग्रन्थ में लिखा है "निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासैः। तत्रवृक्षादिष्वनौचित्येनारोप्यमाणो रसभावो रसभावभासतां भजतः—" काव्यानुशासनवृत्तिः (वाग्भट्ट)। इस शास्त्रीय सिद्धान्त का खण्डन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लेख 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' में किया और प्रकृति-वर्णन में रस की स्थापना की है।

प्रकृति-रस की स्थापना के लिए भक्ति-रस, वात्सल्य-रस और शृंगार-रस विषयक विभिन्न मान्यताओं को स्वपक्ष में प्रस्तुत किया जाता है। भानुभट्ट की 'माया-रस' कल्पना के आगे प्रकृति-रस की स्वीकृति तो बड़ी सहज-स्वाभाविक है। वस्तुतः प्रकृति-निष्ठ सौन्दर्य का भाव इस चरम कोटि तक मानव-मन को उल्लसित और उद्बुद्ध कर देता है कि हम उसे एकदम भूल नहीं सकते। भक्ति-रस की स्थापना करने वाले आचार्यों ने शान्त भाव को जिस आधारभूमि पर प्रतिष्ठित किया, उतनी ही सुदृढ़

भूमि पर सौंदय भाव को भी स्थापित किया जा सकता है। सौन्दर्यानुभूति और उसकी अभिव्यंजना दाता ही काव्य के जीवित प्रग कहे जाते हैं। इस विषय म पूर्व और पश्चिम दोनों दशा के काव्यशास्त्रियों का मत समान है। 'यदि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो ये (सौंदय और शान्त भाव) रति या शम या निर्वेद के अन्तगत भी नहीं आ सकते। परन्तु इस ओर संस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है। परिणामस्वरूप इन दोनों भावों के आलम्बन रूप म आने वाली प्रकृति साहित्य म केवल उद्दीपन रूप म स्वीकृत रही। मानव के मन म सौंदय की भावना सामंजस्य का फल है और यह भाव रति स्थायी भाव का सहायक अवश्य है। परन्तु रति से अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्ति दोष है। उसी प्रकार शान्त केवल निर्वेदजन्य संसार से उपेक्षा का भाव नहीं है वरन् भावों की एक निरपेक्ष स्थिति भी है। सौंदय भाव और शान्त भाव मन स्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वयं म पूर्ण आनन्द है।[१] यदि इस तरह इन्हें निरपेक्ष मानकर आनन्द की पूर्ण स्थिति म स्थिर करके देखा जाय तो इनको रसकोटि म रखना असंगत न होगा। प्राचीनों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया यह आश्चर्य का ही विषय है। हिन्दी काव्य-शास्त्र में तो प्राय परम्परा-पालन मात्र हुआ है। अत नूतन दृष्टि उन्मेष का अवसर ही कहाँ है। फिर भी आश्चर्य की बात है कि आचार्य केशवदास ने प्रकृति को आलम्बन-स्थानों मे परिगणित करने का साहस किया है। नायिका के साथ पृष्ठभूमि रूप समस्त पदार्थों को केशव ने आलम्बन के अन्तगत स्वीकार करके प्रकृति की सीमा मर्यादा को व्यापक बनाया है।

प्रकृति के सचेतन और संवेदनशील होने की बात हम पहले कह चुके हैं। आधुनिक विज्ञान के आधार पर वनस्पति जगत् की चेतन सत्ता स्वीकार हो चुकी है। श्री जगदीशचन्द्र वसु के आविष्कार की मान्यता को हम भले ही काव्य साहित्य से पृथक् रखें किन्तु प्रकृति को जड और चेतन कहकर उसे आलम्बन के सर्वथा अयोग्य नहीं ठहरा सकते। प्रकृति के गतिशील और प्रवाहित रूपों को कवि यदि अपनी चेतना के आधार पर सजीव और सप्राण करके देखता है तो वह काव्य-शैली से कोई अपराध नहीं करता। प्रकृति को उद्दीपन के अन्तगत रखते समय भी उसके ऊपर कवि अपनी मनसा का आरोप करता ही है। मानवीकरण करते समय तो प्रकृति चेतन सत्ता के रूप में ही व्यक्त होती है। प्रकृति के मानवीकरण की भावना म पशु-पक्षी जगत् तो मानवीय सम्बन्धों म व्यवहार करते प्रकट ही होते हैं वनस्पति तथा जड जगत् भी व्यक्ति विशेष के समान उपस्थित होता है। कवि की भावना म वृक्ष पुरुष के रूप म और लता स्त्री के रूप मे एक दूसरे को आलिंगन करते हुए जान पड़ते हैं। सरिता प्रियतमा के रूप मे नीरनिधि से मिलने को व्याकुल दौड़ रही है। पुष्प उत्सुक नेत्रों

१ देखिए 'प्रकृति और काव्य' (हिन्दी) —डा० रघुवंश पृष्ठ १३७।

से किसी की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और सम्बन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना भी प्रचलित है। साहचर्य के आधार पर व्यापक प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य-रूप तो आलम्बन है परन्तु आकार के आरोप के साथ शृंगारिक भावना अधिक प्रबल होती गई है और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूप शृंगार का उद्दीपन विभाव समझा जा सकता है।" ('प्रकृति और काव्य'—डा० रघुवंश, पृ० ११३) प्रकृति के उद्दीपन-परक वर्णनों में कवि की भावना का आरोप तो प्रायः होता ही है, कहीं-कहीं प्रकृति-दृश्य रूपों में भी इतना सामर्थ्य और बल दृष्टिगत होता है कि वे चेतन सत्ता के समकक्ष प्रतीत होते हैं। इस आरोपित चेतना को सहज चेतना न मानने पर भी इसकी उपेक्षा सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें आनन्दानुभूति, रसानुभूति और तल्लीनता की कोई कोर-कसर नहीं है।

अलंकारवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति-वर्णन पर विचार नहीं किया किन्तु अलंकार-योजना में अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत प्रकृति की उपादेयता स्वीकार की गई है। उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों में सादृश्य-विधान के लिए जिन प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग हुआ है वह प्रकारान्तर से काव्य में प्रकृति की प्रयोजनीयता की स्वीकृति ही है। विद्यापति, जायसी, तुलसी आदि सभी ने अप्रस्तुत-विधान में उद्यान, चन्द्र, चाँदनी, पर्वत, सर, सरिता, सांभर आदि का प्रचुर प्रयोग किया है। अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त आदि अलंकारों में प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को कवियों ने चुना है। कबीर की अन्योक्तियों में उद्यान के विकसित फूलों की क्षणभंगुरता प्रसिद्ध ही है। अद्वैतभावना की सिद्धि के लिए 'काहे रे नलनी तू कुम्हलानी, तेरहिं नाल सरोवर पानी' आदि उक्तियाँ प्रकृति उपमान की अप्रस्तुत योजना पर ही निर्भर हैं। प्रतीक-विधान के लिए भी प्रकृति से दृश्य पदार्थों का चयन अनादिकाल से कवि करता चला आ रहा है। प्राचीन और नवीन कविता के प्रतीक-विधान में मौलिक अन्तर नहीं है। हाँ, समयानुसार प्रतीक अवश्य परिवर्तित होते रहे हैं। उषा, सन्ध्या, चन्द्र, चाँदनी, आकाश, पर्वत, सागर, पवन सभी प्रतीक विभिन्न मनोदशाओं और स्थितियों के द्योतक रहे हैं। छायावादी कविता की समृद्धि में तो इन प्रतीकों का विशेष योग रहा है।

प्राकृतिक तत्त्वों के माध्यम से सन्त तथा कवियों ने अपनी रहस्य-साधना एवं भक्ति भावना का वाह्य ढाँचा खड़ा किया है। ब्रह्म का स्वरूप, आत्मा की स्थिति, माया का प्रपंच और भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता आदि प्रदर्शित करने के लिए सन्त तथा भक्त कवियों ने प्रायः प्रकृति-तत्त्वों के रूपक ग्रहण किए हैं। कबीर, दादू, मलूकदास, सूर, तुलसी, हितहरिवंश, ध्रुवदास, हरिदास स्वामी आदि कवियों की रचनाओं से इसकी पुष्टि में पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भक्त कवियों ने

भगवान् के रूप-सौंदर्य के चित्रण में प्रकृति के उपमानों का इतना अधिक प्रयोग किया है कि उसे देखकर लगता है कि भारतीय साधना में प्रकृति का सर्वाधिक उपयोग हुआ है, जबकि साथ ही साथ प्रकृति को माया और प्रपंच कहकर दूर रखने का उपदेश भी है। सौंदर्य-वर्णन की इस परम्परा में रीतिकालीन कवि भी उसी तरह आते हैं। उनके काव्य में भी प्रकृति का वही स्वरूप और स्थान है जो भक्तिकालीन कवियों के काव्य में था। देव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर की कविता के विविध रूपों द्वारा नायिका-नायक के मनोभावों को उद्दीप्त किया गया है तो सेनापति और घनानन्द के काव्य में स्वतन्त्र रूप में भी प्रकृति की छटा वर्णित हुई है। संक्षेप में, प्रकृति की विराट् व्यापक सत्ता का उपयोग कविता के क्षेत्र में होता रहा है। आधुनिक युग में प्रकृति-पर्यवेक्षण से उद्भूत भावनाओं का जगत् और अधिक व्यापक हो गया है। संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रों के साथ मानव की मनसा का आरोप, मानवीकरण की प्रकृति, नूतन प्रतीति-योजना और ध्वनि-नाद-दृश्य विधान आदि का इतना प्रचुर प्रयोग होने लगा है कि प्रकृति के बिना काव्य की कल्पना ही सम्भव नहीं। प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त मुक्तक गीतों में भी प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का वर्णन अत्यधिक मात्रा में होता है।

आधुनिक युग के छायावादी तथा प्रकृतिवादी कवियों ने भी प्रकृति को अपने काव्य में अनेक रूपों में सँजोया है। यथार्थ में, काव्य-रचना करते समय जैसे मानव की उपेक्षा सम्भव नहीं वैसे ही प्रकृति भी उपेक्षणीय नहीं हो सकती।

लोक-जीवन और संस्कृति

डॉ० सत्येन्द्र

अब तक मनुष्य का जो प्रवाह रहा है वह इस प्रकार का रहा है कि उसमें जीवन की उन बातों को महत्त्व दिया गया है जो बातें उसके नित्य और दैनिक जीवन में नहीं आतीं। समस्त मनुष्य जीवन के दो रूप होते हैं। एक विशेष जीवन और दूसरा साधारण घरेलू जीवन। मनुष्य नित्य घरेलू जीवन पर एक प्रकार से परदा डालता है और विशेष जीवन को उससे ऊपर उभारना चाहता है। इस विशेष जीवन के लिए वह चेष्टा करता है, वह इस विशेष जीवन के साथ स्वयं विशेष महत्त्वपूर्ण वर्तन और नेतृत्व प्रदर्शन करने की चेष्टा करता है, जब कभी समाज में मिलता है तो अपने को स्वभावतः विशेष रूप से प्रकट करता है। इन दो रूपों में से हमें मनुष्य-जीवन के दो पहलू दिखाई पड़ते हैं। एक वह है जिसे सभ्यता का जीवन कहते हैं—ऐसा जीवन मनुष्य की संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखता। सभ्यता का जीवन मनुष्य के सोद्देश्य सजे-सँवरे चैतन्य उद्योग से सम्बन्ध रखता है। सभ्यता का जीवन मानव के प्रकृत रूप को पीछे धकेल कर उसके अपने निर्मित विकसित आदर्शों पर खड़ा होता है। उसका अध्ययन जैसे मानव समाज के चेतन मन का अध्ययन है, वह जिस मनोविज्ञान से होता है, वह मनोविज्ञान पूर्ण मानव के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं। उसके द्वारा मनुष्य के समस्त मन सम्बन्धी विकारों का समाधान नहीं होता। हमारा चैतन्य मस्तिष्क ही उसके अध्ययन का विषय है। चैतन्य मस्तिष्क के अतिरिक्त भी एक और मानस है जिसका हाल ही में शोध हुआ है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में अब तक जो शोध हुए थे उनमें रोगों और मन के सम्बन्ध पर विशेष दृष्टि नहीं थी। किन्तु हिस्टीरिया जैसे कुछ रोगों का सम्बन्ध मनुष्य के मन से बहुत गहरा है। इन रोगों की चिकित्सा में एक जर्मन विद्वान् को यह पता चला कि यह सब कार्य चैतन्य मस्तिष्क के विकार का नहीं; उससे सम्बन्धित नहीं, फिर भी किसी मन से ही सम्बन्धित है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि चैतन्य मस्तिष्क के अन्दर अचैतन्य मस्तिष्क है, उसी के द्वारा ये ऐसे उपद्रव होते हैं। इस प्रकार जितना ही अध्ययन उसने किया उसे इस भीतरी अवचेतन मन में निष्ठा बढ़ी। चैतन्य मस्तिष्क केवल उन बातों को ग्रहण करता है और प्रकाश में लाता है जो समाज में प्रचलित रुचि के अनुकूल होती हैं, जिन्हें समाज स्वीकार करता

है जिनसे समाज या व्यक्ति घृणा नहीं करता। लेकिन मनुष्य जीवन में छोटी-बड़ी, अच्छी-बुरी सभी बातें आती रहती हैं। उनमें समाज अथवा व्यक्ति जो बातें ग्रहण नहीं करना चाहता उनको चैतन्य मस्तिष्क कुचलता है उन्हें चेतना में नहीं आने देता। पर यही विचार जो सामयिक दृष्टि में इस प्रकार अग्राह्य माने जाते हैं जीवन के मर्म से गहरा सम्बन्ध रखते हैं। ये विचार मर नहीं जाते वे अचैतन्य मस्तिष्क में समा जाते हैं। तब यह स्पष्ट है कि यथार्थ मस्तिष्क अचैतन्य मस्तिष्क के अतिरिक्त है। मानवी सभ्यता इसी चेतन मानस का परिणाम है और मानव जीवन के मर्म को विशेष-जीवन के दर्पपूर्ण आतंक के द्वारा नीचे दबाये हुए है। अचैतन्य मस्तिष्क अपने पाप मस्तिष्क को पराभूत करने की चेष्टा करता है। अतः मनुष्य की साधारण और विशेष रूप की स्थिति होती है, यह स्पष्ट है। उसमें साधारण रूप में मनुष्य क्या है इसे भी हमें जानना है। इसके लिए हमें जीवन के भीतर झांकने की आवश्यकता पड़ती है। सभ्य जीवन मानव जीवन का सबसे ऊपरी स्तर है, यह हमारे जीवन के भव्य भवन की ऊपरी सजावट का रूप है। यह वैभव और सौष्ठव से विभाजित है इसको हम बहुधा नगरों में ही केन्द्रित देखते हैं। सभ्यता का जीवन जिन प्रसाधनों पर निर्भर करता है, वे नगर और शहर में ही उपलब्ध होते हैं। फलतः सभ्य जीवन और सभ्यता का 'नगर' अथवा शहर से सम्बन्ध हो गया है। नगर से नीचे गांव हैं—नगर कम हैं गांव ज्यादा। गांव ही में भारत के ७५ प्रतिशत मनुष्य रहते हैं—और नगर जीवन की तुलना में ग्राम्य जीवन कम सभ्य है अथवा बिलकुल ही नहीं। यही कारण है कि अर्थ तत्व के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि 'गंवार' शब्द कैसे 'असभ्य' का द्योतक हो गया। हम सभ्य जीवन, नगर के जीवन की ओर आकृष्ट होते हैं, पर जैसा स्पष्ट है, जीवन का यथार्थ रूप, उसका मार्मिक रूप गांवों में है। साधारण लोक वहीं रहता है। फिर भी साधारण हमसे ओझल है और हम विशेष को देखते हैं, उसी की प्रतिष्ठा करते हैं। साहित्य में भी हम यह आभिजात्य दृष्टि व्याप्त मिलती है। साहित्यकार ने साहित्य में 'ग्राम्यत्व' नाम का दोष स्पष्ट स्वीकार किया है। इस प्रकार उद्योग-पूर्वक साहित्य को वृहद् और यथार्थ जीवन से अलग रखा गया। किन्तु मनुष्य की अभिव्यक्ति तो प्रत्येक क्षेत्र में होती है। 'ग्राम्यत्व' भी एक अभिव्यक्ति है। भले ही वह किसी की दृष्टि में किसी कारण दोष हो। गांवों में भी 'साहित्य' रचा गया, वह तथाकथित 'साहित्य' में सम्मिलित नहीं किया गया, साहित्यकार की आभिजात्य दृष्टि ने उसे घृणा की दृष्टि से देखा, उसका तिरस्कार किया। इस प्रकार साहित्यकार ने भी उसके दो रूप स्वीकार किये—एक ग्राम्य रचना और दूसरी साहित्यिक रचना। उदाहरणार्थ तुलसीदास की रामायण साहित्यिक रचना है और रामायण पर लिखे गये जिकड़ी के भजन साहित्यिक नहीं माने जाते, क्योंकि वे तुलसीदास की भांति विशेष ग्रंथों का अध्ययन और मनन करके नहीं लिखे गये। लेकिन तुलसीदास की रामायण में हम वह सहज स्वाभाविक रूप नहीं पाते जो जिकड़ी के भजनों में हम पाते हैं। ग्रामीण कवि ने कोई शास्त्र नहीं पढ़ा। अपनी उमंग और भावों को अपने उद्गार के रूप में, श्लील या अश्लील भाषा में और उसी के अनुकूल छन्दों में उसने प्रकट कर दिया।

यह ग्राम साहित्य उन्होंने किसी ग्रन्थ में नहीं पढ़ा, किसी पाठशाला में नहीं सीखा। अपने बाप-दादा से सुनकर ही उसे जाना और उसी रूप में सुरक्षित रखा। प्रचीन काल में वेदों को भी लोग सुनकर ही मौखिक परम्परा से सुरक्षित रखते थे।

आज के साहित्यकार ऐसे ग्राम-साहित्य की यह कहकर उपेक्षा करते हैं कि इसमें कोई सुरुचि नहीं, सौष्ठव नहीं, गूढ़ कला नहीं; हम कला में इन्हें ऊँचा स्थान नहीं दे सकते। इस प्रकार के विश्वास साहित्य-क्षेत्र में है, ये जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी दिखायी पड़ते हैं—जैसे रहन-सहन, पहनावे-ओढ़ावे आदि में। जीवन में और जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य में इस प्रकार हमें वैविध्य और अन्तर मिलता है। साधारण जीवन—लोक-जीवन—ग्राम्य-जीवन बहुत कुछ पर्यायवाची है। लोक-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वाभाविकता है। इसके असली रूप को जानने के लिए हमें लोक-जीवन के अध्ययन की महती आवश्यकता है। यह लोक-जीवन किसी भी जाति की पृष्ठभूमि और मूल-प्रेरणा-स्थल है। यही अवचेतन मानस की भाँति जाति और समाज के समस्त जीवन को संचालित करता है। तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि विशेष जीवन के द्वारा हम अपने को संस्कार किया हुआ यानी सभ्य पाते हैं और लोक-जीवन को हम असंस्कारों, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में पड़ा हुआ गर्हित-जीवन समझते है। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी ही है। आज हमें इसके रहस्य को खोलना होगा। जिन्हें हम अन्धविश्वास और रूढ़ियाँ मानते हैं उनका अध्ययन हम वैज्ञानिक आधार पर कर सकते हैं। हम ऐसी प्रत्येक रूढ़ि और विश्वास को लेकर उसके इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए उसके 'मूल' को जान सकते हैं। जैसे इतिहास से हम देखते हैं कि १० वर्ष पूर्व अमुक स्थान का क्या रूप रहा, उसके १०० वर्ष पूर्व के उसके क्या चिह्न मिलते है, और उससे भी पूर्व वह क्या था, यों हम यह भी जानने की चेष्टा करते हैं कि उसकी मूल-जड़ क्या है। इस प्रकार के अध्ययन में हमारे इतिहास का अध्ययन भी शामिल हो जाता है। उदाहरण के लिए लोक-जीवन के अध्ययन में 'सकट-चौथ' की वार्ता को ले सकते हैं। उसमें कहीं-कहीं 'तिलकुटे' की एक मनुष्य जैसी आकृति बनायी जाती है। मुख पर घी और गुड़ रख दिया जाता है। घर का कोई बालक या पुरुष, बालिका या स्त्री नहीं, एक चाकू से उसका सिर धड़ से अलग काट देता है। काटते समय उससे कहा जाता है कि वह 'मैं ऐं ऐं' करे। कटा हुआ सिर गुड़ और घी के साथ काटने वाले को मिलता है। इस प्रथा में कितनी बातें छिपी दीखती हैं। स्पष्ट ही 'सकट-चौथ' का यह 'तिलकुटा' बलि किसी समय की मानव बलि की स्मृति है। प्राचीन-काल में आदिम-मानव मनुष्य-बलि देता होगा। अधिक सभ्य होने पर मनुष्य-बलि बन्द करदी गयी होगी और देवता के सन्तोष के लिए 'बकरी' को बलि दी जाने लगी होगी। ऐसा संशोधन कितने ही स्थानों पर किया गया है। झाँसी में 'सनीचरा पहाड़' पर शनैश्चर देवता को पहले मनुष्य-बलि पर्वत पर से ढकेल कर दी जाती थी ऐसा कहा जाता है। अब किसी पशु की बलि दी जाती है। यही स्थिति 'सकट-चौथ' की बलि के सम्बन्ध में हुई होगी।

में ऍं ए' की ध्वनि मे बकरी का भाव है । फिर तीसरे प्रभाव म अहिंसा वाली भावधारा न बकरी के स्थान पर खाने योग्य किसी पदार्थ की मूर्ति से काम चलाने का सुझाव दिया होगा । यह चौथ मकर सक्रान्ति के निकट पडती है । इस अवसर पर तिलो का महत्व है । अत तिल की मूर्ति बनायी जान लगी । मानव-बलि असभ्य वन्यजातियो म अभी कुछ समय पूर्व तक थी विशेषकर खोडो म । मानव-बलि का कुछ सकेत मोहनजोदडो से मिल हडप्पा स भी मिलता है। उनम एक उभार में एक वृक्ष की दो फाँको में खिंची हुई एक मानवीय मूर्ति है। खोडो में मनुष्य-बलि म यही प्रकार प्रचलित था । एक वृक्ष के फटे हिस्से मे बलि-पात्र को भीच दिया जाता था । मनुष्य-बलि वैदिक-काल म प्रचलित थी यह हम शुन शेप के कथानक से विदित होता है । खोडो के पुरोहित बलि करते समय बलि-पात्र स जो बातें कहते हैं यह देखकर आश्चर्य होता है कि खोडो के पुरोहित की उन बातो के भाव वैदिक बलि देने वाले के भावो से टक्कर लेते हैं । वे जो मन्त्र पढते हैं उनम भी बलि के इतिहास की बात कहते हैं । हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र की कथा में हमें बलि का उल्लेख मिलता है । वेदो में जब लोक-जीवन आदिम अवस्था म था उस समय भी बलि का वर्णन मिलता है। इस तरह बलि के इतिहास से हमें मोहनजोदडो और हडप्पा की लोकवार्ता के समझने में सहायता मिलती है । इस तरह रूढियो और अन्धविश्वास की चीजो से हम इतिहास जान सकते हैं । सकट' की बलि म कितना पुराना इतिहास टूट-फूट कर बचा हुआ है। इस तरह तुलना करके लोक-जीवन के अध्ययन करने की बडी आवश्यकता है क्योकि रूढियाँ और अन्धविश्वास हमें लोक-सस्कृति का मूल बतलाते हैं । मानवीय उपयोग के लिए इनके अध्ययन की बडी आवश्यकता है । यह अध्ययन विधिपूर्वक किया जाना चाहिये ।

फ्रेजर महोदय ने लोकजीवन सम्बन्धी समस्त रीति रिवाजो का एक सग्रह किया है जिसका नाम स्वर्णिम शाखा' (गोल्डन बाउ) है । इस सग्रह ने विविध देशो की लोकवार्त्ता की तुलना प्रस्तुत कर दी है । भारत म भी इस प्रकार का काय करने की महती आवश्यकता है । भारत एक विशाल देश है । ज्ञान की साधना के लिए हम अपने क्षेत्र म ही काम करें । लोकवार्त्ता म दो प्रकार की सामग्री होती है । उसका बहुत बडा अश तो ऐसा होता है जो व्यापक होता है । कुछ अश केवल स्थानीय । अत यदि एक स्थान अथवा क्षेत्र का भी लोक-अध्ययन विधिवत कर लिया जाय तो समस्त राष्ट्र के अध्ययन मे सुविधा हो जाय । ब्रज-साहित्य-मण्डल जैसी सस्थाओ को इस दिशा म महत्त्वपूर्ण कदम उठाना है। उन्हें इस लोक-अध्ययन की वैज्ञानिक-प्रणाली का साधारण रूप प्रस्तुत कर देना होगा । उससे विशाल वैज्ञानिक अध्ययन की नीव पड़ जायगी । इसी के लिए हम लोकवार्त्ताओ का सग्रह करने की अत्यन्त आवश्यकता है । इस प्रकार सग्रह के लिए हम विद्वान् पुरुषो से एक प्रश्नमाला तैयार करायें और फिर उसका उत्तर लिखें ।

वह प्रश्न तालिका कुछ इस प्रकार की हो सकती है—

(१) गाँव का इतिहास, वहाँ कौन देवी-देवता पूजे जाते है?

(२) १. नाम गोत्र और जन्म के बोलने का नाम? २. पूज्यों, मृतकों का नाम कब नहीं लिया जाता? ३. क्यों नहीं लिया जाता? ४. अशौच और अन्तिम अवस्था में क्यों नहीं लिया जाता? ५. कुछ काल के लिए कुछ नाम लिया जाता है? ६. किसी ऐसे निषिद्ध नाम को लेने पर क्या होता है? ७. विविध अवसरों और अवस्थाओं में वे नाम बदले जाते हैं? ८. बच्चों की उत्पत्ति पर नाम कुछ होता है? पुकारने का नाम कुछ होता है? ९. इस प्रकार के निषेध के क्या कारण होते हैं?

(३) कुछ जातियाँ कुछ वर्गों से किन्हीं कारणों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं रखतीं? ऐसी जातियों और उनके वैवाहिक सम्बन्ध न होने वाले वर्गों का विवरण लिखिये।

[इन कारणों में कहीं-कहीं तो स्थान विशेष का विचार रहता है और कहीं-कहीं पैतृक एकता इन सम्बन्धों में बाधक होती है।]

(४) उन वर्गों का उल्लेख कीजिये जिनसे बाहर कोई जाति वैवाहिक सम्बन्ध रखती ही नहीं हो।

(५) कुछ वर्ग ऐसे होते है जिनमें स्त्री या तो उसी वर्ग में किसी पुरुष से विवाह करे अथवा अपने से ऊँचे वर्ग के पुरुष से और साथ ही पुरुष उसी वर्ग में अपना विवाह करे अथवा अपने से नीचे वर्ग में भी कर सकता है। ऐसे वर्गों का विवरण दीजिये।

(६) उन सीमाओं का उल्लेख कीजिये जो किसी यथार्थ अथवा कल्पित समगोत्रता के सिद्धान्त के आधार पर बनी हों और जो उस वर्ग में अथवा उससे बाहर होने वाले विवाहों को रोकती हों।

(७) किसी जाति की उत्पत्ति, किसी पीढ़ी पर जाकर उनके पूर्वजों की एकता, उनके पहले निवास स्थान, उनके स्थान-परिवर्तन का समय और उनके स्थान-परिवर्तन के सम्बन्ध की किसी घटना अथवा कारण से सम्बन्ध रखने वाले प्रचलित विश्वासों का उल्लेख कीजिये।

[ऐसे विश्वास प्रायः सभी जातियों में मिलते हैं। उन्हीं का उल्लेख होना आवश्यक है।]

(८) जाति स्थायी है अथवा घूमने फिरने वाली? प्रान्त में क्या कोई उसका निश्चित स्थान है? यदि वह घूमने फिरने वाली है तो उसके घूमने फिरने का प्रधान प्रान्त कौन-सा है? उनके स्थान-परिवर्तन की अवधि निश्चित है अथवा अनिश्चित? उनके रहने का ढंग और उनकी सम्पत्ति क्या है?

(९) क्या ऐसी जाति वाले अपने में किसी अन्य जाति वाले को मिलाते हैं? यदि हाँ तो किन जातियों को मिलाते हैं? किस रूप में मिलाते हैं? उनके मिलाने की शर्तें क्या हैं?

(१०) (अ) बाल-विवाह प्रचलित है अथवा प्रौढ़ विवाह? यदि बाल विवाह है तो लड़की का किस अवस्था तक विवाह हो जाना चाहिये? यदि उस निश्चित अवस्था तक लड़की का विवाह नहीं होता तो उस परिवार के लिये कौन-कौन से सामाजिक दण्ड हैं? उस अवस्था को पार करने के पश्चात् क्या उसके विवाह होने के कुछ साधन हैं? इन जातियों के वैवाहिक संस्कारों का भी विवरण दीजिये।

(आ) क्या लड़कियों का विवाह पतियों के अभाव में वृक्षों, तलवारों आदि से होता है और क्या बाद में वे मन्दिर में भेंट स्वरूप दे दी जाती हैं?

(इ) बाल विवाह वाली लड़की अपने पति के घर तत्काल ही भेज दी जाती है अथवा कुछ समय बाद? यदि अपने मायके में रहती है तो किस अवस्था तक? इस विदाई के समय क्या-क्या संस्कार होते हैं? क्या कुछ सामाजिक दण्ड विधान उन परिवारों के लिए हैं जिनकी लड़कियों को पति के घर जाने से पूर्व ही मासिक होने लगता है?

(ई) समागम के लिए कोई समय निश्चित है अथवा विवाह के पश्चात् ही समागम आरम्भ हो जाता है? बाल विवाह किसी अमुक जाति में अभी प्रचलित हुआ है अथवा बहुत पहले से चला आता है? यदि पहले का है तो यह कब प्रचलित हुआ?

(११) क्या एक ही साथ अनेक पत्नी अथवा अनेक पति रखने की प्रथा है? यदि है तो किन शर्तों पर और किन सीमाओं तक? क्या अनेक पति भाई हो सकते हैं या ऐसे भी हो सकते हैं जो भाई न हों?

[ऐसी प्रथा भी होती है कि एक परिवार में जो उम्र में सबसे बड़ा हो उसी का विवाह सर्वप्रथम होगा। ऐसा भी देखा जाता है कि बाल-पति की प्रौढ़ पत्नी होती है और पति का पिता उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।]

(१२) *सामान्यतः वैवाहिक संस्कार क्या हैं ? उनका संक्षिप्त विवरण दीजिए ?*

(१३) क्या विधवा-विवाह समाज-सम्मत है ? क्या ऐसी दशा में पति के बड़े या छोटे भाई से ही विवाह होना आवश्यक है ? यदि ऐसा नहीं है तो विधवा-विवाह की अन्य शर्तें क्या हैं ? किस प्रकार के विवाह-संस्कार हैं ? उनका अत्यावश्यक अंश कौनसा है ?

(१४) तलाक किन परिस्थितियों में मान्य होता है ? क्या तलाक के बाद स्त्री विवाह कर सकती है ? इस अवस्था में विवाह का क्या रूप होगा ? क्या इस दशा में मोल लेने की भी प्रथा है ?

(१५) किसी अमुक जाति के सदस्य पैतृक सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में हिन्दू नियमों को मानते हैं अथवा मुस्लिम नियमों को ? क्या शुद्ध अधिकारी की जाँच करने का कोई सामाजिक विधान है ? यदि हो तो उसका विवरण दीजिये।

(१६) किस धर्म अथवा सम्प्रदाय से वह जाति सम्बन्ध रखती है ? यदि वह हिन्दू है तो किन धार्मिक देवताओं की पूजा को महत्त्व देते हैं और क्यों ? यदि वह प्रकृति-पूजक (Animist) है तो उसके धार्मिक विश्वास, उसके रीति-रिवाजों का वर्णन दीजिये ? क्या जादू-टोने (Magic) में उनका विश्वास है ?

(१७) उस जाति के निम्न देवताओं (Minor Gods) के नामों का उल्लेख कीजिये। उनको क्या भेंट दी जाती है ? सप्ताह के किस दिन उनकी पूजा होती है और क्यों ? किस वर्ग के लोग उस भेंट को स्वीकार करने के अधिकारी समझे जाते हैं ? क्या किसी देवता या पीर की पूजा स्त्रियों और बच्चों तक ही सीमित है ? क्या पूजा बिना पुरोहित के भी हो सकती है ? पूजा के स्थलों (वृक्ष, पत्थर, पर्वत) का भी विवरण दीजिये ? क्या बलि की प्रथा है ?

(१८) क्या वह जाति धार्मिक कृत्यों के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रित करती है ? क्या इस प्रकार के ब्राह्मणों तथा अन्य ब्राह्मणों में अन्तर है ? यदि ब्राह्मण यह कृत्य नहीं कराते तो और कौनसी जाति कराती है ?

(१६) अन्त्येष्टि क्रिया का पूरा विवरण दीजिये। मृत गाड़ा जाता है या जलाया जाता है? यदि गाड़ा जाता है तो किस प्रकार? मृत के फूल (Ashes) कहाँ बहाए जाते जाते हैं अथवा गाड़े जाते हैं? मृत्यु शोक मनाने की अवधि कब तक है? बच्चे प्रौढ़ और वृद्ध सबके विषय में लिखिये।

(२०) क्या कोई ऐसे धार्मिक कृत्य हैं जो पूर्वजों अथवा निपूती पूर्वजों की तृप्ति के लिए किये जाते हों अथवा उनके लिए जिनकी मृत्यु आकस्मिक हुई है? यदि हाँ तो किस प्रकार के कृत्य हैं और किस ऋतु में किये जाते हैं? श्राद्ध होते हैं क्या? स्त्री-पूर्वजों की पूजा के विषय में क्या है?

(२१) वह जाति अपने आदि व्यवसायों के विषय में क्या विश्वास रखती है? किस सीमा तक उसने अन्य व्यवसायों को अपनाया है? पहले व्यवसाय को छोड़ने का क्या कारण है? उनकी कार्य प्रणाली पर भी एक दृष्टि डालिये।

(२२) यदि वे किसान हैं तो कृषि विधान की किस स्थिति में हैं? जमींदार आदि।

(२३) (अ) यदि वे कारीगर हैं तो उनका उद्योग-धन्धा क्या है? (आ) क्या शिकारी हैं? (इ) क्या मछुए हैं? यदि हाँ तो कछुए और घड़ियाल भी पकड़ते हैं क्या? (ई) यदि भंगी हैं तो पाखाना साफ करते हैं कि नहीं?

(२४) भोजन सामग्री क्या है? गोश्त शराब बन्दर चर्बी आदि खाते-पीते हैं क्या?

(२५) वह सबसे छोटी जाति कौन-सी है जिसके हाथों से जाति पक्का कच्चा खाना खा सकती हो पानी पी सकती हो और चिलम दे सकती हो?

(२६) पोशाक सम्बन्धी कोई विश्वास है क्या? क्या कोई गहने अथवा हथियार ऐसे हैं जो उस जाति से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं? क्या कोई गण्डा या जनेऊ बाँधा जाता है?

(२७) और भी कुछ ज्ञातव्य बातें हैं क्या?

[यह प्रश्न-तालिका श्री एच० एच० रिजले डाइरेक्टर आव ऐथनाग्राफी फोर

इण्डिया द्वारा प्रकाशित, 'मैन्युअल आव ऐथनाग्राफी फौर इण्डिया' के आधार पर हैं।]

इन प्रश्नों के उत्तर हम प्राप्त करें, उनके उत्तर ग्रहण करते समय हमें अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है, साथ ही हमारा निरीक्षण भी सूक्ष्म होना चाहिये। इस प्रकार के अध्ययन से इतिहास पर, समाज-विज्ञान पर, असर पड़ता है। इस दृष्टि से एक अँग्रेज और हिन्दुस्तानी में कोई भेद नहीं प्रतीत होता। इस तरह मानव का एक मानव के अन्दर विश्वास पैदा होता है। आज हिन्दू और मुसलमानों का जो प्रश्न चला है वह इस अध्ययन से दूर हो सकता है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि अमेरिका में जिस प्रकार के विश्वास मिलते हैं वैसे ही हमें भारतवर्ष में भी मिलते हैं। इस तरह मालूम होता है कि अमेरिका का मानव भी कभी भारतवर्ष के समकक्ष रहा होगा। यदि यह विश्वास मनुष्य में उत्पन्न हो जाय तो कितना मानव-कल्याण हो सकता है। इतिहास भेदों को जन्म देता है। धर्म, आचार, भेद सभ्यता का ऊपरी आवरण है। इसके अन्दर असली रूप की ओर ध्यान देने वाला लोक-जीवन है।

आज जब हम जन-जीवन और उनकी संस्कृति के निर्माण की बात करते हैं तो सबसे पहले हमें उन रूढ़ियों के मर्म को समझ लेने की आवश्यकता है जो जनपद-जन की रग-रग मे रम रही हैं, जो उनकी संस्कृति की रीढ़ हैं। तभी हम आगे बढ़ सकते है और निर्माण कार्य को स्थायी रूप दे सकते हैं। अब तक हम इतिहास के रूप को लेकर आगे बढ़े हैं और लोगों को सुधारने की कोशिश की है। हमारा ढंग सुधार को आरोपित करने का रहा है। आज हमें साधारण जीवन के मार्ग से होकर आगे कदम उठाने की जरूरत है। जन-जीवन के मर्म और मानस को समझकर उसी के अनुकूल निर्माण के आदर्शों को बनाकर उस जन को ऊपर उठाते चलने की आवश्यकता है।

संस्कृति और सभ्यता दो शब्द हैं। संस्कृति का सम्बन्ध संस्कार से है। सस्कार का अर्थ है विशेष रूप से संस्कार किया हुआ। इस संस्कार का सभ्यता के कृत्रिम और ऊपरी संस्कार से महान् अन्तर है। जिन बातों की हमारे जीवन से घनिष्ठता है वे संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं। वही हमारे आचार की भूमि बन कर हमारी संस्कृति का निर्माण करती हैं। लोक-जीवन का संस्कृति से बहुत गहरा मेल है, इन संस्कृतियों के अनेक रूप गाँवों में हमें मिलते हैं।

खाना-पीना मनुष्य का धर्म नहीं, यह पशु धर्म है। 'आहार निद्रा भय मैथुनानि समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्'। इस तरह आगे बढ़कर मनुष्य जब औरों के लिए सहानुभूति का द्वार खोलता है तब वह मनुष्य बनता है। मनुष्य के विकास का

वास्तविक रूप सस्कार है। 'साहित्य सगीत कला विहीन' साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन।'

हमारे गाँव किसी समय अत्यन्त स्वस्थ और सस्कृत थे। गाँवों की स्थापत्य कला, स्त्रियो द्वारा बनायी गयी चित्रकला, मूर्ति तथा देवताओ की मूर्तियों से जान पड़ता है कि यथार्थ सस्कृति हमारे ग्राम्य जीवन म ही थी। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन्हें उसी स्थिति मे रहने देना है। आज ग्राम्य जीवन बहुत जर्जरित हो उठा है इसलिए वहाँ के आदमियो की ऐसी कलाओ पर से श्रद्धा हटती जा रही है, वहाँ की कलाओ का विकास रुकता-सा जा रहा है। व्यवसायी होने के कारण मनुष्य की वृद्धि का ह्रास होता जा रहा है। जहाँ गाँवो के लोग एकान्त मे बैठकर ग्रह-नक्षत्रो का पता लगाया करते थे, व्यवसायी होने के कारण इनकी ओर अब उनका ध्यान ही नहीं जाता। इसीलिए आज हम इस बात की बहुत जरूरत है कि हम गाँव म जाय और वहाँ की सस्कृति क केन्द्रो—ग्रामो और ग्रामीणो का अध्ययन करें। उन पर जो पशुता और अज्ञान का आक्रमण हो रहा है उसस रक्षा कर उनम बद्धमूल मानवीय धर्मों का उद्घाटन करके उस हीनता को जीतने की चेष्टा करें। इस तरह हम लोक-जीवन के अध्ययन को समझें और घर-घर उसका प्रचार करें।

———

काव्य-दोष

विश्वम्भर 'अरुण'

उत्कृष्ट काव्य के लिये जहाँ उसका गुणयुक्त होना आवश्यक है, वहाँ उसका दोषरहित होना और भी अधिक आवश्यक है। भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने सफल काव्य-रचना के लिये दोषों के परिहार को ही गुण मान लिया है।[1] भारतीय काव्य-शास्त्र के सर्व-प्रथम आचार्य भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्रम्' में दोषों की चर्चा की है।[2] आचार्य भामह कवियों को एक भी सदोष पद का प्रयोग करने की सलाह नहीं देते हैं।[3] संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य दण्डी दोषों का प्रबल शब्दों में विरोध करते हुए कहते हैं कि दोष काव्य में विफलता के कारण होते हैं, काव्य में किंचित् मात्रा में भी दोषों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि जिस प्रकार कुष्ठ का एक धब्बा भी सुन्दरतम शरीर को कुरूप बना सकता है उसी प्रकार दोष काव्य को असुन्दर बनाते हैं। अतः कवियों को इनसे बचना चाहिये।[4] महर्षि व्यास भी एक स्थान पर काव्य में दोषों की वर्जना करते हैं।[5] महिम भट्ट भी काव्य में दोषों की स्थिति को अनुचित बताते हैं।[6] रुद्रट कृत काव्यालङ्कार के टीकाकार

---

१. 'महान् निर्दोषता गुणः'।

२. देखिये 'नाट्यशास्त्रम्' का सत्रहवाँ अध्याय।

३. 'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येनदुस्सुतेनेव निन्द्यते ॥'—'काव्यालङ्कार'

४. 'काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः।
दोषा विपत्तये तत्र गुणाः संपत्तये यथा ॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥
...इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः।—'काव्यादर्श'

५. 'काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्।'—'अग्निपुराण'

६. 'शब्द दोषाणामनौचित्योपगमात्।'—'व्यक्तिविवेक'

नामिसाधु ने भी दोषों को अनुचित ठहराया है।[1] धारा नरेश भोज भी काव्य में दोषों का त्याज्य बताते हैं।[2] जयदेव अपनी कविता की परिभाषा में निर्दोष होना कविता का पहिली शर्त मानते हैं।[3] उसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी अपनी काव्य की परिभाषा में दोषों का विरोध करते हुए कहा है कि दोषों से रहित, गुणों से युक्त, कभी अलङ्कृत (तो कभी अनलङ्कृत) शब्द-अर्थमयी रचना ही काव्य कहलाती है।[4] किंचित् मात्रा में भी दोष काव्य को निन्दनीय बना देता है, इसीलिए पहले दोषों के परिहार की ओर कवि को सचेष्ट रहना चाहिए। दोषों से बचना बहुत बड़ा कविकौशल है इसीलिए महाकवि माघ ने दोषों के अभाव को ही गुण मान लिया है।[5]

हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी काव्य में दोषों की स्थिति को निन्दनीय बताया है। कविवर मतिराम दोष से मलिन काव्य को सर्वदा निरर्थक प्रयास मानते हैं।[6] आचार्य केशवदास इसी मत का प्रतिपादन करते हुए 'कविप्रिया' में कहते हैं कि जिस प्रकार मदिरा की एक बूंद से गंगाजल से भरा हुआ सारा घड़ा अपवित्र हो जाता है उसी प्रकार किंचित् दोष से भी सारा काव्य अग्राह्य हो जाता है।[7] रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य चिन्तामणि अपनी काव्य की परिभाषा में कविता का दोष रहित होना आवश्यक बताते हैं।[8] श्रीपति[9] और आचार्य सोमनाथ[10] अपने

---

१ 'सरसालङ्कार युक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत, अलङ्कृतवपुर्वदन काणेनेव।—काव्यालङ्कार-टीका'

२ हेया इत्यनेन सामान्य लक्षणम्। ये हेया स्त दोषा इत्यभिप्रायात्।'
—'सरस्वती कण्ठाभरण'

६ निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषणा।'—'चन्द्रालोक'

४ 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनःक्वापि।'—'काव्यप्रकाश'

५ 'अपदोषतैव विगुणस्य गुणः।'

३ 'दोष सो मलीन गुन हीन कविताई है
कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है।'—'कवित्तरत्नाकर'

७ 'राजत रंच न दोषयुत, कविता बनिता मित्र।
बुंदक हाला परत ज्यों, गंगा घट अपवित्र॥
विप्र न नेगी कीजिये, मूढ़ न कीजै मित्त।
प्रभु न कृतघ्ना सेइये, दूषण सहित कवित्त॥'—'कविप्रिया'

८ 'सगुन अलंकारन सहित दोष रहित जो होई।
शब्द अर्थ ताको कवित विबुध कहत सब कोई॥'—'कविकुल कल्पतरु'

९ शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥—'काव्य-सरोज'

१० 'सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध॥'—'रस-पीयूष-निधि'

काव्य के लक्षण में चिन्तामणि की भाँति दोष को अनावश्यक प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार भिखारीदास दोषों को कविता में कुरूपता उत्पन्न करने वाले कारण बताते हैं।[1] इस प्रकार रीतिकाल के प्रायः प्रत्येक आचार्य ने दोषों को काव्य के लिये निरर्थक सिद्ध किया है। यद्यपि आधुनिक काल के आचार्यों ने दोषों की वैसी व्याख्या तो नहीं की है जैसे कि पुराने हिन्दी के आचार्य कर गये हैं किन्तु फिर भी कतिपय आलोचकों की दृष्टि इस ओर गई है। आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की निम्न पंक्तियाँ इस धारणा की पोषक हैं—

"नाटक-रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृङ्गार के हास्य, वीर विरोधी नहीं किन्तु अति करुण, वीभत्स, रौद्र, भयानक और शान्त विरोधी हैं, तो जिस नाटक में शृङ्गार रस प्रधान अंगी भाव से हो उनमें ये न आने चाहियें। ....नाटकों की सौन्दर्य्य-रक्षा के हेतु विरोधी रसों को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है। अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है।"[2]

इन पंक्तियों के द्वारा भारतेन्दुजी ने नाटककारों को 'रस-दोष' से बचने के बारे में चेतावनी दी है। इसी प्रकार खड़ी-बोली-कविता के सर्वप्रथम आलोचक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी कवियों को दोषों से बचने का परामर्श दिया है।[3]

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में यद्यपि संस्कृत और हिन्दी साहित्य-शास्त्र की भाँति काव्य-दोष का विवेचन नहीं हुआ है किन्तु फिर भी अरस्तू, होरेस, लांगिनस, पोप, एडीसन, डा० जॉन्सन आदि साहित्य-शास्त्रियों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से

---

१. 'रस कविता को अंग भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सुरूप औ रंग दूषन करैं कुरूपता॥'—'काव्य-निर्णय'

२. 'नाटक' निबन्ध से।

३. "कुछ कवियों की कविता में अनेक निरर्थक शब्द आ जाते हैं। कभी-कभी शब्दों के ऐसे विकृत रूप प्रयुक्त हो जाते हैं कि उनका अर्थ ही समझ में नहीं आता। कभी-कभी पदान्त में समान अक्षर लाने ही के लिये निरर्थक अथवा अपभ्रंश शब्द लाये जाते हैं।......अर्थहीन अथवा अनुपयोगी शब्द न लिखे जाने चाहियें और न शब्दों के प्रकृत रूप को बिगाड़ना चाहिये। शब्दों के बिगाड़ने से उनके बिगड़े रूप पढ़ने वालों के कान को खटकते हैं और जिस अर्थ में वे प्रयुक्त होते हैं, उस अर्थ की वे कभी-कभी पोषकता भी नहीं रखते।.........अश्लीलता और ग्राम्यता-गर्भित अर्थों से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए। और न देश-काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए।"
—'रसज्ञ रंजन'

मनियों को दोषों से बचने का आदेश दिया है। R. A. Scott लांगिनस के मत की पुष्टि करते हुए स्पष्ट शब्दों में कवियों को दोषों से बचने की सलाह देते हैं।[1]

दोष क्या है? भारतीय काव्य-शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरत मुनि दोषों को नाटकाश्रित मानते हैं और गुणों को दोषों का विपर्यय बताते हैं।[2] भरत मुनि के मत के विपरीत आचार्य वामन दोष को गुण का विपर्यय बताते हैं।[3] किन्तु उक्त दोनों परिभाषाएँ दोष की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पातीं। दोष की सर्वप्रथम स्पष्ट व्याख्या दण्डी ने की। उन्होंने दोषों को काव्य की विकृतता का कारण बताया।[4] महर्षि व्यास दोषों की व्याख्या स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'काव्यानन्द में जो उद्वेग पैदा करते हैं वे दोष हैं।'[5] रत्नेश्वर भी सहृदयों को उद्वेग पहुँचाने वाले तत्वों को दोष की संज्ञा देते हैं।[6] महिमभट्ट काव्य में अनौचित्य के कारण को दोष बताते हैं।[7] इसी प्रकार धारा नरेश भोज भी औचित्य के परिहार को दोष मानते हैं।[8] अन्य स्थान पर वे श्लेष आदि गुणों के विपर्यय को दोष की संज्ञा देते हैं।[9] आचार्य मम्मट की परिभाषा पहिले के आचार्यों की परिभाषा से अधिक स्पष्ट है। वे काव्य-दोष की व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो, वह दोष है। काव्य में रस तो मुख्य होता ही है। किन्तु उसी रस के आश्रित वाच्यार्थ भी मुख्य होता है। तथा रस और वाच्यार्थ दोनों के उपयोग में आने वाले शब्द आदि भी होते हैं, अतः दोष उन शब्द और अर्थों में भी माना जायगा।'[10] मम्मट की परिभाषा के आधार पर पण्डितराज विश्वनाथ ने रस के अपकर्षक तत्त्वों को दोष

---

1. "Faults are not the less faults because they arise from the heedlessness of genius He (Longinus) warns us against bombast, puerility or affectation, and the conceits of 'frigidity'"
—*The Making of Literature.*

२ 'एते दोषास्तु विज्ञेया सूरिभिर्नाटकाश्रया।
एत एव विपर्यस्ता गुणा काव्येषु कीर्तिता॥'—'नाट्यशास्त्रम्'

३ 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।'—'काव्यालङ्कार सूत्र'

४ 'दोषा विपत्तये तत्र गुणा सम्पत्तये यथा।'—'काव्यादर्श'

५ 'उद्वेगजनको दोषः।'—'अग्नि पुराण'

६ 'सहृदयोद्वेजकत्वेन हि दोषता।'—'रत्नेश्वर'

७ 'शब्द दोषाणमनौचित्यौ।'—'व्यक्तिविवेक'

८ 'तत्र दोषहानिमनौचित्यादि परिहारेण।'—'शृङ्गार शतक'

९ 'गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।'—सरस्वती कण्ठाभरण'

१० 'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥'—'काव्य प्रकाश'

माना।[1] इसी के समान विद्यानाथ ने भी रस के अपकर्षक हेतु को दोष की संज्ञा दी।[2]

हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने मम्मट तथा विश्वनाथ की परिभाषा को अपनी काव्य-दोष की परिभाषा का आधार बनाया। चिन्तामणि ने शब्द, अर्थ और रस को अपकर्ष करने वाले तत्त्वों को दोष कहा।[3] कुलपति ने दोष को रसोद्रेक में बाधा स्वरूप माना।[4] भिखारीदास ने दोष की स्थिति शब्द, वाक्य, अर्थ और रस में मानी।[5] प्रतापसिंह ने मम्मट की भाँति मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित करने वाले तत्त्वों को दोष बताया।[6] सुप्रसिद्ध साहित्यशास्त्री डॉ० नगेन्द्र ने दोष की बड़ी सुसंगत और सुस्पष्ट परिभाषा की है—"मूल रूप में रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्त्व दोष कहलाते हैं।"[7] इस प्रकार प्रायः सभी आचार्य रसोद्रेक में बाधा स्वरूप आने वाले तत्त्वों को दोष मानते हैं।

वास्तव में काव्य का मुख्य उद्देश्य रस संचार करना है, किन्तु जहाँ रस के संचार में किसी कारणवश बाधा पहुँचती है, वहाँ वे कारण ही दोष कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में—काव्य में ऐसे प्रयोग जिनसे रस का अपकर्ष होता हो अथवा रसोद्रेक में बाधा पहुँचती हो, दोष कहलाते हैं। दोष के उत्पन्न होने के निम्न तीन कारण कहे जाते हैं—

(१) वे कारण जो काव्य के रसोद्रेक में बाधा पहुँचाते हैं।
(२) वे कारण जो काव्य की रस-प्रतीति में विलम्ब उत्पन्न करते हैं। और
(३) वे कारण जो काव्य की रस-प्रतीति में विघात उत्पन्न करते हैं।

---

१. 'दोषास्तस्यापकर्षका'—'साहित्यदर्पण'
२. 'दोषः काव्यापकर्षकस्य हेतुशब्दार्थगोचरः।'—'प्रतापरुद्रयशोभूषण'
३. 'शब्द अर्थ रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।
बोष कहत हैं ताहि को सुने घटतु है हर्ष॥'—'कविकुल कल्पतरु'
४. शब्द अर्थ में प्रगट ह्वै, रस समुझन नहिं देय।
सो दूषण तन मन विथा, जो जिय को हरि लेय॥'—'रस रहस्य'
५. 'दोष शब्द हूँ वाक्य हूँ, अर्थ रसहु में होय।
तेहि तजि कविताई करे, सज्जन सुमती सोय॥'—'काव्यनिर्णय'
६. 'अर्थ बोध के मुख्य में, घात करत जो होई।
ताको दूषण कहत हैं शब्द अर्थ रस सोई॥'—'काव्यविलास'
७. 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका' से।

दोष कितने प्रकार के होते हैं ? काव्यशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरत मुनि ने दस प्रकार के दोषों का वर्णन अपने 'नाट्य शास्त्रम्' में किया है।[1] भामह ने ग्यारह दोषों की कल्पना की और आगे दण्डी ने भरत मुनि की भाँति दस ही दोषों का उल्लेख किया। सर्वप्रथम वामन ने दोषों का वैज्ञानिक रूप से वर्गीकरण किया। उन्होंने दोषों के चार भेद—शब्दगत, अर्थगत, पदगत और रसगत, किये। रुद्रभट्ट ने दोषों की एक कोटि—रस दोष के नाम से कल्पित की। आनन्दवर्द्धन ने भी 'रस-दोष' का उल्लेख किया। भोजदेव ने सर्वप्रथम प्रबन्धगत दोषों की ओर भी दृष्टिपात किया। मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में दोषों का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया है। इन्होंने दोषों के चार प्रमुख भेद—पदगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत, नाम से किये हैं। भरत और दण्डी के समय जिन दोषों की संख्या दस थी वह मम्मट के समय में आकर साठ से भी अधिक हो गई। विश्वनाथ ने भी मम्मट के अनुकरण पर ही काव्य-दोष का विवेचन किया है। इन्होंने पदांश नाम से दोषों का एक और वर्गीकरण किया है।[2] हिन्दी-काव्य शास्त्र की परम्परा में केशवदास सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। केशवदासजी ने अपने 'कविप्रिया' ग्रन्थ में २२ दोषों का विवेचन किया है।[3] केशव के पश्चात् चिन्तामणि ने शब्दगत, अर्थगत और रसगत दोषों का उल्लेख किया।[4] कुलपति ने भी चिन्तामणि के अनुकरण पर दोष के तीन प्रमुख भेद ही किये।[5] सोमनाथ ने उक्त तीन प्रमुख भेदों के अतिरिक्त एक चौथा भेद 'वृत्त-दोष' नाम से किया।[6] भिखारीदास ने अपने ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' में दोषों के चार प्रमुख भेद—शब्दगत वाक्यगत, अर्थगत और रसगत, किये हैं।[7] आजकल काव्य-दोष के सामान्यतः तीन भेद—(१) शब्द अथवा पद-दोष, (२) अर्थ-दोष, और (३) रस-दोष—ही सर्वमान्य हैं।

काव्य-दोष के बारे में यह जानना भी परमावश्यक है कि दोष काव्य में सर्वदा अनौचित्य के कारण ही नहीं होते, अपितु वे कभी-कभी औचित्य के पोषक भी होते

---

१. 'अगूढमर्थान्तरमर्थहीन
  भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
 न्यायादपेतं विषमं विसन्धि।
  शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥'—नाट्यशास्त्रम्'

२. ते पुनः पञ्चधा मताः। पदे पदांशे वाक्यार्थे सम्भवन्ति रसेऽपियत्।'—'साहित्य दर्पण'

३. देखिये 'कविप्रिया' का तीसरा अध्याय।

४. देखिये 'कविकुल-कल्पतरु' का चतुर्थ प्रकरण।

५. देखिये 'रस रहस्य' का पंचम प्रकरण।

६. देखिये 'रस-पीयूष निधि' की इक्कीसवीं तरंग।

७. 'दोष शब्दहूँ वाक्यहूँ, अर्थ रसहूँ में होई।'—'काव्य-निर्णय'

हैं। जहाँ वे औचित्य के पोषक होते हैं वहाँ उनके दोषत्व का परिहार हो जाता है, अतः दोषों का विवेचन करते समय उनके प्रयोग पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये। दोष अनित्य पदार्थ हैं अर्थात् वे सभी अवस्थाओं में एक से नहीं रहते। दोष काव्य के शोभाकारक उपादान भी बन सकते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्य इस तथ्य से अवगत थे। भरत मुनि ने अवश्य ही इस ओर ध्यान नहीं दिया है किन्तु उनके बाद के आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में लिखा है—"कहीं-कहीं दुष्ट कथन भी उसी प्रकार शोभा देता है जिस प्रकार मालाओं के बीच में बँधा हुआ नीला पत्ता शोभा देता है। कोई दोष भी शब्द आश्रय के कारण उसी प्रकार सौन्दर्य युक्त ही शोभित होता है जिस प्रकार कामिनी के नेत्र में काला काजल शोभित होता है।"[1] भामह ने अपने इस कथन के स्पष्टीकरण के लिये एक उदाहरण 'पुनरुक्ति दोष' के बारे में दिया है। उनका कथन है कि साधारणतः पुनरुक्ति दोष समझा जाता है किन्तु वक्ता के शोक, हर्ष, भय आदि भावों से आवेशमय हो जाने के कारण 'पुनरुक्ति दोष' नहीं माना जायेगा।[2] भामह के इस कथन से स्पष्ट है कि उनकी तीव्र दृष्टि दोषों की इतनी सूक्ष्म विशेषता की ओर भी गई थी। वास्तव में उनका यह विवेचन मनोविज्ञान की इतनी सुदृढ़ भूमि पर आधारित है कि सहसा चकित हो जाना पड़ता है। भामह के बाद काव्यशास्त्र में आचार्य दण्डी का पदार्पण होता है। दण्डी ने भी इस मर्म को भली-भाँति समझा था। अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में वे इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कभी-कभी कवि की कुशलता से दोष, दोषत्व की सीमा को लाँघ कर गुणों की सीमा में पहुँच जाते हैं। आगे वे अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सामान्यतः अपार्थ दोष काव्य में हेय माना जाता है किन्तु वही पागल, बालक तथा रोगी चित्त वाले व्यक्ति के मुख से कहे जाने वाले कथन में दोष नहीं माना जायेगा। इसी प्रकार साधारणतः पुनरुक्ति दोष समझा जाता है किन्तु अनुकम्पादि विवक्षित होने पर यह दोष नहीं रह जाता।[3]

---

१. 'सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धं मन्तराले स्रजमिव॥
किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्ते मलीमसमिवाञ्जनम्॥'—'काव्यालङ्कार'

२. 'भयशोकाभ्यसूयासु, हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति, पुनरुक्तं न तद्विदुः॥'—'काव्यालङ्कार'

३. 'विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥
समुदायार्थशून्यं यत् तद् अपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥
अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया॥'—'काव्यादर्श'

दण्डी के पश्चात् रुद्रट ने इस सम्बन्ध में बड़ी मार्मिक और गम्भीर विवेचना अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि दोष किसी किसी स्थिति में काव्य के शोभाकारक उपादान भी बन जाते हैं। कथन की पुष्टि के लिये ग्राम्यत्व दोष का उदाहरण देते हुये वे कहते हैं कि काव्य में ग्राम्य जनों की भाषा का प्रयोग करना दोष अवश्य है किन्तु किसी विशेष स्थिति में यह दोष अपने दोषत्व से मुक्त होकर गुण की सीमा में विराजित हो जाता है।[1] दोष-परिहार के सम्बन्ध में एक और बात भी उन्होंने बहुत तथ्यपूर्ण कही है। उनका कहना है कि दोष उस समय भी अपने दोषत्व से मुक्त हो जाते हैं जब उनका केवल अनुकरण काव्य अथवा नाटक में किया गया हो। काव्य या नाटक में दोषों का अनुकरण उन्हें गुण की महनी पदवी में विभूषित कर देता है।[2] आनन्दवर्द्धन ने इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक रूप से विश्लेषण किया है। उन्होंने रस-दोषों की मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत करते हुए उन स्थितियों का भी वर्णन किया है जब अनौचित्य कहे जाने वाले उपादान औचित्य की सीमा में विराजित हो जाते हैं। दोषों को वे अनित्य बताते हैं—अर्थात् किसी विशेष स्थान में एक दोष अपने दोषत्व से रहित होकर गुण भी बन सकता है। कथन को प्रमाणित करने के लिये वे श्रुति-कटुत्व-दोष का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि श्रुति-कटुत्व-दोष शृङ्गार रस में ही दोष माना जाता है किन्तु वीर और रौद्र रस में वह दोष नहीं रहता।[3] धारा-नरेश भोजराज ने भी उन स्थितियों का विवेचन किया है जब दोषों का दोषत्व मिट जाता है और वे गुण रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उनका कथन है कि कवि अपने कौशल से दोषों के दोषत्व को दूर कर सकता है और उनको गुणों की सीमा में ला सकता है।[4] पण्डितराज विश्वनाथ मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य की परिभाषा की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि सर्वदा दोष से हीन काव्य रचना बहुत कम देखने को मिलती है। जैसे कीड़ा लग जाने से किसी रत्न का रत्नत्व दूर नहीं हो जाता, उसी प्रकार श्रुति-कटुत्व आदि दोष काव्य के काव्यत्व को नहीं हटा सकते।[5] हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्य

---

१ 'अर्थविशेषवशाद्वा सम्यगपि तथा क्वचिद् विभक्तेर्वा।
अनुचितभाव मुञ्चति तथाविध तत्पद सदपि॥'—'काव्यालङ्कार'

२ अनुकरणभावमभिविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छत्।
न भवति दुष्टमतादृक् विपरीतक्लिष्टवपं च॥'—'काव्यालङ्कार'

३ 'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च सूचिता।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदीरिता॥'—'ध्वन्यालोक'

४ विरोधि सकलोऽप्येव कदाचित कविकौशलात।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥'—'सरस्वती कण्ठाभरण'

५ किञ्चैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वदा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात्। रत्नादिलक्षणं कीटानुवेधादिपरिहारवत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः, किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्, तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य।'
—'साहित्यदर्पण'

भिखारीदास ने भी उन अवस्थाओं का वर्णन किया है जब दोष अपने दोषत्व से मुक्त हो जाता है।[1]

वास्तव में कवि का आसन बहुत उच्च माना गया है। वह इस लोक से पृथक् एक नये लोक का निर्माण भी अपने काव्य में कर सकता है और उस लोक में वह ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन कर सकता है जो लोक विरुद्ध और ख्याति विरुद्ध हों। कवि-जगत् में कुछ ऐसी बातें प्रचलित होती हैं जो इस लोक में नहीं मिलतीं—केवल कवि-कल्पना की उपज होती हैं। किन्तु कवि उन्हीं को सत्य मानकर अपने काव्य में चित्रित करते हैं। पाप आकारहीन और अदृश्य वस्तु है किन्तु कवि-जगत् में पाप को काले (मलिन) रूप में वर्णित किया जाता है। इसीलिये विश्वनाथ ने एक स्थान पर कहा है कि कवि-सम्प्रदाय में ऐसी बातें प्रचलित रहती हैं जिन में प्रसिद्धि-विरुद्धता होती है।[2] प्रसिद्धि-विरुद्ध होने पर भी वहाँ दोष नहीं माना जाता। कवि दृष्टि बड़ी व्यापक और कल्पनाशील होती है। वह केवल इसी जगत् से सन्तुष्ट नहीं रहता अपितु वह अपना नया जगत् भी रच लेता है। शेक्सपीयर के अनुसार कवि की दृष्टि पृथ्वी से स्वर्ग और स्वर्ग से पृथ्वी तक घूमती है और जैसे-जैसे उसकी कल्पना अलक्ष्य को लक्ष्य करती जाती है वैसे-वैसे कवि उन्हें रूप देता है और जिनका अस्तित्व तक नहीं उनको नाम रूप देकर संसार में ला देता है।[3] अतः कवि की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व सम्भव है। कोई भी क्रिया या व्यापार का होना उसके लिये असम्भव नहीं है। इसलिये किसी भी कविता की परख करते समय काफी सजगता और सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि यदि कवि ने किसी स्थान पर ऐसा वर्णन कर दिया है जो साधारणतः दोष-पूर्ण कहा जा सकता है लेकिन सचेष्ट और गम्भीरता से देखने पर कवि का उद्देश्य ग्राह्य हो सकता है और जिसे दोषपूर्ण कविता समझ रखा था वह दोषों से सर्वदा विहीन हो सकती है। दोषों का कविता में होना बुरा अवश्य है किन्तु जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है कि यह आवश्यक नहीं है कि एक स्थान पर जो दोष है

---

१. 'कहूँ शब्दालङ्कार कहूँ छन्द कहूँ तुक हेतु।
कहूँ प्रकरन बस दोषहू गनें अदोष सचेतु॥
कहुँ अदोषो दोष कहूँ, दोष होत गुन खानि।
उदाहरन कछु कछु कहौं, सरल सुमति दृढ़ जानि॥'

२. "कवीनां समये ख्यातः गुणः ख्यातिः विरुद्धताः।'—'काव्य-निर्णय'

3. "The poet's eye in a fine franzy rolling
Doth glance from heaven to earth from earth to heaven.
And as imagination bodies forth
The form of things unknown, the poets
Pen turns them to shape and gives
To airy nothing a local habitation and a name."
—*'Midsummer Night's Dream.'*

वह प्रत्येक स्थान पर दोष ही हो। इसके विपरीत एक स्थान का दोष अन्य स्थान पर गुण भी हो सकता है। भारतीय-काव्य शास्त्र के आचार्यों ने कविता की परख के लिए यह मानदण्ड स्थापित किया था किन्तु साथ में पूर्ण विवेचन के साथ इस बात से भी सचेत कर दिया था कि कविता की परख करते समय आलोचक को स्थूल दृष्टि से न देखकर सूक्ष्म और तीव्र दृष्टि से देखना चाहिए। साहित्यिक मानदण्ड बाद में बनते हैं पहिले काव्य-कृति आ जाती है। अतः 'कोई कृति—साहित्य है अथवा नहीं इसका निर्णय तो साहित्यिक मानदण्डों से हो जाता है किन्तु साहित्य की उच्चतम कृतियों की परख केवल साहित्यिक मानदण्डों से नहीं की जा सकती।''[1] अतः यह आवश्यक है कि किसी कृति की परख करते समय आलोचक को अत्यन्त धैर्य, सजगता और सहिष्णुता से काम लेना चाहिये। दोषों का काव्य में होना हेय अवश्य है लेकिन सब स्थान पर नहीं। किस स्थान पर दोष, काव्य में हेय हैं और किस स्थान पर नहीं हैं—इसकी खोज करना विवेकी आलोचकों का काम है।

यहाँ कुछ प्रमुख काव्य-दोषों का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। पहिले संकेत किया जा चुका है कि काव्य दोषों की सामान्यतः तीन कोटियाँ बनाई गई हैं—(१) शब्द अथवा पद-दोष, (२) अर्थ-दोष और (३) रस-दोष।

शब्द अथवा पद-दोष

काव्यानन्द ग्रहण करते समय सर्वप्रथम हमारी दृष्टि शब्दों की रचना की ओर जाती है और यदि शब्दों की रचना में ही गड़बड़ी लक्षित होती है तो आगे मिलने वाला काव्यानन्द समाप्त-प्राय हो जाता है। अतः जहाँ शब्दों की रचना एवं प्रयोग के कारण काव्यानन्द में बाधा पहुंचे, वहाँ शब्द-दोष माना जाता है। प्रमुख शब्द-दोष निम्न माने गये हैं—

च्युत संस्कृति दोष वहाँ माना जाता है जहाँ काव्य में व्याकरण अथवा भाषा के नियमों की उपेक्षा की गई हो। पातञ्जलि का इस सम्बन्ध में कथन है—व्याकरण शास्त्र का ज्ञाता विद्वान् यदि उचित समय पर शब्दों का वास्तविक रूप से प्रयोग करता है तो वह अत्यन्त उन्नति को प्राप्त होता है किन्तु जो विद्वान् भाषा के समुचित प्रयोग को जानते हुए भी यदि अशुद्ध शब्द का प्रयोग करता है

---

1 'The greatness of the literature cannot be determined solely by literary standard, though, we must remember that whether it is literature or not can be determined by literary standard only.''
—Eliot

तो वह अपकीर्ति प्राप्त करता है।"[१] स्पष्ट ही पातञ्जलि ने व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग को अत्यन्त हेय ठहराया है। व्याकरण और भाषा-विरुद्ध दोष पाँच प्रकार के माने गये हैं—(१) सन्धि-दोष, (२) प्रत्यय-दोष, (३) वचन-दोष, (४) लिंग-दोष और (५) कारक-दोष।

किन्तु काव्य में यदि किसी ऐसे पात्र के कथन में व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग मिले जो अशिक्षित और गँवार है तो वहाँ यह दोष नहीं माना जायेगा।

श्रुति-कटुत्व-दोष कानों को अप्रिय लगने वाले शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होता है। शब्दों की अपनी ध्वनि होती है—र, म, ल, ज आदि शब्द कोमल और मधुर ध्वनि को उत्पन्न करते हैं जब कि ट, ड, ढ, ड़, ठ आदि शब्द कठोर और कानों को कटु मालूम पड़ते हैं। संयुक्ताक्षर तथा लम्बे समास भी काव्य के प्रवाह में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं अतः कवि को इनसे यथासाध्य बचना चाहिये। केवल भारतीय-साहित्य-शास्त्री ही इस बात को नहीं मानते, अपितु पाश्चात्य-साहित्य-शास्त्री भी इसके समर्थक है। अरस्तू का कथन है कि यदि सुकुमार विषय का वर्णन कठोर भाषा में किया जायेगा तो काव्य कभी भी प्रभावोत्पादक नहीं बन सकता।[२] आंग्ल कवि पोप भी एक स्थान पर कर्ण-कटुता का काव्य में विरोध करते हैं।[3] स्टीवेन्सन भी कटुता पैदा करने वाले शब्दों का काव्य में प्रयोग बुरा बताते हैं।[४] आनन्दवर्द्धन ने भी शृङ्गार आदि मधुर रसों में ढकार, संयुक्त सकार आदि का अत्यधिक प्रयोग हानिकारक माना है।[५]

---

१. 'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहार काले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥'

2. 'It is a general result of these considerations that, if a tender subject is expressed in harsh language......there is a certain loss of pursuasiveness.' —'*Rhetorics.*'

3. 'It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense.' —'*Essay on Criticism.*'

4. 'To understand how constant is this pre-occupation of good writers, even where its results are least obstrusive, it is only necessary to turn to the bad. There indeed you will find cacophony supreme, the rattle of incongruous consonants only relieved by jaw-breaking hiatus and whole phrases not to be articulated by power of man.'

५. 'शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेनवर्णा रसच्युतः॥'—'ध्वन्यालोक'

शृङ्गार आदि कोमल रसों में ही इन कटु वर्णों का प्रयोग बुरा माना जाता है किन्तु वीर रौद्र आदि रसों में इनका प्रयोग दोष न होकर गुण माना जायेगा। आनन्दवर्द्धन ने कहा भी है कि ये वर्ण यदि बीभत्स आदि रस में भाव प्रकट करने के लिए रखे जाएँ तो रस के सहायक बन जाते हैं। क्योंकि श्रुति-कटुत्व दोष शृङ्गार में ही दोष माना जायगा किन्तु वीर, रौद्र आदि रस में यही वाञ्छनीय है।[1] ग्रीक साहित्य शास्त्री ने भी कठोर शब्दों का प्रयोग ओजस्वी रीति के लिए आवश्यक बताया है। ओजस्वी रीति में वे कोमलता को अनुपयुक्त बताते हैं।[2]

ग्राम्यत्व दोष वहाँ माना जाता है जहाँ काव्य में ग्राम्यजनों की ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाय जिसे सभ्य व्यक्ति प्रयोग न करते हों। किसी विशेष प्रदेश में प्रचलित शब्दों के प्रयोग के कारण भी ग्राम्यत्व दोष उत्पन्न होता है। आंग्ल आलोचक डा० जानसन काव्य में साधारण बोलचाल के शब्दों का प्रयोग हेय समझते हैं।[3] इसी प्रकार एडिसन भी मुहावरेदार शब्दों का प्रयोग बुरा बताते हैं।[4]

किन्तु जहाँ नाटक अथवा काव्य में किसी ऐसे पात्र का कथन है जो ग्रामीण है तो वहाँ यह दोष नहीं माना जायगा। इसीलिये आचार्य रुद्रट का कथन है कि

---

१ 'ते एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः॥
श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च सूचिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदीरिताः॥'—'ध्वन्यालोक'

2 Vehemence creates a kind of power in composition Roughness of sound also in many cases indicates power, like the effects of uneven roads."

3 'Language is the dress of thought, and as the noblest main or most graceful action would be degraded and obscured by a garb appropriated to the gross employments of rustics or mechanics, so the most splendid ideas drop their magnificence, if they are conveyed by words used commonly upon low and trivial occasions, debased by vulgar mouths, and contaminated by inelegant applications."

4 'Since it often happens that the most obvious phrases, and those that are used in ordinary conversation, become too familiar to the ear and contract a kind of meanness by passing through the mouth of vulgar, a poet should take particular care to guard himself against idiomatic ways of speaking "

विशिष्ट दशाओं में ग्राम्यत्व दोष, दोषत्व से मुक्त होकर गुण कोटि में विराजित हो जाता है।[1]

अश्लीलत्व दोष काव्य में घृणा, लज्जा अथवा अमंगलसूचक शब्दों के प्रयोग के कारण उत्पन्न होता है। सभ्य व्यक्ति न तो ग्राम्यत्व दोष के अन्तर्गत आने वाले शब्दों को प्रयोग करता है और न ही अश्लीलत्व सूचक शब्दों का। किन्तु ग्राम्यत्व सूचक शब्दों का प्रयोग वह सभ्य संसार में प्रचलित न होने के कारण नहीं कर पाता और अश्लीलत्व सूचक शब्दों का प्रयोग यद्यपि समाज में प्रचलित तो रहता है किन्तु सभ्यता के नाते ऐसे शब्द प्रयोग को वह दूषित समझता है।

किन्तु काम-शास्त्र के वर्णन में लज्जा सूचक शब्द इस दोष से रहित माने जायेंगे। राजशेखर का कथन है कि प्रसंग आने पर अश्लीलतापूर्ण वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है। ऐसे अश्लील अर्थों का उल्लेख वेदों और शास्त्रों में भी पाया जाता है।[2]

काव्य में सरल शब्दों का प्रयोग कवि को करना चाहिये। अप्रचलित शब्दों का प्रयोग काव्य को दुरूह बना देता है। सरलता से समझ में न आने वाले शब्दों का प्रयोग भी काव्यानन्द ग्रहण करने में बाधा उपस्थित करता है। एडीसन ने दुर्बोध और अस्वाभाविक शब्द-प्रयोग न करने की चेतावनी दी है।[3] अप्रचलित शब्द के प्रयोग से काव्य में 'अप्रतीतत्व दोष' उत्पन्न होता है तथा दुर्बोध शब्दों के प्रयोग से 'क्लिष्टत्व' दोष माना जाता है। कई शब्द ऐसे भी होते हैं जिनके एक से अधिक अर्थ होते हैं किन्तु लोक में उनका एक ही अर्थ प्रचलित होता है। जैसे—'विष' शब्द के जल और जहर—दो अर्थ हैं किन्तु लोक में 'विष' को जहर के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है और यह इस अर्थ में प्रचलित भी है किन्तु जहाँ अप्रचलित अर्थ का प्रयोग किया जाये वहाँ 'निहितार्थ' दोष माना जाता है।

---

१. 'अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा कश्चिद् विभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि॥'—'काव्यालङ्कार'

२. 'प्रक्रमापन्नो निबंधनीय एवायमर्थः 'इति यायावरीयः। तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।'—'काव्यमीमांसा'

3. "The judgment of a poet very much discovers itself in shunning the common roads of expression without falling into such ways of speech as may seem stiff and unnatural; he must not swell into a false sublime by endeavouring to avoid the other extreme."
—'On Milton'

काव्य में जहाँ केवल मात्रा, वर्ण आदि की गिनती पूरी करने के लिए किसी शब्द का अनावश्यक प्रयोग किया जाता है वहाँ 'निरर्थक' दोष माना जाता है। इसी प्रकार जहाँ एक या एक से अधिक शब्दों को वाक्य में से हटा देने से अर्थ में बाधा न पहुँचकर काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि ही होती हो तो वहाँ 'अधिक पदत्व' दोष माना जायेगा। इसके विपरीत यदि वाक्य में आवश्यक शब्दों के छूट जाने से अर्थ के बोध में बाधा उपस्थित हो रही हो तो वहाँ 'न्यून पदत्व' दोष होगा। किन्तु काव्य में मतवाले, पागल अथवा बालक के कहे हुए वाक्यों में ये दोष नहीं माने जायेंगे।

अर्थ-दोष

हम काव्य में शब्दों का अर्थ समझ कर ही भाव ग्रहण करते हैं किन्तु जहाँ पर अर्थ ग्रहण करने में किसी कारणवश बाधा पहुँचे तो वहाँ अर्थ-दोष होता है।

एक शब्द या वाक्य द्वारा अभीष्ट अर्थ का बोध हो जाने पर भी जहाँ अन्य शब्द या वाक्य का पुनः प्रयोग हो वहाँ पुनरुक्ति दोष होता है।

'पुनरुक्ति' से किसी कवि के भाव-दारिद्र्य तथा शब्द-दारिद्र्य का पता चलता है, अतः इसको काव्य में दोष माना गया है। किन्तु 'पुनरुक्ति' कहीं-कहीं पर दोष के स्थान पर गुण या अलंकार भी बन जाता है। दण्डी के अनुसार अनुकम्पादि विवक्षित होने पर पुनरुक्ति दोष नहीं रह जाता।[1] भामह के अनुसार भय, शोक, हर्ष, विस्मय आदि भावों से मन आवेगमय हो जाने से पुनरुक्ति दोष का दोषत्व दूर हो जाता है।[2] पाश्चात्य आलोचक वाल्टर रेले भी किसी बात पर जोर देने के लिये पुनरुक्ति को श्रेष्ठ साधन मानते हैं।[3]

कुछ दोष लोक-विरुद्ध वर्णन से उत्पन्न होते हैं। लोक में प्रसिद्ध क्रम के विरुद्ध वर्णन में दुष्क्रमत्व दोष माना जाता है।

---

१ 'अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्क्रिया॥'—'काव्यप्रकाश'

२ 'भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः॥'—'काव्यालङ्कार'

3 "Repetition is the strongest generator of emphasis known to language"—'*Style*'

लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध वर्णन करना 'प्रसिद्धि विरुद्ध' दोष के अन्तर्गत आता है।

श्लीलता के विरुद्ध वर्णन करने से 'श्लील-विरुद्ध' दोष माना जाता है और देश-विशेष के वर्णन में उस देश में न मिलने वाली वस्तुओं के वर्णन से 'देश-विरुद्ध' दोष होता है। सहारा के रेगिस्तान में आम्र कानन का वर्णन करना इसी दोष के अन्तर्गत आयेगा। इसी प्रकार प्रकृति के व्यापारों या उसकी वस्तुओं के गुणों के विरुद्ध वर्णन करने में 'प्रकृति-विरुद्ध' दोष माना जाता है। इतिहास विरुद्ध वर्णन करने में 'काल-विरुद्ध' दोष होता है। अशोक के काल में रेलगाड़ी का वर्णन करना इसी प्रकार का दोष माना गया है।

उक्त सभी दोष लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध वर्णन के कारण उत्पन्न होते हैं। किन्तु स्वयं कवि सम्प्रदाय में कुछ ऐसी बातें प्रचलित होती हैं जो लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध होती हैं किन्तु फिर भी वे दोष के अन्तर्गत नहीं आतीं। इसी को दृष्टि में रख कर पं० विश्वनाथ ने कहा है—

'कवीनां समये ख्यातः गुणःख्यातिः विरुद्धता।'

अर्थात् कवियों के सम्प्रदाय में जो बातें प्रसिद्ध हैं उनमें प्रसिद्धि विरुद्धता गुण होता है। उदाहरणार्थ, पाप रूप-रंग विहीन वस्तु है किन्तु कवि-सम्प्रदाय में इसका रंग काला माना गया है, इसी प्रकार अनुराग रंगहीन वस्तु होने पर भी इसको अरुण रंग का माना जाता है। पाश्चात्य आलोचक एडीसन ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि कवि चाहे तो बसन्त और शरद् ऋतुओं की शोभा का एक ही साथ वर्णन कर सकता है, इतना ही नहीं यदि वह चाहे तो वर्ण्य-विषय की सुन्दरता के लिए वर्ष भर की शोभा से सहायता ले सकता है। कवि जैसमीन, गुलाब और वुडलाइन पुष्पों को एक साथ ही खिला सकता है। वह लिली, वायलेट, अमरान्थ नामक कुसुमों से एक ही साथ अपनी शैया को सजा सकता है।[1]

रस-दोष

उत्कृष्ट काव्य वही माना जाता है जिसमें रस की अभिव्यक्ति व्यंग से होती

1. "He may draw unto his description all the beauties of Spring and Autumn and make the whole year contribute to render it the more agreeable. His rose trees, woodlines and jessamine may flower together and his beds be covered at the same time with lilies, violets and amaranths."—*Addison (on Milton)*

है। अतः काव्य में रस, अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारी भाव आदि व्यंग्य रूप में होने चाहियें, दूसरे शब्दों में काव्य में उनका उल्लेख नहीं होना चाहिये क्योंकि इससे रसानुभूति में अवरोध उत्पन्न होता है। जहाँ ऐसे अवरोध होते हैं वहाँ रस-दोष माना जाता है।

काव्य में रस, स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव, अनुभाव आदि का नाम वर्णित करने से पाठक या श्रोता का उस रस के प्रति आकर्षण घट जाता है, फलस्वरूप रस का पूर्ण परिपाक उनके हृदय में नहीं हो पाता। अतः काव्य में रस, संचारी भाव का नाम स्पष्ट कर देना हेय बताया गया है। पाश्चात्य विद्वान् विनचेस्टर भी एक स्थान पर लगभग इसी बात को कहते हैं।[1] भारतीय काव्य शास्त्र में इसको 'स्वशब्द वाच्यत्व' दोष कहा जाता है।

काव्य में दो विरोधी रसों का एक स्थान पर वर्णन करने से 'परिपन्थि रसाङ्ग परिग्रह' दोष पैदा होता है। जैसे करुण रस का वर्णन करते समय यदि कवि हास्य के उपकरण भी वहाँ प्रस्तुत कर दे तो यह दोष माना जायेगा क्योंकि हास्य रस करुण रस का विरोधी है।

कुछ अन्य प्रकार के भी रस-दोष होते हैं। इसी प्रकार आचार्यों ने प्रबन्ध-काव्य में आजाने वाले दोषों का भी वर्णन किया है।

---

1. "When the writer does wish to arouse emotion, how can he do it? Not by talking about the emotion, not even by feeling it himself he must show us the objects that excite the emotion"
—*C. T. Winchester*

दर्शन और साहित्य में प्रकृति

डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

प्रकृति विविध ज्ञान-शाखाओं का एक सामान्य व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपजीव्य है। प्रस्तुत लेख में साहित्य के एक विद्यार्थी के नाते दर्शन और साहित्य को प्रकृति की भूमि पर देखने का, जिज्ञासु भाव से, एक अल्प प्रयास किया गया है, न तो दर्शन पक्ष का विवेचन किसी भी प्रकार से पूर्ण कहा जा सकता है और न दर्शन और साहित्य के मार्मिक अन्तःसम्बन्धों का स्वरूपोद्घाटन ही। विशेषतः दर्शन-विषयक अपनी प्रकृत सीमाओं से लेखक भलीभाँति अवगत है। मूलतः ज्ञान एक है, और बहु-विषय-स्पर्शी प्रस्तुत विषय साहित्य की केन्द्रीय चेतना से प्रगाढ़तम रूप से सम्बद्ध है और इस विषय पर व्यवस्थित व संश्लिष्ट विचारणा अभी बहुत ही कम दिखाई पड़ी है, इसी से प्रेरित हो कर लेखक ने प्रस्तुत विषय पर यत्किंचित् विचार किया है।

प्रकृति का सम्बन्ध साहित्य, दर्शन और विज्ञान—इन तीनों विषयों या ज्ञान-क्षेत्रों से है। पर, सब की दृष्टि प्रकृति के प्रति भिन्न-भिन्न है। उन सब दृष्टियों का विश्लेषण यहाँ न करके केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'प्रकृति' के द्वारा जिस वस्तु-प्रसार या विषय-प्रसार का बोध होता है प्रायः उसके केवल एक विशिष्ट अंश—नरेतर बाह्य प्रकृति—से ही काव्य का एक विशेष—रागात्मक—सम्बन्ध है, अतः सामान्यतः साहित्य की चर्चा में प्रकृति का ग्रहण एक विशेष सीमा तक और एक विशेष दृष्टि से ही होता है। पर, दार्शनिक दृष्टि जीवन की समग्र बौद्धिक दृष्टि है, अतः प्रकृति के प्रति साहित्यिक दृष्टि को भली-भाँति समझने के लिए यदि उसे पीठिका या परिपार्श्व रूप में रख कर देखें तो उपादेय होगा, क्योंकि दर्शन की बौद्धिक दृष्टि और साहित्य की रसात्मक दृष्टि ऊपर से भले ही विभिन्न क्षेत्रों की आत्म-पर्यवसित दृष्टियाँ जान पड़ें, पर अपने मूलों में ये दृष्टियाँ परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। इस नाते प्रकृति की दार्शनिक दृष्टि पर विचार आवश्यक है।

प्रकृति-विषयक दार्शनिक दृष्टि (विचार) व साहित्यिक दृष्टि (भाव) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि की दृष्टि पूर्ण या समग्र दृष्टि कही जाती है, अतः विचार

और भाव की प्रतिनिधि दोनों दृष्टियाँ जब तक उसमें समन्वित न हों तब तक वह पूर्ण कैसे ? फिर मनोविज्ञान की दृष्टि से भी विचार व भाव—ऊपर से पूर्णतः भिन्न दिखाई पड़ने वाली दो सत्ताएँ—अपने मूल में परस्पर सम्बद्ध हैं। एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं। जब तक बुद्धिपक्ष से भी पूर्णतः विचार न कर लिया जाय तब तक कोरे भावपक्ष का विचार गवेषणीय अपूर्ण या अप्रामाणिक ही रहेगा। इसीलिए कहा गया है कि भाववृत्ति बुद्धिवृत्ति के भीतर ही रहता हुआ अपना कार्य करता है, स्वतन्त्र नहीं। और बुद्धिपक्ष या दर्शनपक्ष के ग्रहण का आशय इसके अतिरिक्त हो ही क्या सकता है कि प्रकृति पर जो दार्शनिक चिन्ता हुई है उनकी पीठिका पर ही विषय का विचार किया जाय। पर इसका यह अर्थ भी कदापि नहीं कि साहित्य-स्रष्टा या काव्य-स्रष्टा केवल प्रकृति विषयक दार्शनिक विचार धारा में बँधकर ही यान्त्रिक रूप से साहित्य या काव्य में प्रकृति का निरूपण करें, वस्तुतः प्रकृति विषयक दार्शनिक विचारधारा तो सश्लिष्ट-असंश्लिष्ट ढंग से प्रत्येक सहज कवि की रचना में दूध में घृत की तरह स्वयमेव समायी रहती है। सजग समीक्षक अवगाहन करके उन तत्त्वों को पृथक् ढंग से निकाल सकते हैं। कवि काव्य में प्रकृति का विश्लेषणात्मक (Analytical) बुद्धि से प्रयोग न करके ध्वनि की काव्य-स्वीकृत पद्धति से, संश्लेषात्मक या संश्लिष्ट (Synthetic) प्रयोग ही करता है। प्रकृति के इसी कल्पनात्मक और भावनात्मक विन्यास में कवि की सच्ची व पूर्ण प्रकृति विषयक दृष्टि समायी रहती है।

इस प्रकार प्रकृति को लेकर दार्शनिक दृष्टि और साहित्यिक दृष्टि में घनिष्ठ सम्बन्ध ठहरता है।

वेदान्त—आचार्य शंकर ने 'मायावाद' का प्रवर्तन किया जिसके अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है और जगत् मिथ्या, माया या अविद्या है। शंकर की यह दृष्टि बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित थी जिसमें संसार को स्वप्नवत् समझा गया था। शंकर 'अनिर्वचनीय ख्याति' को मानते हैं। उनकी दृष्टि में संसार न तो सत् ही है और न असत् ही। सत् इसलिए नहीं कि वह कभी नष्ट होता ही और असत् इसलिए नहीं कि वर्तमान में तो वह अनुभव में आ ही रहा है। यही संसार की "अनिर्वचनीयता" है। उनकी दृष्टि में प्रकृति में मूलतः आनन्द नहीं है। बल्कि सगुण—त्रिगुणात्मिका—प्रकृति की रचना मायाकृत है। जब तक यह माया का आवरण नष्ट न हो तो तब तक आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं। ब्रह्म को प्रकृति समझना या उस पर प्रकृति का आरोप करना तो (रज्जु को सर्प समझने के समान) शंकर की दृष्टि में अध्यास, अज्ञान, भ्रम या विवर्त का परिणाम है। यदि हमें प्रकृति में आनन्द मिलता ही है तो केवल पूर्ण आत्मभाव की प्राप्ति होने पर ही, आत्मा और ब्रह्म की एकता की अनुभूति होने पर ही। उसके पहले प्रकृति में आनन्द मानना नहीं बन पड़ता। तात्पर्य यह कि प्रकृति अपने आप में जड़ है। प्रकृति अपनी सार्थकता के लिए ब्रह्म पर ही आश्रित है। प्रकृति

की सत्ता वास्तविक नहीं है, प्रातिभासिक है। इन पदार्थों की सत्ता का स्वीकार अज्ञान मात्र है। व्यावहारिक सत्ता उपासना के लिए स्वीकृत अवश्य है पर पारमार्थिक सत्ता केवल शुद्ध ब्रह्म की ही है। "विवर्त" नामक वृत्ति के कारण हम भ्रान्ति व अज्ञान से संसार को सत्य समझ बैठे हैं और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का अनुभव कर रहे हैं। प्रकृति या सृष्टि का समस्त प्रसार शंकर की दृष्टि में वस्तुतः मायामय, भ्रान्तिजन्य और असत् है।"[1] अवश्य ही वे आत्मा के आनन्द की प्राप्ति (जो जीवन का सर्वोच्च काव्य है) का पथ बताते हैं जिसे साख्यशास्त्र भी नहीं बताता,[2] पर जिस चिन्तनशैली से वे हमें ले जाते हैं वह जगत् को माया, मिथ्या व भ्रान्ति कहकर ही।

आगे रामानुज और वल्लभ ने शंकर की इस दृष्टि का घोर विरोध किया। रामानुज ने तो यहाँ तक कह दिया कि उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म का नहीं, किन्तु सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है। वल्लभ ने अवश्य ब्रह्म को उभयलिंग माना; यह माना कि उपनिषदों में ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में निरूपित हुआ है। तात्पर्य यह कि शंकर की मूलभूत मान्यता को अप्रामाणिक कह कर चुनौती दी गई और यह प्रमाणित करने का प्रयास किया गया कि संसार मिथ्या नहीं है, सत्य है। प्रकृति के प्रति आचार्यों की इस मूल दार्शनिक दृष्टि व दृष्टि-भेद का भारतीय जीवन-दृष्टि से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

शंकर ने एक ही पदार्थ—निर्गुण ब्रह्म—माना, किन्तु रामानुज ने तीन माने—चित् (जीव), अचित् (जड़ जगत्) व ईश्वर। शंकर ने माया की कल्पना करके सृष्टि-रचना का रहस्य समझाया, पर रामानुज ने माया को अस्वीकार कर चित् और अचित् के रूप में ब्रह्म का ही विस्तार माना। उनकी दृष्टि में जगत् मिथ्या नहीं है, ब्रह्म का ही एक स्वगत भेद है। यह सारी सृष्टि ब्रह्म का ही शरीर है।[3] ईश्वर और सृष्टि का

1. "*Abhinavagupta* : *An Historical and Philosophical Study*."
—Dr. K. C. Pandey, p. 298.
2. "*History of Indian Philosophy*"—Dr. J. N. Sinha : Vol. II, p. 102.
३. प्राचीन यूनान में भी यह 'जगत् शारीरिक ब्रह्मवाद' विकसित हो चुका था। इस वाद पर भारतीय दर्शन की छाप थी। रामानुज-दर्शन की तरह यूनानी स्तोइक दर्शन में यह माना गया है कि "ब्रह्म (ईश्वर) अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है, अर्थात् ब्रह्म और जगत् दो नहीं है, जगत् भगवान् का शरीर, एक सजीव शरीर है।" वि० दे० राहुल सांकृत्यायन का 'दर्शन-दिग्दर्शन,' पृ० ३१-३२।
"......'the 'Cit' (Individual Souls) and the 'Acit' (non-sentient) divisions of the world could not be regarded as apart from the Parama-Purusa, as they formed his body." —'*Sribhashya of Ramanuja*' (Poona)—Edited by R. D. Karmarkar, Part I : 'Catu-hsutri', Introduction, p. XXVII.

सम्बन्ध अपृथक सिद्धि' नामक सम्बन्ध के द्वारा समझाया गया। ईश्वर और सृष्टि के बीच केवल समवाय सम्बन्ध (तन्तु और पट) ही नहीं है वह तो स्थूल व ऊपरी है। उसमें गहरा एक और सम्बन्ध है जो शरीर व आत्मा के सम्बन्ध में देखा जा सकता है। अपृथक सिद्धि सम्बन्ध द्रव्य और गुण दोनों में रहता है। ईश्वर विशिष्य है और जगत् विशेषण। विशेष्य विशेषण अलग-अलग नहीं रह सकते। इसी प्रकार सृष्टि व ईश्वर अलग अलग नहीं है। चित् और अचित् विशिष्य ईश्वर के विशेषण हैं विशेषण विशेष्य से भिन्न नहीं रह सकता। ईश्वर और सृष्टि को लेकर यही रामानुज की विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टि है।[1] रामानुज की यह दृष्टि निराधार नहीं अपितु उपनिषदों से पुष्ट भी होती है। उपनिषदों में[2] निरूपित हुआ मिलता है कि मूल सत्ता निर्गुण है और सगुण उसी का प्रसार है। जगत् रूपी वृक्ष पर एक पक्षी (निर्गुण) साक्षीभूत मात्र हो कर सब कुछ देख रहा है और दूसरा भोक्ता हो कर उसके फलों का रस ले रहा है।[3] जब कि वेद पर आधारित उपनिषद् सृष्टि के इस महत्व को स्वीकार करते हैं तब तो शंकर की दृष्टि अवश्य ही विचारणीय हो उठती है। जो हो रामानुज की दृष्टि ने एक ऐसी नवीन सांस्कृतिक विचारधारा का प्रवर्तन किया जिससे सृष्टि सजीव व सार्थक दिखाई पड़ने लगी जीवन की नीरसता दूर होने लगी और जन-साधारण चारों ओर प्रकृति में भगवान् का सरस दर्शन करने लगा।

वल्लभ ने इस दृष्टि को समय की अनुकूलता पाकर, और भी विकसित व पुष्ट किया। उन्होंने भी कहा कि सृष्टि मिथ्या नहीं है। उन्होंने भी रामानुज की तरह माया की बात उड़ा दी। माया कोई वस्तु नहीं। उन्होंने ब्रह्म को माया से शुद्ध करके शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की मानो ब्रह्म पहले माया के कारण अशुद्ध था। उन्होंने माया के स्थान पर आविर्भाव-तिरोभाव की कल्पना की (जिसका संकेत ब्रह्मसूत्र में मिलता है—ब्रह्मसूत्र ३।२।५ ४।४।१ तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् १।११ में भी —तस्याभिध्यानाद् योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥) और बताया कि अक्षरब्रह्म अपने तीनों—सत्, चित् व आनन्द—रूपों का आविर्भाव तिरोभाव करता रहता है जिनका प्रकाश क्रमशः संधिनी संवित् और ह्लादिनी शक्ति से होता है। जीव में सत् चित् का आविर्भाव है व आनन्द का तिरोभाव तथा जड़ (प्रकृति) में चित्-आनन्द का तिरोभाव रहता है और केवल सत् का आविर्भाव। तात्पर्य यह कि जड़ प्रकृति भी अगर ब्रह्म से सम्बद्ध है सर्वथा मिथ्या अतः उपेक्षणीय नहीं। वल्लभ

---

१ वि० दे० डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० १४५ तथा प० बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन पृ० ४६८।

२ ऐतरेय उपनिषद् १।१।१ ३ श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।४ ५, तैत्तिरीय उपनिषद् २।६ ७।

३ श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४।६।

ने माया के बिना सृष्टि की व्याख्या की।[1] जगत् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सत् अंश से या शरीर से बना हुआ है; वह अविकृत है। वह नित्य पदार्थ है जो ब्रह्म के सत् अंश से ही निर्मित है। प्रकृति मिथ्या या माया-कृत नहीं। ब्रह्मसूत्र के 'आत्मकृतेः'[2] तथा 'परिणामात्'[3] के द्वारा उन्होंने यह कहा कि यह सारी सृष्टि लीला के लिए लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्,[4] रची गई है, और ब्रह्म का ही परिणाम है। अपने ही आनन्द के लिए रची गई सृष्टि का ब्रह्म के साथ गहरा सम्बन्ध होना चाहिए। विष्णु-स्वामी और वल्लभाचार्य ने ही साहस के साथ सीधे ब्रह्म का ही परिणाम स्वीकार किया है। कारण से बना हुआ कार्य उससे अनन्य होता है, मिथ्या नहीं होता।[5] इतना ही नहीं, वल्लभ ने तो ब्रह्म के सगुण स्वरूप को असली व श्रेष्ठ कर निर्गुण स्वरूप को निम्नकोटि का ही प्रमाणित कर दिखाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुज और वल्लभ के चिन्तन-पथ में प्रकृति-विषयक दृष्टि वहीं हुई जा रही है जो काव्यदृष्टि के बहुत पास है।

सांख्य—भारतीय सांख्य दर्शन प्रकृतिवादी है। वह प्रकृति अव्यक्त, या प्रधान को जगत् का कारण मानता है; त्रिगुणात्मक प्रधान के सिवाय किसी अन्य को जगत् का प्रेरक, प्रवर्त्तक या कारण नहीं मानता। मूल तत्त्व 'प्रकृति' सृष्टि का अनादि कारण है। वही सब कुछ उत्पन्न करता है पर स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता। सांख्य की प्रकृति एक ऐसी सत्ता है जो स्वतन्त्र, नित्य त्रिगुणमयी व क्रियावान् तो है पर है अन्धी। प्रश्न यह है कि उसके द्वारा जो सृष्टि-सम्पादन का कार्य चल रहा है उस क्रिया का मूल कारण क्या है? अकारण क्रिया कैसे हो? अतः सांख्य में ही 'पुरुष' नामक ऐसे तत्त्व की कल्पना की गई है जो स्वयं है तो पूर्ण निष्क्रिय, पर है पूर्ण चैतन्य-रूप। प्रकृति उसकी उपस्थिति मात्र से वैसे ही सक्रिय है जैसे पुरुष की उपस्थिति मात्र से प्रेमिका अथवा रंगमंच की लज्जाशील नर्तकी।[6] तात्पर्य यह कि सांख्य में प्रकृति एक शाश्वत तत्त्व माना गया किन्तु चैतन्य तत्त्व को माने बिना सांख्य का काम न चला। सांख्य ने अनेक प्रकार से प्रकृति को ही सर्वोपरि तत्त्व ठहराया और अपने दृष्टिकोण के पोषण में अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत कीं, पर चेतनवादियों को उससे पूर्ण

१. वि० दे० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'सूरदास', पृ० ११४-११५।
२. ब्रह्मसूत्र, १।४।२६।
३. वही, १।४।२७।
४. वही, २।१।३३।
५. वि० दे० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'सूरदास', पृ० ११०-१११।
६. ईश्वरकृष्ण : 'सांख्यकारिका', कारिका ५६-६१।

सन्तोष नहीं हुआ।[1] चेतनवादियों की प्रधान शंकाएँ हैं—जड़ प्रकृति में कर्तृता कहाँ से आ गई है? गुणवान वस्तु नाशवान् अवश्य होती है फिर प्रकृति नित्य कैसे? प्रकृति व पुरुष का प्रथम संयोग किस प्रकार हुआ? इस प्रकार प्रकृति तत्त्व को सर्वोपरि तत्त्व मानने वाला सांख्यदर्शन जिज्ञासुओं को शान्त न कर सका। दूसरे शब्दों में चेतन तत्त्व की स्पष्ट अभ्यक्तता के अभाव में जड़ प्रकृति स्वतः सृष्टि की रचना ही न कर सकी।[2]

इस दर्शन में पुरुष या चैतन्य की अवश्य कल्पना की गई है, क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रथम स्पन्द के लिए यह आवश्यक था; पर पुरुष उदासीन ही माना गया है, वह न तो प्रधान का नियतक है और न प्रवर्तक। यदि प्रकृति आरम्भ में परिचालित होती है तो उसी प्रकार जैसे चुम्बक की उपस्थिति में लोहा।[3] अन्धा और पंगु जिस प्रकार अपना कार्य परस्पर चलाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति-पुरुष से यह सृष्टि चल रही है।[4] सांख्य का तर्क यह है कि बछड़े के लिए गाय के स्तन का दूध, झरने का जल और मेघ स्वतः कार्यशील रहते हैं,[5] अतः प्रकृति के आगे और किसी तत्त्व की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार सांख्य ने प्रकृति को ही अन्तिम तत्त्व मान लिया किन्तु सांख्यशास्त्र के अनुशीलनकर्ता तत्त्वज्ञों को आज भी उसकी सारी प्रक्रिया असंगत और असंतोषजनक ही लग रही है।[6]

बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्रों में सांख्यशास्त्र के सब तर्कों का समूल खण्डन करके यह प्रतिष्ठित कर दिया है कि प्रधान या प्रकृति जड़ है और वह अपनी सत्ता के लिए किसी चेतन तत्त्व पर ही आश्रित है। इस जगत् का निमित्त और उपादानकारण ब्रह्म ही है, सांख्योक्त प्रधान' अथवा जड़ 'प्रकृति' नहीं।[7] ब्रह्म से उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। बुद्धिमान् या चेतन कर्ता के बिना प्रकृति जड़ है। जड़ पदार्थ स्वयमेव न तो कार्यप्रवृत्त ही हो सकता है और न कुछ बुद्धिकौशलपूर्ण रचना ही कर सकता है।

---

१ प० बलदेव उपाध्याय 'भारतीय दर्शन', पृ० ३४४ ३४५।
२ वही, पृ० ३४३।
३ ईश्वरकृष्ण 'सांख्यकारिका'।
४ वही, कारिका २१।
५ वही, कारिका ५७, 'भारतीय दर्शन', पृ० ३४४।
6 Dr J N Sinha '*History of Indian Philosophy*, Vol II, p 102, तथा प० बलदेव उपाध्याय 'भारतीय दर्शन', पृ० ३४२-३४५।
७ ब्रह्मसूत्र, २।२।१ से २।२।१० सूत्र। बृहदारण्यक उपनिषद् ३।७।४, ४।५।६, छान्दोग्य उपनिषद् ६।१।४, मुण्डक उपनिषद् १।१।२, १।१।७, श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।८, ३।१।६, गीता ७।४-७, ६।१०।

साम्यावस्था में प्रथम विक्षोभ भी स्वतः सम्भव नहीं । तृण का दूध बनना, गाय के थन से दूध-प्रवाह और निर्झर का जल-प्रवाह सब एक चेतन तत्त्व की ही अपेक्षा करते हैं । विशिष्ट चेतन के सहयोग के अभाव में जड़ प्रकृति की जगत्-रूप में परिणति असम्भव है; तृण से सब जगह दूध नहीं बन सकता, विशिष्ट चेतन गाय के सम्पर्क से ही तृण से दूध बन सकता है । सांख्य का पुरुष असंग, निर्विकार और उदासीन है, अतः वह प्रेरक नहीं बन सकता । लोकरचना के कार्य में प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति की भी संगति नहीं बैठती क्योंकि सांख्य के अनुसार पुरुष असंग, चैतन्यमात्र, निष्क्रिय, निर्विकार, उदासीन, निर्मल, नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है । फिर पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग की आवश्यकता ही क्या ? अन्धे और लंगड़े भी अपनी एक विशिष्ट इन्द्रिय से रहित भले ही हों पर वे अपनी बुद्धि के ही योग से काम करते हैं (बुद्धि भी तो किसी चेतन की ही पूर्व-सत्ता या उपस्थिति सूचित करती है), अतः अन्धे और लंगड़े की कल्पना भी तत्त्वचिन्तकों को सन्तोषजनक नहीं ।[1]

इन परस्पर विरोधी बातों का वर्णन करने से सांख्यमत पूर्ण सन्तोषजनक नहीं समझा गया है । तात्पर्य यह कि प्रकृति जड़ तत्त्व मात्र है, वह किसी की सत्ता या शासन में रहकर ही कार्य कर सकती है, स्वयमेव नहीं । चेतन तत्त्व ही सर्वोपरि है ।

शैवागम—शैवागम दर्शन में परासंवित् या परमशिव ही परम तत्त्व है जो अपने निर्गुण व अचिंत्य रूप में 'विश्वोत्तीर्ण' व सगुण या व्यक्त रूप में 'विश्वात्मक' कहलाता है । परमशिव प्रकाश-विमर्शमय है और अपने परम स्वतंत्र स्वभाव से शक्तिपंचक (चिति, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) के द्वारा सृष्टि का उन्मीलन-निमीलन रूप खेल करते हुए लीला कर रहे हैं ।[2] प्रकृति परमशिव का शरीर है । परमेश्वर और सृष्टि का सम्बन्ध 'दर्पण-नगर' का सम्बन्ध है ।[3] प्रकृति शिव से भिन्न दिखाई पड़ते हुए भी वस्तुतः शिव में ही है । वह परमशिव का प्रतिबिम्ब या आभास है । इस दर्शन के अनुसार सृष्टि बौद्ध दृष्टि के समान न तो स्वप्न है और न शांकरवेदान्त की तरह अध्यास या विवर्तजन्य मिथ्या या भ्रान्ति । वह तो शिव का शरीर होने के नाते सत्य

---

१. वि० दे० पं० बलदेव उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन', पृ० ३४२-३४५ ।

२. चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः ॥ स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति···
···प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १-२ ।

३. दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभागि ।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि ।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति तज्जगदेतत् ॥ —परमार्थसारः, कारिका १२-१३ ।

है।¹ शैव साधक के लिए सर्वत्र शिव ही शिव है, स्वयं सुख-दुःख भी उसके लिए तो कल्पना है। शैव साधक परम आनन्द का उपासक है। वह ब्रह्म रूप आत्मा का इस रूप प्रकृति में विस्तार देखकर आनन्दमग्न होता है। परमशिव के नाते प्रकृति परम आनन्दमयी है। सारा विश्व चिन्मयी शक्ति का ही स्फुरण है। सृष्टि और ईश्वर के इस सम्बन्ध की प्रामाणिकता पर आचार्य प० बलदेव उपाध्याय लिखते हैं—'परिणाम वाद में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य आकार ग्रहण करता है। प्रकाशतनु शिव के प्रकाश के तिरोधान होने पर तो यह जगत् ही अन्धा हो जायगा। अत न तो विवर्तवाद हृदयंगम होता है न परिणामवाद प्रत्युत स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद ही बुद्धिगम्य होने से प्रामाणिक है।'² इस प्रकार शैवागम की प्रकृति दृष्टि-काव्य की सकल्पात्मक अनुभूति या सश्लिष्ट दृष्टि के बहुत ही निकट आती जान पड़ रही है। शैवागम की दृष्टि प्रकृति को मिथ्या या अध्यास नहीं मानती। काव्य दृष्टि के साथ उसका अच्छा मेल बैठता है।

न्याय-वैशेषिक—न्याय-वैशेषिक दर्शन शुद्ध वास्तववादी दर्शन है जो मुख्यत अपनी पदार्थ-मीमांसा के लिए प्रसिद्ध है। प्रकृति नैयायिकों के बारह प्रमेयों तथा वैशेषिकों के आठ द्रव्यों के अन्तर्गत समाविष्ट है। न्याय-दर्शन किसी सार्वभौम परमतत्त्व (Universal a bsolute principle) के प्रकाश में समग्र विश्व का एक व्यवस्थित और पूर्ण सन्तोषजनक दर्शन हमें नहीं प्रदान करता।³ वह आत्मा को, अन्य पदार्थों की तरह एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में सत्ता मान कर ही सन्तुष्ट है। प्रकृति का विवेचन केवल प्रमेयों या द्रव्यों के अन्तर्गत ही अटका-उलझा रह गया है। इस प्रकृति का अन्तिम सचालक नियन्ता कौन है इसका तृप्तिदायक उत्तर सांख्य की तरह यहाँ भी नहीं मिलता। वैशेषिक दर्शन ने अदृष्ट सहकारिता से ईश्वर की इच्छा तथा ईश्वरेच्छा से ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि क्रिया मानी है। यह दर्शन परमाणुओं से ही सृष्टि की उत्पत्ति सिद्ध करता है। पर अणुओं में जीवन स्पन्

---

1. 'While the Vedanta holds that the universe (jagat) is unreal, the Realistic Idealism maintains it to be real, because it is a manifestation of the ultimate Therefore, while, according to the former all that we know disappears at the time of self realisation.. according to the latter, the objective universe stands even when the self is realised, but is known in its true perspective or in all its aspets or bearings.'

   —Dr K. C. Pandey '*Abhinavagupta*, '*An Historical and Philosophical Study*', p 298

२ 'भारतीय दर्शन', पृ० ५८८।

3 Chatterji and Datta '*An Introduction to Indian Philosophy*', p 222

कहाँ से आ गया ? किसी मूल शाश्वत चेतन तत्त्व की सत्ता माने बिना मनीषी दार्शनिकों को सृष्टि की पहेली हल होती नहीं जान पड़ती। जो हो, अवश्य ही यह दर्शन कोरे भौतिकवादी दर्शन से ऊपर उठा हुआ बताया गया है। सामान्यतः समीक्षकों की दृष्टि में यह पूर्ण तृप्तिकर दर्शन नहीं है क्योंकि वह अणु, मन, आत्मा और प्रकृति के नियन्ता सृष्टि के किसी हृदयस्थानीय तत्त्व को प्रतिष्ठित नहीं करता।[2] आत्मा को इन दर्शनों में एक पदार्थ या द्रव्य अवश्य माना गया है, किन्तु सब स्वतन्त्र पदार्थों या द्रव्यों का एक मूल केन्द्रीय चेतन तत्त्व से अनिवार्य व प्रगाढ़ सामंजस्य न घटित हो पा सकने या दूर तक उसका निर्वाह न हो पा सकने से और ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानने से रस-जीवी कवि या साहित्यकार के लिए प्रकृति की दृष्टि से ये दर्शन बहुत आकर्षक व उपकारक नहीं दिखाई पड़ते। काव्य में जो रसानुभूति-जन्य मुक्ति का अनुभव होता है वह वैशेषिक मुक्ति, जो भक्त-समाज में शिला सी नीरस कही गई है, से बहुत ही दूर की चीज दिखाई पड़ती है। वास्तविक बात यह है कि इन दर्शनों ने दुःख-नाश के उपाय तो बताये हैं, किन्तु मानव के लिए आनन्द जैसी किसी उच्च भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा सम्भवतः ये नहीं कर सके हैं।

अन्य—सृष्टि या प्रकृति को देखने की अन्य दर्शनों की भी अपनी दृष्टि है। 'मीमांसक यथार्थ ख्याति' के अनुसार प्रकृति को सत्य कहते हैं। बौद्धों के विविध सम्प्रदायों में जगत् को देखने की दृष्टियों में पर्याप्त भिन्नता है। शून्यवादी या माध्यमिक सर्वत्र शून्य देखते है, विज्ञानवादी केवल बाहर का सब कुछ असत् मानते हैं। सौत्रान्तिकों व वैभाषिकों में न्यूनाधिक भेद से विज्ञान व संसार सत्य है।

अद्वैत वेदान्त की भूमि पर सूफी साधक भी (जो मूलतः भारतीय अद्वैत वेदान्त से प्रभावित हैं) जगत् के मूल में एक सौन्दर्यमयी सत्ता की कल्पना करके समस्त प्रकृति को उसका आभास, प्रतिबिम्ब या छाया मानते हैं। वे समस्त प्रकृति को परम प्रियतम के लिए प्रत्येक क्षण जलती हुई अनुभव करते है। जायसी के इस कथन से चेतन तत्त्व व प्रकृति का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है—

रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥

दर्शन, धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसमें ब्रह्म, जीव, माया, जीवन, मृत्यु आदि विषयों के साथ प्रकृति भी सूक्ष्म विचार का एक अत्यन्त गम्भीर विषय रही है।

---

2. Chatterji and Datta: *'An Introduction to Indian Philosophy'*, pp. 252-253.

दर्शन में यदि शुद्ध अनासक्त बुद्धि से प्रकृति तत्त्व की अन्तरंग मीमांसा की जाती है किन्तु प्रकृति विषयक विचार में भावना या श्रद्धामूलक मन का अंग होने के कारण भावना का भी न्यूनाधिक रूप प्रायः सर्वत्र मिल जाता है, इसलिए पूर्व-पश्चिम के दर्शन की विविध चिन्तन प्रणालियाँ भावना के अनुपात भेद से परस्पर भिन्न हो गई हैं। इस दर्शन के एक छोर पर [illegible] हेकल का जड़ाद्वैतवाद है तो दूसरे छोर पर शंकर या कांट का ब्रह्माद्वैतवाद। दोनों वादों में प्रकृति विषयक धारणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक में प्रकृति ही एकमात्र तत्त्व है तो दूसरे में प्रकृति चेतन के अधीन एक जड़ सत्ता मात्र। इस प्रकार प्रकृति विषयक चिन्ता जड़ चेतन की एक सनातन गुत्थी का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।[1] द्रव्य या वस्तु (matter) और चेतना (mind) का स्वरूप और उनके सम्बन्धों का स्थापन व निरूपण ही प्रकृति विषयक दर्शन का केन्द्र बिन्दु बन जाता है। तात्पर्य यह है कि दर्शन का प्रकृति से घनिष्ठतम सम्बन्ध है।

विज्ञान तो नितान्त प्रकृति के ही आधार पर खड़ा है। विज्ञान की विविध ज्ञान शाखाओं में वस्तुतथ्यात्मक दृष्टि से प्रकृति के ही विविध पक्षों का, निरीक्षण परीक्षण विश्लेषण-वर्गीकरण तुलना आदि की प्रक्रिया से प्रयोगात्मक अध्ययन होता है जिसमें भावना या कल्पना किंचित्मात्र भी बीच में नहीं आने दी जाती। इस प्रक्रिया में जो तथ्य या परिणाम प्राप्त होते हैं वे जीवन-मूल्य व जीवन-दृष्टि के निर्माण में पदार्थवादियों के द्वारा आधारभूत या अन्तिम निर्भ्रान्त तथ्यों के रूप में स्वीकार कर लिए जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति विज्ञान-मात्र की भूमि है जिस पर उसकी सारी सृष्टि खड़ी होती है।

यद्यपि दर्शन व विज्ञान के क्षेत्र में प्रकृति का प्रभूत प्रयोग होता है पर क्षेत्र व लक्ष्य भेद से कभी-कभी उनके तथ्य या परिणाम परस्पर इतने विपरीत हो जाते हैं कि उन्हें परस्पर पाटना दार्शनिकों का मानव-हित की दृष्टि से, एक अत्यन्त आवश्यक दायित्व हो जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक कॉलिंगवुड ने '*The Idea of Nature*' नामक अपना ग्रन्थ १९वीं शताब्दी में लक्षित इन दोनों क्षेत्रों के अधिकाधिक बढ़ते अन्तर को पाटने के ही लिए लिखा है।[2] डॉ० दासगुप्त महोदय भी मानते हैं कि दर्शन और विज्ञान यद्यपि बाह्यतः दो स्वतन्त्र क्षेत्र हैं किन्तु जिस मूल दृष्टि से वे चालित होते हैं वह मूल अन्वीक्षा की दृष्टि है जिसका प्रयोग दोनों ही क्षेत्रों में

---

१ हरद्वारीसिंह शास्त्री 'सौन्दर्यविज्ञान', पृ० ७२।
Will Durant '*Mansions of Philosophy*' p 56

2 R. G Collingwood *The Idea of Nature*', pp 1 3

सिद्धान्त-निर्माण के लिए होता है।[1] तात्पर्य यह कि दर्शन और विज्ञान, पूर्ण सत्य की एकता को देखते हुए मूल से परस्पर एक ही हैं।

इसी प्रकार साहित्य में व कलाओं में भी प्रकृति का, विषय, अलंकार व अन्य उपकरण के रूप में, भूरिशः उपयोग होता है। पर साहित्य व कला की प्रकृति (स्वभाव), प्रक्रिया व गन्तव्य के प्रति दृष्टि का निर्माण शुद्ध बुद्धि या तर्क से न होकर भाव और रस से होता है, अतः उक्त दृष्टि दर्शन व विज्ञान की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हो जाती है। ललित साहित्य व कला में प्रकृति का न तो कोरा अनुकरण होता है और न उसका तात्विक बौद्धिक विवेचन। उसमें तो प्रकृति का रस-निष्पत्ति के उद्देश्य से, कल्पनात्मक पुनर्निमाण होता है और यही निर्माण साहित्य या कला में प्रकृति के उपयोग की चरम सार्थकता है। इन मर्यादाओं के साथ ग्रहण की गई प्रकृति की (अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति की) कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो काव्य-विषय बनने की क्षमता न रखती या रख सकती हो।

ललित साहित्य में नहीं, किन्तु साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में ही प्रकृति की तात्त्विक समीक्षा हो सकती है। पर, साहित्य में कल्पनात्मक पुनर्निर्माण के लिए उपादानभूत रूप में गृहीत प्रकृति का भाव-भूमि से सम्बन्धित रहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि कवि का, इस निर्माण में बुद्धि या विचार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। वस्तुतः प्रकृति के प्रति यह काव्य-गत भाव-दृष्टि अपने मूलों में बुद्धि या दर्शन से अत्यधिक प्रभावित रहती है। तुलसी, सूर व जायसी की प्रकृति-दृष्टि क्रमशः रामानुज, वल्लभ और सूफीमत की प्रकृति-दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित है।

इन तीनों क्षेत्रों को लेकर सामूहिक रूप से कहा जा सकता कि क्षेत्र व लक्ष्यभेद से प्रकृति के प्रति इन सबकी विभिन्न दृष्टि-भंगियाँ हैं। प्रकृति-विषयक पूर्ण सत्य तो इन तीनों दृष्टियों के योग या सामंजस्य में ही प्राप्य हो सकता है। काव्य में यह सत्य भाव-मार्ग से कदाचित् अधिक रंजक व तृप्तिदायी रूप में आकलित व अनुभूत होता है।

हमारी अन्तःसत्ता मूलतः एक है, भले ही हम स्पष्टता के लिए मन, बुद्धि, चित्, अहंकार आदि में उसका विभाजन करें। जिस प्रकृति को दार्शनिक व सामान्य व्यक्ति देखते हैं उसे ही साहित्यकार या कवि देखता है, पर वह उसे एक विशेष दृष्टि से देखता है। यह दृष्टि उसके मनोविज्ञान, संस्कार, अनुभव आदि से निर्मित होती

---

१. डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त : 'सौंदर्य-तत्त्व', पृ० ६५ (डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित का हिन्दी अनुवाद)।

है। यही नहीं कि कवि जन ही प्रकृति को अन्य द्रष्टाओं से भिन्न रूप में देखते हैं, स्वयं कवियों के वर्ग में भी भावना तथा स्वभाव भेद से एक कवि की दृष्टि दूसरे कवि की दृष्टि से भिन्न होती या हो सकती है।[1] अब देखना यह है कि प्रकृति के प्रति कवियों की दृष्टि का क्या स्वरूप है? कवि का प्रकृति या सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध होता है। अतः प्रकृति के केवल उन्हीं रूपों या पक्षों को कवि ग्रहण करता है जो उसकी रागात्मकता को उभारने वाले हों। दार्शनिक प्रकृति के समस्त प्रपंच को एक साथ लेकर सृष्टि के एक तत्त्व रूप में उसकी बौद्धिक मीमांसा व विविध सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं। वे दृश्य व अदृश्य (अन्तःकरण) दोनों प्रकृतियों को लेकर उस पर सामूहिक तत्त्वचिन्ता करते हैं। पर प्रकृति के इस समस्त विस्तार का बौद्धिक विश्लेषण कवि का क्षेत्र नहीं। (हाँ, मानव मात्र की मूल चेतना एक होने के नाते कवि के काव्य में भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उक्त बौद्धिक चेतना आ जावे तो दूसरी बात है।) कवि तो भाव-व्यवसायी है, वह व्यक्त प्रकृति के केवल उन्हीं कोमल-कठोर रूपों को लेता है जो उसकी रागात्मक वृत्तियों को सहज उभार कर उसे सृष्टि के मूल में स्थित सौन्दर्य (जो सत्य व शिव से पूर्णतया पृथक् हो यह आवश्यक नहीं, कदाचित् वांछित भी नहीं) की अक्षय सत्ता का दर्शन करा सकें। कवि का चिर प्रतिष्ठित लक्ष्य 'रस' या आनन्द की अनुभूति करना व कराना है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रकृति (व्यापक रूप में) के असीम विस्तार का जितना भाग आवश्यक है, कवि मुख्यतः उसके केवल उतने ही अंश से सम्बन्धित है। इसी प्रकार कवि अन्तःसत्ता के जितने अंश से वह आनन्द या रस निष्पन्न हो सकता है उसके उतने ही अंश को ग्रहण करता है। दार्शनिक का यह नियत दायित्व नहीं है कि वह हमें सृष्टि में व्याप्त सौन्दर्य व रस का दर्शन कराये। क्योंकि मुख्यतः वह उन वृत्तियों के यन्त्र से कार्य करता ही नहीं जो रस की निष्पादिका होती हैं। इस रूप में विचार करने पर प्रकृति का उतना रूप कट कर साफ सामने आ जाता है जो कवि या साहित्यकार से सम्बन्धित है। कवि अन्तःप्रकृति (भाव, विचार, कल्पना आदि) से भी सम्बन्धित और बाह्य प्रकृति से भी। वह दोनों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया में से भी रस की निष्पत्ति करता है किन्तु बाह्य प्रकृति से प्रस्थान करके ही।

कवि और साहित्यकार भाव और कल्पना की दृष्टि से सृष्टि या प्रकृति के काय व मर्म को समझने की चेष्टा करते हैं। उनका चरम सत्य वस्तु-गत नहीं, भाव-गत होता है अतः वे स्थूल पदार्थवादी दृष्टि से तृप्त नहीं हो सकते। प्रकृति के क्षेत्र में जो कुछ भी है उसका अधिकांश पर्चेन्द्रिय के लिए रंजक और तृप्तिकार है। कवि इस वस्तु-सत्ता के सत्य को झुठला नहीं सकता, प्रत्यक्षानुभव के आधार पर भी वह इस का मूल्य व महत्त्व समझता है। पर कवि यदि यहीं तक सीमित रह जाय तो स्थूल भोगवादी

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय 'भारतीय साहित्य शास्त्र', प्रथम खंड, पृ० ६७३।

ही ठहरा। वह सत्य (सूक्ष्म सत्य) के दूसरे तट पर भी जाता है और आत्मा के बल पर सृष्टि के मूल में अवस्थित रहस्यमयी परम-सत्ता में भी हार्दिक विश्वास रखता है। इस प्रकार वह अपने कार्यक्षेत्र की पद्धति व दायित्व को समझता हुआ इन दोनों विपरीत दृष्टियों में सहज-मधुर रूप में, कल्पना की सहायता से, भावपूर्ण सामंजस्य करता है। वह पदार्थ-सत्ता की उपेक्षा करके चल भी नहीं सकता क्योंकि जिस रस की निष्पत्ति वह करता है या करना चाहता है उसका प्रस्थान-बिन्दु ही 'विभाव' है जिसके अन्तर्गत समस्त प्रकृति समाविष्ट है। अतः वह केवल सूक्ष्म-जीवी (वेदान्त धरातल का अद्वैतवादी दार्शनिक) बनकर—सृष्टि को अध्यास या माया मात्र कह कर—भी नहीं चल सकता। वह आत्मा में विश्वास रखता हुआ, सृष्टि के कण-कण में उसका आभास व सौन्दर्य देखता हुआ, कार्य करता है, और यही कवि या साहित्यकार का स्वतन्त्र व परिपूर्ण प्रकृति-दर्शन है।

कालिदास और भवभूति जैसे भारतीय कवियों ने और वर्ड्सवर्थ तथा ब्राउनिंग जैसे अंग्रेजी कवियों ने प्रकृति में एक आत्मा का दर्शन किया है। उनके काव्यों का अनुशीलन करने पर प्रकृति के प्रति काव्य की मूल दृष्टि का अनुमान हो सकता है। इन्होंने भावनामयी दृष्टि से प्रकृति में चैतन्यशक्ति से अनुप्राणित, एक आनन्दोल्लास-मयी, जीवित-जाग्रत, अखण्ड व शाश्वत सौन्दर्य-सत्ता का साक्षात्कार किया है। उनकी दृष्टि में प्रकृति व मानव हृदय के बीच एक चिरनिगूढ़ हार्दिक सम्बन्ध है। विश्व का कण-कण एक अदृश्य गहरी व हार्दिक सहानुभूति के तार से बँधा हुआ है और एक ही जीवन-शक्ति से धड़क रहा है। वर्ड्सवर्थ लिखता है—

> "A Presence that disturbs me with joy
> Of elevated thoughts; a sense sublime
> Of something far more deeply interfused,
> Whose dwelling is the light of setting suns,
> And the round Ocean and the living air,
> And the blue sky, and in the mind of man;
> A motion and a spirit, that impels
> All thinking things, all objects of all thoughts
> And rolls through all things."
>
> —*'Tintern Abbey'*

कण्व के आश्रम से शकुन्तला की विदाई के समय जो रसपूर्ण प्रसंग कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' (४११ से ४१५) में चित्रित किया गया है वह मानव और प्रकृति में व्याप्त एक ही आत्मा के अस्तित्व का विश्वास बँधाने वाला है और कवियों की प्रकृति के प्रति दृष्टि का सच्चा प्रतिनिधि परिचायक है।

दर्शन के क्षेत्र में प्रकृति-सम्बन्धी बुद्धि-ग्राह्य अन्तिम तथ्य जो भी निकले, मानव हृदय—और विशेषतः कवि हृदय—तो उसे उसी रूप में स्वीकारने में असमर्थ ही रहता।[१] कवि और काव्य के सन्दर्भ में 'प्रकृति का अध्यात्मपक्ष' निरूपित करते हुए आचार्य प० बलदेव उपाध्याय ने प्रकृति के प्रति भारतीय कवियों की प्रतिनिधि दृष्टि को सूत्र-रूप में इस प्रकार रखा है—''अचैतन्य न विद्यते'—जगत् के समग्र पदार्थजात् में चैतन्य का सुभग साक्षात्कार करने वाले भारतीय कवियों की दृष्टि में बाह्य प्रकृति सजीवता की ज्वलन्त मूर्ति है।"[२] प्रकृति को चेतन सत्ता मानने वाली भारतीय कवि की भावनामयी दृष्टि का सम्यक् प्रकाश कालिदास के माध्यम से भलीभाँति देखा जा सकता है।[३] कालिदास अपने आराध्य शिव को जल, अग्नि, होता सूर्य, चन्द्र आकाश, पृथ्वी और वायु —इन आठ प्रत्यक्ष रूपों में देखते हैं।[४] प्रतिनिधि भारतीय कवि की दृष्टि में प्रकृति जड़ नहीं, वह चैतन्य तत्त्व से परिपूर्ण है। अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही कहना उचित होगा कि 'भारतीय साहित्य के महनीय कवियों ने भी प्रकृति के भीतर एक दिव्य चैतन्य का भव्य दर्शन किया है। प्रकृति दार्शनिक दृष्टि से भले ही जड़, आत्मविहीन पदार्थ प्रतीत हो, परन्तु कवियों की अन्तर्दृष्टि प्रकृति के भीतर एक दिव्य चैतन्यलोक का साक्षात्कार करती है।[५]

निष्कर्ष रूप में अब यह कहा जा सकता है—

(१) प्रकृति की परिपूर्ण चेतना कविता में ही सर्वाधिक प्राप्त होती है, क्योंकि काव्य की दृष्टि संश्लिष्ट दृष्टि होती है और उसमें प्रकृति के पदार्थों की स्थूल सत्ता से लेकर उनकी सूक्ष्मतम आत्मसत्ता (अन्तःसत्ता) तक का सम्पूर्ण तत्त्व समाविष्ट रहता है।

(२) प्रभावशाली प्रकृति-काव्य के मूल में कोई न कोई दर्शन अवश्य ही निहित रहता है, कवि इस तथ्य का सजग रूप से जाने या न जाने। हाँ, जान-बूझ

---

१ डॉ० आत्रेय 'प्रकृतिवाद पर्यालोचन' (अभिभाषण), पृष्ठ २६।

२ प० बलदेव उपाध्याय 'भारतीय साहित्य शास्त्र', प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६६३, और पृष्ठ ६७०, ६७६।

३ 'कालिदास ग्रन्थावली' (प० सीताराम चतुर्वेदी—सम्पादित) में प० करुणापति त्रिपाठी का "कालिदास और प्रकृति" नामक लेख।

४ 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', १।१।

५ प० बलदेव उपाध्याय 'भारतीय साहित्य शास्त्र', प्रथम खण्ड, पृ० ६७६।

कर काव्य में किसी दार्शनिक मत या विचारधारा का बलात् समावेश या योजनाबद्ध आरोप काव्य का उत्कर्षाधायक नहीं हो सकता। सहज जीवन-दृष्टि से उद्भूत दर्शन ही प्रकृति की सच्ची व परिपूर्ण चेतना को उभारेगा।

(३) काव्य की मूल प्रकृति (रस), उसकी पद्धति (ध्वनि, वक्रोक्ति), उसका माध्यम (सौन्दर्य) और उसके केन्द्रीय उपादान (अद्भुत, कुतूहल, पूर्ण उदात्त आदि) को ध्यान में रखते हुए दर्शन के उन्हीं वादों का इससे घनिष्ठतम सम्बन्ध दिखाई पड़ता है जो उक्त तत्त्वों के प्रश्रय व पोषण का सर्वाधिक व सहज आश्वासन देते हैं। तर्क के बल पर ही बढ़ने वाले दर्शनों ने काव्य को बहुत कम प्रभावित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रामानुज, दर्शन, वल्लभ दर्शन (अद्वैत शैवागम) व सूफी दर्शन इस दृष्टि से काव्य के लिए सर्वाधिक अनुकूल व उपकारी जान पड़ते हैं। प्रकृति को ब्रह्म के शरीर के रूप में ग्रहण करने वाला दर्शन सृष्टि के सौन्दर्य को अनुभव करने की असीम सम्भावना का द्वार खोलने वाला है, और सौन्दर्य की सृष्टि कवि का विशेष उत्तरदायित्व है। शांकर वेदान्त भी कम महत्त्व का नहीं दिखाई पड़ता। यह ठीक है कि वह प्रकृति को असत्, मायाजन्य व अविद्या का परिणाम कहता है, किन्तु उसी दर्शन में साधक की आत्मा को मुक्तावस्था की एक ऐसी उच्च भूमिका भी उपस्थित होती है, जहाँ समस्त प्रकृति विराट् आनन्द से परिपूर्ण हो उठती है, वह एक सौन्दर्यपूर्ण पारदर्शी आवरण से परिवेष्टित होकर रहस्य को मधुर बनाती हुई हृदय की ग्रन्थियों का भेदन कर देती है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिटने पर यह भावना भी समूल नष्ट हो जाती है कि प्रकृति असत् है। डायसन ने कहा है कि ब्रह्म आनन्द के समान नहीं, स्वयं आनन्द ही है।[1] स्वभावतः उक्त भूमिका पर प्रकृति आनन्द की ही अभिव्यक्ति हो जाती है। यही शांकर वेदान्त दर्शन की काव्योपयोगिता दिखाई पड़ती है। आश्चर्य नहीं कि भारतीय सहृदय संस्कारवश अद्वैत की भूमिका पर ही काव्य का सच्चा आस्वाद ग्रहण करने का सामान्यतः अभ्यस्त है।

(४) किन्तु साथ ही सम्भवतः यह मानना भी न्यायोचित जान पड़ेगा कि आत्मवाद में विश्वास न करने वाले दर्शन को भी हम काव्य की चरम सिद्धि की सक्षमता के श्रेय से वंचित नहीं कर सकते। आत्मतत्त्व में विश्वास परम आवश्यक हो ही क्यों? कीट्स की ये पंक्तियाँ भी काव्य की धर्मदर्शननिरपेक्ष शुद्ध भूमि का संकेत करती है—

1. Paul Deussen : '*The Philosophy of the Upanishads*', p. 141.

"A primrose by a river's brim,
A yellow primrose was to him,
And it was nothing more"

यद्यपि अभिव्यंजनावादी क्रोचे की बहुत सी बातें गले नहीं उतरतीं पर काव्येतर ज्ञान क्षेत्रों से सर्वथा निरपेक्ष कला का शुद्ध रूप जो उसने उभारा है वह प्रस्तुत सन्दर्भ में कम महत्त्वपूर्ण नहीं दिखाई पड़ता।

यथार्थ-आदर्शवाद-विमर्श

कैलासचन्द्र मिश्र

विश्व की अभिव्यक्ति के मूल में चित् की अनलं-वृत्ति कारण-स्वरूप में विराजमान है। जो स्वयं 'अलम्' है, स्वयंभू और भूमा होने से जो दिशा, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न होकर भी, परम सुख अर्थात् परमनिवृत्ति या रस स्वरूप होकर भी, जब अनादि अदृष्टवश से अपने में 'अनलम्' और 'अरमण' का सा भाव अनुभव करने लगता है तभी वह चित्, वह परमतत्त्व, एक से अनेक द्रष्टा से दृश्य और चित् और अविकारी अवस्था से अचित् और विकारी सा बन जाता है। पुनः इस दृश्य जगत् के आवरण का नाना पद्धतियों से भेदन करके वह चित्तत्त्व आत्मोपलब्धि करता है और अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अनलम्-वृत्ति के तिरोधान से अलम्-स्वरूप में प्रतिष्ठित 'चित्' ही शिव है। वेदान्त दर्शन में माया शक्ति से चित् की इसी संकल्पपूर्वक अर्थात् ईक्षणपूर्वक अभिव्यक्ति को सृष्टि की संज्ञा दी गई। शैव-दर्शन में विमर्शशक्ति से इस अभिव्यक्ति को 'लीला' कह कर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की प्रक्रिया की व्याख्या की गई है। उपनिषद् में यही संकेत 'आत्मरतिः'; 'आत्मकामः' आदि शब्दों द्वारा किया गया है। चित्-शक्ति का (दृक् का) यह आविर्भाव और पुनः तिरोभाव का अनादि और अनन्त क्रम ही विशुद्ध चिति का तटस्थ लक्षण है। क्योंकि अपने विशुद्ध स्वरूप में चिति का न कोई लक्षण है और न वह किसी लक्षण का लक्ष्य। वाक्-शक्ति के आविर्भाव से पूर्व विराजमान 'चिति' वाक् शक्ति का विषय नहीं हो सकती है। इसलिए उसे अवाङ्मनसगोचर कह कर उपनिषदों में वर्णन किया गया है।

यह 'चिति' ही सत् है और यह ही वह परम-अर्थ है जिसकी ओर विश्व के अन्य सभी अर्थ (प्रातीतिक 'रूप') और सभी नाम (शब्द या वाङ्मय) शाश्वतकाल से संकेत करते आ रहे हैं। 'अर्थ' शब्द का मुख्यार्थ तो यही सत् यही चित् या यही आनन्द है प्रतीयमान् जगत् के पत्र, पुष्पादि अखिल, पदशक्ति से बोध्य, अर्थ (पद-अर्थ) इसके तो अभिव्यञ्जना के उपकरणमात्र हैं। श्रुति ने कितने थोड़े से पदों में यही बात कही है कि 'देवं वहन्ति केतवः।' अर्थात् ये सब विश्व के अखिल पदार्थ 'केतु' हैं, ...

है जो उस देव की ओर सवत्र दोतमान उस मूल तत्त्व की ओर (जिसकी सत्ता का ऋण लेकर ये व्यावहारिक पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं सत्तावान् हो रहे हैं) हम बढ़ने कर रहे हैं।

काव्य शास्त्र म भारतीय मनीषियो ने शब्द और अथ दोनो म इसीलिए व्यजना शक्ति को स्वीकार किया है। वस्तु, अलकार, और रस रूप तीन व्यग्यो के निरूपण का तात्पय भी केवल शब्द अथ उभयगत व्यञ्जनाशक्ति की दृढ़ता या अद्भुत सामथ्य के प्रतिपादन म ही है। सुधासागरकार श्री भीमसेन दीक्षित के ध्वनि विषयक निम्नलिखित शब्द हम यहाँ विद्वज्जनो के समक्ष उपस्थित करते हैं—

अविवक्षित सक्षेप विवक्षित वाच्य विवक्षितान्यपर वाच्यावेव द्वौ भेदौ। अधिकतम् सक्षपे तेनैकमेव सर्वोपादानबीजम् स्फोटात्मक व्यग्यम्। तदेव च 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्यम् सच्चिदानन्दरूप, निर्गुणसगुणविलक्षण, वस्तु इति बोध्यम्। तदेतत्सर्वं श्री वागदेवतावतारैः (मम्मटै) सकलनध्वनकलानाम्नो विराड्रूप वेदमिति व्यञ्जना द्वारा ध्वनितमिति सद्भिन विस्मर्तव्यम्।"

इस प्रकार समष्टि व्यष्टिरूप से, व्यजना प्रतिपाद्य काव्य का परम व्यग्यार्थ तत्त्व उपनिषद् प्रतिपाद्य सच्चिदानन्दात्मक-ब्रह्म ही है। पारमार्थिक दृष्टि से यही काव्य का यथाथ' है। यही रस' है जिससे तन्मयीभवन होने पर कवि (स्रष्टा) और सहृदय पाठक पर निवृत्ति का अनुभव किया करता है। इसकी अभिव्यक्ति की प्रेरणा, कवि को अपने हृदय म, सत्वोद्रेक स ही होती है। इस तत्त्व का, क्योकि कवि को अपनी कृति म सतत स्पश मिलता रहता है इसलिए उसे हम यथाथवादी' कह सकते हैं। जिस प्रकार विविध नाम और रूप म व्यक्त जगत् के भीतर सतत साक्षात् और अपरोक्ष ब्रह्म तत्त्व का दर्शन होता रहता है उसी प्रकार सच्चे सहृदय सत्कवि के सम्पूर्ण कवि-कम म (काव्य म) इस आत्मस्वरूप का, कवि की चिति का साक्षात् और अपरोक्ष दर्शन सहृदय पाठको को भी होना है। कवि की यह अनुभूति इसीलिए अखण्ड और सत्य होती है। ब्रह्मास्वाद का सहोदर कह कर भी तृप्ति नहीं होती। यही तो भग्नावरण चिति है जो विश्व के सभी माध्यमो से स्वय भी प्रकाशित हो रही है और अपने विभिन्न माध्यमों को अपने ऊपर आरोपित आवरणो का भी प्रकाशन कर रही है। यथाथ' का यही मुख्याथ है। जिस प्रकार शब्द का मुख्याथ है स्फोटरूप नित्य ब्रह्म उसी प्रकार जगत् के सभी प्रतीयमान अनेक अर्थों का मुख्याथ है परम अथ, जो कवि का अपना ही स्वरूपानन्द है जिसकी अप्राप्ति के भ्रम स कवि म 'अनलम्' वृत्ति का उदय होता है जिससे वह अपने चित्त म एक ऐसी अस्वस्थता का अनुभव करता है कि जिसके कारण जब तक वह कवि-कम नहीं कर लेता तब तक उसे परनिवृत्ति या आनन्द की प्राप्ति ही नहीं होती। उसके अश्रान्त

हृदय में विश्रान्ति हो ही नहीं सकती, उसके कृतित्व का प्रवाह या उद्दाम वेग तब तक शान्त ही नहीं होता और कृति और संकल्प के संकट से उसकी तब तक मुक्ति ही नहीं होती है।

जिस प्रकार परम ब्रह्म-तत्त्व 'एकाकी न रमते' की बेचैनी से तब तक मुक्त होकर लीला का आनन्द नहीं प्राप्त करता जब तक कि वह स्वयं, 'स्वत्त्व' अर्थात् नामरूपात्मक विराट् का रूप नहीं धारण कर लेता, ठीक इसी प्रकार यह व्यष्टि स्रष्टा कवि भी तब तक स्वरूप विश्रान्ति का, अपनी कृतार्थता का, अपनी अलमृवृत्ति का आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता जब तक वह अपने को नाम में (शब्द संघटना के रूप में) और रूप में अर्थात् अर्थरूप में अभिव्यक्ति नहीं कर लेता। इस दृष्टि से देखने पर, काव्य का अर्थात् कवि-कर्म का केवल एक ही पक्ष हो सकता है और वह है परम-अर्थ की, अपने स्वरूपानन्द की, उस रमणीय अर्थ की शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति। अतः काव्य का मुख्यार्थ दृष्टि से एक ही पक्ष सम्भव है और वह है यथार्थवाद। क्योंकि परमार्थ से परे कुछ भी प्राप्य, शेष नहीं रह जाता। अतः आदर्शवाद के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं। यदि आदर्श का अर्थ अप्राप्त की प्राप्ति है, अपूर्ण से पूर्णत्व की ओर गति है, अरमणीय से रमणीय की ओर या न्यून से अधिक की ओर तारतम्यसापेक्ष प्रवृत्ति है तो परमार्थ दृष्टि से ऐसे आदर्श प्राप्ति का प्रश्न यहाँ उठ ही नहीं सकता। पूर्ण से आगे प्राप्य नहीं।

परन्तु गौण दृष्टि से, आदर्श और यथार्थ का विचार करने पर काव्य के विषय में प्रचलित आदर्शवाद और यथार्थवाद पर कुछ विचार यहाँ अप्रासंगिक न होगा। 'यथार्थ' का लौकिक अर्थ है प्रमाणगम्य, सदनुगत वस्तु। ऐसी वस्तु की नित्य सत्ता न होते हुए भी प्रातीतिक सत्ता होना आवश्यक है। परन्तु जिसकी सत्ता प्रतीयमान भी नहीं होती, जिसमें सदनुवृत्ति की गुञ्जाइश ही नहीं है वह वस्तु प्रमाणगम्य न होने में 'अर्थ' ही नहीं कही जा सकती—'यथार्थ' का तो प्रश्न ही क्या है? सत्ता-शून्य ऐसे पदार्थ से आदर्श की कल्पना भी असम्भव है। शशश्रृङ्ग और वन्ध्यापुत्र जैसे तुच्छ पदार्थों से किसी आदर्श शृङ्ग की कल्पना अथवा आदर्श पुत्र की कल्पना विकल्प-मात्र है। वस्तु शून्य के लिए शब्द का प्रयोग मात्र है। अतः जगत् में यथार्थ का अर्थ तुच्छ वस्तु से भिन्न वस्तु का ग्रहण करना उचित होगा। जगत् की इस प्रकार की यथार्थ वस्तुएँ दो तरह की हो सकती हैं। एक जो बाह्येन्द्रिय-गोचर होने से प्रमाणगम्य हैं और दूसरी वे वस्तुएँ जो अन्तःकरण में संस्कारजनक होने से वासना रूप में विराजमान हैं। मानसिक जगत् में एक ओर प्रमाण-गम्य, अनुभूति द्वारा प्रतीत होने वाले शोक रति आदि पदार्थ हैं और दूसरी ओर विकल्पजन्य, प्रतीति रहित काल्पनिक वस्तुएँ रहती हैं जिनकी तुच्छता और असारता का अन्तःकरण को ही स्वयं अनुभव होता रहता है। काव्य में इस प्रकार दोनों प्रकार की यथार्थ वस्तुओं का ही वर्णन

जा सकता है। विरहन-जन्य वस्तुएँ तुच्छत्व और असारत्व के निदर्शन के लिए काम में कभी-कभी प्रयुक्त हो सकती हैं परन्तु उन्हें हम काव्य के यथार्थ कोटि में, वस्तु कोटि में नहीं रख सकते। क्योंकि न तो वे परमार्थ की अभिव्यक्ति हैं और न सदनुभूति से युक्त।

आदर्श से हमारा तात्पर्य, जगत् की यथार्थ वस्तुओं में अपर्याप्ति अनुभव द्वारा अधिकतर और अधिकतम पर्याप्ति या अलबुद्धि की भावना उत्पन्न कराने वाली वस्तुओं से होता है। अतः आदर्शवाद का अर्थ होगा वर्तमान में प्रतीत होने वाली यथार्थ वस्तुओं में अपर्याप्तत्व का दर्शन और उससे अधिक पर्याप्ति या अलबुद्धि को देने वाली वस्तुओं की भावना उत्पन्न कराना।

इस दृष्टि से कुछ सत्कवि वर्तमान वस्तुओं, परिस्थितियों और घटनाक्रमों में ही अपनी विशाल दृष्टि द्वारा तथा हृदय के सत्वोत्कर्ष के कारण तत्क्षण ही तन्मयीभाव के द्वारा परमार्थ की ऐसी परिपूर्णता का अनुभव करने लगते हैं कि उनकी बुद्धि विकल्पों की सृष्टि न करके स्वरूप में मग्न हो जाती है। वस्तु के 'चित्' से उनकी वृत्तिगत चिति का ऐसा तादात्म्य हो जाता है कि वे तत्क्षण रसास्वादन में मग्न हो जाते हैं। स्वरूप में इसी विश्रान्ति का नाम 'मुक्ति' है। चाहे काव्य यथार्थपरक हो और चाहे आदर्शपरक, स्वरूप विश्रान्ति, तन्मयीभवन परिच्छिन्नता का निषेध करके स्वरूपानन्द की, वाङ्मय द्वारा, प्राप्ति ही काव्य का परम प्रयोजन है।

परन्तु कुछ कवि ऐसे होते हैं कि अपने अन्तःकरण में सत्वोत्कर्ष के शैथिल्य के कारण वे तत्क्षण जगत् की वस्तुओं के आलम्बन से स्वरूप विश्रान्ति प्राप्त नहीं कर पाते। रजोगुण के प्राबल्य से उनका चित्तसत्त्व, अपर्याप्ति और अनलभाव का अनुभव करके थोड़ी दूर तक चित्तसत्त्व को घसीटता ले जाता है और इस प्रकार वहन क्रिया से क्षीण-शक्ति होकर यह रजोगुण, विक्षेप उत्पन्न करके अर्थात् मानसिक जगत् में सम्भाव्यमान तथा अधिकतर पूर्ण वस्तु का सृजन करके अपने प्राबल्य को खो देता है और स्वयं सत्व में डूब जाता है। तब कवि का चित्त-सत्व इस सम्भाव्यमान भावी यथार्थ का अनुभव करा कर कवि को स्वरूप विश्रान्ति 'मुक्ति' या स्वरूपानन्द में मग्न कर देता है। ऐसे कवियों की कृतियों को हम गत्यात्मक काव्य कह सकते हैं। श्री रामचन्द्र शुक्ल ऐसे काव्यों को लोकोपयोग की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ समझते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में जो कवि वस्तु-जगत् की स्थिति में ही आलम्बन में चमत्कृति और अलौकिकत्व का अनुभव करके लावण्यलोक में आत्मविभोर हो कर स्वरूपविश्रान्ति रसदशा, या अखण्ड अनुभूति में मग्न हो जाते हैं, उपाधियों और विकल्प सर्जन से मुक्त रह कर मुक्ति' प्राप्त करते हैं वे ही रससिद्ध कवीश्वर हैं। उनका यथार्थ, परमयथार्थ की अभिव्यञ्जना करता है और व्यंग्यशून्य हो कर भी सत्त्वोत्कर्षजन्य उनका यह काव्य

इतना समर्थ, इतना प्रबल, इतना आलोकमण्डित होता है कि उनकी यह वाणी न केवल कवि को ही 'सुकृतम वर्त्तेति' का अनुभव करा कर कृतार्थ कर देती है अपितु सहृदय पाठकों को भी अखिल उपाधि से मुक्त करा के सद्यः ही अर्थात् पठन समकाल में ही परनिवृत्ति में, मग्न कर देती है।

यह भुक्ति ही सभी कलाओं का परम प्रयोजन है और यही सत्कवियों की काव्य-कला का भी मुख्य प्रयोजन है। सत्त्वोत्कर्ष-प्रधान, हृदयवान्, सत्कवि जिस भुक्ति को तत्क्षण प्राप्त करते हैं उसी रस दशा को प्राप्त करने के लिए रजःप्रभाव के पर्यवसान के अनन्तर ही सत्त्वोत्कर्ष होने पर, 'भुक्ति' प्राप्त करने वाले कवियों की इस पुनरावृत्ति-लाभ की सविलम्ब प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसका काव्य मानो उपदेश-संघटन में तत्पर होकर प्रवृत्त होता है, सहज अनर्थ-वृत्ति के निवारण द्वारा स्वरूप-उपलब्धि के लिए नहीं। जो समालोचक प्रवर काव्य का केवल एक ही पक्ष सुन्दरता को स्वीकार करते हैं वही अन्यत्र शक्ति और शील का सौन्दर्य के साथ समावेश करके काव्य की परिभाषा का मोघ संकोच करते हैं। रमणीयता या चमत्कार के अतिरिक्त काव्य का अन्य कोई पक्ष नहीं। रस-दशा में विलम्ब उपस्थित करने वाली वस्तुओं को सहृदय और मार्मिक विद्वानों ने भी दोष ही माना है। इस दृष्टि से भी प्रथम प्रकार के काव्यों से ये दूसरे प्रकार के विलम्बपूर्वक रस दशा में पहुँचाने वाले प्रयत्न-पक्षी काव्य, हीन ही माने जायेंगे। जिस प्रकार श्रुति में आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित कराने वाले, कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड, परम्परा से उस लक्ष्य तक पहुँचाने के कारण, सद्यः स्वरूप ज्ञान प्रदान करने वाले, महाकाव्य प्रदाता ज्ञान काण्ड से हीन हैं, ठीक उसी प्रकार उपदेश और लोककल्याण का संकेत करके, तब रस-दशा में पहुँचाने वाले काव्यों को भी समझना चाहिए। यथा तत्त्व ज्ञान सिद्ध-वस्तु की अनुभूति से कृतार्थता देता है, उसके पश्चात् और कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। विधिनिषेध के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं, ठीक इसी प्रकार जिस रस-सिद्ध महाकवि की महावाणी जगत् के तथाकथित यथार्थ में अपने कौशल से, अखिल उपाधियों का विध्वंस करके, उस सतत प्रत्यक्ष और परमरमणीय, विराट् आनन्द का—परमयथार्थ का—आस्वादन करा कर, स्वरूप-विश्रान्ति में 'रसो वै सः' के उस रस-स्वरूप से तादात्म्य करा देती, सच्चा ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित करा के, व्यक्ति की देश, काल, वस्तु की परिच्छिन्नता विलीन करके अखण्ड-आस्वाद में ले जाती है उसे सर्वश्रेष्ठ क्यों न कहा जाय ? उसके रस-सिद्ध कवीश्वर के पद को 'शक्ति-काव्य' कैसे छीन सकते हैं ?

इस प्रकार जगत् में महायथार्थ की लीला में दो प्रकार के हृदयों से सम्पन्न दो प्रकार के सत्कवियों का उदय जनता के पुण्य प्रभाव से हुआ करता है जिनकी

अमर वाणी के प्रसाद से अपने अधिकार के अनुसार सहृदय श्रोता प्रभावित होकर धन्य होते रहते हैं।

काव्य के अवर काव्य के समान कवियों की भी एक अवर-श्रेणी है। ये चित्र-रवि कवि-बन्धु या कलाबाज सत्कवियों की शैली, भंगिमा आदि का अनुकरण अपने अभ्यास पाटव से इस प्रकार करते रहते हैं और अपनी कृतियों का ढेर लगाते रहते हैं जिनमें सर्वसाधारण को काव्यरसाभास का क्षणिक भ्रम होता है और उनका मनोविनोद होता रहता है। वक्त काटने के लिए उनकी कृतियाँ भले ही उपयोगी हों परन्तु उनसे परनिर्वृत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार ब्राह्मण और क्षात्र जाति में ब्रह्मबन्धु और क्षात्रबन्धु जैसे पदों की प्रवृत्ति-निमित्तता है उसी प्रकार सच्चे कलाकारों और सत्कवियों की परम्परा में इन कलाबाजों और कवि बन्धुओं को समझना चाहिए। ऐसे कवियों का तथा इनके काव्यों का विवेचन हमारे इस प्रसंग से बाहर है। ऐसे ही कवि-बन्धु अपने काव्यों में यथार्थ और आदर्श का समन्वय करने का प्रयत्न किया करते हैं। सत्त्व की कमी के कारण उनमें न तो जगत् की किसी वस्तु' का आलम्बन लेकर सद्य: स्वरूप विश्रान्ति की शक्ति होती है और न सत्त्व की इतनी प्रचुरता कि कुछ क्षण बाद रजस् की क्षीणता से ही वे आत्मानन्द में डूब सकें। ऐसे हृदय काव्य के गौण प्रयोजन यश अर्थ, व्यवहारज्ञान, अशिवनाश, तथा उपदेशदान के लिए ही अपनी वाणी का प्रयोग किया करते हैं। इनकी पर्याप्त संख्या जगत् में देखी जाती है। सच्चे कवि तो शताब्दियों में कहीं एक बार आते हैं। इस प्रकार यथार्थवाद ही सत्त्व-सम्पत्ति के तारतम्य से सत्कवियों के काव्यों में देखा जाता है। सत्त्वसम्पत्ति की परिमिति अपरिमिति के तारतम्य के कारण यह भेद हृदय-मूलक है। अतः इस दृष्टि से सच्चे कवियों में इनके समन्वय का प्रश्न नहीं उठता। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद', आदर्श और यथार्थ का समन्वय' आदि प्रचलित पारिभाषिक शब्द अतः अविचारित रमणीय पदावली मात्र हैं। क्योंकि अन्तःवृत्ति' और अनल वृत्ति' परस्पर विरोधी दो वृत्तियाँ हैं। तम प्रकाश के समान ही इनका समन्वय नहीं हो सकता। सच्चे कवि जन्म से ही अपनी-अपनी सत्त्व-सम्पत्ति लेकर आते हैं, इसी के कारण उनके व्यक्तित्व का भेद बना रहता है। उनके अन्तःकरणों का निर्माण, उन पर अंकित संस्कार समूह उसकी तदाकार परिणति की क्षमता परस्पर इतनी भिन्न होती है कि उनका यह मौलिक भेद दूर नहीं हो सकता। हाँ, जिनका कवि-कर्म नैसर्गिक हृदय प्रेरणा से आविर्भूत न होकर बुद्धि वृत्तियों का विश्लेषण और संश्लेषण शक्ति का परिणाम मात्र होता है, भाव-क्षेत्र में उनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। भाव अपने में ही एक परिपूर्ण, अखण्ड अनुभूति है। विश्लेषण और संश्लेषण पद्धति पर भावों या विचार करना भावों की अखण्डता को क्षति पहुंचा कर उनके स्वरूप का नाश कर देना है। जो लोग समन्वय' का अर्थ परस्पर नितान्त विरोधी वस्तुओं को मिला देना ही समझते हैं उनसे हमारा इतना ही नम्र निवेदन है कि

'समन्वय' का अर्थ मिश्रण नहीं है। आपाततः प्रतीयमान भेदों का निराकरण करके मूलगत तत्त्व की सत्यता प्रतिपादित करना ही समन्वय पद का अर्थ है। ऐसा समन्वय प्रतिपादित करने से केवल महायथार्थ, परमतत्त्व, चिति शक्ति की सत्ता रह जायगी और व्यावहारिक सम्पूर्ण प्रपंच को त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा करने से कवि, संस्कार आदि का विवेचन ही व्यर्थ हो जायगा। अतः व्यावहारिक वस्तुओं के विवेचन में ऐसा करना उनका मूलक्षय कर देना ही होगा। प्रश्न हो सकता है कि कवि को हम कभी सिद्ध-काव्य तथा कभी गत्यात्मक काव्य के रचयिता के रूप में क्यों पाते हैं? इसका उत्तर यही है कि प्राधान्य-पक्ष की दृष्टि से ही उसका यह भेद किया गया है, अन्यथा प्रपंच के अन्तर्गत होने के क रण कवि और उसके काव्य भी सदसद्विलक्षण ही होंगे और तात्त्विक समन्वय करने पर इनकी व्यावहारिक सत्ता की असारता ही सामने आयेगी।

इस विवेचन का सारांश यही है कि काव्य में एक ही पक्ष, 'यथार्थवाद' हो सकता है। विश्व के सभी प्रतीयमान, प्रमाणसिद्ध अर्थ, एक ही परमार्थ की, सत्‌चित्-आनन्द की, जो कि सहृदय का स्वरूप ही है, व्यंजना करते हैं। सत्वोत्कर्ष के तारतम्य मे संत-कवियों के दो ही भेद हैं। एक वे जो विश्व की किसी भी वस्तु का सौन्दर्यानुभव करके आलम्बनमात्र से सद्यः परनिवृत्ति में मग्न होने की क्षमता रखने वाले हृदय वाले सिद्ध काव्यों के स्रष्टा रस-सिद्ध कवीश्वर और दूसरे वे जिनकी, (रजोभावजन्य विलम्ब के कारण) हृदय परिणति में बाधानिवृत्तिपूर्वक परनिवृत्ति का प्रकाशन होता है। इनके काव्य भी यथार्थ का ही चित्रण करते हैं। भेद इतना ही है कि एक 'यथार्थ' वर्तमान मे उपस्थित रह कर ही स्वरूपानन्द की अभिव्यंजना करता है और दूसरा, वर्तमान के आलम्बन में; रजोभाव के कारण अनलंबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है और भावी में होने वाले किन्तु संभाव्यमान यथार्थ का मानसिक संस्करण उपस्थित करके तब स्वरूपानन्द में मग्न होता है। दोनों ही इस प्रकार वस्तु जगत् से आलम्बन लेकर उसे महायथार्थ की अभिव्यंजना का साधन बनाते हैं। कवि-हृदय में किस प्रकार और क्यों जगत् की कोई साधारण वस्तु, आलम्बन बन कर इस अलौकिक अभिव्यंजना का साधन बन जाती है, क्योंकि वही आलम्बन वस्तु, कालान्तर में, परिस्थिति विशेष में फिर दूसरा ही रूप धारण कर लेती है, इन्द्रिय-गोचर होने से लेकर स्वरूपानन्द की अभिव्यक्ति पर्यन्त क्या-क्या प्रक्रियाएँ होती हैं इत्यादि विषयों का निरूपण किसी अन्य लेख का विषय हो सकता है। इस प्रसंग में विस्तारभय से अत्यावश्यक न समझ कर हम यहीं लेखनी को विश्राम दे रहे हैं।

भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन मे साहित्य-तत्त्व

डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र

सौन्दय तत्त्व का विश्लेषण करते हुए 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'[1] ने उसके तीन रूपों की उद्भावना की है—(१) संवेदना का सौन्दर्य (Sensuous Beauty), (२) रूपगत सौन्दय (Beauty of Form), (३) अभिव्यञ्जनागत सौन्दय (Beauty of Expression)। दूसरे सौन्दय शास्त्रियो ने इनको ही भोग, रूप एव अभिव्यक्ति के सौन्दय के नाम से अभिहित किया है।[2] यह वस्तुगत सौन्दर्य का विश्लेषण एव विभाजन है। इसके साथ ही अनुभूति तथा ज्ञान के साधनो के आधार पर भी 'सौन्दय' का विभाजन हुआ है। अनुभूति का एक अश है 'सवेदना'। सवेदनाएँ इन्द्रियो द्वारा गृहीत होती हैं। इनका विषय पदाथ-जगत् है। रूप, रग, स्पर्श, ध्वनि आदि सवित्त हैं तथा इनके ज्ञान के कारण इन्द्रियाँ हैं। इन सवेदनाओ मे भी अपना एक आनन्द है। इस प्रकार आनन्द के हेतु होने के कारण ही ये रूप, रग, रेखा, शब्द आदि कला के उपादान-तत्त्व माने जाते हैं। इससे एक सिद्धान्त और प्रतिपादित हो जाता है कि सौन्दर्यानुभूति से जनित आनन्द म इन्द्रियबोध के आनन्द का भी यत्किचित् सहयोग रहता ही है। श्री आर० जी० कालिंगवुड इन्द्रियबोध के आनन्द को कला की ओर आकृष्ट होने का एक कारण मानते हैं। वे रूप और रग के इन्द्रियजन्य आनन्द की कला मे उपस्थिति स्वीकार करते हुए भी इसके आकषण को कला की वास्तविक अनुभूति मे बाधक ही मानते हैं।[3] इस प्रकार सवेदनाओ अथवा कला की उपादानभूत सामग्री का भी अपना एक सौन्दय है। कलाकार इन उपादानो से एक रूप की सृष्टि करता है, यही कला का बाह्य शरीर है। इस रूपबोध का कारण प्रत्यक्षीकरण (Perception) माना गया है। कला के रूप म भी एक विशिष्ट सौन्दर्य है। इस सवित्ति एव प्रत्यक्षीकरण अथवा पदार्थ एव रूप के सौन्दर्य के अतिरिक्त सौन्दर्य का एक और भी प्रकार है। उसे प्रतीयमान अर्थ अथवा ध्वनि का सौन्दर्य कहते हैं। कलाकृति अथवा नैसर्गिक सुन्दर वस्तु के सौन्दय का मूल हेतु

---

1 *Encyclopaedia Britanica*, XI Edition, Article on Aesthetics
2 सौन्दर्य-शास्त्र डॉ० हरद्वारीलाल।
3. R G Collingwood *The Principles of Art*, p 142.

यह अभिव्यंजना ही है; यही उसकी आत्मा है। सौन्दर्य के पूर्व निर्दिष्ट दोनों प्रकार भी इसी की पुष्टि के लिये हैं। उन दोनों की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं, वे इसी की सत्ता से सत्तावान हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर आगे विचार किया जायेगा। यह अभिव्यंजना (Expression) की सौन्दर्यानुभूति प्रतिभान कल्पना या भावन (Imagination) का विषय है। सौन्दर्यानुभूति का प्रधान कारण प्रतिभान अथवा भावन (Contemplation) ही है, इसलिए कला की संवेदनाएँ एवं प्रत्यक्ष दोनों ही लौकिक अनुभूति की संवित्ति तथा प्रत्यक्ष से ईषत् भिन्न है।[1] काव्य के उपादान शब्द और अर्थ दोनों ही पारमार्थिक रूप में लौकिक शब्द और अर्थ से भिन्न होते हैं।[2] सौन्दर्य एक अखण्ड वस्तु है, उसकी अनुभूति ही चरम पराकाष्ठा पर पहुँच कर रसनिष्पत्ति कहलाती है। यह केवल भावन (Contemplation) का ही विषय है। यह चर्वणा-रूप है। संवेदना एवं प्रत्यक्ष अथवा भोग एवं रूप भी रस-अवस्था में चर्वणा के विषय बन जाते है। उस अवस्था में संवेदना, प्रत्यक्षीकरण एवं भावन अथवा भोग रूप एवं ध्वनि का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है तथा तीनों एक अखण्ड चर्वणारूप अनुभूति में परिणत हो जाते हैं। सौन्दर्यानुभूति का प्रकृत एवं पारमार्थिक रूप तो यही है। केवल शास्त्रीय ज्ञान के लिए उसका उपर्युक्त तीन रूपों में विभाजन उपादेय एवं आवश्यक है। चर्वणा सौन्दर्यानुभूति की चरम पराकाष्ठा है, जिसे पश्चिम का आचार्य अभिव्यंजना का सौन्दर्य मानता है तथा जो भावन का विषय है। उससे कुछ निम्न स्तर की सौन्दर्यानुभूति भी हैं। इनमें कभी भोग (Matter) तथा कभी रूप (Form) का प्राधान्य रहता है; अभिव्यंजना तो सर्वत्र ही रहती है। सौन्दर्य का यह वस्तुगत विभाजन वास्तव में सौन्दर्यानुभूति के स्तरों की कल्पना अधिक है।

संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण के पदार्थ-जगत् पर ही आधारित पर उससे भिन्न सत्ता

---

1. The music to which we listen is not the heard sound, but that sound as amended in various ways by the listener's imagination. p. 144.

   ....Forms being impressions of sense they thus become ideas of imagination. (*Ibid*)

२. वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
   तथापि काव्य मार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः ॥

   × × ×

   अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः
   (कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम् १।८-९)

   ध्वन्यालोक की ७वीं ८वीं कारिकायें भी द्रष्टव्य हैं।

कला एक जगत् और है। यह गुणों या सारतत्वों (Essences) द्वारा निर्मित है। आज से टायन न पदार्थ जगत् म भिन्न सत्तावाला एक जगत् और माना है तथा उसको एसेंस का जगत कहा है। इन गुणों के समूह एवं उनसे व्यजित आध्यात्मिक तत्त्व (न्याय मानवता आदि) तथा तज्जनित आनन्द का जगत् ही वस्तुत सौन्दय का और इसीलिए कला एव काव्य का भी प्रकृत क्षेत्र है। काव्य और कला के बाह्य उपादान पदार्थ जगत् अथवा उनकी सवेदनाएँ हैं तथा उनके रूप का सघटन समता सन्तुलन, स्निग्धता माहित्य आदि गुणों के द्वारा होता है। उन कलाओं की आत्मा तो वह आध्यात्मिक तत्त्व तथा तज्जनित आनन्द ही है। भारतीय चिन्तकों ने नादब्रह्म, वस्तुब्रह्म एव रसब्रह्म के रूप म इसी आध्यात्मिक तत्त्व का साक्षात्कार किया है। उन्होंने सवेदना-रूप उपादान समानुपात सन्तुलन विन्यास आदि गुणों द्वारा निर्मित रूप तथा आध्यात्मिक तत्त्व की अभिव्यजना—काव्य के इन तीनों ही तत्त्वों पर विचार किया है। काव्य एव अन्य सभी कलाओं के लिए उन्होंने इन तीनों की उपयोगिता ही नहीं अपितु अनिवार्यता भी मानी है। कुछ आचार्य काव्य गुणों अथवा अलकारों को अधिक महत्त्व देते हैं तथा कुछ रस ध्वनि और रमणीयता को। इस प्रकार देहवादी और आत्मवादी आचार्यों का भेद केवल किसी एक तत्त्व को प्रधान मानने के कारण ही हुआ है।

सौन्दय यद्यपि अखण्ड वस्तु है, पर फिर भी शास्त्रीय ज्ञान के लिए सामग्री रूप एव ध्वनि—इन तीन तत्त्वों म इसका विभाजन उपादेय है यह हम पहले कह चुके हैं। सौन्दर्यानुभूति की अखण्ड स्थिति म इन तीनों का ही सहयोग है। सहृदय की अनुभूति तथा वस्तु की सौन्दय-व्यजना की क्षमता के अनुकूल इन तीन विभिन्न स्तरों पर भी यह सौन्दर्यानुभूति जागती है। कभी सहृदय सामग्री के सौन्दर्य पर मुग्ध होता है कभी रूप के तथा कभी ध्वनि के सौन्दय पर। पर अथ या ध्वनि का सूक्ष्मतम अश इन तीनों ही अवस्थाओं म विद्यमान रहता है। ये सभी स्तर सौन्दय की अभिव्यक्ति करते हैं। इनमे उत्तरोत्तर क्रम से सौन्दय की अभिव्यक्ति की अधिक सामर्थ्य एव उपयुक्तता भी है। इसीलिए इनके सौन्दय को उत्तरोत्तर क्रम से अधिक उत्कृष्ट मानना असमीचीन एव अशास्त्रीय नहीं है।

इन तीनों स्तरों के सौन्दय के पारस्परिक सम्बन्ध पर थोड़ा सा और विचार कर लेना आवश्यक है। रग रेखा स्वर आदि म कभी उष्णता का कभी शान्ति का तथा कभी माधुर्य का आनन्द आता है। इसी प्रकार रूप में भी समानुपात (Proportion) समता (Symmetry) सन्तुलन (Balance) आदि की अनुभूति तो आनन्द का कारण है ही; इनके अतिरिक्त समता आदि से जो एक अभिव्यजना भी होती है वह भी आनन्द का हेतु है। वास्तव म अभिव्यजना का सौन्दय तो सब स्तरों के सौन्दय

का प्राण ही है। उस ध्वनि-तत्त्व के कारण ही संवेदना एवं रूप भी सुन्दर अथवा आनन्ददायक प्रतीत होते है। पर इस प्रतीति अथवा सौन्दर्य में संवेदना और रूप का भी एक प्रकार से सहयोग है। संवेदना (Sensuam) एवं प्रत्यक्ष (Perception) की कल्पना द्वारा भावन (Contemplation) के स्तर पर पुनरावृत्ति होती है। उनके द्वारा अभिव्यक्त उष्णता, माधुर्य, शान्ति, स्निग्धता आदि की चर्वणा होती है। इस अवस्था में तीनों स्तरों का आनन्द एक अखण्ड अनुभूति में परिणत होकर अधिक तीव्र एव स्थायी हो जाता है। आत्मविस्मृति का यही स्तर है। चर्वणारूप इस अखण्ड अनुभूति के स्तर पर पहुँचने से पूर्व ही संविति, प्रत्यक्ष, मनोभाव आदि का उदात्तीकरण हो जाता है। वे अपनी कटुता एवं वेग को समाप्त कर चुकते हैं। भारतीय आचार्यों ने विभावन अथवा साधारणीकरण द्वारा इसे सम्भव माना है। सम्वेदना एवं रूपगत सौन्दर्य के मूल में अभिव्यंजना के सौन्दर्य की स्थिति तथा उनके परिष्कारक रूप की स्वीकृति का सिद्धान्त पश्चिम के आचार्यों को भी मान्य है।[1] सम्वेदना और रूप के सौन्दर्य का भी परस्पर में पोष्यपोषक सम्बन्ध है।[2] सारांश यह है कि भोग तथा रूप का अपना पृथक्-पृथक् सौन्दर्य तो है ही पर वे किसी भी स्तर पर अर्थशून्य नहीं हैं।[3] संवेदना एवं रूप अर्थ के कारण ही सुन्दर है तथा अपने सौन्दर्य-तत्त्व से अभिव्यंजना के सौन्दर्य की प्रभावक्षमता में अभिवृद्धि के कारण भी है। इस प्रकार इन तीनों का सौन्दर्य-सृष्टि में पारस्परिक सहयोग है। किसी भी अवस्था में वे एक दूसरे के सहयोग से सर्वथा शून्य नहीं हैं। पर वास्तव में सौन्दर्यानुभूति एक अखण्ड वस्तु ही है। विभाजन एवं विश्लेषण की उपादेयता केवल शास्त्रीय ही है।

---

1. Just as there is the rudiment of ideal Significance in colour, so form, even in its more abstract and elementary aspects, is not wholly expressionless, but may be endowed with some thing of life by imagination............form and expression as two broadly distinguishable factors of aesthetic pleasure. (*Ibid*, pp. 284-285.)

2. A line may be pleasing to sense perception and in addition illustrate expressional value by the suggested ease of movement or pose ....similarly, a concrete form *e.g.* that of a sculptured human figure in repose or of a graceful birch owes its aesthetic value to a happy combination of pleasing lines and interesting ideas. (*Ibid*, p. 285.)

३. यतो रसा वाच्यविशेषैरेव आक्षेप्तव्याः तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः।
तत्प्रतिपादिनो वाच्यविशेषा एवं रूपकादयो अलंकाराः॥

(ध्वन्यालोक, पृष्ठ २७)

लेखक की 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' का 'संस्कृत साहित्य में समीक्षा का स्वरूप' द्रष्टव्य है।

भारतीय आचाय सौन्दर्य के अखण्ड एव समन्वयवादी स्वरूप को ही महत्त्व देते हैं पर उन्होंने सौन्दय के विभिन्न तत्त्वो पर पृथक् पृथक् तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर भी विचार किया है। शब्द के छोटे से छोटे अश, वर्ण, स्वर, काकु आदि तथा अथ की हल्की स हल्की छाया का सम्बन्ध भारतीय आचार्यों न अलकार, गुण, रीति वक्रता, ध्वनि रस आदि सभी काव्य-तत्त्वो अर्थात् काव्य के रूप (शरीर) तथा आत्मा दोनो के साथ स्थापित किया है। ये सब तत्त्व एक प्रकार से भारतीय आचार्यों द्वारा उद्भावित सौन्दर्य-भावना के विभिन्न स्वरूप ही हैं। आग के विवेचन स यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन सौन्दर्य-तत्त्वो मे से कुछ का सम्बन्ध काव्य के शरीर से तथा कुछ का काव्य की आत्मा से है। इस प्रकार काव्य के रूपगत एव अभिव्यजनागत सौन्दर्य के गुण अलकार, रीति, ध्वनि, रस आदि तत्त्वो से शब्द और अथ के सूक्ष्म स सूक्ष्म अश पद, वर्ण, स्वर, काकु आदि का सम्बन्ध स्थापित करने का तात्पर्य स्पष्टत अभिव्यजना, रूप एव उपादान के सौन्दय के पारस्परिक सम्बन्ध की उद्भावना करना ही है। प्राचीन आचार्यों ने रसानुकूल अलकार, गुण, रीति आदि के नियोजन पर ही जोर नहीं दिया है, वक्रता, गुण, रीति, अलकार आदि रूपगत तत्त्वो को ही काव्य की आत्मा रस-निष्पत्ति के सहयोगी नहीं कहा है, इन पर ही रसौचित्य का नियन्त्रण नहीं माना है, अपितु काव्य के उपादान शब्द और अर्थ के प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व पर भी इन सभी दृष्टियों से विचार किया है। इतना ही नहीं, दूसरी तरफ काव्य के प्रत्येक छोटे से छोटे तथा बडे से बडे तत्त्व के सौन्दय का मूल हेतु भी रस ही माना गया है। उसके अभाव मे अलकार, गुण, वक्रता, शब्द-विन्यास, अथ-नियोजन, प्रबन्ध-योजना आदि सभी तत्त्व केवल प्राणहीन आकार मात्र रह जाते हैं। ऐसी अवस्था मे न अलकार अलकार है और न गुण गुण ही।[1] यह कहना भी असमीचीन नहीं कि भारतीय आचार्यों की दृष्टि मे चारुता, सौन्दय या रमणीयता रस ही है। रस सौन्दर्य है और सौन्दर्य रस है। इस रूप मे उस सौन्दय की उद्भावना हुई है जो काव्य के सम्पूर्ण स्तरो पर विराजमान रहता हुआ, स्वय ही सब तत्त्वो का प्राणभूत बन कर उनके रूप मे अभिव्यजित होकर काव्य के भोग, रूप, एव अभिव्यजनागत सौन्दर्य मे पूर्ण समन्वय स्थापित कर देता है। यह भारतीय सौन्दय दृष्टि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो सम्भवत इस उत्कृष्टता के साथ अन्यत्र दुर्लभ है।

भोग रूप और अभिव्यक्ति—अखण्ड सौन्दय के तीन तत्त्व हैं। तीनो एक साथ ही रहते हैं। पर फिर भी यह त्रिपुटी प्राधान्य एव समन्वय की ओर उन्मुख गति की दृष्टि स सौन्दर्य भावना के विकास का एक आधार भी मानी जा सकती है। बोसाके न

1 Bosanquet *The History of Aesthetics*

अपनी 'हिस्ट्री आफ एस्थेटिक्स' में इस दृष्टिकोण का संकेत किया है।[१] भारतीय साहित्यचिंतन एवं सौन्दर्य-भावना के क्रमिक विकास के स्वरूप को समझने के लिए भी ये तीनों तत्त्व उपयुक्त आधार हो सकते हैं। इस प्रबन्ध में इसी दृष्टि से भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन के विकास की एक रूपरेखा प्रस्तुत करनी है। सौन्दर्य के पृथक्-पृथक् स्वरूपों पर आधारित विभिन्न सम्प्रदायों की उद्भावना से पूर्व संस्कृत के साहित्य-चिंतकों का ध्यान काव्य के उपादान-भूत शब्द और अर्थ के सौन्दर्य पर ही गया था। उस समय तो इसी भोग के सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा माना जाता था। चिन्तन के इस युग में काव्य-शास्त्र व्याकरण, न्याय निरुक्त एवं मीमांसा पर बहुत कुछ आधारित था। काव्य की उक्ति में सौन्दर्य-तत्त्व का अन्वेषण करने वालों का ध्यान उस उक्ति को व्याकरणगत शुद्धि, तर्कसंगतता अथवा अर्थ-गरिमा पर ही जा पाया। काव्य-शास्त्र की पृथक् सत्ता तथा काव्य को अन्य उक्तियों से भिन्न करने वाले व्यावर्तक एवं भेदक तत्त्व साहित्य-भावना का तो अपेक्षाकृत बाद में ही विकास हुआ। सौशब्द्य एवं अर्थ-गरिमा के रूप में उद्भावित सौन्दर्य-भावना में पहले-पहल तो शब्द और अर्थ में से किसी एक के प्राधान्य की ओर ही आचार्यों का ध्यान अधिक रहा। शब्द और अर्थ में पृथक्-पृथक् सौन्दर्य की कल्पना वास्तव में भोगतत्त्व में ही सौन्दर्य देखना है। शब्द और अर्थ ही तो वह सामग्री है, जिससे काव्य के शरीर का निर्माण होता है। पर इस सौन्दर्य-भावना के मूल में भी साहित्य-भावना थी। अन्त में इनके सौन्दर्य का पर्यवसान भी उसी में हो गया। सौशब्द्य अथवा अर्थगरिमा का मानदण्ड साहित्य-भावना ही मानी जाने लगी। इस प्रकार साहित्य-भावना अपने से पूर्ववर्ती उपादानगत सौन्दर्य को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचाती हुई तथा उस चारुता का अपने आप में ही अन्तर्भाव करती हुई काव्य का शरीर अथवा व्यावर्तक तत्त्व तो आज भी मानी जाती है। कुन्तक तक तो साहित्य-तत्त्व काव्य-सौन्दर्य का प्रधान आधार रहा। काव्य के अलंकारादि विभिन्न तत्त्वों का पारस्परिक सन्तुलन भी साहित्य का एक तत्त्व था। पर बाद में यह कार्य औचित्य-तत्त्व का माना जाने लगा और साहित्य केवल शब्द और अर्थ की अन्यूनरमणीयता या परस्परस्पर्द्धिचारुता का द्योतक मात्र रह गया। इस रूप में वह आज भी प्रतिष्ठित है। साहित्य-भावना एवं उसके सौन्दर्य के वैशिष्ट्य-चिन्तन से ही काव्यशास्त्र के व्याकरण आदि से पृथक् अस्तित्व की प्रतिष्ठा हुई है। संस्कृत के आचार्यों के सौन्दर्य-सम्बन्धी चिन्तन का प्रमुख आधार साहित्य-भावना का वैशिष्ट्य रहा है। वैशिष्ट्य के ही विभिन्न रूप अलंकार, गुण, रीति आदि तत्त्वों की उद्भावना एवं इन्हीं नामों से सम्प्रदायों के रूप में परिणत होता हुआ भारतीय साहित्यचिन्तन विकसित हुआ है। इस प्रकार सौशब्द्य से साहित्य, वैशिष्ट्य एवं समन्वय की ओर क्रमशः उन्मुख होना एक प्रकार से

---

१. यास्केर निरुक्तेर मध्ये उपमार किंचिन्मात्र उल्लेख पावा जाय तिनी भूलोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा, अर्थोपमा उल्लेख करियाछेन तिनी प्रसंग क्रमे गार्गेर उपमा लक्षणेर और उल्लेख करियाछेन। (दासगुप्ता : काव्यविचार, पृ० २।)

भारतीय साहित्य चिन्तन के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा मानी जा सकती है। प्रारम्भिक सौन्दर्य में व्याकरण-सम्मतता तथा अलंकारिता में न्यायानुकूल तर्कसंगतता का प्राधान्य रहा। उस समय के शास्त्रकारों में वैयाकरण नैयायिक अथवा मीमांसक में से किसी एक तत्त्व की मिथ्या बहुत अधिक था। इस प्रकार औचित्य में साहित्य भावना तत्त्व के चिन्तन विचार में तो कालक्रम का तत्त्व भी स्पष्ट है पर साहित्य भावना में वैशिष्ट्य विवेचन एक का विकास तो एक प्रकार से समानान्तर ही चला है। साहित्य भावना को काव्य का शरीर तथा इस प्रकार अन्य तत्त्व मान लेने के साथ ही आचार्य उनके वैशिष्ट्य पर भी विचार करने लगे थे। इसलिए इसमें कालगत नहीं प्रवृत्तिगत विकास ही माना जा सकता है। समन्वय की आकांक्षा के दर्शन तो भारतीय आचार्य में चिन्तन के प्रारम्भ से ही होते हैं। साहित्य भावना भी इसका प्रमाण है। पर वास्तविक समन्वय स्थापना का कार्य तो आनन्दवर्धन से शुरू होता है। इस प्रकार वैशिष्ट्य के बाद समन्वय की स्थिति आती है। विकास की यही अवस्था प्रवृत्तिगत होने के साथ ही कालगत भी है।

भारतीय साहित्य चिन्तन के प्रवृत्तिगत विकास का अनुमान अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक इतिहास तथा अन्य शास्त्रों के साथ रहने वाले गठबंधन के आधार पर भी होता है। इसलिए उसके प्रारम्भ की संक्षिप्त रूपरेखा से अवगत होना भी समीचीन है। भारतीय अलंकारशास्त्र का प्रणयन कब प्रारम्भ हुआ यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। उसके चिन्तन के बीज तो अत्यन्त प्राचीन साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। निरुक्त में यास्क ने उपमा का कुछ विवेचन किया है। गार्ग्य के लक्षण का कथन तथा उस उपमा के कुछ भेदों का उल्लेख भी हुआ है। वेदाध्ययन के लिए आवश्यक अंगों में से अलंकारशास्त्र भी एक माना जाता रहा है।[2] इससे भी अलंकारशास्त्र की प्राचीनता का थोड़ा संकेत होता है। जूनागढ़ में प्राप्त एक १५० ईस्वी के शिलालेख में काव्य के गुणों एवं भेदों का कुछ उल्लेख है।[3] वेद के ऋषियों में सृजन की क्षमता तथा काव्यानुभूति की आतुरता ही नहीं है अपितु उनमें समीक्षात्मक चेतना के प्रमाण भी मिलते हैं।[4] पर तब भी काव्य शास्त्र अन्य

---

१ उपकारकत्वादलङ्कार सप्तममङ्गमिति यायावरीय ऋते च तत्परिज्ञानात वेदार्थानवगति। (राजशेखर काव्य मीमांसा पृष्ठ १२।)

२ एस० एस० सुखथङ्कर काव्यप्रकाश की भूमिका।

३ उतत्व पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्व शृण्वन् शृणोत्येनाम् उतोत्वस्मै विसस्रे जायेव पत्यु उशती सुवासा।

४ आमादेर देशेर अलंकार शास्त्रके अपेक्षाकृत आधुनिक बोली पाई मने करा जायते। ऋग्वेद प्रभृति संहिता ग्रन्थे ब्राह्मण आरण्यक वा उपनिषदादि ते श्रौत सूत्र व धर्मसूत्र आदि ते अलंकार शास्त्रेर वर्णित विषयेर विषयेर कोनो उल्लेख पावा जायना। (दासगुप्ता काव्य विचार, पृष्ठ १ ।)

शास्त्रों (व्याकरण आदि) की अपेक्षा अर्वाचीन ही है।[1] तिथि निश्चित न होने पर भी इतना अवश्य मानना पड़ता है कि अलंकारशास्त्र की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा तथा उसके व्यवस्थित विवेचन का सूत्रपात मीमांसा, निरुक्त, व्याकरण आदि के बाद ही हुआ। इसमें अलंकारशास्त्र के अन्तरंग प्रमाण भी हैं। साहित्यशास्त्र अपने अनेक सिद्धान्तों एवं समीक्षातत्त्वों के लिए व्याकरण, मीमांसा, निरुक्त, आयुर्वेद आदि विद्याओं का ऋणी है। ध्वनिसिद्धान्त का आधार व्याकरण का स्फोट है। तात्पर्य-शक्ति मीमांसा से उधार ली गई है। रसनिष्पत्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्यों ने न्याय, मीमांसा आदि अनेक दर्शनों के सिद्धान्तों एवं तर्कों का उपयोग किया है। रस के विभिन्न सम्प्रदायों का विभिन्न दार्शनिक मतवादों से सीधा सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, प्रारम्भ में तो व्याकरण, मीमांसा एवं साहित्यशास्त्र का पूर्ण गठबन्धन ही रहा होगा। पहले-पहल तो काव्य-शास्त्र की व्याकरण एवं मीमांसा से पृथक् कल्पना भी नहीं रही होगी। यह तो परवर्ती विकास है।[2] साहित्यशास्त्र पर विचार करने वाले आचार्यों के प्रारम्भ में दो अलग-अलग सम्प्रदाय रहे होंगे। पहला वैयाकरण-अलंकारशास्त्रियों[3] का तथा दूसरा मीमांसक-आलंकारिकों का। काव्य में शब्द और अर्थ में से किसी एक का दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्त्व समझने का कारण व्याकरण अथवा मीमांसा में से किसी एक की ओर अधिक झुकाव ही रहा है। भामह, कुन्तक आदि आचार्यों का शब्द और अर्थ में से किसी एक के सौन्दर्य को ही काव्य मान लेने का खंडन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि प्रारम्भिक आचार्य ऐसा ही करते रहे। साहित्य-भावना के लिए अभिधा, विवक्षा आदि तत्त्वों की अपरिहार्यता, दोषज्ञान में व्याकरण-सम्मत शुद्धि की भावना का अन्तर्भाव तथा न्याय के आधार पर अलंकार-विशेष तथा दोष-विशेष की कल्पना आदि इस बात के प्रमाण हैं कि काव्यशास्त्र पर व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि शास्त्रों का स्पष्ट एवं गहरा प्रभाव रहा। प्रारम्भ में काव्य का सौन्दर्य भी व्याकरण-सम्मत सौशब्द्य तथा अर्थ की तर्कसंगतता ही माने जाते थे। यह प्रारम्भिक अवस्था थी। इस समय उपादानगत सौन्दर्य की ओर ही आचार्यों का ध्यान अधिक जा सकता था। उस समय काव्य के रूप की जो कवि-व्यापार द्वारा उद्भूत शब्द

1. *The Psychological Basis of Alankar Literature* (Sir Asutosh Mukerjee Silver Jubilee Volumes, Vol. III, p. 662.)
2. Even after him, grammatical associations were clinging to the term (साहित्य) upto Bhoj's time.........But there seems to have been in the early period of poetics, a view on this grammatico-poetic question, that of the two elements of Sabda and Artha, the former is more essential and important.
(Raghavan : *Sringar-prakas*, p. 87-88.)
३. तेन यत्केषांचिन्मतं कवि-कौशल-कल्पित-कमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति, केषांचिद् वाच्यमेव रचना-वैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। (वक्रोक्ति जीवितम्, १-७।)

और अर्थ का साहित्य है—व्यापक गुण की तरह कल्पना नहीं हो पाई थी। शब्द और अर्थ में से किसी एक या दूसरे को अपना प्रधान मानने की प्रवृत्ति के स्वभावतया साहित्य भावना को काव्य का प्राण मान लेने के बाद भी दृष्टिगत होते हैं। ध्वनिकार का काव्यलक्षण में अर्थ को तथा पण्डितराज का शब्द को प्राधान्य देना इसके प्रमाण हैं।

उपर के विवेचन का तात्पर्य इस संकेत में है कि भारतीय साहित्य-चिन्तन के प्रारम्भ में काव्य के उपादान शब्द और अर्थ के सौन्दर्य पर ही आचार्यों का अधिक ध्यान गया और यह स्वाभाविक भी है। पर शब्द और अर्थ में से भी एक को ही सौन्दर्य का प्रधान हेतु मानने का तात्पर्य उपादानगत सौंदर्य पर भी अधूरी दृष्टि है। यही कारण है कि कुन्तक को शब्द और अर्थ में से एक के सौन्दर्य को ही काव्य मानने वालों का खण्डन करना पड़ा है। भामह ने भी अपने काव्य लक्षण में शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य पर इसी कारण जोर दिया है। माघ कवि को भी शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य के लिए आवश्यक प्रतीत हुए।[1] सामग्री के सौन्दर्य को ही काव्य का सौंदर्य मानने वाले आचार्यों की परम्परा भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में सुरक्षित नहीं है। वह व्याकरण एवं मीमांसा के आचार्यों की परम्परा में अन्तर्भूत हो गई है। यह प्रारम्भिक बिखरा हुआ अपरिपक्व चिन्तन था। उस समय तक चिन्तकों को जब काव्य के रूप की स्पष्ट धारणा ही नहीं थी तो पृथक आचार्यों की परम्परा क्या बनती। इसके पूर्ववर्ती आचार्य काल-कवलित भी हो गये होंगे। भरत ने ऐसे आचार्यों का संकेत किया है।[2] भामह से कुन्तक तक के दण्डी वामन रुद्रट प्रभृति सभी आचार्य देहवादी हैं। ये शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य का शरीर मानते हैं तथा वक्रता, गुण, अलंकार आदि के रूप में इसके वैशिष्ट्य का विवेचन करते हैं। इन सौन्दर्य-तत्त्वों का सम्बन्ध प्रधानतः काव्य के शरीर अथवा रूप से है। चिन्तन का यह युग रूपगत सौन्दर्य को प्राधान्य देने वाला है। देहवादी परम्परा के आचार्यों ने गुणालंकार विभूषित एवं वक्रतापूर्ण उक्ति—जो वस्तुतः शब्द और अर्थ का साहित्य ही है—को ही काव्य कहा है। भामह का 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' काव्यलक्षण के रूप में इस युग का सर्वमान्य तत्त्व है केवल वैशिष्ट्य के विवेचन में ही मतभेद है। परवर्ती काल के आचार्यों ने चाहे काव्य की आत्मा को अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि में से किसी भी नाम से अभिहित किया हो पर शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य का शरीर तथा शब्द और अर्थ को उपादान मानने में वे सभी एक

१ शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वय विद्वानपेक्षते। (माघ शिशुपाल वध, २-८६।)
२ लेखक का 'हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास' पृष्ठ २८ तथा डा० सुशील कुमार डे हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स। (Vol II p 1)

मत हैं। भारतीय साहित्य-चिन्तन के इतिहास के इस देहवादी युग की यही उपलब्धि है। आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त से प्रारम्भ होने वाले युग को शब्द और अर्थ को काव्य के उपादान तथा शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य का शरीर माना एवं इनसे पृथक् काव्य की आत्मा की धारणा—पूर्ववर्ती चिन्तन के निष्कर्षरूप—ये तीनों सिद्धान्त दाय के रूप में प्राप्त हुए हैं। इसी के साथ काव्य के उपादान एवं रूप के सौन्दर्य की उपादेयता काव्य की आत्मा के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में है, यह सिद्धान्त भी मान लिया गया था।

शब्द और अर्थ के साहित्य के वैशिष्ट्य पर विचार करने से पूर्व साहित्य-भावना को पूर्णतया समझ लेना आवश्यक है। साहित्य-तत्त्व व्याकरण तथा समीक्षा—दोनों क्षेत्रों को भारतीय चिन्तकों की अनुपम देन है। साहित्य शब्द उस धारणा का द्योतक है, जो भाषा मात्र का आधार तत्त्व है। यह प्रत्येक उक्ति का प्राण है। शब्द और अर्थ की सम्पृक्तता तथा उन दोनों के नित्य साहचर्य का सिद्धान्त भारतीय आचार्यों ने निर्विवाद रूप से मान लिया है।[1] महाकवि कालिदास ने वाग् और अर्थ का शिव-शक्ति के समान ही सामरस्य माना है।[2] यही सामरस्य काव्य में पूर्णता को पहुँच जाता है तथा इसी का परिणाम रसनिष्पत्ति है, इस पर कुछ आगे चलकर विचार किया जायेगा। पर शब्द और अर्थ का साहचर्य तो भाषा मात्र का ही प्राण है। फिर वह भाषा चाहे कला की है चाहे विज्ञान, दर्शन अथवा शास्त्र की। प्रत्येक शब्द में एक अर्थ की क्षमता तथा समुचित अर्थ देने की एक आकांक्षा है। उधर अर्थ भी किसी उपयुक्त शब्द के आकार में परिणत होने के लिए आतुर है। अर्थ-शून्य शब्द तथा शब्दाभाव में अर्थ की भारतीय आचार्य कल्पना नहीं करना चाहता। शब्द और अर्थ के नित्य साहचर्य के सिद्धान्त का यही तात्पर्य है। व्यापक अर्थ में विचार और भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले संकेत, स्वर, नाद, रंग, रेखा आदि सभी माध्यम कला-क्षेत्र में भाषा के नाम से ही अभिहित होते हैं।[3] पर वस्तुतः अर्थ की अभिव्यक्ति का उपयुक्त एवं सक्षम माध्यम तो शब्द ही है। सामान्य दृष्टि से इन दोनों बातों में जो असंगति प्रतीति होती है, उसका कारण तो केवल वैखरीवाणी को ही शब्द का पूर्ण रूप मान लेना है। वाणी के तीन और भी रूप हैं; परा, पश्यन्ती और मध्यमा। इनके बाद वैखरी आती है। वैखरी आदि अपने से पूर्ववर्ती रूप की क्रमशः स्थूल एवं मूर्त्त होती हुई अभिव्यक्ति है। इस प्रकार रंग, रेखा आदि में शब्द के वैखरी रूप का ही निषेध

१. नित्यः शब्दः नित्य अर्थ नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः।
२. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (कालिदास : रघुवंश १-१)
3. Dagobert Runes & Harry G. Schrickal : *Encyclopaedia of Arts*, Article on Aesthetics.

किया जा सकता है इसम पूर्ववर्ती सूक्ष्म रूपों का नहीं। यह चतुर्भुज वाक् ही शब्द ब्रह्म है। वाणी के इन व्यापक स्वरूप को हृदयंगम कर लेने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक अर्थ शब्द का स्वरूप धारण कर लेता है जाहे वह रूप वैखरी न हो। मीमांसा और निरुक्त में अर्थ को ही प्रधान रहा गया है। शब्द उसी का गुण है।[1] पर व्याकरण ने अर्थ को शब्द का विवर्त कहा है। इस भेद का एक मात्र कारण केवल परा को अवस्था अथवा शब्दरूप मानना है। मीमांसा और योग ने परा को अवस्था तथा व्याकरण ने शब्दरूप माना है।[2] पर इन दोनों सिद्धान्तों में शब्द और अर्थ के नित्य साहचर्य की बात सिद्ध हो जाती है।

शब्द और अर्थ के साहचर्य पर कुछ और गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इसमें छिपे हुए अन्य तत्त्व भी प्रकट होने लगते हैं। उसमें सापेक्षिता, सन्तुलन एवं परस्परस्पर्द्धिता के भाव अन्तस्तल में पड़े स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। अपने अनुरूप अर्थ की व्यंजना की आकांक्षा शब्द में तथा उपयुक्त माध्यम चुन लेने की आतुरता अर्थ में सहज है। इस अनुरूपता एवं सन्तुलन को प्राप्त करने के लिए शब्द और अर्थ दोनों ही विकल हैं। यह अनुरूपता सन्तुलन एवं परस्परस्पर्द्धिता ही शब्द और अर्थ एवं उनके साहित्य का सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य तत्त्व प्रत्येक उक्ति में विद्यमान है। पर इस सन्तुलन की—शब्द और अर्थ के पारस्परिक औचित्य की चरम सीमा—इसलिए साहित्य के सौन्दर्य की पराकाष्ठा भी—काव्य ही है। काव्य में शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्द्धिता एवं अन्यूनरमणीयता के दर्शन होते हैं। काव्य में शब्द अर्थ से तथा अर्थ शब्द से अधिक रमणीय हो जाने की घुड़दौड़ में लगे हैं। ज्यों-ज्यों भावक विचार करता है त्यों-त्यों उस काव्य के शब्द और अर्थ एक दूसरे से अधिक रमणीय प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं वे एक दूसरे के सहयोग से और भी अधिक रमणीय होते चले जाते हैं। शब्द और अर्थ की अन्यून रमणीयता की प्रतिस्पर्द्धिता के सन्तुलन बिन्दु ही शब्द और अर्थ की साहित्य भावना के मूर्त होने के स्थल हैं। प्रत्येक उक्ति में सन्तुलन का आभास तो रहता है पर सामान्य उक्ति में विद्यमान रहने वाला साहित्य या सन्तुलन का अंकुर तथा तज्जनित सौन्दर्य काव्य में विकसित होकर चरम पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। काव्य की उक्ति में ही वस्तुतः साहित्य भावना पूर्णतः मूर्तिमान हो पाती है। अन्यत्र तो उसके स्वरूप धारण करने की आकांक्षा अथवा विकलता के बीज ही दृष्टिगत होते हैं। शास्त्र शब्द प्रधान है तथा पुराण अर्थ प्रधान। एक में सन्तुलन औचित्य अथवा साहित्य का मानदण्ड शब्द है तथा दूसरे में अर्थ। पर काव्य में दोनों ही गौण होकर कवि-व्यापार द्वारा उद्भावित साहित्य भावना के मान पर सन्तुलित होते—

१ अर्थोऽहि प्रधानं तद्गुणः शब्दः। (दुर्गाचार्य)
२ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
(पातञ्जल योग सूत्र विभूतिपाद, ३)

हैं।[1] काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही अपनी रमणीयता साहित्य-भावना को समर्पित कर देते हैं और इस प्रकार एक नवीन दिव्य आभा का जन्म होता है। यह सौन्दर्य, यह दिव्य आभा ही साहित्य है और यही काव्य है। इसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने कान्तासम्मित वाक्य से इसकी तुलना की है।[2] प्रभुसम्मित या मित्रसम्मित वाक्य बुद्धिग्राह्य हैं। उनमें शब्द और अर्थ के पूर्ण साहित्य या सन्तुलन से उत्पन्न रमणीयता का अभाव है। यह रमणीयता तो कान्तावाक्य में ही है क्योंकि वहीं शब्द और अर्थ दोनों गौण हो जाते हैं तथा ध्वनिव्यापार द्वारा साहित्य-भावना में पर्यवसित हो जाते हैं।[3] यह दोनों का साहित्य एवं तज्जनित रमणीयता केवल बुद्धिग्राह्य वस्तु नहीं है, वे तो हृदय द्वारा ही अनुभूत होते हैं। इनका भावन द्वारा साक्षात्कार होता है। पारिभाषिक रूप में शब्द और अर्थ के इसी साहित्य वाले वाक्यों को ही उक्ति कहा गया है, शेष वाक्य तो सब वार्ता हैं; इसलिए उक्ति को ही काव्य कह दिया गया है।[4] इस प्रकार काव्य में ही शब्द और अर्थ की रमणीयता की पराकाष्ठा मानी गई है। शब्द और अर्थ का पूर्ण 'साहित्य' ही वस्तुतः काव्य है। यही उसको अन्य उक्तियों से भिन्न करने वाला व्यावर्तक तत्त्व है। इस साहित्य पर ही सहृदय मुग्ध होता है। आचार्य इसी के अलंकारादि के नाम से विभिन्न स्वरूपों की उद्भावना करता है तथा सहृदय उनके साक्षात्कार से आह्लादित होता है। शब्द और अर्थ के साहित्य की दिव्य आभा का वैशिष्ट्य ही अलंकार, गुण, रीति आदि है। शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य का शरीर[5] तथा वैशिष्ट्य उसके प्राण हैं। इसी अर्थ में आचार्यों ने अलंकार, गुण आदि को काव्य की आत्मा कहा है।

आचार्यों ने शब्द और अर्थ के साहित्य के निम्नलिखित बारह प्रकारों का

---

१. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयो
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्यं काव्यगीर्भवेत्।
(भट्टनायक)

. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।
(मम्मट : काव्यप्रकाश, १-६।)

३. ध्वनि प्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमीरितम्।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यंजनप्रवणं यतः॥
(विद्याधर : एकावली १-६।)

. उक्तिविशेषः काव्यं (राजशेखर)
तथा Croce : Article on Aesthetics : *Encyclopaedia of Britanica*, XII Edition.

5. A. Commarswami : *Transformation of Nature : The Asiatic View of Art*, p. 13.

निर्देश किया है—' किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः । स च द्वादशधा अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यम्, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वय, एकार्थीभाव, दोषहान, गुणोपादान अलंकारयोग, रसावियोगश्चेति" ।[1] शब्द और अर्थ का साहित्य तथा उनका सौन्दर्य अपने आपको उपर्युक्त रूपों में अभिव्यक्त करता है । इनमें प्रथम आठ का सम्बन्ध आचार्यों ने लौकिक उक्ति से ही विशेष रूप से माना है । इनमें शब्द-शुद्धि तथा अर्थ-समीचीनता के तत्त्वों का प्राधान्य है । इस प्रकार साहित्य-भावना के ये प्रकार व्याकरण, निरुक्त, मीमांसा या न्याय के क्षेत्र की वस्तुएँ हैं । शास्त्र तथा लोक-व्यवहार में शब्द और अर्थ के ये सम्बन्ध ही उपादेय एवं आवश्यक हैं । शेष चार तो काव्य की ही विशेष सम्पत्ति हैं । पर प्रथम आठ भी काव्य के लिए अपेक्षित हैं । उक्ति-सामान्य के तत्त्व होने के कारण ये काव्य के भी आधार पटल हैं उनके उपादान हैं । व्याकरण-सम्मत सौशब्द्य तथा अर्थगरिमा के बाद ही उक्ति 'दोषहान', गुणोपादान आदि विशेषताओं को प्राप्त हो सकती है । एक प्रकार से 'दोषहान' की स्थिति तक पहुँचने के लिए उक्ति को साहित्य तत्त्वों की इन पूर्व-वर्ती अवस्थाओं को पार करना पड़ता है । शब्द और अर्थ के ये बारह सम्बन्ध साहित्य-तत्त्व की क्रमिक अभिव्यक्ति की अवस्थाएँ या स्तर-विशेष हैं । अन्तिम अवस्था में साहित्य-तत्त्व अपने आपको पूर्णतया अभिव्यक्त कर लेता है । वहाँ पर शब्द और अर्थ के साहित्य का आह्लाद चरम सीमा पर पहुँचता है । यही रस है । तात्पर्य यह है कि आचार्यों की दृष्टि से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में साहित्य भावना का अभाव तो कहीं भी नहीं है, पर काव्य में तो इसका वैशिष्ट्य भी आवश्यक होता है ।[2] 'दोषहान' गुणोपादान आदि इसी वैशिष्ट्य के उपादानगत तत्त्व हैं । इसी को किसी किसी ने सम्यक् प्रयोग कहा है ।[3] यह वैशिष्ट्य ही काव्य प्राण है । इस प्रकार यह काव्य का लौकिक उक्ति से भिन्न करने वाला भेदक तत्त्व है । कुंतक ने इसको वक्रतारूप माना है तथा अलंकार, गुण आदि को उसी वक्रता के प्रकार-भेद अथवा पोषक तत्त्व कहे हैं । इसी वैशिष्ट्य में गुण, अलंकार आदि सभी

---

१ भोज शृङ्गार प्रकाश, Vol I, p 428

२ ननु च वाच्यवाचक सम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयो न कथञ्चिदपि साहित्यविरह । सत्यमेतत् किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् । कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालंकार सम्पदापरस्परस्पर्धाधिरोह ।"

(कुन्तक व० जी० १-७, व्याख्याभाग)

३ तत्र अभिधा विवक्षादिभि निरूपिते शब्दार्थयो प्रयोजनाहता च निश्चीयते । सम्यक्प्रयोगश्च तदा उपपद्यते यदा दोषहान गुणोपादान अलंकारप्रयोग रसावियोगश्च भवति ।

(शृङ्गारप्रकाश, दूसरा भाग, पृष्ठ ४४ ।)

शोभादायक तत्त्वों का अन्तर्भाव है; सब इसी के रूप हैं। इस वैशिष्ट्य की विभिन्न व्याख्याएँ ही अलंकार आदि सम्प्रदायों के नाम से अभिहित हुई है।

स्वर, राग, नाद, काकु, व्यंग्य, प्रकरण आदि में अपना-अपना एक विशेष सौन्दर्य है। ये शब्द और अर्थ के गुण हैं। काव्य के उपादान शब्द और अर्थ का अपना एक पृथक् सौन्दर्य है। काव्य इन सौन्दर्य-तत्त्वों का उपयोग भी करता है, पर काव्य का इससे एक भिन्न सौन्दर्य भी है। काव्य न केवल शब्द की रमणीयता है और न केवल अर्थ की। वह दोनों के मिश्रण अथवा साहित्य की, शब्दार्थ से भिन्न एक पृथक् सत्ता वाली रमणीयता है। उसमें दोनों ही गौण हो जाते हैं तथा कवि-व्यापार से उत्पन्न साहित्य का भाव प्रधान हो जाता है। शब्दार्थ को काव्य का शरीर कहने का तात्पर्य उनके मिश्रण अथवा साहित्य को शरीर मानना है। इस प्रकार काव्य न केवल शब्दगत सौन्दर्य है और न केवल अर्थगत, पर उसके साहित्य का सौन्दर्य है। प्रत्येक तिल में से निकले तेल के समान है।[1] भामह देहवादी आचार्य हैं, अतः उनके काव्य-लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' में काव्य के शरीर का ही निरूपण हुआ है और वह है साहित्य। जिस प्रकार अंग-प्रत्यंगों की समष्टि, उसका एक विशेष प्रकार का क्रम अथवा संघटन ही शरीर होता है, अंगों का क्रमहीन समूह मात्र नहीं; उसी प्रकार शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य है, क्रम-हीन समूह मात्र नहीं। विज्ञान, शास्त्र, दर्शन आदि की उक्तियों का शरीर भी शब्दार्थ से ही निर्मित होता है। काव्य की उक्ति उन उक्तियों से साहित्य-तत्त्व के आधार पर ही भिन्न की जा सकती है। चित्र रंग, रेखा आदि का क्रमहीन समूह नहीं है उनके मेल से उत्पन्न एक सादृश्य को चित्र कहते हैं। स्वरों के मेल से 'राग' साकार होता है। जो स्थान सादृश्य का चित्रकला में, राग का संगीत में है, वही स्थान काव्य में कवि-व्यापार द्वारा उद्भावित शब्दार्थ के साहित्य का है। वस्तुब्रह्म का शरीर सादृश्य, नादब्रह्म का शरीर राग तथा रसब्रह्म का शरीर साहित्य है। रंग, रेखा, नाद, शब्द और अर्थ इन कलाओं के उपादान मात्र हैं। इनसे शरीरों का निर्माण होता है। काव्य और कला के शरीर का साक्षात्कार प्रतिभान (intuition) से ही होता है। शब्द आदि तो संवेदना के विषय हैं, काव्य का शरीर नहीं। इसीलिए उसे अलौकिक

---

१. शब्दार्थौ काव्यम् वाचको वाच्यः चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रोक्ति तेन केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति केषांचित् रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि अर्थं काव्यमिति पक्ष द्वयमपि निरस्तं भवति तस्मात् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाल्हादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्।"

(व० जी० १-७, व्याख्या भाग)

कहा गया है।[1] अतः शब्द और अर्थ का विशेष मिश्रण, सम्गुम्फन अथवा साहित्य ही काव्य है। जैसे शरीर का कोई एक अंग-विशेष दूसरे से प्रधान या महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अवयवी की दृष्टि से वे सभी गौण हैं वैसे ही न शब्द और न अर्थ अपितु कवि-व्यापार से उत्पन्न साहित्य ही काव्य में प्रधान है। वही काव्य का अवयवी रूप है। शब्द और अर्थ दोनों उसके अवयव हैं। इसी से साहित्य तत्त्व को ही कुन्तक ने काव्य का प्राण कहा है। शब्द और अर्थ की रमणीयता और सामर्थ्य अन्योन्याश्रित है। पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ की यह परस्पर-स्पर्द्धिता तथा अन्योन्याश्रित रमणीयता भी वस्तुतः साहित्य-भावना या औचित्य को प्राप्त करने की विकलता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कुन्तक ने साहित्य-भावना से अपुष्ट अनौचित्य-प्रवर्तित और असमर्थ शब्द से प्रतिपादित अर्थ को मृतकल्प तथा अर्थ की साहित्य भावना से शून्य शब्द को व्याधिभूत कहा है।[2]

आचार्यों को शब्दार्थ का नित्य साहचर्य एवं साहित्य का सिद्धान्त मान्य है। इनकी प्रतीति हमेशा सहितरूप से ही होती है।[3] पर साहित्य-भाव की पूर्णता की प्राप्ति के विभिन्न स्तर (gradations) भी हैं। व्याकरण-सम्मत शुद्धि, मीमांसा की अर्थगरिमा, विचारों की न्यायानुकूलता एवं साहित्य—ये चारों प्रत्येक वाक्य के सौन्दर्य के लिए अपेक्षित हैं। अतः ये चारों तत्त्व प्रत्येक वाक्य में विद्यमान भी रहते हैं।[4] व्याकरण, मीमांसा, न्याय एवं काव्य के वाक्यों के पारस्परिक अन्तर का मूल आधार इन तत्त्वों में से किसी एक का प्राधान्य ही है। काव्य में 'साहित्य' का प्राधान्य है, यही उसका वास्तविक लावण्य है, यही उसका प्राण है। अन्य शास्त्रों में भी वाक्यों के आपाततः सौन्दर्य

---

१ अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कारकारितायाः कारणं अवस्थिति-विचित्रैव विन्यासभङ्गिः।

(व० जी० १-१७, व्याख्या भाग)

२ द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोः प्राधान्येन एकतरस्य साहित्यविरहः अन्यतरस्यापि पर्यवस्यति। तथा च अर्थः समर्थवाचकासद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एव अवतिष्ठते शब्दोऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासंभवे वाच्यान्तरवाचकःसन् वाक्यस्य व्याधिभूत प्रतिभाति।

(हि० व० जी०, पृष्ठ १४)

३ शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरत सदा। शब्दार्थाविभिधानाभिधेयौ सहितावावियुक्तौ सदा सर्वकाल प्रतीतौस्फुरत जाने प्रतिभासते।

(हि० व० जी०, ५८)

४ एतेषाच पदवाक्यप्रमाणसाहित्याना चतुर्णामपि प्रतिवाक्यमुपयोग।

(हि० व० जी०, ६२)

का आधार साहित्य-तत्त्व ही है। परिमल की तरह साहित्य की सुगन्ध सम्पूर्ण वाक्य में फैलकर उसको सुगन्धित कर देती है।[1] पर काव्य में तो यह शब्दार्थ की रमणीयता अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। व्याकरण आदि द्वारा अभिमत शब्दार्थ के सौन्दर्य-तत्त्व भी साहित्य के सौन्दर्य में पूर्णतया विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार शब्दार्थ के सम्पूर्ण सौन्दर्यों के सम्मिलित रूप से अभिव्यक्त एक दिव्य आभा का माध्यम ही साहित्य है, यही काव्य का शरीर है। इसी से कुन्तक ने काव्य को वाङ्मय का सारभूत कहा है।[2]

प्रश्न यह है कि काव्य का व्यावर्तक तत्त्व साहित्य का स्वरूप क्या है? यह निश्चय ही वाक्यमात्र में विद्यमान साहित्य-तत्त्व का विकसित रूप होने के कारण उससे भिन्न माना गया है। कुन्तक ने व्याकरण के पद, मीमांसा के वाक्य, एवं न्याय के प्रमाण से काव्य-जगत् की साहित्य-भावना की पृथक्ता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है।[3] 'वक्रोक्तिजीवितम्' में इसका लक्षण काव्य की शोभाशालिता के लिए शब्द और अर्थ की अन्यूनातिरिक्त मनोहारी स्थिति दिया है।[4] इस लक्षण तथा इसकी व्याख्या में कुन्तक ने साहित्य के कतिपय तत्त्वों की स्पष्ट उद्भावना की है। शोभाशालिता, अन्यूनानतिरिक्तत्व तथा मनोहारिणिस्थिति—साहित्य-भावना के तीन प्रधान तत्त्व हैं। इन तीनों की विशद व्याख्या भी कुन्तक ने की है। यह साहित्य-शब्द और अर्थ की विचित्र एवं अलौकिक मनोहारी स्थिति है; जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर में एक दूसरे से न कम सुन्दर हैं और न अधिक; उनमें परस्परस्पर्धित्व है। इस अन्यूनानतिरिक्तत्व अथवा परस्परस्पर्धिता का मुख्य प्राप्तव्य शोभाशालिता है। कुन्तक ने शोभा अर्थात् सौन्दर्य को ही इस साहित्य-तत्त्व का प्रमुख मानदण्ड

---

१. यस्मादेत् (साहित्य) अमुख्यतयापि यत्र वाक्य सन्दर्भान्तरे स्वपरिमलमात्रेणैव संस्कारमारमते तस्यैतदधिवासशून्यतामात्रेणैव रमणीयविरहः पर्यवस्यति।
(हि० व० जी०, ६३)

२. साकाव्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा। पदादिवाक्परिस्पन्दसारसाहित्यमुच्यते।
(हि० व० जी०, ६२)

३. किन्तु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसम्बन्धनिबन्धनं वस्तुतः साहित्यमुच्यते। यस्मादेतस्मिन् साहित्यशब्देनभिधीयमान कष्टकल्पनोपरचितानिगाड्कुटादि वाक्यानि असम्बद्धानि शांकरटादि वाक्यानि च सर्वाणि साहित्यशब्देनभिधीयरेत तेन पदवाक्यप्रमाणव्यतिरिक्तं किमपि तत्वान्तरं साहित्यं भवति।
(व० जी० १-१६, व्याख्या भाग)

४. साहित्यमनयोः शोभातिशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥
(व० जी०, १-१७)

माना है। सौन्दर्य का सहृदयश्लाघ्यत्व अर्थात् सहृदय का आह्लाद कहा गया है। इस प्रकार सहृदयश्लाघ्यत्व ही प्रधान कसौटी है।[1] यह तत्त्व भारतीय सौन्दर्य चिन्तन की मूल आधारभूमि ही है। रस अलंकार आदि के सौन्दर्य तथा उनके पारस्परिक भेद की कसौटी यही है। सहृदय एवं आह्लाद के स्वरूप पर आगे विचार करेंगे। ध्वनिकार ने इसी तत्त्व को काव्य का प्राण कहा है।[2] कुन्तक की दृष्टि से काव्य के सहृदयश्लाघ्यत्व की अभिव्यक्ति का मूल एवं प्रथम रूप साहित्य ही है। इसलिए साहित्य ही काव्य के प्राण हैं और यही व्यावर्तक या भेदक तत्त्व है। साहित्य नैसर्गिक नहीं सृष्ट सौन्दर्य है इसलिए उसके लिए कविव्यापार भी अपेक्षित है। कुन्तक ने साहित्य के सारभूत अंश को कविकर्म-कौशल-काष्ठाधिरूढरमणीय कहा है।[3] अन्यूनानतिरिक्त रमणीयत्व' तथा 'परस्परस्पर्द्धिचारुत्व' से शब्द और अर्थ दोनों की गौणता एवं अन्य किसी तत्त्व की ही प्रधानता हो जाती है। यह तत्त्व कवि व्यापार से उद्भूत साहित्य ही है।[4] इसी तत्त्व को उक्ति का प्राण कहा गया है इसके अभाव में शब्दार्थ निर्जीव एवं आह्लादशून्य हो जाता है।[5] इसी को भंगी भणिति वक्रता, ध्वनि आदि अनेक नामों से भी अभिहित किया गया है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि स्थूल रूप से शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है पर वह साहित्य-तत्त्व के कारण ही अन्य शास्त्रों की उक्तियों से भिन्न तथा काव्य के शरीर के नाम में अभिहित होने योग्य होता है। शरीर तो सब प्राणियों का उन्हीं पंचतत्त्वों से निर्मित होता है। पर जैसे प्रत्येक शरीर में एक विशिष्टता

---

१ सहितयोर्भाव साहित्यम् अनयो शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कारित्व मनोहारिणी परस्पर-स्पर्धित्वरमणीया । शोभाशालितां प्रति । शोभा सौन्दर्यमुच्यते। तया शालते श्लाघ्यते या सा शोभाशाली तस्याभाव शोभा शालिता तां प्रति सौन्दर्यश्लाघिनां प्रति सैवच सहृदयाह्लादकारिता तस्या स्पर्धित्वेन याऽसाववस्थिति परस्परसाम्यसुभगमवस्थान ता साहित्यमुच्यते।
(व० जी० १-१७, व्याख्याभाव)

२ योऽयं सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मेति व्यवस्थित ।
(ध्वन्यालोक १ २)

३ हि० व० जी० पृष्ठ ५६।

४ ऐतेषां यद्यपि प्रत्येक स्वविषय प्राधान्यमेषां गुणाभाव
तथापि सकलवाक्यपरिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्य
लक्षणस्यैव कविव्यापारस्य वस्तुत सर्वत्रातिशयत्वम्
(हि० व० जी०, पृष्ठ ६१)

५ शरीर जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्।
विना निर्जीवता येन वाक्य याति विपश्चिताम्॥
(हि० व० जी०, पृष्ठ ६२)

रहती है; जो उसके अन्य शरीरों से भेद की प्रतीति का कारण है, वैसे ही सम्पूर्ण उक्तियों के शरीर का उपादान कारण तो शब्दार्थ ही है पर कोई एक तत्त्व तो भेदक भी होता ही है। काव्य-शरीर में वही तत्त्व साहित्य है। इसी से साहित्य को काव्य की उक्ति का प्राण कहा गया है। काव्य के उपादान शब्दार्थ भी सामान्य शब्द और अर्थ से पारमार्थिक रूप में कुछ भिन्न ही होते है।[1] उनमें बीज रूप से सौन्दर्य एवं साहित्य के वे तत्त्व विद्यमान रहते हैं जिनका कविप्रतिभा द्वारा विकास ही काव्य है। अनेक पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ को देने की क्षमता केवल एक विशेष शब्द में ही होती है। सहृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ काव्य में स्वभाव से ही प्रयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार काव्य के शब्द और अर्थ परमार्थतः कुछ अपूर्व ही होते हैं।[2] यह अपूर्वता शब्द और अर्थ की अपनी नहीं है। यह तो कवि प्रतिभा की देन है। इसी से साधारण वाच्यार्थ भी अपूर्व आभा से चमक उठते हैं। शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की समष्टि अथवा मिश्रण साहित्य नहीं है। यह साहित्य-तत्त्व, अथवा सौन्दर्य (रस) नवीन वस्तु है जिसको उत्पत्तिवाद, सत्कार्यवाद, विवर्तवाद अथवा अभिव्यक्तिवाद में से कोई भी एक पूर्णतया नहीं समझा सकता है। इसीलिए आचार्यों ने इसे अलौकिक कहा है। इसमें कारण-कार्य के इन सब सम्बन्धों के तत्त्व विद्यमान हैं पर इनसे कुछ अधिक एवं विचित्र तत्त्व भी हैं। इस पर भी आगे विचार करेंगे।

शब्द और अर्थ के साहित्य के साथ ही एक शब्द के दूसरे शब्द तथा एक अर्थ के दूसरे अर्थ के साथ स्थापित साहित्य-सम्बन्ध पर भी विचार हुआ है। इतना ही नहीं, अलंकार, गुण, रस आदि में भी सौन्दर्य का हेतु, साहित्य ही मान लिया गया।[3] साहित्य शब्द का यह प्रयोग तो बहुत विशद एवं व्यापक है। यह तो औचित्य और साहित्य दोनों को पर्यायवाची मान लेना ही है। पर साहित्य शब्दार्थ का सम्बन्ध है, यह सबका अभिमत है। काव्य का शरीर शब्दार्थ का साहित्य है। काव्य का वह मूल सौन्दर्य जो उसको अन्य कलाओं अथवा शास्त्रों से अलग करता है, साहित्य ही है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। यही शब्दार्थ के साहित्य का सौन्दर्य विकसित होकर रस

---

१. एवं शब्दार्थयोः प्रसिद्ध स्वरूपतिरिक्तमन्यदेव रूपान्तरमभिधाय न तावन्मात्रमेव काव्योपयोगि किन्तु वैचित्र्यान्तरं विशिष्टमिति।

(व० जी०, पृष्ठ ५६)

२. वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धिमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः।

३. हि० व० जी०, पृष्ठ ६१-६२।

रूप में परिणित हो जाता है। महामहोपाध्याय डा० कुप्पुस्वामी ने कालिदास के 'वागर्थाविव' के प्रसिद्ध श्लोक के 'अर्थ-परमेश्वर' तथा 'शब्द-पार्वती' के सामरस्य अर्थात् साहित्य से 'रस-स्कन्द' की उत्पत्ति के रूपक को स्पष्ट किया है। पर क्योंकि रस वाच्य नहीं व्यंग्य है इसलिए श्लोक में 'रस स्कन्द' की उत्पत्ति का नहीं, अपितु शिव पार्वती के विवाह तथा शब्दार्थ के साहित्य मात्र का ही उल्लेख है। इससे रस-स्कन्द की उत्पत्ति अर्थात् अभिव्यंजना के लिए शिव-पार्वती के विवाह रूप शब्दार्थ के सामरस्य अर्थात् साहित्य का कारण मान लेना स्पष्ट है। शब्दार्थ का सामरस्य-रूप साहित्य ही पराकाष्ठा पर रस का अभिव्यंजक है। साहित्य के अन्तस्तल में विराजमान सौंदर्य और आह्लाद ही इस अवस्था में रस रूप हो जाते हैं। इसी सामरस्य के विभिन्न रूप एवं रसाभिव्यक्ति की विभिन्न उपाधियाँ साहित्य (काव्य शरीर) के विभिन्न प्रकार ही ध्वनि, औचित्य अलंकार आदि कहलाते हैं।

काव्य के हेतु

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

काव्यशास्त्र के विवेचन-विश्लेषण में भारतीय मनीषा की एक सुसम्बद्ध एवं सुदीर्घ चिन्तनपरम्परा रही है। काव्य की परिभाषा, आत्मा, प्रयोजन, हेतु प्रेरणास्रोत, आन्तरबाह्यस्वरूप एवं मानव जीवन तथा अलौकिकत्व से उसका सम्बन्ध आदि अनेक विषयों पर भामह, दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ प्रभृति काव्यकला मर्मज्ञों की तत्त्वचिन्ता हमारे साहित्य के शास्त्रीय पक्ष को असंदिग्ध रूप से महिमान्वित करती रही है। अधुना, पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणावश हमारे काव्य-साहित्य के अद्यतनीन मानदण्ड पर्याप्त रूप में विकसित हुए हैं; विशेषतः यदि आज काव्यालोचन के लिए कवि के सामाजिक व्यक्तित्व की परीक्षा की जाती है, तो पहले उसका आन्तर व्यक्तित्व ही अनुसन्धेय हुआ करता था। सम्प्रति हम 'काव्यहेतु' पर ही विचार करेंगे जिसके लिए कवि के बाह्यरूप की अपेक्षा उसके आत्मनिष्ठत्वों का प्रतिपादन ही अपेक्षणीय रहेगा। जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में सृष्टि एवं स्रष्टा में कार्यकारण सम्बन्ध के आधार पर मूलतः अद्वयीभाव लक्षित होता है उसी प्रकार काव्य तथा कवि में भी शक्ति एवं शक्तिमान् जैसा सम्बन्ध है। वस्तुतः काव्य इस भौतिक सृष्टि की रसात्मक प्रतिच्छवि है और उसका कर्त्ता रसात्मक-काव्य सृष्टि का उत्पादक है। वेदों में भी सृष्टि और उसके रचयिता को 'काव्य' तथा 'कवि' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। कहने का अभिप्राय यही है कि आध्यात्मिक जगत् का अद्वैतमूलक चिन्तन ही भारतीय काव्य चिन्ता को प्रधानतया प्रभावित करता रहा है।

भारतीय काव्य के प्राचीनतम आचार्य भामह ने छठी शताब्दी में कवि एवं काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा था:—

> "काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।
> शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्॥
> विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्य क्रियादरः।"

तात्पर्य यह है कि काव्यरचना प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं है। उसके कर्ता तो कोई-कोई प्रतिभावान् व्यक्ति ही होते हैं। प्रतिभा जन्मजात तथा ईश्वरप्रदत्त हुआ करती है। फिर भी यह प्रयोजनीय है कि सभी व्यक्ति काव्य क्रिया के प्रति जिज्ञासु भाव से यत्नवान बने तथा उन व्यक्तियों का सान्निध्य करें जो काव्य-तत्व समझते हैं और भाव हों। उत्कृष्ट काव्य कृतियों के अध्ययन के लिए अवधानवान् रहें। स्पष्ट है कि भामह ने प्रतिभा पर विशेष बल प्रदान किया है। 'काव्यादर्श' के रचयिता दण्डी का अभिमत भी ऐसा ही है। वे 'प्रतिभा' को नैसर्गिकी मानते हैं परन्तु वे उसके उत्कर्ष के लिए व्युत्पत्ति एवं सतत काव्याभ्यास विषयक अभ्यास को भी आवश्यक समझते हैं।

भामह 'प्रतिभा' को ही काव्य का सर्वतोभद्र हेतु स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचना को 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' की सीमाओं में परिच्छिन्न नहीं किया है। इस प्रकार वे वाल्मीकि व्यास आदि कवियों के प्रति पूज्य भाव के संचार द्वारा काव्य को आदर्शोचित-अलौकिकत्व की ओर ले जाते हैं जिसकी स्वीकृति हमें आनन्दवर्धन में मिलती है —

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

इसके विपरीत दण्डी 'प्रतिभा' के आगे तक चले जाते हैं। दण्डी की दृष्टि यथार्थ का अञ्चल नहीं छोड़ती। वे काव्य को लौकिक ही मानते हैं। उनके मत के अनुसार यह सर्वथा स्वाभाविक है कि कोई भी कवि केवल प्रतिभा के बल पर काव्यरचना नहीं कर सकता जब तक कि उसमें व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की सम्भूयकारणता न हो।

काव्य के हेतुओं को लेकर जो आगे का चिन्तन हुआ है वह भामह तथा दण्डी के निर्दिष्ट मार्गों पर ही चला है। भामह के अनुवर्ती यदि रुद्रट हैं तो दण्डी की परम्परा में वामनाचार्य का नाम उल्लसनीय है। रुद्रट के अनुसार प्रतिभा और अभ्यास का त्रितय ही काव्य रचना का मूल कारण है। आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने भामह निर्दिष्ट मार्ग को ही ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा के लिए अपनाया है। ध्वन्यालोक के अनुसार काव्य का रहस्य 'व्युत्पत्ति' अथवा 'अभ्यास' न होकर प्रतिभावत्ता ही है। भट्ट तौत के विचार से यह प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही है। इसी प्रतिभा अथवा शक्ति के होने पर 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' सहायक सिद्ध हो सकते हैं। रस की सृष्टि के लिए 'प्रतिभा' की आवश्यकता होती है। 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' के द्वारा तो उसके बाह्यांगों का सौन्दर्य ही निष्पन्न किया जा सकता है।

"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम् ।"—(आचार्य अभिनवगुप्त)

आचार्य दण्डी के अनुगामी वामन ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है "लोको विद्या प्रकीर्णञ्चेति काव्याङ्गानि । लोकवृत्तं लोकः । शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः × × × लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्ध सेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्चप्रकीर्णम् ।" अर्थात् श्रेष्ठ कवि को जब काव्य रचना करनी हो तो उसके पूर्व इस दृश्यमान चराचर जगत् के व्यवहार संवेदन के साथ ही साथ काव्योपयोगी विद्याओं का भी उसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इनके बिना काव्यसृजन प्रायः असम्भव ही है। दण्डी और वामन के इसी मत से मिलता-जुलता मत वर्तमान यथार्थवादी समीक्षकों का है। वे काव्य को केवल प्रतिभाप्रसूत कलात्मक सर्जना के ही रूप में स्वीकार नहीं करते, उसमें दैनन्दिन मानव जीवन की परिस्थितियों, ज्ञान-विज्ञान एवं सामाजिक असंगतियों का भी ऐतिहासिक सापेक्षता के आधार पर चित्रण होना परम आवश्यक है।

"Poetry is written in language and, therefore, it is a book about the sources of Languages. Language is a social product, the instrument whereby men communicate and persuade each other ; thus the study of poetry's sources can not be separated from the study of society."

भामह और दण्डी की इन दो पृथक्-पृथक् धाराओं का समन्वयात्मक रूप आचार्य मम्मट में मिलता है। यद्यपि मम्मट मूलतः रसवादी समीक्षक है तथा ध्वनि-काव्य के सबल समर्थक हैं तथापि उन्होंने आलंकारिक महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया है। वे 'प्रतिभा' (शक्ति) को ही काव्य का मौलिक हेतु मानते है परन्तु 'व्युत्पत्ति' (निपुणता) और 'अभ्यास' को भी 'प्रतिभा' के 'उपकारक' रूप में स्वीकार करते हुए चले हैं। उनके अनुसार काव्य के हेतु निम्न प्रकार से वर्णित किये गये हैं :—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥
—'काव्यप्रकाश'

इस प्रकार हम देखते हैं कि मम्मट में इन दोनों ही सीमाओं का समाविष्ट रूप मिलता है। न काव्य केवल 'शक्ति' (प्रतिभा) द्वारा सम्भव है और न केवल

व्युत्पत्ति' और अभ्यास' द्वारा ही उसकी रचना की जा सकती है। प्रत्येक उत्कृष्ट कवि में इन तीनो का सहज संयोग होना आवश्यक है। ध्वनिवादी आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने प्रतिभा' और शक्ति' को एक ही माना है। काव्यमीमांसाकार ने इन दोनो को दो पृथक तत्त्वो के रूप में माना था। इसी विषय में राजशेखर ने लिखा है —

"सा केवल काव्ये हेतुरिति यायावरीय । विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्यास । शक्तिकर्तृ के हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मिणी । शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते ।"

मम्मट के अनुसार शक्ति' और प्रतिभा' को दो भिन्न-भिन्न हेतु मानना वैज्ञानिक नहीं है। फलत काव्यप्रकाश' में शक्ति' का प्रयोग किया गया है जो कि प्रतिभा' का ही पर्याय है। एक बात और जो कि विशेषत द्रष्टव्य है कि मम्मट ने हेतु' का प्रयोग किया है हेतव' का नहीं। इसका अभिप्राय यही है कि 'व्युत्पत्ति' और अभ्यास' 'शक्ति' से पृथक् नहीं हैं प्रत्युत उपकार्योपकारक भाव से परस्पर प्रतिबद्ध हैं। ध्वनिवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रतिभा' का क्षेत्र दिव्य एवं अलौकिक है। 'प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा।' कहा भी है —

"नरत्वं दुर्लभ लोके तत्र विद्या सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥"

प्रतिभा

यह प्रतिभा सरस्वती तत्त्व' है जिसके अनुसार वर्ण्य विषय में रस सृष्टि के द्वारा लोकोत्तर सौन्दर्य का आधान किया जाता है। क्रमश कवि एवं समीक्षक भेद के अनुसार यह प्रतिभा द्विधा विभाजनीय है— कारयित्री' तथा 'भावयित्री'। ये नाम कविराज राजशेखर द्वारा दिये गये हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य इन्हें 'आख्या' तथा 'उपाख्या' कहकर पुकारते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य आचार्य स्पिनगन के अनुसार उन्हें Genius तथा Taste कहा गया है। वे इन दोनो मे कोई भी स्वीकार नहीं करते। वस्तुत यदि कवि कारयित्री प्रतिभा के द्वारा ईश्वरीय सृष्टि को शब्दार्थ के माध्यम से सहज सम्प्रेषणीय बनाता है तो समीक्षक भावन व्यापार के द्वारा किसी काव्यकृति का आस्वादन करता है। कवि मे हृदय-पक्ष की प्रधानता होती है तो भावक में हृदय के साथ ही साथ बुद्धिपक्ष की सहजता भी विद्यमान होती है। भावक तटस्थ रह कर ही किसी कृति विशेष का गुणदोष विवेचन कर पाता है, यदि वह इस

तटस्थ वृत्ति का परित्याग कर देता है तो उसकी समीक्षा भी एक प्रकार की कला-कृति बन जाती है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की प्रभाववादी धारा इसका प्रमाण है।

कारयित्री प्रतिभा का विवेचन करते समय ही इसकी गुणात्मक एवं परिमाणात्मक विशेषताओं पर विचार करना भी समीचीन होगा। इस प्रसंग को लेकर राजशेखर ने विशद रूप से विश्लेषण किया है। कवियों का वर्गीकरण करते समय यही कहना उपयुक्त होगा कि श्रेष्ठ कवि वे ही कहे जा सकते हैं जो कि मौलिक उद्भावना करने में निष्णात हों। भाव-वस्तु तथा शैली सम्बन्धी मौलिकता के आधार पर जो कि पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियों से सर्वथा मुक्त एवं अप्रभावित होकर चलते हैं वे ही वास्तविक कवि हैं। आदिकवि वाल्मीकि तथा व्यास इसी श्रेणी के कवि हैं। मध्यम श्रेणी के कवि वे हैं जो कि किसी अन्य कवि का भावापहरण करते हैं किन्तु अपने प्रतिभानैपुण्य के द्वारा उसमें मौलिकता एवं नवीनता भर देने की कला में भी निष्णात होते हैं। महाकवि बिहारी एवं भक्तवर तुलसी इस श्रेणी में स्मरण किये जा सकते हैं। वस्तुतः यह कार्य निन्द्य नहीं है क्योंकि ये कवि प्रेरणा तो प्राचीन कवियों से अवश्य लेते हैं परन्तु अपनी मौलिकता की छाप उस रचना पर अवश्य छोड़ जाते हैं। उदाहरणार्थ दोनों कवियों की रचनाएँ उनके मौलिक स्रोतों के साथ यहाँ दी जाती हैं :—

१—"स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम्।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवेनं प्रेक्षिष्यति ॥"

—गाथा सप्तशती

"बाम बाँह फरकत मिलै जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तोही सों भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि॥

—बिहारी सतसई

२—"सद्यः पुरी परिसरेऽपि शिरीषमृद्वी।
सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा॥
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा।
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥"

—बाल रामायण

"पुर ते निकसी रघुबीर वधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जलकी पुट सूखि गये मधुराधर वै॥

गिरि ब्रूम हैं धनरो अब केतिक पणकुटी करिहौ कित ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता प्रिय की अंखियां अति चारु चलीं जल च्वै ॥"
—कवितावली

अधम कोटि अथवा निकृष्ट श्रेणी की प्रतिभा वाले कवि किसी अन्य कविभाव का अपहरण तो करते ही हैं साथ ही साथ उसे अशिथिल-पद-विधान एवं अपरिपक्व काव्य शैली के द्वारा विद्रूप भी कर देते हैं। महाकवि बिल्हण ने 'विक्रमांकदेव चरितम्' में इस प्रकार के चोर कवियों के लिए स्पष्ट ही कहा है —

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचोराः प्रगुणीभवन्ति ॥'

आचार्य मम्मट ने 'पश्यन्ती' रूप वाणी-तत्त्व इसी 'प्रतिभा' अथवा 'शक्ति' का स्मरण निम्न रूप में किया है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥

मम्मट पर निश्चय ही शक्ति का विवेचन करते समय अभिनवगुप्त रुद्रट तथा राजशेखर आदि महान् आचार्यों का प्रभाव पड़ा है। वे कहते हैं 'या विना काव्यं न प्रसरेत्।' इस कथन का पूर्वाभास 'काव्य मीमांसा' की इन पंक्तियों में हो जाता है —

"या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।"

व्युत्पत्ति

'प्रतिभा' अथवा 'शक्ति' नामक प्रधान-काव्य हेतु के उपकारक के रूप में 'व्युत्पत्ति' का नाम लिया जा सकता है। हम पीछे यह स्पष्ट कर चुके हैं कि दण्डी तथा वामन आदि ने प्रतिभा के समान ही 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' को भी स्वतन्त्र महत्त्व प्रदान किया है। प्रतिभा व्युत्पत्ति के बिना कभी पूर्णता को नहीं प्राप्त कर पाती। ऐसे अनेक प्रतिभाशाली कवि हमारे साहित्य में देखे जा सकते हैं जिनमें व्युत्पत्ति के अभाव के कारण काव्य अपने चरम विकास पर नहीं पहुंच पाया है।

उदाहरणार्थ कबीर की मेधा अपराजित-प्रतिभा सम्पन्न थी किन्तु उनमें व्युत्पत्ति का अभाव था अर्थात् उन्होंने विधिवत् किसी से काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था। यही कारण है कि उनका काव्य भावपक्ष की दृष्टि से जितना मर्मस्पर्शी है कलापक्ष में उतना ही पिछड़ा हुआ है। रुद्रट ने व्युत्पत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है :—

"छन्दो व्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥"

'शक्ति' और 'व्युत्पत्ति' में परस्पर सामंजस्य करने का उद्योग ध्वनिवाद के प्रवर्त्तकों ने किया है। उनके अनुसार ये दोनों हेतु परस्पर प्रतिस्पर्द्धी न हो कर भिन्न रूप से अभिन्न बने रहते है। वस्तुतः कोई कवि तभी सफल हो सकता है जबकि वह व्युत्पत्ति द्वारा प्राप्त अनुभवों को 'प्रतिभा' का विषय बनाये। वास्तविक प्रतिभासम्पन्न कवि के लिए प्रत्येक वस्तु में कुछ न कुछ ऐसा स्पृहणीय तत्त्व मिल जाता है जिसके द्वारा कि वह अपनी 'शक्ति' को काव्य सृजन के माध्यम से सार्थक बना देता है। महाकवि बिल्हण ने इस विषय में अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए लिखा है :—

"कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु ।
कुर्यादनार्द्रेषु किमंगनानां केशेषु कृष्णागरुधूपवासः ॥"
—विक्रमांकदेव चरितम्

अभ्यास :—

'व्युत्पत्ति' अथवा काव्यशास्त्र के अध्ययन-मनन के अतिरिक्त अपने से पूर्ववर्ती आदर्श कवियों के ग्रन्थों का मनोनियोगपूर्ण अध्ययन तथा सतत रूप से काव्य रचना करने की प्रवृत्ति को 'अभ्यास' के अन्तर्गत किया जा सकता है। वास्तव में तो 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' में अत्यन्त ही सूक्ष्म अन्तर है। दोनों में भेद इस प्रकार किया जा सकता है कि 'व्युत्पत्ति' के अनुसार केवल लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन तथा लोक सामान्य ज्ञान का परिचय पाना आवश्यक है जबकि 'अभ्यास' के अन्तर्गत अन्य कवियों के लक्ष्य-ग्रन्थों का अध्ययन तथा अपनी स्वतन्त्र कविता के सृजन को महत्ता दी जाती है। आचार्य रुद्रट ने 'अभ्यास' की परिभाषा इस प्रकार की है :—

"अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम् ।
नक्तन्दिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम् ॥"
—काव्यालंकार

वामन ने 'अभ्यास' की प्रतिष्ठा निम्न रूप में की है —

> 'आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः ।
> पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥
> यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।
> तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥"

काव्य रचना में इसी सतत अभ्यास के द्वारा ही एक कुशल कवि रस तथा विषय के अनुकूल शब्द-अलंकार तथा छन्दों की योजना करने में समर्थ हो जाता है। 'निराला' का 'सरोज स्मृति' तथा 'राम की शक्तिपूजा' नामक कविताओं के शब्द एवं छन्दविधान से ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। यही बात पन्तजी की 'नौका विहार' एवं 'परिवर्तन' शीर्षक कविताओं में देखी जा सकती है। बिना असंहत 'अभ्यास' के कोई भी प्रतिभाशाली कवि समर्थ एवं प्रभविष्णु काव्य की रचना नहीं कर पाता। आचार्य दण्डी का वचन इस प्रसंग में स्मरणीय है —

> 'कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ।"

'काव्यप्रकाश' कार मम्मट के अनुसार 'अभ्यास' 'काव्यस्य करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिः' को कहते हैं। सत्य तो यह है कि रससिद्ध कवियों की रचनाओं में अभ्यास की प्रवृत्ति पृथक् रूप से कहीं भी नहीं परिलक्षित होती। कवि तथा सहृदय समीक्षकों अथवा श्रोताओं के लिए भी वाच्य-वाचक एवं व्यंग्य-व्यंजक प्रपंच को समझने के हेतु 'अभ्यास' का होना आवश्यक माना गया है। ध्वनिवादी विचारकों ने जो 'प्रतिभा' को एकमात्र हेतु सिद्ध किया उससे रुष्ट होकर मंगल नामक आचार्य ने तो यहाँ तक कह डाला है कि केवल 'अभ्यास' के आधार पर भी कोई व्यक्ति एक सफल कवि बन सकता है।

> "अभ्यासः काव्यकर्मणि परं व्याप्रियत इति मंगलः । अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः ।
> स हि सर्वत्रगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते ।'

हिन्दी प्रयोगवादी कवियों में प्रायः अधिकांश ऐसे ही हैं कि नैसर्गिकी प्रतिभा से तो वंचित हैं किन्तु 'फैशन' के लिए काव्यरचना आवश्यक समझते हैं, फलतः ये लोग 'अभ्यास' के आधार पर ही कालिदास और 'निराला' बनने की चेष्टा में कविता को गद्य पद्य में विशिष्ट निरर्थक शब्दाडम्बर मात्र समझते हैं। भामह और आनन्दवर्द्धन द्वारा अनुमोदित 'प्रतिभा' के सर्वथा अभाव के कारण इनका काव्य हास्य का आलम्बन ही अधिक बनता है, साधारणीकरण का विषय कम।

यही कारण है कि आगे चलकर इन समस्त मतमतान्तरों का समन्वय मम्मट को अपने 'काव्यप्रकाश' में करना पड़ा। यदि भामह तथा ध्वनिवादियों ने 'प्रतिभा' को प्रधान माना तो राजशेखर ने व्युत्पत्ति को महत्त्व दिया। मंगल ने 'अभ्यास' को ही काव्य का मूल हेतु स्वीकार किया है। दण्डी आदि ने इन समस्त हेतुओं का पृथक्-पृथक् विवेचन करना समीचीन समझा तो रुद्रट ने इनको त्रितय के रूप में स्वीकार किया। कहने का अभिप्राय यही है कि इन समस्त विद्वानों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप ही हेतु-विवेचन किया। आवश्यकता इस बात की थी कि इन समस्त विचारधाराओं की सामान्य विशेषताओं को लेकर किसी 'मध्यमा प्रतिपदा' का निर्माण किया जाये और मम्मट ने इस अभाव को पूरा किया।

हिन्दी में भी रीति काल तथा आधुनिक काल मे विविध आचार्यों ने इस प्रसंग पर विचार-विमर्श किया है किन्तु वे मम्मटानुमोदित मार्ग से एक चरण भी आगे नहीं बढ़ सके हैं। उदाहरण के लिये यहाँ प्रसिद्ध आचार्य भिखारीदास का अभिमत देकर हम इस-निबन्ध को समाप्त करते हैं—

> "सक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि जन्म नक्षत्र में दीन्हि विधातें।
> काव्य की रीति सिखी सुकवीनसों देखी सुनी बहु लोक की बातें॥
> 'दास' है जा में इकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातें।
> एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातें॥"

काव्य में छन्द का प्रयोग

डॉ० ओंकारप्रसाद माहेश्वरी

'काव्य' शब्द का प्रयोग साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में व्यापक अर्थों में किया गया है। उसमें गद्य एवं पद्य दोनों अन्तर्भूत हैं। पर, व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग पद्यबद्ध कविता के अर्थ में ही विशेष रूप में होता है। इस प्रकार लोक में सामान्यत काव्य और कविता एक दूसरे के पर्याय हैं। प्रस्तुत निबन्ध में भी इसी रूप में इसका प्रयोग किया गया है।

काव्य के कुछ आन्तरिक अनिवार्य तत्त्व होते हैं और कुछ बाह्य आवश्यक उपकरण। तत्त्वों में भाव एवं कल्पना का सर्वोपरि स्थान है तथा उपकरणों में भाषा, अलकार एवं छन्द का। तत्त्व वस्तुत बीज हैं, उपकरण उनके पोषक, तथा काव्य इन दोनों का सयुक्त फल। अत यह स्वीकार करते हुए भी कि भाव काव्य का प्राण है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि काव्य में उसके उपकरणों—भाषा, अलकार तथा छन्दों—का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण योग रहता है, जिनके अभाव में प्राय तत्त्वरूप बीज अकुरित और पल्लवित हुए बिना अपने आकर्षण, सौन्दर्य एव सरसता को खो बैठते हैं। इसलिये उत्कृष्ट और सफल काव्य के लिये यह आवश्यक है कि उसके अन्तरग एवं बहिरग में पूर्ण सामञ्जस्य हो—उसकी परिपुष्ट भावधारा तथा समर्थ अभिव्यजना गगा-यमुना के समान काव्य के सगम-स्थल पर हिल मिल कर बहें, और इस प्रकार, अपने तटवासियों के हृदयों को अपनी सम्मिलित तरगों के आनन्द-लोक में डुबा दें, तन्मय कर दें।

कविता के लिये जिन उपकरणों की ऊपर चर्चा की गई है, उनमें भाषा का सर्वाधिक महत्त्व तो निर्विवाद ही है, बल्कि यों कहना चाहिये कि उसके बिना पूरा साहित्य निराकार कल्पना मात्र रह जाता है, उसकी साकार प्रतिमा नहीं बन पाती। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में भाषा ससार नादमय-चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व की हृत्तन्त्री की झकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता

है।"[1] अतः बिना भाषा के तो काव्य-सृष्टि ही सम्भव नहीं। पर, काव्य के भाषा के अतिरिक्त जितने अन्य उपकरण हैं, उनमें छन्द का महत्त्व निस्सन्देह सर्वोपरि है।

'छन्द' शब्द का एक अर्थ कोष में आह्लादन भी है[2]—"छन्दयति-आह्लादयति इति छन्दः" अर्थात् जो मनुष्यों को प्रसन्न करता या आनन्द देता है, वह छन्द है। हम नित्य प्रति के अपने व्यावहारिक जीवन में देखते हैं कि 'लय' और 'ताल' से युक्त जो छन्दोबद्ध रचना गाई जाती है, उसकी मधुरता पर मनुष्य तो क्या, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु तक विमुग्ध हो जाते हैं। बैजू बावरे के मुग्धमृग तो इसकी अपनी एक कहानी ही लिख गये है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि छन्द के त्याग से, काव्य में, जो सम्मोहिनी संगीत-लहरी रहती है, जिससे काव्य को आकर्षण एवं रमणीयता मिलती है, उसका अभाव हो जाता है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि कविता का पूरा सौन्दर्य छन्द को लय के साथ जोर से पढ़े जाने में ही खिलता है। शब्दों की चलती लय में कुछ विशेष माधुर्य है।[3] इसीलिये अन्यत्र भी वे यही स्वीकार करते हैं—"छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।"[4] सारांश यह है कि छन्द को बन्धन मानकर छोड़ना उचित नहीं, इससे कविता के एक अंग का ह्रास होता है तथा उसका प्रभाव क्षीण हो जाता है। "जिस प्रकार कविता के भावों का अन्तःस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है, उसी प्रकार छन्दोबद्ध भाषा में भी राग (आकर्षण) का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है।......जिस प्रकार पतंग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इंगितों से हृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर हो जाता है।"[5]

इससे स्पष्ट है कि छन्द का काव्य में बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः दोनों का सम्बन्ध भी आकस्मिक न होकर अनिवार्य एवं अति प्राचीन है। पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक मिल ने लिखा है—"जबसे मनुष्य मनुष्य है तभी से उसके सभी गम्भीर और सम्बद्ध भावों की अपने आपको लययुक्त भाषा में व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। भाव जितने ही अधिक गम्भीर हुए है, लय उतनी ही विशिष्ट और निश्चित हो गई

१. गद्यपद्य ('पल्लव' की भूमिका), पृ० ४।
२. डा० हरिशंकर शर्मा कृत 'छन्द विज्ञान की व्यापकता', पृ० २।
३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १३६।
४. वही, पृ० १३५।
५. सुमित्रानन्दन पन्त—गद्यपद्य ('पल्लव' की भूमिका), पृ० ३०।

है। इन मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर यदि हम देश तो प्राय: सब देशों और कालों में भाषा की उत्पत्ति के समय से ही कविता और छन्द का मूलगत आन्तरिक सम्बन्ध रहा है। जीवविज्ञानवेत्ता तथा भाषाशास्त्री भी इस बात की पुष्टि अपने इस विश्वास द्वारा करते हैं कि आदि मानव ने भावावेग में जिस अभिव्यंजना पद्धति का अवलम्बन किया होगा वह पद्यात्मक रही होगी, जिसमें लय तथा नाद सौन्दर्य की प्रचुरता रही होगी। क्योंकि तीव्र भावावेग की अवस्था में व्यक्ति जो कुछ बोलता है उसमें लयात्मक प्रवाह स्वयमेव आ जाता है—उसकी अभिव्यक्ति अपने आप छन्दोमयी हो जाती है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट प्रकाश में आ जाती हैं—एक तो यह कि छन्द काव्य का प्रभावशाली महत्त्वपूर्ण उपकरण है और दूसरे यह कि काव्य से उसका अति प्राचीन आन्तरिक सम्बन्ध रहा है। प्रमाण के लिये दूर न जाकर भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों को ही देख लीजिये जिनके मन्त्रों में छन्द के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। इतना ही नहीं छन्द को वेद के षडंगों में स्थान दिया गया है तथा उसे वेद का पाद माना गया है— छन्दः पादौ तु वेदस्य।" अतः चरण स्थानीय होने के कारण भारतीय साहित्य शास्त्रियों की प्रारम्भ से ही छन्द के प्रति बड़ी श्रद्धा और पूज्य भावना रही है। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि के विचार से तो सारा वाङ्मय छन्द है— छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्द वर्जितम्।"[1] इसीलिये हम देखते भी हैं कि भारतीय कविता में छन्दोविधान अनादि काल से चला आ रहा है। क्या वैदिक काव्य और क्या लौकिक संस्कृत काव्य, सबमें छन्द का आधिपत्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। काव्य के क्षेत्र में छन्द का प्रयोग तो हमारे यहाँ साधारण-सी बात रही है पर धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्र कथासाहित्य, इतिहास, पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद अर्थशास्त्र आदि विषयों को भी छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे छन्द का व्यापक माहात्म्य तो सिद्ध हो ही जाता है साथ ही भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों के नियमित और व्यवस्थित रूप की ओर भी स्पष्ट संकेत मिल जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में आया हुआ एक प्रसंग भी छन्द शब्द के अर्थ, प्रयोजन, सामर्थ्य तथा महत्त्व पर मौलिक प्रकाश डालता है— देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते प्राविशन् ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्[2] अर्थात् मृत्यु से भय मानते हुए देवताओं ने त्रयीविद्या (वेद) में प्रवेश किया तथा अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया। मृत्यु से आच्छादन करने के कारण ही छन्दों को छन्द (छदि—आच्छादन) कहते हैं। इसी प्रकार की छन्द शब्द की व्युत्पत्ति सायण ने ऋग्वेद के भाष्य में दी है— अपमृत्यु वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः" अर्थात्

---

१ 'नाट्यशास्त्र', चतुर्दश अध्याय, श्लोक ४५।

२ छान्दोग्य उपनिषद्, १।४।२

कलाकार और उसकी कृति को छन्द अपमृत्यु से बचा लेते हैं। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि छन्द कविता का अमर संगीत है, जिसके बिना काव्य को मृत्यु का भय रहता है। डा० गोपालदास सारस्वत ने लिखा भी है—"छन्द काव्य को स्थिर जीवन तथा अमरत्व प्रदान करता है। इससे काव्य सुबोध, सुगम, रोचक हो जाता है।"[1]

एक बात और है जिसकी ओर डा० भगीरथ मिश्र[2] ने भी संकेत किया है। कविता की मुख्य विशेषता रमणीयता है, इस विशेषता की रक्षा का सहायक तत्त्व छन्द ही है जिसके अभाव में कविता को नीरस गद्य बनने में देर नहीं लगती। अतः छन्द का कविता में इस दृष्टि से भी सदैव से महत्त्व रहा है। आज मुद्रण-कला के विकास के कारण काव्य में रमणीयता का महत्त्व भले ही कम समझा जाने लगा हो, पर प्राचीन काल में तो यह कविता का प्राण थी। 'वाङ्मय' शब्द में इसी का संकेत है।

अन्त में हम कवि-कलाकार पन्त के 'पल्लव' के 'प्रवेश' की उन मार्मिक पंक्तियों को नीचे उद्धृत करते हैं, जिनमें काव्य और छन्द के सम्बन्ध की घनिष्ठता तथा एक का दूसरे को प्रभावित करने का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से कवित्वपूर्ण भाषा में प्रतिपादन किया गया है। पन्तजी भी छन्द को काव्य-मोहिनी की रेशमी विभा, उसकी इन्द्र-जाली कान्ति स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—"कविता तथा छन्द के बीच घनिष्ठ व बड़ा गहरा सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं।······छन्दबद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौह चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[3]

× × ×

"पद्य में वाणी का रोआं-रोआँ संगीत में सनकर, रस में डूबे हुए किशमिश

१. 'हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोग'।
२. 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास', पृ० ४१२।
३. गद्यपद्य ('पल्लव' की भूमिका), पृ० २२।

की तरह फूट उठता है सुरों म सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से, अपने आप अनवरत झकारों म कंपित रहते हैं । पावस की अधियारी म जुगनुओं की तरह अपनी ही गति में प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।''[1]

काव्य म छद की इस महत्ता और शक्ति को समझकर ही कुशल कवि सदैव मे रसानुगुण छन्दों का चयन करने म सचेत और सावधान रहे हैं। बात यह है कि जैसे गुण अलकार आदि रसोत्पत्ति म सहायक होते हैं, उसी प्रकार उपयुक्त छदो का विन्यास भी क्योंकि छद की पद-योजना गति, लय आदि का भाव तथा रस से गहरा सम्बन्ध होता है। इसीलिये जिस भाव और रस का जिस छन्द का जिस छन्द की पद-योजना गति, लय आदि से मेल खाता है सफल कवि उसी छन्द को उस रस के प्रसग म प्रयोग करते हैं। वस्तुत हमारे यहाँ रस एव छन्द का भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। इस बात की ओर रीति ग्रन्थकारों का 'हतवृत्तता' नामक दोष-विवेचन भी सकेत करता है, 'हतवृत्तता' दोष वहीं होता है जहाँ रस के स्वभाव के विपरीत शब्द का प्रयोग किया जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि छद का प्रयोग भाव एव वस्तु के अनुकूल करने से श्रेष्ठ काव्य की उत्पत्ति होती है। आचार्य क्षमेन्द्र ने अपनी सुवृत्त तिलक नामक १२८ कारिकाओं की छोटी-सी पुस्तक म मुख्य-मुख्य छन्दों के विवेचन के प्रसग म इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि छन्द का किस भाव या रस के प्रकरण म प्रयोग उचित और सफल है। उदाहरण के लिये जैसे—अनुष्टुप छन्द धर्मादि का उपदेश देने के लिये वशस्थ नीति के लिये वसन्ततिलका वीर तथा रौद्र रस के लिये मन्दाक्रान्ता वर्षा तथा वियोग-व्यथा आदि के लिये शार्दूलविक्रीडित शौर्य वर्णन के लिये, पृथ्वी आक्षेप, धिक्कार आदि के लिये विशेष उपयुक्त हैं। इस मैत्री को जो ध्यान म नहीं रखते उनके लिये वे लिखते हैं—'यदि कोई व्यक्ति कमर की मेखला गले में पहन ले तो पहनने वाले की अज्ञता ही प्रकट होगी। जिस प्रकार नवयुवती के योग्य वृद्ध पुरुष नहीं हो सकता उसी प्रकार सरस भावों के लिये रूखे छन्द तथा रूखे भावों के लिये सरस छन्द अनुपयुक्त होते हैं।'[2]

कविता के लोक म छन्द के इस गौरव एव दिगन्तव्यापी विजय प्रभाव का आभास हमारे मनीषियों को प्रारम्भ से ही हो गया था। इसीलिये प्राचीन काल से संस्कृत साहित्य म ब्राह्मण श्रौत सूत्र, अनुक्रमणी ग्रन्थों म छन्द विचार के पूरे-पूरे अध्याय रचे गये। महर्षि पिंगलाचार्य का 'छन्द सूत्रम्' तो इस विषय की सर्वाधिक पूर्ण एव प्रौढ़ रचना है जिसमे छन्द का इतने व्यापक एव विस्तृत रूप म वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया गया है कि छन्दविहीन कविता तो क्या, हमारी कोई

---

१ गद्यपद्य ('पल्लव' की भूमिका), पृ० ३१।
२ 'सुवृत्ततिलक', तीसरा विन्यास क्षमेन्द्र।

साधारण बात-चीत भी नहीं हो सकती, क्योंकि दो मात्राओं के लघुतम छन्दों का भी उसमें सूक्ष्म विवेचन और उल्लेख किया गया है। इस बात की पुष्टि डॉ० हरिशंकर शर्मा ने अत्यन्त उपयुक्त उदाहरणों द्वारा अपनी 'छन्द विज्ञान की व्यापकता' शीर्षक पुस्तक में बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से की है। उन्होंने अपने 'निवेदन' में लिखा भी है—"हमारी वाणी या लेखनी से जो भी अव्यक्त शब्द निकलते है, वे सब ही पिंगल-शास्त्र के वैज्ञानिक आधार पर छन्द कोटि में आ जाते हैं।"

पर आधुनिक काल के आते-आते पुरानी सभी वस्तुओं को ठोक-बजाकर देखने की जो आँधी चली, उसमें, काव्य क्षेत्र में छन्द की इस सार्वभौमिक विजय-माला को, कविता-कामिनी का शृङ्गार कम, पैरों की बेड़ी अधिक, समझा गया। धीरे-धीरे लोगों के हृदय में विश्वास जमने लगा कि छन्द कवि के भाव-प्रकाशन के स्वातन्त्र्य में कभी-कभी बड़ा रोड़ा अटकाता है; अतः छन्द के जटिल नियमों के बन्धन से परे रहकर भी सुन्दर कविता हो सकती है। कविता की युग-युगों की शृङ्खलाबद्धता के प्रति आस्था डगमगाकर विद्रोह करने लगी। पुराने लोगों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदीजी का विचार था—"पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनमें जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे।"[1] आगे उन्होंने यह भी लिखा है कि कविता गद्यात्मक या पद्यात्मक दोनों प्रकार की हो सकती है। पर वस्तुतः द्विवेदीजी ने जिसे कविता समझा है उसके लिए साहित्य-शास्त्र का 'काव्य' शब्द अधिक उपयुक्त होता; क्योंकि व्यवहार में तो छन्दोबद्ध रचना को ही कविता कहते हैं, जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है।

नवीन लोगों में छन्द के प्रति यह विद्रोह निरालाजी में अपने प्रखरतम रूप में दिखाई देता है। उन्होंने युग-युग की छन्द बाधित कविता को मुक्त छन्द कर उद्धार करने का प्रयास किया है। इसमें इन्हें बड़ी भारी सफलता भी मिली है। उन्होंने लिखा भी है—"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता भी मुक्त होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।"[2] किन्तु यहाँ एक बात स्पष्ट समझ लेना चाहिये। निरालाजी का कविता को मुक्त छन्द करने का अर्थ यही है कि छन्द शास्त्र के पुराने जटिल संकुचित नियमों की चहारदीवारी से निकाल कर उन्होंने कविता को

---

१. 'रसज्ञ रंजन', पृ० ३८।
२. 'परिमल', भूमिका, पृ० ६।

मुक्त गान में स्वच्छन्द विहार करने की अपूर्व शक्ति दी है। उनका विचार है— "छन्द गान की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति। दोनों ही सुन्दर हैं पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और तान की रागिनी। इसमें कौन अधिक आनन्दप्रद है यह बतलाना कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि आलाप वन्य प्रकृति तथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल है।"[1] परन्तु खेद की बात यह है कि निरालाजी के मुक्त-छन्द का हिन्दी संसार ने 'रबड़ छन्द' या 'केंचुआ छन्द' कहकर उपहास किया। फिर भी निर्भीक निराला ने काव्य की इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति की पुष्टि अपने 'परिमल' की भूमिका में वेदों के मुक्त स्वभाव कवियों के सशक्त उदाहरणों द्वारा की[2] और यह स्पष्ट लिखा कि "वेदों में काव्य की मुक्ति के एक हजार उदाहरण हैं बल्कि ९५ फीसदी मन्त्र इसी प्रकार के मुक्त हृदय के परिचायक हो रहे हैं।"[3]

वस्तुतः निरालाजी का प्रयत्न कविता को छन्द विहीन करना नहीं है और न यह सम्भव ही है। उनका— 'मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है।'[4] अर्थात् उनका मुक्त छन्द भी एक प्रकार का छन्द ही है जिसका समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम साहित्य उसकी मुक्ति।[5] इससे सिद्ध होता है कि निरालाजी छन्द का अनिवार्य तत्त्व प्रवाह और लय मानते हैं। पहले की कविता में यह प्रवाह और लय मात्राओं और वर्णों की निश्चित नियमित संख्या पर अवलम्बित था। पर अब ऐसा नियम बँधा नहीं रहा। किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जो कवि निरालाजी के समान प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं जिन्हें भावों के उतार चढ़ाव का सम्यक और सूक्ष्म ज्ञान होता है वे ही मुक्त छन्द रचनाओं में सफल हो सकते हैं। अन्यथा कोरे छन्द के बंधन को तोड़ने की धूम मचाने वालों की कविता तो बहुतेरे प्रयोगवादी कवियों की भाँति नीरस गद्य की पहुँच बनते देर नहीं लगती।

---

१ 'परिमल', भूमिका पृ० ६।
२ वही, पृ० ८।
३ वही, पृ० ७।
४ वही, पृ० १३।
५ वही, पृ० १३।

संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा

राजकिशोरसिंह

संस्कृत में साहित्य एवं काव्य समानार्थक होने के कारण संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, रीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि शब्द प्रायशः एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु रीति विषयक ग्रन्थों के विकास के बाद इस दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर मिलने लगता है। परिणामस्वरूप रीति एवं अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। और स्पष्ट हो जाता है अलंकार, साहित्य, काव्य आदि का स्वतन्त्र एवं भिन्न अस्तित्व भी।

भारतीय काव्य-शास्त्र जिसे 'साहित्य विद्या' या 'क्रियाकल्प' के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है, प्राचीन आचार्यों ने उसे सदा अलंकारशास्त्र या काव्यालङ्कार का नाम प्रदान किया है। किन्तु काव्यशास्त्र का विकसनशील स्वरूप 'अलङ्कार' शब्द में पूर्णतः समाहित न हो सकने के कारण अपना दूसरा नाम साहित्यशास्त्र प्राप्त करता है। लेकिन साहित्यशास्त्र नाम भी उपयुक्त सिद्ध न हो सका, क्योंकि साहित्य एक शास्त्र विशेष न होकर ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम है अथवा अनेक शास्त्रों एवं अनेक विचारों का समन्वित रूप है। काव्यशास्त्र के उदय काल में काव्य के सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले शास्त्र का नाम काव्यालङ्कार भी रहा है। इसीलिए प्रारम्भिक समग्र काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों के नाम काव्यालङ्कार रखे जाते थे। जैसे भामह का कारिकात्मक ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' उद्भट का 'काव्यालंकार सारसंग्रह', रुद्रट का 'काव्यालङ्कार', वामन का 'काव्यालङ्कार सूत्र'। किन्तु काव्य-सौन्दर्य के परीक्षा करने वाले इन ग्रन्थों में केवल अलंकारों का ही विवेचन नहीं है, अलंकारों के अतिरिक्त गुण, दोष, रीति, रस, काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन आदि सभी इन ग्रन्थों के विषय थे। इसलिए काव्य विषयक आलोचनात्मक इन ग्रन्थों को काव्यशास्त्र नाम प्रदान किया गया जो कहीं अधिक समीचीन एवं वैज्ञानिक है। "संस्कृत साहित्य के काव्य या कविता अंग की विधि-व्यवस्थाओं का विवेचन, समीक्षण, करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र है। उसमें हमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विचार विभेदों का वैज्ञानिक निरूपण

रखने का मिलता है। वस्तुत काव्य की विविध पद्धतियों की समालोचना, समीक्षा और उनके मूलस्वरूप का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्र का प्रधान कार्य है।[1]

पाश्चात्य आलोचना साहित्य में काव्य शास्त्र और अलंकार-शास्त्र को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। व भावाभिव्यंजन की पद्धति पर विचार विमर्श करने वाले शास्त्र को शैली-शास्त्र (Stylistics) के नाम से अभिहित करते हैं तथा साहित्य के गद्य-पद्य भेद के आधार पर गद्यशैली के प्रतिपादक शास्त्र को अलङ्कार-शास्त्र (Rhetoric) तथा पद्यशैली का विचार करने वाले शास्त्र को काव्य शास्त्र (Poetics) नाम से पुकारते हैं।[2]

काव्य-शास्त्र की प्राचीन परम्परा

मानव ने जिस दिन से कवित्व प्राप्त किया उसी दिन से वह भावुक आलोचक भी बन बैठा क्योंकि प्रतिभा दो प्रकार की होती है एक कारयित्री, दूसरी भावयित्री।[3] कवि स्वयं भी अपनी कविता का पर्यालोचन करता है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और तो और भावुक आलोचक भी कविता का पूर्ण रसास्वादन कवि रूप में बैठकर ही कर पाता है। इस प्रकार से कवि एवं भावुक की स्थिति समान है। वैदिक ऋषि ही हमारे प्रथम कवि हैं और वे ही प्रथम भावुक आलोचक भी। वैदिक ऋषि ने ही उस काव्य वाणी के सौन्दर्य का अनुसंधान किया था जो कि सहृदय पाठक के सम्मुख अपने सौन्दर्य को व्यक्त कर देती है। वह असहृदय व्यक्ति के हाथों में अपने को समर्पित नहीं करती क्योंकि असहृदय व्यक्ति उसे देखते हुए भी अन्धा बना रहता है, सुनते हुए भी बहरा रहता है।[4] इस प्रकार वैदिक ऋषि ने स्वयं ही काव्यालोचना का प्रारम्भ कर दिया था, वह स्वयं ही सर्वप्रथम काव्यास्वाद करने वाला बनता है। यहीं से काव्यालोचन का प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वैदिक

---

१ डॉ० भगीरथ मिश्र 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० ४-५।

२ जी० एम० गेले 'मेथड्स एण्ड मटिरियल्स फार लिटरेरी क्रिटिसिज्म', पृ० २४५-२४७।

३ सा (प्रतिभा) च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री—भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री—क पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति, भावकश्च कवि इत्याचार्या।

(राजशेखर काव्यमीमांसा, पृ० २६, ३१, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्)।

४ उतत्व पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा ॥

(ऋ० वे० १०।७१।४)

अन्यान्य मन्त्रों में उपमा[1], अतिशयोक्ति[2], व्यतिरेक[3], श्लेष[4], और रूपक[5] आदि अलङ्कारों के दर्शन होते हैं। उपनिषद् साहित्य में भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार के संकेत विभिन्न मन्त्रों में मिल जाते हैं।[6] अलंकारों के अतिरिक्त रस एवं छन्द विषयक वैदिक ऋषियों की जानकारी का भी पता चलता है। दाशराज्ञ सूक्त में युद्ध का सुन्दरतम वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जहाँ हमें इन्द्रस्तुति प्रसंग में वीर रस[7] के दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न ऋग्वैदिक सूक्तों में शृङ्गार रस की मधुर अभिव्यक्ति भी मिलती है। पुरुरवा-उर्वशी सम्वाद विप्रलम्भ शृङ्गार का[8] मनोमोहक रूप है। यमयमी सम्वाद भी कुछ इसी प्रकार का है। अक्षसूक्त में जुआरी का करुण विलाप करुण रस की ओर संकेत करता है तो हास्य रस का भी उस सूक्त में अभाव नहीं है। समग्र ऋग्वेद छन्दोबद्ध है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि वैदिक कविता के साथ-साथ वैदिक कवि की दृष्टि काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों की ओर भी रही थी।

वेदों के उपरान्त यास्क का निरुक्त कुछ स्पष्ट रूप में हमें काव्य-शास्त्र विषयक संकेत प्रदान करता है। यास्क के निरुक्त में उपमा अलंकार का संकेत भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा आदि के नाम से किया है।[9] यही नहीं उसने तो उपमा अलंकार का लक्षण किसी पूर्ववर्ती गार्ग्य नामक आचार्य के नाम से उद्धृत भी किया है।[10] इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि यास्क (७०० ई० पू०) से पूर्व भी काव्यशास्त्र विषयक मान्यतायें स्थापित की जा रही थीं। कुछ मान्यतायें स्थापित की जा चुकी थी, जिनका संकेत विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। सोमेश्वर कवि ने अपने 'साहित्य कल्पद्रुम' ग्रन्थ के 'यथासंख्यालंकार' प्रकरण में भागुरी का एक काव्य-शास्त्र विषयक मत उद्धृत किया है।[11] आचार्य अभिनव गुप्त ने भी ध्वन्यालोकलोचन में भागुरी का

---

१. ऋग्वेद, १।१२४।७, १०।७१।४, ५।८०।५।
२. ऋग्वेद, १।१६४।२०, ४।५८।३।
३. ऋग्वेद, १।१६४।११।
४. ऋग्वेद, १०।६६।१०।
५. ऋग्वेद, ३।५४।१३, ५।४१।११।
६. कठोपनिषद्, १।३।३, श्वेताश्वतरोपनिषद् ।४।५।
७. ऋग्वेद, १।१५१।६, २।१।६।
८. ऋग्वेद, १०।६५।३, १०।१०।७।
९. यास्क निरुक्त, ३।१३।१८।
१०. अथात उपमा यद् अतद् तत् सदृशमिति गार्ग्यः। (निरुक्त, ३।१३।)
११. 'साहित्य कल्पद्रुम' : राजकीय पुस्तकालय मद्रास का हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र, भाग १, खण्ड १, पृ० २८६५, ग्रन्थाङ्क २१२६।

शक रन विषयक मन्तव्य दिया है।[1] यह भागुरी वैयाकरण भागुरी ही था जिसकी गणना वायु, भरद्वाज चाणक्य आदि पुरातन महर्षियों[2] की कोटि म की गई है।[3] वैयाकरण पाणिनि (५०० ई० पू०) ने अपनी अष्टाध्यायी म उपमा शब्द का पारिभाषिक प्रयोग करने क साथ-साथ उपमित, उपमान एव सामान्य[4] आदि धर्मों का भी सकेत किया है। रामायण महाभारत कालिदास, भास आदि क ग्रन्थों म भी काव्य शास्त्र विषयक अनक तथ्यों की सत्ता मिलती है। द्वितीय शतक के जूनागढ़ स्थित रुद्र दामन क शिलालेख म काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है।[5]

काव्यशास्त्र की उपलब्ध परम्परा की सर्वाङ्गपूर्ण निश्चित सूचनायें हम इस काल तक क किसी भी ग्रन्थ म उपलब्ध नहीं होती हैं। उपर्युक्त प्रसङ्गों के आधार पर हम अनुमान यह अवश्य ही कर सकते है कि काव्यशास्त्र का उदय अवश्य ही हो चुका था। राजशेखर न काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का सम्बन्ध नटराज शकर स जोड़ा है। शारदातनय न अपने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ म नाट्यशास्त्र पर रचित योगमाला ग्रन्थ को भगवान शकर स सम्बद्ध कर योगमाला' के द्वारा भगवान शकर न विवस्वान् को ताण्डव लास्य नृत्त और नर्तन का उपदेश दिया था ऐसा सकेत किया है।[6] राजशेखर के अनुसार शकर न ब्रह्मा को सर्वप्रथम काव्यशास्त्र का उपदेश किया था, तथा ब्रह्मा ने अपने मानसजात अठारह शिष्यों को यह ज्ञान प्रदान किया। उन अठारह शिष्यो न सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को अठारह भागो म विभक्त कर प्रत्येक भाग पर एक एक ग्रन्थ लिखा है।[7] इन दोनो ही आचार्यों द्वारा प्रदत्त नामावली म बहुत स नाम तथा उनकी सत्ता प्रामाणिक नहीं है। किन्तु भावप्रकाशन' म नारद मुनि का नाम आया है और आज बड़ौदा से प्रकाशित 'नारद सगीत नामक ग्रन्थ

---

१ ध्वन्यालोकलोचन तृतीय उद्योत, पृ० ३८६।

२ मीमासक सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ० ७०।

३ वाचस्पति गैरोला सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६४१-४२।

४ तुल्यार्थैरतुल्योपमाभ्यां ततीयान्यतरस्याम्। पा० सू० २।३।७२।
उपमानानि सामान्य वचन । पा० सू० २।१।५५
उपमित व्याघ्रादिभिसामान्यप्रयोगे। पा० सू० २।१।५६।

५ 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालङ्कृत गद्य पद्य।" रुद्रदामन शिलालेख।

६ भावप्रकाशन, द्वितीय अधिकरण, पृ० ४५।

७ तत्र कविरहस्य सहस्राक्ष समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिकगर्भ । रीतिनिर्णय सुवर्णनाभ', आनुप्रासिक प्रचेता, यमोयमकानि, चित्रचित्राङ्गद, शब्दश्लेष शेष, वास्तव पुलस्त्य, औपम्यमौपकायन, अतिशय पाराशर', अर्थश्लेषमुतथ्य, उभयालङ्कारिक कुबेर वनोदिक कामदेव, रूपकनिरूपणीय भरत, रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर, दोषाधिकरणधिषण, गुणोपादानिकमुपमन्यु, औपनिषदिक कुचमार, इति। (काव्य मीमासा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, अ० १, पृ० १।)

सम्भवतः उन्हीं का है। इसी प्रकार राजशेखर द्वारा प्रदत्त नामावली मात्र कवि की कल्पना ही नहीं है।[1] क्योंकि इस सूची में भरत तथा नन्दिकेश्वर के भी नाम हैं, जिनके ग्रन्थ आज प्राप्त एवं प्रकाशित भी हैं, फिर अन्य नामों के ऊपर अविश्वास करना संगत नहीं है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी सुवर्ण नाभ, कुचमार आदि प्राचीन राजशेखर द्वारा संकेतित आचार्यों के नाम मिलते हैं।[2] इन नामों की पुष्टि वात्स्यायन के कामशास्त्र से भी होती है।[3] भरत ने स्वयं भी अपने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य तथा धूर्तिल नामक आचार्यों का उल्लेख किया है।[4] अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनवभारती में एक स्थान पर लिखा है कि नाट्यशास्त्र की कुछ आर्यायें पूर्वाचार्यों की हैं जिन्हें भरत ने अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर लिया है।[5] इसी प्रकार के कुछ अन्य तुम्बरु, चारायण, सदाशिव, पद्मभू, द्रौहिणी, व्यास, आञ्जनेय, कात्यायन, राहुल, शक्तिगर्भ, घण्टक आदि आचार्यों का नामोल्लेख भावप्रकाशन, नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती आदि ग्रन्थों में मिलता है। इन सभी प्राप्त नामों के आधार पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में काव्य-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। भले ही ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं किन्तु इनकी सत्ता के प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं।[6]

वैदिक काल से लेकर ईसापूर्व ५०० वर्ष पाणिनि मुनि के काल तक काव्यशास्त्र विषयक पर्याप्त अध्ययन-अध्यापन हुआ है; इसके संकेत मिलते हैं। किन्तु प्रामाणिक शास्त्रीय निरूपण हमें भरत के नाट्यशास्त्र तथा इन्हीं के समसामयिक नन्दिकेश्वर के अभिनय दर्पण में मिलता है। कुछ समय पूर्व भरत एवं नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त थे, किन्तु अभिनय दर्पण[7] नामक ग्रन्थ के प्रकाशित होने के उपरान्त लगभग यह धारणा पूर्णतः परिवर्तित हो चुकी है। अब यह प्रायः निश्चित मत है कि नन्दिकेश्वर एवं भरत दोनों का भिन्न व्यक्तित्व है। भरत के स्वयं विभिन्न उद्धरणों से यह भी प्रायः निश्चित है कि नन्दिकेश्वर भरत से पूर्व हुए थे।

---

१. एस० के० डे : 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स', प्रथम भाग।

२. नाट्यशास्त्र, ६।१३०; ६।१४४; ६।१६६।

३. कामसूत्र, १।१।१३; १।१।१७।

४. कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्य शाण्डिल्य धूर्तिलः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम्॥

५. ता एता ह्यार्या एक प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः॥
(अभिनव भारती, अध्याय ६।)

६. एस० के० डे : 'स्टडी इन दि हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स', इन्ट्रोडक्शन, पृ० २१, पी० बी० काणे : 'साहित्य दर्पण', इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३६।

७. मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित एवं कलकत्ता से प्रकाशित।

काव्यमीमांसा में प्राप्त 'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वर'[1] से पता चलता है कि नन्दिकेश्वर रस विषय के प्रथम आचार्य थे। कामशास्त्र[2] व संगीतशास्त्र[3] में उनके आचार्यत्व की घोषणा की गई है। नन्दिकेश्वर के नाम से 'तालनारायणी', नन्दिकेश्वर तिलक, प्रभाकरविजय, 'लिङ्गधारण चन्द्रिका' आदि परस्पर विरोधी सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। किन्तु इन सभी पुस्तकों का रचयिता एक ही नन्दिकेश्वर रहा होगा इसमें सन्देह है। मद्रास की मार्च रिपोर्ट में नन्दिकेश्वर के नाम से 'तालनक्षण' तथा 'तालादिलक्षण' ग्रन्थों की चर्चा हुई है।"[4] इसी आधार पर मनमोहन घोष ने संगीत को उनका प्रिय विषय माना है। इनके व्यक्तित्व के विषय में विभिन्न मत हैं। इन्हें कुछ विद्वान् तन्त्र, पूर्वमीमांसा, लिङ्गायन, शैव आदि सिद्धान्तों का अनुयायी मानते हैं तो कोई इन्हें शिव[5] का अवतार मानते हैं और दक्षिण में इन की पूजा का विधान है इसका संकेत करते हुए इन्हें दाक्षिणात्य भी सिद्ध करते हैं। भावप्रकाशन में शिव की आज्ञा से ये भरत तथा उनके पाँच शिष्यों को नाट्यवेद की शिक्षा देते हैं।[6] भरत को नाट्यशास्त्र की शिक्षा अथवा प्रेरणा नन्दिकेश्वर से प्राप्त हुई थी। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है कि तण्डु दूसरा नाम नन्दिकेश्वर ने अंगहारों करणों और रेचकों के अभिनय की शिक्षा भरत को दी थी। अभिनव भारती में भी नन्दिन और भरत को तण्डु और मुनि इन दूसरे नामों से सङ्केतित किया गया है। रामकृष्ण कवि ने भी दोनों को एक मान कर नन्दीश्वर संहिता उनकी रचना स्वीकार की है जो कि आज 'अभिनय दर्पण' के रूप में प्राप्त है। नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण की विषय सामग्री का तुलनात्मक विवेचन करने पर वाचस्पति गरोला ने 'अभिनय दर्पण' को प्राचीन रचना माना है।[7]

महामुनि भरत, २०० ई० पू०

नाट्यशास्त्रकार के रूप में भरतमुनि का संस्कृत साहित्याकाश में अद्वितीय स्थान है। नाट्यशास्त्र अपने विषय का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र में ३७ अध्याय हैं। इनमें अलंकार रस छन्द दशरूपक वृत्तियों आदि पर सूक्ष्म एवं मौलिक

---

१ काव्य मीमांसा, काव्यरहस्य प्रकरण, पृ० १, बि० रा० भा० परिषद् पटना।
२ बलदेव उपाध्याय साहित्यशास्त्र, भाग १, पृ० १३।
३ संगीतरत्नाकर, पृ० ८ ६, श्लोक १६ १७।
४ संस्कृत साहित्य का इतिहास, गरोला, पृ० ६४६।
५ सौन्दर्य लहरी, परिचय, पृ० १०, सम्पादक, शास्त्री, आयगर।
६ भावप्रकाशन, दशम अधिकरण, पृ० २८५ २८७।
७ गरोला 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ६४७।

विवेचन किया गया है। इस विषय-विवेचन का यदि गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करें तो हमें ग्रन्थकार की विद्वत्ता एवं ग्रन्थ की व्यापकता का पता चलता है और पता चलता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा भरत से भी प्राचीन है।

भरत के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की अपनी विभिन्न धारणायें है। कुछ विद्वान् एक ओर उन्हें आधुनिकतम सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तो दूसरी ओर कुछ विद्वान् प्राचीनतम। 'काव्यप्रकाशादर्श' के रचयिता की दृष्टि से भरत का नाट्यशास्त्र 'अग्निपुराण' के बाद की रचना है। किन्तु अग्निपुराण में भरतमुनि एवं उन के नाट्यशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख 'भरतेन प्रणीतत्वात्' आदि के रूप में मिलता है। अतः हम अग्निपुराणकार को भरत-परवर्ती मानते हैं।

अग्निपुराण

अग्निपुराण काव्यशास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से समृद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना का समय विवादास्पद है। डा० ए० के० डे इसे नवम शतक, पी० वी० काणे ध्वन्यालोक परवर्ती रचना मानते हैं। आनन्दवर्धन, मम्मट ने इस पुराण का अपने ग्रन्थों में उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम आचार्य विश्वनाथ[1] ने अग्नि-पुराण का उल्लेख किया है। अतः यह परवर्त्ती रचना सिद्ध होती है। किन्तु अग्नि-पुराण में प्राप्त अलङ्कारों की संख्या के आधार पर उसे पूर्ववर्त्ती रचना सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि अग्निपुराण मे प्राप्त पन्द्रह अलङ्कारों की सत्ता उसे नाट्य-शास्त्र परवर्त्ती तथा भामह दण्डी से पूर्ववर्त्ती रचना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। नाट्यशास्त्र तथा अग्निपुराण में क्रमशः चार और पन्द्रह अलङ्कार हैं। भामह तथा दण्डी के ग्रन्थों में क्रमशः तेईस तथा अड़तीस अलंकार हैं जो कि क्रमिक विकास के सूचक है। अलंकारों के क्रमिक विकास के आधार पर इसे भामह-दण्डी पूर्ववर्त्ती सिद्ध किया जा सकता है। पोद्दारजी इसे द्वितीय-तृतीय शतक की रचना मानते हैं।

भामह

काव्य-शास्त्र की परम्परा का विकास समुचित रूप से भामह से होता है। 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ में काव्यशास्त्र विषयक पूर्ण परिपक्व सिद्धान्त मिलते हैं। भामह ने अपने ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। किन्तु उन के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के अभाव में हम भामह को ही काव्य एवं नाट्य को अलग-अलग

---

१. 'साहित्य दर्पण', प्रथम परिच्छेद, पृ० ११, शालिग्राम टीका।

विकसित करने का श्रेय देते हैं। समय की दृष्टि से कुछ विद्वान् भामह को दण्डी परवर्ती सिद्ध करना चाहते हैं। सब से पहले एम० टी० नरसिंह आयङ्गर ने सन् १९०५ में 'जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी' (पृ० ३५५) में इस प्रश्न को उठाया और दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती सिद्ध करने का यत्न किया। परन्तु इनके मत का बड़ा विरोध हुआ। डा० त्रिवेदी ने 'प्रताप रुद्र-यशोभूषण' की भूमिका में प्रो० रङ्गाचार्य ने 'काव्यादर्श' की भूमिका में, गणपतिशास्त्री ने स्वप्न वासवदत्ता की भूमिका में और प्रो० पाठक ने 'कविराजमार्ग' की भूमिका में दण्डी को भामह से पूर्ववर्ती ठहराने वाले नरसिंह आयङ्गर के मत का विस्तार के साथ खण्डन किया।[1] अब अधिकांश विद्वान् भामह को दण्डी से पूर्ववर्ती मानते हैं। श्री पोद्दारजी ने अनेक ग्रन्थों के विवेचन के उपरान्त भामह की उत्तरवर्ती सीमा ६०० ई० निश्चित की है यही मत बलदेव उपाध्याय तथा डा० नगेन्द्र का भी है।[2]

भामह का प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' है। इस ग्रन्थ को उद्भट, आनन्द, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि विद्वानों ने प्रमाणस्वरूप उद्धृत कर मान्यता प्रदान की है। इस ग्रन्थ में छः परिच्छेद हैं, जिनमें काव्यप्रशंसा, काव्यसाधन, काव्य-लक्षण, काव्यभेद, काव्यदोष, अलङ्कार गुण तथा शब्द शुद्धि विषयक शिक्षा का उल्लेख किया गया है। उद्भट ने इस पर 'भामह विवरण' नामक टीका लिखी है।

दण्डी

काव्य शास्त्र की परम्परा में दण्डी का उल्लेखनीय स्थान है। दण्डी का काव्यादर्श काव्य-शास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में काव्य परिभाषा, काव्यभेद, काव्यहेतु महाकाव्य लक्षण गद्यकाव्य के भेद, कथा आख्यायिका, मिश्रकाव्य आदि पर विचार करने के साथ-साथ अलङ्कार, चित्र काव्य प्रहेलिका, दोष आदि पर भी विचार किया गया है। 'काव्यादर्श' के अतिरिक्त दण्डी की दो अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है एक दशकुमारचरित' और दूसरी 'अवन्ति-सुन्दरीकथा'। ये दोनों ही ग्रन्थ कथा-काव्य हैं।

दण्डी का समय अष्टम शतक के लगभग निश्चित होता है। दण्डी ने स्वयं अपने को 'अवन्ति-सुन्दरीकथा' में महाकवि भारवि का प्रपौत्र निर्दिष्ट किया है। बाण

---

१ आचार्य विश्वेश्वर काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० ३० ३१।
२ बलदेव उपाध्याय 'भारतीय साहित्यशास्त्र', खण्ड १, पृ० ४२ ४३।
डा० नगेन्द्र 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा', पृ० ३४।

तथा मयूर कवि की प्रशंसा भी की है। इसलिए उनका समय सप्तम शतक में राजा हर्षवर्धन (६०६-६४८) की सभा के प्रसिद्धि-प्राप्त कवि बाणभट्ट के बाद का है।

उद्‌भट, अष्टम-शतक-पूर्वार्ध[1]

'अलंकार एव काव्ये प्रधानम्' की स्थापना करने वाले उद्‌भट की अनेक स्थापनाओं को आन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, मम्मट और रुय्यक आदि आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। उद्‌भट का 'काव्यालंकार सारसंग्रह' ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है। इसमें ७६ कारिकाएँ हैं तथा ४१ अलंकार छः वर्गों में विभक्त हैं। उद्‌भट के अन्य दो ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं। भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं में इनका नाम लिया जाता है।[2]

वामन

आचार्य वामन काव्यशास्त्र की परम्परा में रीति सम्प्रदाय के जन्मदाता माने जाते हैं। उनका ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार सूत्र' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'राजतरंगिणी' में काश्मीरी राजा जयादित्य का मन्त्री इन्हें कहा गया है।[3] इसी के आधार पर इनका समय नवम शतक का प्रारम्भ माना जा सकता है। बूलर[4], पोद्दार[5], डॉ० नगेन्द्र[5], आदि विद्वान् इनका यही समय स्वीकार करते हैं।

वामन का ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है; प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं; जिसके सूत्रों की संख्या ३१६ है। इस ग्रन्थ में काव्य-शास्त्र के सभी प्रमुख विषयों का सर्वाङ्गीण विवेचन है। रीति को इस ग्रन्थ में काव्य की आत्मा का पद दिया गया है।

रुद्रट

काव्य-शास्त्र की परम्परा में अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य के रूप में

---

१. 'राजतरंगिणी', ४।४।६५।
२. व्याख्यातारो भारतीयेलोल्लटोद्‌भटशंकुकाः।
   महाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥
३. बूलर की काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ६५।
४. पोद्दार : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० १५२।
५. डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका', पृ० ६६।

रुद्रट को मान्यता प्राप्त है। इनका दूसरा नाम शतानन्द था किन्तु प्रसिद्धि रुद्रट के नाम से ही हुई है। ये काश्मीरी थे; इनके पिता का नाम वामुक भट्ट था।[1]

रुद्रट एवं रुद्रभट्ट में अन्तर न कर सकने के कारण वूलर, पिशेल, वेबर आदि विद्वान् इन्हें एकादश शतक का मानते हैं। किन्तु इनका समय नवम् शतक है। कीथ ने भी इनका काल नवम् शताब्दी के मध्य में ही स्वीकार किया है।

रुद्रट का प्राप्त ग्रंथ 'काव्यालंकार' है। यह सोलह अध्यायों में विभक्त है। समग्र ग्रन्थ ७१४ आर्या छन्दों में लिखा गया है। सोलह में से ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का सर्वाङ्गीण वैज्ञानिक रूप में विवेचन किया गया है। काव्य-शास्त्रीय अन्य सभी विषयों पर भी इस ग्रंथ में विवेचन मिलता है।

आनन्दवर्धन, ८५० ई०[2]

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन संस्कृत काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त के जन्म दाता तथा काव्य शास्त्र की परम्परा में युगान्तर उपस्थित कर देने वालों में से हैं। आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त ने अलंकार, रीति आदि सिद्धान्तों के साथ-साथ रस सिद्धान्त को भी अन्तर्भुक्त कर लिया है। ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता को रसवादी राजशेखर विश्वनाथ पण्डितराज जगन्नाथ[3] तक ने स्वीकार किया। यही नहीं काश्मीरी पण्डित परम्परा में भी उनका सम्मानास्पद स्थान है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने विषमबाणलीला, अर्जुनचरित', देवीशतक', तत्त्वालोक' ध्वन्यालोक' नामक पाँच ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में काव्य के आत्मतत्त्व ध्वनि का प्रतिपादन किया गया है। ध्वन्यालोक' में चार उद्योत हैं जो एक सौ उनतीस कारिकाओं में विभक्त हैं। प्रथम उद्योत

---

१ शतानन्द पराख्येनभट्टवामुकसूनुना।
साधित रुद्रटनेद समाजाधीमता हितम्॥
(काव्यालंकार, ५।१२ १४ की टीका)

२ कीथ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास'। पोद्दार 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' भाग १, पृ० ६६।
डा० नगेन्द्र 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा', पृ० १०२।
कल्हण राजतरंगिनी, ५।४।
ध्वनिनातिगम्भीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धन कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

में ध्वनि की स्थापना की गई है। द्वितीय में ध्वनि के भेदों का परिगणन करने के साथ रसवदादि अलंकारों तथा माधुर्य आदि गुणों की भी व्याख्या की गई है। तृतीय में पदवाक्य व्यंजकता, संघटना, औचित्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य, काव्यालंकार आदि का विवेचन है। चतुर्थ में ध्वनि का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। यह ग्रन्थ मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन तथा विषय-गाम्भीर्य की दृष्टि से अद्वितीय है। यह कृति काव्य-शास्त्र के इतिहास में युगप्रवर्त्तन का कार्य करती है। जैसे व्याकरण में पाणिनी सूत्रों का अथवा वेदान्त में वेदान्त सूत्रों का स्थान है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' का स्थान है।

राजशेखर

काव्य-शास्त्र की परम्परा में राजशेखर की अनुपम देन 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ है। इस से पूर्व ये संस्कृत साहित्य में एक नाटककार के रूप में विख्यात थे। राजशेखर नाम के संस्कृत साहित्य में अनेक विद्वान् हो चुके हैं। म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[1] इनके नाटकों से प्राप्त उद्धरणों से पता चलता है कि ये कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल के उपाध्याय[2] और उसके पुत्र महीपाल के कृपापात्र थे। महीपाल का समय ९२०-९४० ई० सन् तक माना गया है। 'राजशेखर' ने काव्य मीमांसा में उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कन्नौज के वाक्पति एवं भवभूति का उल्लेख किया है तथा क्षेमेन्द्र, सोमदेव, सोड्डल (१०४०-१०६०), अभिनव गुप्त तथा मम्मट ने भी इनका उल्लेख किया है। अतः राजशेखर का समय ८८०-९२० ई० सन् निर्विवाद माना जा सकता है।[3] एपीग्राफिया इंडिका के प्रथम भाग, पृ० १७१ पर भी यही समय राजशेखर का माना गया है।

राजशेखर का 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष को लेकर नहीं लिखा गया है। इस ग्रन्थ का विषय रस, गुण, अलंकार आदि न होकर कवि शिक्षा है। यह ग्रन्थ कवियों के काव्य व्यवहार ज्ञान के लिए एक मात्र कोष ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा परवर्ती सभी विद्वानों ने की है।

मुकुलभट्ट

मुकुलभट्ट की एकमात्र रचना 'अभिधावृत्तिमातृका' है, जिसमें केवल १५

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (१९८७ वि०) पृ० ३६५-३७०।

२. रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकल कला निलयः स यस्य शिष्यः।
विद्धशाल भंजिका, अङ्क १।

३. 'काव्यमीमांसा', भूमिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ० ३।

वृत्ति सहित कारिकाएँ हैं जो कि अभिधा और लक्षणा का विवेचन करती हैं। इस ग्रन्थ में ध्वनि एवं व्यंजना का अप्रत्यक्ष विरोध किया गया है। मुकुलभट्ट ने व्यंजना तो क्या लक्षणा को भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधा का ही एक भेद माना है।

मुकुलभट्ट के विभिन्न सिद्धान्तों का खण्डन 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने किया है। अतः ये मम्मट से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। प्रतिहारेन्दुराज ने मुकुलभट्ट को अपना गुरु माना है। मुकुलभट्ट ने स्वयं 'भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता' लिख कर अपने को भट्टकल्लट का पुत्र बतलाया है। राजतरंगिणी में भट्टकल्लट को अवन्तिवर्मा का समकालीन बतलाया गया है।[1]

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के प्रतिष्ठितप्राप्त विद्वान् हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन की ध्वनि परम्परा के आचार्य हैं। इनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। ये अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे। इनके अनेक गुरुओं का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार इनकी गुरु परम्परा विस्तृत है उसी प्रकार इनके ग्रन्थों की संख्या भी ४१ के लगभग है। किन्तु काव्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली कृतियों में 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' हैं। श्री वाचस्पति गरोला ने इनके एक अन्य ग्रन्थ का भी संकेत देकर काव्य शास्त्र के ग्रन्थों के साथ लिया है। काव्यशास्त्र पर उन्होंने अभिनवभारती 'ध्वन्यालोकलोचन (सहृदयालोचन या काव्यालोकलोचन) और 'काव्यकौस्तुभ विवरण' नामक तीन टीकाग्रन्थ क्रमशः भरत के 'नाट्यशास्त्र' आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' और अपने गुरु भट्टतौत के 'काव्यकौस्तुभ पर लिखे।[2] काव्यशास्त्र पर केवल टीकाग्रन्थ होने पर भी वे अनेक मौलिक ग्रन्थ लेखकों से अधिक मौलिक और अधिक गम्भीर हैं। व्याकरण में महाभाष्यकार पतंजलि, दार्शनिक टीकाकारों में वाचस्पति मिश्र को जो महत्त्व प्राप्त है वही काव्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को महत्त्व प्राप्त है। भरत के प्रसिद्ध रससूत्र पर इनकी व्याख्या युगान्तकारी है। यदि भरत एवं आनन्दवर्धन को इन जैसा टीकाकार उपलब्ध न हुआ होता तो इन दोनों काव्यशास्त्रियों की सत्ता आज प्रश्नवाचक चिह्न के साथ ही स्वीकार की जाती।

अभिनवगुप्त का समय निश्चय ही आनन्दवर्धन के पश्चात् और मम्मट से पूर्व में होना चाहिए, क्योंकि आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' के ये टीकाकार हैं उनका

---

१ अनुग्रहाय लोकानां भट्टा श्रीकल्लटादयः।
  अवन्तिवर्मणः काले सिद्धामुवमवातरन् ॥ ५।६६।
२ गरोला 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ६५७।

समय ८५५-८८४ ई० है। मम्मट का समय एकादश शतक उत्तरार्ध है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में अभिनवगुप्त का सम्मान के साथ उल्लेख किया है अतः उनसे पूर्ववर्ती इन्हें होना ही चाहिए। इसलिए अभिनवगुप्त का समय दशम शतक का उत्तरार्ध स्थिर होता है। यही गैरोला, पोद्दार एवं डॉ० नगेन्द्र का भी अभिमत है।[1]

धनंजय

धनंजय नाट्यशास्त्र की परम्परा के आचार्य है। इनका ग्रन्थ 'दशरूपक' भरत मुनि के उपरात इस विषय पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सरल व आकर्षक शैली में लिखा गया है। धनंजय ने अपने पिता का नाम विष्णु बतलाया है। ये महाराज मुञ्ज के समकालीन थे।[2] प्रायः सभी प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने इसी श्लोक के आधार पर इनका समय ९७४-९९४ ईस्वी सन् माना है। धनंजय की रस-निष्पत्ति विषयक मान्यता भावकत्ववाद के रूप में प्रतिष्ठित है।

'दशरूपक' ग्रन्थ में चार प्रकाश हैं जिनमें लगभग ३०० कारिकाएं हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में नाट्यलक्षण, पञ्चसन्धि, अर्थोपक्षेपक तथा वस्तु के भेदों का विवेचन किया गया है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद तथा वृत्तियों पर विचार किया गया है। तृतीय प्रकाश में नटकीय तत्त्वों पर तथा चतुर्थ प्रकाश में रस के विभिन्न तत्त्वों पर विचार किया गया है। धनंजय के 'दशरूपक' पर इनके छोटे भाई धनिक ने अवलोक नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है। उनका समय ९९४-१००० ई० के मध्य है।[3]

राजानक कुन्तक

आचार्य कुन्तक काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के जनक माने जाते हैं। इन्होंने 'वक्रोक्ति काव्यजीवित' नामक ग्रन्थ में वक्रोक्ति को ही काव्य का आधारभूत तत्त्व माना है। तथा अन्यान्य समस्त काव्य तत्त्वों को वे इसी में आत्मसात् कर लेना चाहते हैं। इनका यह सिद्धान्त काव्यशास्त्र में अधिक मान्यता प्राप्त न कर सका।

---

१. गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ९५७।
   पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १९२।
   नगेन्द्र : 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा', पृ० २०८।

२. विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्मनोराग निबन्धहेतुः।
   आविष्कृतं मुञ्जमहीश गोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्।
   (दशरूपक ४।८६।)

३. डा० गोविन्द त्रिगुणायत : 'हिन्दी 'दशरूपक', भूमिका, पृ० ६-७।

यह ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है जिनमें काव्य के प्रयोजन, लक्षण तथा प्रतिपाद्य विषय वक्रोक्ति का विवेचन किया गया है। कुन्तक का समय आनन्दवर्धन तथा राजशेखर से बाद में होना चाहिए, क्योंकि इन्होंने इन दोनों ही आचार्यों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है।[1] व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने एक श्लोक में कुन्तक का नामोल्लेख किया है।[2] इस प्रकार इनका समय महिमभट्ट से पूर्व तथा आनन्दवर्धन राजशेखर के उपरान्त एकादश शतक का प्रारम्भ माना जा सकता है। डा० नगेन्द्र का भी यही अभिमत है।[3]

महिमभट्ट

महिमभट्ट का ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' उनकी तर्क शक्ति का परिचायक है। ये ध्वनि विरोधी आचार्य कुन्तक के समकालीन हैं। इनकी कृति का मूल उद्देश्य ध्वनि को अनुमानान्तर्भुक्त करना है।[4] इनका यह ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि का प्रबल रूप से खण्डन कर ध्वनि को अनुमान के अन्दर समाहित कर लेते हैं। दूसरे में वाच्यदोष तथा तीसरे में ध्वनि के उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के व्यंजना विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन काव्यप्रकाशकार मम्मट ने किया है। अतः ये मम्मट से पूर्ववर्ती हैं तथा आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी इस अनुमितिवाद का उल्लेख नहीं किया है, अतः उनसे परवर्ती एकादश शतक के आचार्य हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र, एकादश शतक

औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र अपर नाम व्यासदास[5] काश्मीरी

---

१ वक्रोक्ति जीवित — यस्मादनर्ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत्र किं पौनरुक्त्येन, पृ० १६६।
"भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते।" (वक्रोक्ति जीवित पृ० १५६।)

२ काव्यकाञ्चन शाणमानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया। (व्यक्तिविवेक) पृ० ५८।

३ डा० नगेन्द्र वक्रोक्ति काव्य जीवित भूमिका, पृ० ८।

४ अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्। (व्यक्तिविवेक)

५ श्रीव्यासदासाख्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्र नाम्ना विहितः प्रबन्धः।
(दशावतार चरित, १०।४१।)

पण्डितों में से एक है। क्षेमेन्द्र स्वयं को अभिनवगुप्त का शिष्य[1] व अनन्तराज का सभापण्डित बतलाते हैं।[2]

क्षेमेन्द्र लगभग चालीस ग्रन्थों के लेखक हैं किन्तु काव्य-शास्त्र में 'औचित्य विचारचर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' इन दो ग्रन्थों के कारण आप प्रसिद्धि प्राप्त हैं। औचित्य-विचारचर्चा में भरत द्वारा उल्लिखित औचित्य तत्त्व का काव्य के प्राणाधायक तत्त्व के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

भोजराज, एकादश शतक

इनके दो ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश' हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ काव्य-शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। 'सरस्वतकण्ठाभरण' में दृश्य काव्य के अतिरिक्त काव्य के शेष सभी तत्त्वों का विनिवेश किया गया है, जोकि पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। 'शृङ्गारप्रकाश' में रसराज शृङ्गार का विवेचन है। यह ३६ अध्याय वाला ग्रन्थ है।

मम्मट, एकादश शतक उत्तरार्ध

काव्य-शास्त्र के इतिहास में ध्वनि-प्रस्थापनाचार्य मम्मट का व्यक्तित्व सम्मान के साथ याद किया जाता है। मम्मट ने अपने से पूर्व शताब्दियों से चलने वाले काव्य सम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों पर निर्णयात्मक रूप में खण्डन-मण्डन अपने 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ में किया है। यह लक्षण ग्रन्थ परवर्ती साहित्यकारों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ बन गया है। शांकर के शारीरिक भाष्य एवं पतंजलि के महाभाष्य की ही भाँति काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में मम्मट के इस ग्रन्थ को सम्मान मिला है। यह ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती भामह, आनन्दवर्धन, उद्भट, रुद्रट, वामन एवं अभिनवगुप्त आदि विद्वानों के निष्कर्षों के आधार पर बना है। फिर भी मम्मट में अपना विचार-स्वातन्त्र्य एवं मौलिकता है। लेखक की खण्डन-मण्डनात्मक पद्धति को देखकर उसकी प्रौढ़ चिन्तन-शक्ति, प्रतिभा तथा साहित्यमर्मज्ञता का पता चलता है। काव्य-शास्त्र में चलने वाली अराजकता को इस 'काव्यप्रकाश' ने बहुत कुछ शान्त किया है।

'काव्यप्रकाश' काव्यशास्त्र का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी अङ्गों

---

१. 'भारतमंजरी', पृ० ८५ तथा 'बृहत्कथामंजरी' १६। ३७।
२. तस्यश्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। (कवि कण्ठाभरण)
राज्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः॥ (औचित्य विचारचर्चा)

का दस उल्लासों में १[illegible] कारिका वृत्ति तथा उदाहरणों में समावेश किया गया है। लेखक की शैली सूत्रात्मक होते हुए भी प्रभावशालिनी है। इसमें काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य लक्षण, काव्य भेद, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि तथा इनके भेदाभेद, ध्वनिस्थापन, दोष, गुण, अलंकार आदि का विवेचन है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता इस पर प्राप्त होने वाली इसकी ७० टीकाओं से ज्ञात होती है।

रुय्यक

राजानक रुय्यक काश्मीरी विद्वान् हैं। 'अलंकारसर्वस्व' के अतिरिक्त 'व्यक्तिविवेक' तथा 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी है। रुय्यक काश्मीर निवासी राजा जयसिंह के सान्धिविग्रहिक तथा मंखक के गुरु थे। अतः इनका समय द्वादश शतक मानना उचित है। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ में ८१ शब्दार्थालंकारों का सुन्दर विवेचन किया है। इस में केवल अलंकारों का ही विवेचन है। काव्य-शास्त्रीय अन्य विषय इस ग्रन्थ की सीमा में नहीं आते हैं।

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत 'काव्यानुशासन' प्रसिद्ध आलंकारिक ग्रन्थ है। इनका समय १०८८ से ११७२ ई० तक माना जाता है। 'काव्यानुशासन' सूत्र शैली में लिखा गया ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने इस पर विवेक नामक एक टीका स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थ में आठ परिच्छेद हैं, जिनमें काव्यलक्षण, प्रयोजन, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार व उनतीस अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ लेखक की संग्रहात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है।

वाग्भट्ट प्रथम

इनका 'वाग्भट्टालंकार' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ पर आठ टीकाएँ उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में काव्य-शास्त्र के विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया है। इनका समय ११७८ ई० के लगभग निश्चित किया गया है।

जयदेव

'चन्द्रालोक' प्रणेता पीयूषवर्षी[1] जयदेव अपनी अनुपम कृति के कारण काव्य

---

१ चन्द्रालोक, १।२ १।१६,

शास्त्र की परम्परा में लोकप्रिय हैं। यह स्वल्पाकार कृति पद्यबद्ध है। इसमें काव्य-शास्त्र के सभी विषयों का सर्वाङ्गीण विवेचन यद्यपि नहीं है तथापि दोष, रीति, अलंकारादि पर सुन्दर एवं सरल हृदयग्राह्य शैली में विवेचन किया गया है। ग्रन्थ कारिकात्मक है। एक-एक कारिका में लक्षण व उदाहरण दोनों का समावेश किया गया है। जयदेव वङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभासद थे। मम्मट के परवर्त्ती तथा विश्वनाथ से पहले होने के कारण इनका समय द्वादश शतक उत्तरार्घ माना जाता है।

विद्याधर

इनका समय चौदहवीं शताब्दी निश्चित होता है। ये दाक्षिणात्य काव्य-शास्त्री विद्वान् थे। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'एकावली' है। इसमें आठ उन्मेष हैं, जिनमें काव्य स्वरूप, वृत्ति, ध्वनि भेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार, अर्थालंकार का विवेचन किया गया है।

विद्यानाथ, चतुर्दश शतक

'प्रतापरुद्री यशोभूषण' ग्रन्थ के लेखक हैं। इनके इस ग्रन्थ में नौ प्रकाश हैं; जिसमें नायक भेद, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, अलंकार आदि का वर्णन किया गया है।

विश्वनाथ

आचार्य मम्मट के बाद कविराज विश्वनाथ काव्य-शास्त्र की परम्परा में समर्थ आचार्य हैं। विश्वनाथ बहुमुखी प्रतिभा वाले षोडश भाषाओं के विद्वान्[1] थे।

विश्वनाथ ने स्वयं कहीं भी अपना समय निर्दिष्ट नहीं किया है। हाँ इनके अल्लाउद्दीन[2] के उल्लेख के कारण इनका समय चतुर्दश शतक निश्चित कर सकते हैं। क्योंकि अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ में हुई थी, इसलिए विश्वनाथ का समय इसके बाद ही होना चाहिए। रुय्यक के संकेतित विकल्प नामक अलङ्कार को विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में समाहित किया है। नैषध का "धन्यासि खलु वैदर्भीगुणैरुदारैः" श्लोक भी

---

१. "षोडशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग।"

२. सन्धौसर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलावद्दीन नृपतौ न सन्धिर्नचविग्रहः॥

रनेक साहित्य म उद्धृत है। जयदव के 'प्रसन्नराघव' नामक नाटक का भी एक श्लोक 'साहित्य दर्पण' म उद्धृत किया है। अत विश्वनाथ का समय चतुर्दश शतक के अन्तिम चरण म मान लेना असगत न होगा। डॉ० नगेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' म चतुर्दश शतक इनका समय माना है।

साहित्यदर्पण' विश्वनाथ का काव्य शास्त्रीय एक मात्र ग्रन्थ है। यह दस परिच्छेदा म कारिका एव वृत्ति उदाहरण सहित लिखा गया विशालकाय ग्रन्थ है। इसम काव्य एव नाट्य दोनो क सिद्धान्तो का विवेचन है। यह लोकप्रिय, सरल एव सरस ग्रन्थ है। यद्यपि काव्यप्रकाश की शैली म लिखा गया है किन्तु इसम काव्यप्रकाश जसी गम्भीर एव सूक्ष्म चिन्ता का अभाव है। कहीं कहीं काव्यप्रकाश के सिद्धान्तो के खण्डन का असफल प्रयास भी किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान क लिए अत्यधिक उपादय सिद्ध होन वाला ग्रन्थ है। विश्वनाथ ध्वनिवाद के समथक व्यजनावादी आचाय होत हुए भी काव्य की आत्मा रस को मानते हैं।

रूप गोस्वामी

रूप गोस्वामी सनातन गोस्वामी के भाई थे तथा चैतन्य महाप्रभु के शिष्य भी। चैतन्य का समय पन्द्रहवी शताब्दी क अन्त म निश्चित किया जाता है। अत उनके शिष्य का समय उनक लगभग ८० ५० वष बाद तक माना जा सकता है। इन्होंने अनक ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु काव्य-शास्त्रीय परम्परा म 'भक्तिरसामृतसिन्धु,' 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा नाटक चन्द्रिका' को समाहित किया जा सकता है। 'भक्तिरसामृत सिन्धु' तथा उज्ज्वल नीलमणि' य दोनो ही रस विषय पर अच्छे ग्रन्थ हैं। 'भक्ति रसामृत' म भक्ति को रस सिद्ध किया गया है तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' भी उसी का पूरक ग्रन्थ है, किन्तु उसम श्रृङ्गार रस का विशेष विवचन किया गया है।

अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दाक्षिणात्य विद्वान् हैं। इन्होंने लगभग सौ ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु काव्य-शास्त्र पर इन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे हैं—(१) वृत्तिवार्त्तिक, (२) चित्रमीमासा, (३) कुवलयानन्द। वृत्तिवार्त्तिक शब्दशक्ति पर लिखा गया दो परिच्छेदों का ग्रन्थ है। इसमे अभिधा, लक्षणा का विवेचन है। चित्रमीमासा अतिशयोक्ति अलकार पयन्त प्राप्त होने स अपूण ग्रन्थ है। कुवलयानन्द अलकारों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ चन्द्रालोक शली पर निर्मित है। इसका समय सोलहवीं-सत्रहवीं सदी माना गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ

काव्य-शास्त्र की परम्परा में पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान शीर्षस्थानीय है। यह दाक्षिणात्य ब्राह्मण विद्वत्ता की दृष्टि से मम्मट विश्वनाथ की श्रेणी के विद्वान हैं। इनके पिता पेरमभट्ट भी एक अच्छे विद्वान् थे। पडिण्तराज दिल्लीश्वर शाहजहाँ तथा उनके पुत्र दारा के प्रेमपात्र रहे हैं। दोनों के सम्बन्ध में आपने प्रशंसापरक रचनाएँ की हैं। शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया। इस आधार पर इनका समय हम सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध स्वीकार कर सकते हैं।

काव्य-शास्त्र की दृष्टि से आपकी 'रसगङ्गाधर' एवं 'चित्रमीमांसा खण्डन' अनुपम कृतियाँ हैं। 'रसगङ्गाधर' अपूर्ण होने पर भी प्रौढ़ एवं विद्वत्तापूर्ण कृति है। इसमें प्रदत्त उदाहरण स्वयं आपके निर्मित हैं। इस ग्रन्थ में दो 'आनन' हैं। प्रथम आनन में अन्य विद्वानों के काव्य लक्षणों का खण्डन कर "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" को काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया गया है। काव्य हेतुओं में प्रतिभा को मुख्य मानकर काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, अधम भेद माने हैं। द्वितीय आनन में ध्वनि भेदों के परिगणन के साथ अभिधा, लक्षणा एवं सत्तर अलंकारों का विवेचन किया गया है। इसके सम्बन्ध में आपके विचार कुछ निम्न है।

विश्वेश्वर पाण्डेय

'अलङ्कार कौस्तुभ' के निर्माता विश्वेश्वर पाण्डेय अठारहवी शताब्दी के काव्य-शास्त्री है। इन्होंने अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराज के विभिन्न विचारों का खण्डन कर स्वयं को उनका परवर्ती सिद्ध कर दिया है।

काव्य-शास्त्र की परम्परा में 'अलङ्कार कौस्तुभ' ग्रन्थ अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। इनके अन्य ग्रन्थों में 'अलङ्कार मुक्तावली', 'रसचन्द्रिका', 'अलंकार प्रदीप', 'कवीन्द्र कण्ठाभरण' आदि उल्लेखनीय हैं।

इन काव्य-शास्त्रियों के अतिरिक्त अन्य भी काव्य-शास्त्री हुए हैं, जिनका संस्कृत काव्य-शास्त्र के लिये महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनमें से भामह के काव्यालङ्कार २।४०; २।८८ तथा उसकी नमिसाधु की टीका १।२, २।१; ११।२४; राजशेखर की काव्यमीमांसा यतोमेधाविरुद्रकुमारदासादयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते पृ० २७ में उल्लेख प्राप्त मेधाविन्, रावणवध महाकाव्य के रचयिता भट्टी, भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक, काव्यनाट्य मिश्रित परम्परा में सागरनन्दि, शारदातनय आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

किन्तु किसी प्रामाणिक उपलब्ध कृति के अभाव में हम उनका नामोल्लेख करके ही सन्तोष करते हैं।

वैदिक काल से सतत प्रवहमान इस काव्य शास्त्र धारा का प्रवाह विश्वेश्वर पाण्डेय तक अश्रान्त रूप से चला आया है। इस समग्र काल को विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से शैली के आधार पर चार भागों में विभक्त किया है—

१ प्रारम्भिक काल (अज्ञातकाल से लेकर भामह तक)
२ रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन ८५० ई० तक)
३ निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट १२५० ई० तक)
४ व्याख्या काल (मम्मट से लेकर विश्वेश्वर पाण्डेय तक)

कुछ दूसरे विद्वान् ध्वनि सिद्धान्त को काव्य-शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मान कर इस काल को तीन भागों में विभक्त करते हैं—

१ पूर्व-ध्वनि काल, प्रारम्भ से आनन्दवर्धन (८५० ई०) तक।
२ ध्वनि काल—आनन्दवर्धन से मम्मट (११५० ई०) तक।
३ उत्तर ध्वनि काल—मम्मट से विश्वेश्वर पाण्डेय (अठारहवीं शताब्दी) तक।

इस प्रकार काव्य-शास्त्र की परम्परा के लगभग दो हजार वर्षों का संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र ग्रन्थ-संख्या, प्रतिपादन शैली, विषय-वस्तु, पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर तात्त्विक विवेचन एवं प्राचीनता आदि की दृष्टि से विश्व के समग्र साहित्य में शीर्षस्थानीय है।

भक्ति-रस की काव्य-शास्त्रीय स्थिति

डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त

संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने भक्ति के स्वतन्त्र रसत्व को स्वीकार नहीं किया, और आज भी काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से उसके रसत्व पर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक भक्ति के सम्बन्ध में कई काव्य-शास्त्रीय दृष्टियाँ सामने आती हैं। उन दृष्टियों में एक विकास की परम्परा भी परिलक्षित होती है। आज हम उन दृष्टियों एवं उनके परिवर्तनों के पीछे निहित कारणों की भी सम्भावना कर सकते हैं।

आचार्य भरत ने भक्ति का न तो रस के रूप में, और न ही भाव के रूप में, किसी प्रकार उल्लेख नहीं किया। संचारी भावों में भी भक्ति या उसके समकक्षी कोई भाव परिगणित नहीं हैं।[1] इसका सहज कारण यही प्रतीत होता है कि भरत के समक्ष कोई भक्ति-परक अभिनेय साहित्य नहीं था जो उन्हें भक्ति को अपने विवेचन में सम्मिलित करने के लिए प्रेरणा देता। भरत का मूल विवेच्य अभिनेय साहित्य है। सम्भव है, उनके सामने पुराणों में बिखरे कुछ भक्ति-परक सूत्र हों, किन्तु वे सूत्र नाट्यशास्त्र में भक्ति-विवेचन के लिए आवश्यकता उपस्थित नहीं करते।

---

१. भरत ने दाम्पत्येतर किसी अन्य रति-रूप की भी चर्चा नहीं की। डॉ० राघवन ने "नम्बर आफ रसास" पृ० ११२, फुटनोट में भरत के एक उद्धरण की ओर ध्यान आकृष्ट कराया है जिसमें 'वात्सल्य' का उल्लेख है—"तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः वीराद्भुतरौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः, करुणवात्सल्यभयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैः वर्णैः पाठ्यमुत्पादयति।" का० मा० सं० ना० शा०, पृ० १८७। गायकवाड़ संस्करण में यह पाठ नहीं है। उसमें 'करुणवात्सल्य-भयानकेषु' के स्थान पर करुणबीभत्सभया० पाठ है। काव्यमाला पाठ की अप्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि उसमें वात्सल्य को मिला कर रस-संख्या ८ बैठती है और भरत का मान्य 'बीभत्स' छूट ही जाता है। अतः भरत की यही मान्यता हमारे सामने प्रामाणिक रूप में आती है कि उन्होंने दाम्पत्येतर रति-रूपों को अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया।

भक्ति भगवद्विषयक रति या प्रीति है। काव्य शास्त्र में इसके लिए स्थान-निर्धारण की आवश्यकता सबसे पहले दण्डी को अनुभव हुई है। किन्तु दण्डी भी उसे रस नहीं कह सके। कारण स्पष्ट है, उनके सामने भरत का रस विषयक निरूपण मानक रूप में उपस्थित था। भरत द्वारा परिगणित रसों के अतिरिक्त किसी भाव को रस कहने का साहस अब भी सहज नहीं बना है, दण्डी से इसकी आशा अपेक्षा रखना अस्वाभाविक है।

दण्डी ने अपने युग की चेतना के अनुरूप सभी आवश्यक भावात्मक परिस्थितियों को अलंकार के अन्तर्गत रखा है। रस 'रसवद्' अलंकार के अन्तर्गत है और प्रीति प्रेय नामक अलंकार के। प्रेय के उद्धान दो उदाहरण दिए हैं एक कृष्ण परक प्रीति का है दूसरा शिव-परक प्रीति का। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनकी 'प्रीति' भगवद्विषयक प्रीति ही है। इसी प्रीति को उद्धान प्रेय' अलंकार के भीतर रखा है। जिस काव्य में प्रियतर अनुभूति का आख्यान या प्रकाशन हो उसे दण्डी प्रेय कहते हैं— प्रेय प्रियतराख्यानम्[1]। भावद्विषयक प्रीति को दण्डी ने अन्य लौकिक प्रीति रूपों से श्रेष्ठतर होने के कारण सम्भवतः प्रिय-तर' कहा है। उनका निरूपण इन शब्दों में है—

'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥
इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः।
भक्तिमात्रसमाराध्य सुप्रीतश्च ततो हरिः॥''
"सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम्?
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद् रातवर्मणः।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम्॥'[2]

जैसा कि डा० राघवन ने ठीक ही कहा है कृष्ण-परक उदाहरण में भक्ति शब्द का दण्डी ने निर्देश भी किया है।[3] किन्तु इससे उनका यह निष्कर्ष निकालना असंगत होगा कि इस प्रेय' के अन्तर्गत दण्डी दाम्पत्येतर अन्य रति-रूपों को भी समाविष्ट करना चाहते हैं। भक्ति शब्द का प्रयोग एवं उदाहरणों की सामा तो यही

---

१ काव्यादर्श, दण्डी, श्लो० २७५।
२ वही, श्लो० २७६ ६।
३ नम्बर आफ रसाज वी० राघवन, पृ० १०६ ११०।

बताती है कि दण्डी इस भेद में केवल भगवद्विषयक प्रीति को ही रखना चाहते हैं। शृङ्गारी रति से इस 'प्रीति' को दण्डी ने स्पष्टतया अलग किया है—

"प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता।"[1]

ये शब्द क्रमशः प्रेयः और शृङ्गार के निरूपण के अनन्तर दण्डी द्वारा कहे गये हैं। वे कहते हैं—हमने पहले तो 'प्रीति' को निरूपित किया था, और अब पीछे निरूपित की हुई यह 'रति' शृङ्गार रस के अन्तर्गत आने वाली है। इस प्रकार रति दाम्पत्य-विषयक है, प्रीति भगवद्विषयक।

दण्डी के अनुसार भक्ति 'रस' नहीं, 'प्रेयः' अलंकार है, जिसका स्थायी भाव 'भगवद्विषयक प्रीति' है। सम्भवतः दण्डी को इस निरूपण की प्रेरणा पुराणों और स्तोत्र-साहित्य में व्याप्त भगवद्विषयक प्रीति को देखकर मिली है। दण्डी जो भक्ति को 'रस' नहीं कह सके, उसका कारण उनके इन शब्दों में पाया जा सकता है—

"इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्।"[2]

"वाणी की रसवत्ता भरत की मान्यता के अनुसार आठ रसों तक ही परिसीमित है।"

दण्डी के इस 'प्रेयः' को रुद्रट ने कुछ और व्यापक क्षेत्र में लाने का प्रयास किया। उन्होंने 'प्रेयान्' को एक अतिरिक्त रस के रूप में स्वीकार किया, शान्त तो उनसे पूर्व ही उद्‌भट द्वारा अतिरिक्त रस के रूप में स्वीकार किया जा चुका था। रुद्रट ने प्रेयान् को व्यापकता यह दी कि इसके स्थायी को 'प्रीति' के स्थान पर 'स्नेह' के व्यापक रूप में स्वीकार कर उसमें दाम्पत्येतर रति के सभी रूपों को समाहित कर सकने की सम्भावनाएँ सामने कीं। वैसे उन्होंने अपने 'प्रेयान्' रस के निरूपण की सीमा दो सुहृदों के बीच के निर्व्याज प्रेम या स्नेह तक ही रखी है,[3] पर उसे रस-कोटि में स्वीकार

---

१. नम्बर आफ़ रसाज़, वी० राघवन, पृ० १०९-११०।

२. काव्यादर्श, श्लो० २८१।

३. "स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् संगतशीलार्यनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचारसम्बन्धात्।
निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्‌भावपेशलालापाः।
अन्योऽन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतो यत्र॥"
काव्या० रुद्रट, अ० १५, का० १७-९।

किया है। जिस प्रकार दण्डी ने दाम्पत्येतर रतियों म भगवद्विषयक प्रीति को प्रधानता दी उसी प्रकार रुद्रट ने उसी नाम की छाया मे सुहृद्विषयक रति को उभार कर रसत्व प्रदान किया। भक्ति को वे रस-रूप मे स्वीकार करते हैं, ऐसा हमें कोई संकेत नहीं मिलता।

अभिनव गुप्त से पूर्व तक भगवद्विषयक रति को 'भक्ति-रस' या 'श्रद्धा-रस' के नाम से रस-कोटि मे लाने के कुछ प्रयास हुए, इनका ऐतिहासिक संकेत हमें स्वयं अभिनव गुप्त के उल्लेख से ही मिल जाता है। ये प्रयास कब और किन आचार्यों द्वारा हुए, यह अभिनव ने स्पष्ट नहीं बताया।

अभिनव गुप्त इन प्रयासों के विपरीत थे। उन्होंने भक्ति या श्रद्धा को एक पृथक् रस के रूप मे स्वीकार करना असंगत ठहराया। काव्य या साहित्य मे जहाँ इस भाव की अवस्थिति मिलती है, उसे उन्होंने शान्त रस के संचारियों मे अन्तर्भूत करके दिखाया—

"अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृति-मति-धृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽन्यथैवाङ्गमिति न तयो पृथग् रसत्वेन गणनम्।"[1]

इस प्रकार दण्डी आदि आचार्यों द्वारा भक्ति के काव्यात्मक परिपाक को विशिष्ट स्थान प्रदान करने के प्रयासों का जो परिणाम 'भक्ति' या 'श्रद्धा' नाम से स्वतन्त्र रस की स्वीकृति के रूप मे सामने आया था, उसको अन्तर्भावंवाद की शरण लेकर अभिनव गुप्त ने समाप्त करने का प्रबल कार्य किया।

अभिनव गुप्त ने भगवद्विषयक रति पर आधारित 'भक्ति' या 'श्रद्धा' रसों को पृथक् रस रूप मे इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वे स्मृति, मति, धृति या उत्साह जैसे भावों मे अनुप्रविष्ट हैं, और अन्ततोगत्वा 'शान्त-रस' के अंग बन जाते हैं। अभिनव के ऊपर उद्धृत शब्द शान्त-रस निरूपण के प्रसंग म आये हैं और भक्ति को शान्त-रस का अंग प्रतिपादित करते हैं।

अभिनव ने जो यह अन्तर्भाव सामने प्रस्तुत किया वह उनकी दार्शनिक पद्धति और आस्था के अनुरूप ही था। उन्होंने शैव दर्शन की चेतना के अनुरूप 'शान्त' को ही एक मूल, नित्य एवं स्थायी रस माना है। शान्त उनके शब्दों मे

---

१ अभि० भा०, भा० १, पृ० ३४०।

'सर्वरसप्रकृति'[1] है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार ९ रस दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं—शान्त प्रकृति-भूत रस है, शृंगारादि अवशिष्ट आठ रस उसकी विकृति-भूत। देखना यह है कि अभिनव भक्ति का अन्तर्भाव विकार-भूत रसों में न कर प्रकृति-भूत शान्त में करते हैं। यह उनके सर्वथा अनुरूप बात थी। वे एक महान् पण्डित और दार्शनिक ही नहीं थे, उच्चकोटि के रहस्यवादी भक्त भी थे। स्वयं उनके स्तोत्रों में भगवद्विषयक प्रेम की प्रबल धारा प्रवाहित है। दूसरे उनके सामने भक्ति का साहित्य भी आ चुका होना चाहिए। अतः भक्ति के प्रति अभिनव की कोई हीन या उपेक्षा-भावना नहीं है। भक्ति अध्यात्म अनुभूति है, अतः उसका सम्बन्ध अध्यात्म शान्त रस से ही जोड़ना उनके लिए उपयुक्त था।

पर अभिनव ने भक्ति को अंगी या प्रधान रस के रूप में नहीं माना, शान्त के संचारी के रूप में ही स्वीकार किया। काश्मीरी शैव दर्शन स्वरूपतः अद्वैतवादी है, भक्ति अन्ततोगत्वा द्वैत की अनुभूति है। अतः रसत्व की जो चरम स्थिति है उसे भक्ति के साथ एकाकार करके नहीं देखा जा सकता। अद्वैती चेतना में भक्ति उस चरम स्थिति का साधन ही बन सकती है। इसी कारण अभिनव ने भक्ति की अनुभूति को स्वात्मपरामर्शमयी शान्त रस स्थिति के लिए अंग-रूप में ही स्वीकार किया।

वैसे अभिनव का यह अन्तर्भाव अधिक तर्क-सम्मत नहीं है। उन्होंने स्मृति-मति-धृति-उत्साह आदि में इसको अन्तर्भूत करते हुए यह स्पष्ट नहीं किया कि भक्ति की अनुभूति का स्तर क्या है। स्मृति-मति-धृति संचारी भाव हैं, उत्साह एक स्थायी भाव। यों विकार रूप में सभी अन्ततोगत्वा शान्त के अंग हैं, इस नाते भक्ति-भाव चाहे उत्साह जैसे किसी स्थायी का अन्तर्भूत बने, चाहे स्मृति आदि में से किसी संचारी का। दृष्टिकोण का अन्तर नहीं पड़ता, पर भक्ति की अनुभूति के स्तर का स्पष्ट निरूपण नहीं होता।[2] पर अभिनव का उक्त अन्तर्भाव उनकी दार्शनिक विशिष्ट दृष्टि का परिणाम था, यह स्पष्ट है।

आचार्य मम्मट ने अभिनव की इस दर्शनाधारित मान्यता को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही अपनाया, दार्शनिक दृष्टि से नहीं। उन्होंने अभिनव के शान्त रस को ही एक अध्यात्म रस के रूप में ग्रहण न कर एक काव्य-रस के रूप में ग्रहण किया। निर्वेद

१. अभि० भा०, भा० १, पृ० ३४०।

२. "स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते।
इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम्।" अभि० भा०, भा० १, पृ० ३४०।

को शान्त का स्थायी भाव दिखाते हुए उसे भरत-सम्मत भी दिखाया। इस व्याख्या में अभिनव की भी असहमति न थी। जब प्रकृति-रस और विकृति-रस की बात को छोड़ दिया गया तो शान्त के अंग रूप में परिगृहीत भक्ति का स्थान काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से स्थायी भाव का रूप न रह कर एक संचारी भाव का रह जाता है। तब भक्ति के स्वतन्त्र परिपोष को एक संचारी के परिपोष के स्तर पर रखना होगा। संचारी रूप में स्वीकृत ३३ भावों के स्वतन्त्र परिपोष को आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुसार अभिनव ने भी 'भाव-ध्वनि' कहा था, 'रसध्वनि' नहीं।[१] तब, मम्मट के सामने सीधा हल था कि अभिनव के द्वारा एक संचारी के रूप में स्वीकृत भक्ति को 'भाव-ध्वनि' की कोटि में रख दिया जाय। ऐसा करने में उन्हें सम्भवतः कतिपय अन्य उलझनों की सुलझन भी दिखायी दी। दाम्पत्येतर रति के विविध रूपों के लिए आचार्य लोग स्वतन्त्र रसत्व की माँग करने लगे थे। अभिनव ने इस माँग को ठुकराया था, और विविध स्वीकृत भावों में उनका अन्तर्भाव किया था,[२] यद्यपि उनका यह अन्तर्भाव भी अधिक तर्क-संगत न था। मम्मट उन माँगों को एकदम निर्बल नहीं समझते थे। अतः उन्होंने एक व्यवस्था दी कि भक्ति अर्थात् भगवद्विषयक रति हो क्यों, दाम्पत्येतर रति के सभी रूप ही 'भाव-ध्वनि' हैं।

> "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।"[३]
> "भावः प्रोक्तः।"
> आदिशब्दात् मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गारः।"[४]

इस प्रकार मम्मट के द्वारा भाव-ध्वनि के अन्तर्गत दो प्रकार की ध्वनियाँ सम्मिलित हुईं, ३३ संचारी भावों की प्रधानीभूत व्यंजनाएँ, तथा दाम्पत्येतर रतियों

---

१ "रसभावतदाभास०" ध्वन्या० उ० २ का० ३ की व्याख्या में अभिनव—
"तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनिः।" ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १७५, चौख०।

२ अभिनव ने मित्र-स्नेह को रति या उत्साह में, बालक के पितृ-स्नेह को भय में, लक्ष्मण के भ्रातृ-स्नेह को धर्मवीर में अन्तर्भूत दिखाया है (अभि० भा०, भा० १, पृ० ३४१।) यह अन्तर्भाव स्पष्ट ही दूरारूढ है।

३. काव्यप्रकाश, उ० ४, पृ० ११८।

४ वही, पृ० ११८।

के विविध रूप। यद्यपि मम्मट ने अपनी देवादिविषयक रति में स्पष्टतः भगवद्विषयक रति का उल्लेख नहीं किया, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस परिधि को इसी व्यापकता के साथ ग्रहण किया कि उसमें भगवद्रति भी गिनी जाती रहे।

इस भाँति मम्मट की मान्यता ने ही व्यवस्था का रूप पाया। अभिनव का अन्तर्भाववाद लोगों को स्वीकार्य न हुआ। धनंजय ने भी अपने दशरूपक में अन्तर्भाववाद का मार्ग अपनाया था,[1] जिसमें भक्ति, प्रीति आदि दाम्पत्येतर रति-रूपों तथा अन्य भावों को हर्ष-उत्साह आदि भावों में अन्तर्भूत करके दिखाया गया था—

"प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः।"[2]

धनंजय और अभिनव के अन्तर्भाव में यह अन्तर था कि अभिनव ने अपनी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि से परिचालित होकर भक्ति का अन्तर्भाव प्रकृति-रस शान्त के संचारियों में किया था, जबकि धनंजय सीधे काव्यात्मक भावों में उसे अन्तर्भूत करते हैं। हर्ष संचारी है, उत्साह स्थायी। अन्तर्भूत होने वाला भक्ति-भाव किस स्तर का है और किस स्तर के भाव में अन्तर्भूत किया जाय, यह बात उन्होंने भी गड़बड़ छोड़ी। उन पर इस विषय में अभिनव का प्रभाव स्पष्ट था, पर वैसी दार्शनिक समझदारी न थी। फलतः उनके अन्तर्भाव में भक्ति का स्तर गिरता है।

मम्मट का व्यवस्थित दृष्टिकोण उनके युग में ही व्यापक स्वीकृति पाने लगा था, इसके साक्षी हैं आचार्य हेमचन्द्र। हेमचन्द्र ने अलंकारचूड़ामणि में तो अभिनव की मान्यता प्रस्तुत की है, पर विवेक में विवेचन मम्मट की धारणाओं के अनुरूप ही इस प्रकार किया है—

"स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः
एवमादौ च विषये भावस्यैवास्वाद्यत्वम्।"[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आस्वाद्यता का प्रश्न उठाते हुए, जैसा कि हेमचन्द्र ने संकेत किया है, भक्ति की काव्यात्मक अनुभूति को रस-स्तरीय न मानते हुए भाव-

---

१. दशरूपक, धनंजय, प्र० ४, का० ८३। एवं धनिककृत वृत्ति।
२. वही।
३. काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, पृ० १०६।

कोटि की ही स्वीकार किया गया और इस व्यवस्था में सबसे बड़ा योगदान था आचार्य मम्मट का।

विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी मान्यता को सुरक्षित रखा है[1] और आज भी काव्यशास्त्र का विद्यार्थी इसे बहुत दूर तक प्रामाणिक मान कर चलता है यद्यपि इस पर बहुत दिनों से प्रश्न चिह्न लगा हुआ है।

पण्डितराज जगन्नाथ के सामने संस्कृत और हिन्दी का विशाल साहित्य आ चुका था। विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायी आचार्यों ने विविध तर्कों से भक्ति के रसत्व की हिमायत की थी और आचार्य रूपगोस्वामी जीवगोस्वामी के द्वारा निरूपित भक्ति के रसत्व की समग्र प्रतिष्ठा भी उनके सामने थी। फिर भी उन्होंने भरत की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए मम्मट का ही पक्ष लिया कि भक्ति रस नहीं, भाव-ध्वनि ही है—

'अथ कथमेत एव रसाः ? भगवदालम्बनस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्य विरुद्धत्वात्।

उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।"[2]

इस निरूपण में पण्डितराज ने भक्ति के रसत्व का बड़े सटीक शब्दों में समर्थन प्रस्तुत किया है। भक्ति का अपना साहित्य है, उसके आस्वादनकर्ता विशिष्ट सहृदय भक्त हैं जो उस साहित्य के अनुभव करते समय भावुकता के साथ उसका आस्वादन करते हैं। इस आस्वादन में वे डूबते न हों, ऐसी बात नहीं, उन्हें रोमांच होता है, प्रभाश्रु बहते हैं आदि। इस अनुभूति का स्थायी भाव है भगवद्विषया भक्ति या रति। तब, इस के काव्यात्मक परिपाक को यों ही झुठलाया नहीं जा सकता है। इस रति का आलम्बन विभाव है प्रिय भगवान्। अतः भक्त-सहृदयों की इस अनुभूति को रस रूप में ही स्वीकार करना होगा, और इसे हम 'भक्ति-रस' नाम देंगे।

इसको अन्तर्भाव कर दिखाने वाले प्रमुख आचार्य हैं अभिनव, जो इसे शान्त में अन्तर्भूत मानते हैं। जहाँ तक अभिनव की प्रकृति रस विकृति रस वाली दृष्टि है, वह

---

१ साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, परि० ३, का० २३५ तथा रसगंगाधर, जगन्नाथ, पृ० ४६।

२ रसगंगाधर, पृ० ४५।

काव्य-शास्त्र के भीतर परिग्राह्य नहीं। तब हल शुद्ध इस रूप में रह जाता है कि भक्ति शान्त में अन्तर्भूत है। इस का सरल उत्तर भक्तिवादियों की ओर से पण्डितराज ने यह दिया है कि भक्ति में अनुराग-प्रवणता की अनुभूति होती है, जबकि शान्त में विराग की। अतः दोनों का स्वरूप मूलतः भिन्न है, इसलिए भक्ति को शान्त में अन्तर्भूत करके चलना मनोवैज्ञानिक है।

इतना होते हुए भी पण्डितराज भक्ति को रस-रूप में स्वीकार नहीं कर सके। स्वयं उसके रसत्व की पूरी तौर पर स्थापना करके भी उन्होंने उसे 'भाव' कोटि में ही रखा—"भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः"। ऐसा मानने में उनकी ओर से दो कारण समझे जा सकते हैं—एक तो यह कि भक्ति रस दुरपह्नव होते हुए भी उसकी सहृदयता का क्षेत्र परिसीमित है। उसके रसत्व के अनुभवकर्ता गिने-चुने भगवद्भक्त ही हो सकते हैं।[1] दूसरे कामिनी-विषयक रति को स्थायी भाव और अन्य रतियों को भाव रूप में मानने की परम्परा ही भरतानुयायियों को स्वीकार्य रही है। उसमें उलट-फेर करने से भरत की मान्य रस-संख्या में उलट-फेर भी करना पड़ेगा। अतः भक्ति को भाव-कोटि में ही रख लेना उचित है।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा तर्क-सम्मत ढंग पर भक्ति के रसत्व की प्रतिष्ठा कर परम्परावाद की दुहाई देकर उसे अस्वीकार करना काव्य-शास्त्र की दुर्बलता का द्योतक ही कहा जायेगा।

इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र के भीतर हमें भक्ति के सम्बन्ध में निम्न प्रमुख मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं—

(१) दण्डी की मान्यता, जिसमें भक्ति को प्रियतर अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए 'प्रेयस् अलंकार' कहा गया है, पर रस नहीं माना गया।

(२) अभिनव की अन्तर्भाववादी मान्यता, जिसमें भक्ति को रसों की प्रकृति-भूत शान्त-रस के संचारियों में अनुप्रविष्ट कर शान्त रस का अंग दिखाया गया है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ४५। "भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य"।

२. "न च तर्हि कामिनी विषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्; अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगमकाभावात्-इति वाच्यम्—भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्या योगात्।" "रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः।" रसगंगाधर, पृ० ४६।

(३) धनञ्जय की अन्तर्भाववादी मान्यता, जिसमे भक्ति को किसी समानजातीय स्थायी या संचारी म अन्तर्भूत माना गया है।

(४) मम्मट की मान्यता, जिसमे भक्ति की काव्यात्मक परिणति को रस-कोटि म न मान कर भाव-ध्वनि' की कोटि म रखा गया है

(५) पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता, जिसमे भक्ति के रसत्व को तर्क के आधार पर स्वीकार करत हुए भी परम्परावाद की दुहाई देकर ही मम्मट की मान्यता का समर्थन किया गया है। इन मान्यताओ म मम्मट की व्यवस्था ही परवर्ती युग की मान्य एव प्रचलित मान्यता रही है, और आज भी काव्य शास्त्र की प्रतिनिधि मान्यता समझी जाती है।

जहाँ काव्य शास्त्रियो ने भक्ति को रस न मान कर भाव-कोटि मे रखा है वहाँ इसके विपरीत वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को ही परम उपेय एव परमार्थ रस के रूप म सिद्ध किया है। या सभी वैष्णव सम्प्रदायो की दृष्टि म 'रसो वै स' श्रुति का प्रतिपाद्य लीलामय पुरुषोत्तम है, किन्तु उनकी दृष्टि म भक्ति ही साध्य रही है। भक्ति उस प्रियतम की उपलब्धि का साधन होते हुए भी अपने म साध्य है, परम आनन्दमयी है। विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टियों के रहते हुए भी सभी वैष्णव आचार्य इस बारे म एकमत हैं, अत सबकी दृष्टि म भक्ति एक रस ही नही, एकमात्र आस्वाद्य अप्राकृत रस है।

इस दृष्टि स लौकिक स्थूल सुख ही प्राकृत कोटि मे नहीं काव्यानन्द भी अर्थात् काव्य क शृङ्गारादि रस भी प्राकृत ही हैं। काव्य रसो म लौकिक आनन्दो से सूक्ष्मता और लोकोत्तर चमत्कार प्रवणता होती है, यही उनकी अलौकिकता होती है, किन्तु इस अलौकिकता मात्र स वे 'अप्राकृत' नहीं हो जाते। अन्ततोगत्वा काव्यानुभूति म चित्त की अवस्थिति है, भावों की वासनाओं का उद्रेक है, चित्तवृत्तियो के विविध स्पन्दन हैं। भले ही यह सब चित्त की सात्त्विक स्थिति के भीतर हो, जिसमे रजस्-तमस् दब गये होते हैं। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने रस का स्वरूप 'भग्नावरणचिद्विशिष्ट स्थायी' या स्थाय्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिति' के रूप मे निर्धारित किया है अत यह एक सोपाधिक स्थिति है। इसी कारण भट्टनायक ने इसे ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द-सहोदर ही कहा है। यह चित्त, जिसकी भूमिका मे स्थायी भाव उद्रिक्त होता है, प्रकृति का ही विकार है। अत काव्य रसों की अलौकिकता एव लोकोत्तर-सूक्ष्मता को स्वीकार करते हुए भी उनकी प्राकृतता मे इन्कार नही किया जा सकता।

दूसरी ओर ये वैष्णव आचार्य भक्ति को 'अप्राकृत' रस कहते हैं । इस मान्यता को स्थापित करने के लिए उन्होंने निजी दार्शनिक मान्यताओं का सहारा लिया है । उन्होंने एक 'विशुद्ध सत्त्व', नामक तत्त्व की कल्पना की हुई है । यह 'विशुद्ध सत्त्व' है तो 'सत्त्व' ही, पर प्रकृति का विकार सत्त्व गुण नहीं है, अपितु अनन्त-शक्ति परमेश्वर की स्वरूप-भूत एक शक्ति है, ऐसी उनकी मान्यता है । इस विशुद्ध सत्त्व से ही परमेश्वर का विग्रह बना है, इसी से उनका क्रीड़ा-लोक, इसी से उनका परिकर आदि । अविकारी भक्तों के हृदयों में प्रादुर्भूत होने वाली भगवद्विषयिका रति भी उसी विशुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति होती है जो भगवत्कृपा से ही, बड़ी साधना से भाग्यवानों को मिलती है । इस प्रकार भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्विषयिका रति स्वरूपतः प्रकृति-विकार या चित्त-धर्म न होने के कारण 'अप्राकृत' है और उसका परिपाक 'भक्ति-रस' भी अप्राकृत ही है । अतः वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में परम तत्त्व लीलामय परमेश्वर के अतिरिक्त भक्ति ही परमार्थ रस है, जो अप्राकृत है । काव्य रस तो उसी तरह प्राकृत है जैसे लौकिक रस ।

वस्तुतः वैष्णव आचार्य जिस अप्राकृत भक्ति-रस की बात करते हैं, वह काव्यशास्त्र का विवेच्य नहीं । वह सहृदय-सामान्य की अनुभूति का विषय नहीं । स्वयं वैष्णव आचार्यों के अनुसार यह भक्ति-रस हर व्यक्ति की अनुभूति में नहीं आता, इसके सहृदय या अनुभवकर्ता विरले ही होते हैं । इस विशुद्ध-सत्त्व रूप रति के उदय के लिए भी लम्बी भाव-साधना और संस्कारों की अपेक्षा है । रसत्व के लिए जैसे भाव के स्थिर संस्कारों की अपेक्षा है, वैसे ही भक्ति-रस के आस्वादन के लिए प्रमाता में भक्ति-रति की सुस्थिर वासना और संस्कार अपेक्षित हैं । इस प्रकार इस भक्ति-रस के स्थायी भाव की वासनारूपा अवस्थिति, जो प्रमाता में किसी भी रस की अनुभूति के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित होती है, बड़ी ही सीमित है, जन-सामान्य के लिए संवेद्य कदापि नहीं ।

फिर, वैष्णव सम्प्रदायों में भी इस भक्तिरूपा रति का स्वरूप अपने-अपने सम्प्रदायों की विशिष्ट दृष्टियों के अनुरूप नाना रूपों में स्वीकृत हुआ है । मधुरा रति के मान्य विभिन्न रूप तो बिलकुल ही साम्प्रदायिक हो उठे हैं । भक्ति-रस के स्थायी भाव की इस साम्प्रदायिकता के कारण उसकी जनसामान्य-संवेद्यता और भी परिसीमित हो जाती है, और वह अपने अभीष्ट रूप में भक्त-मात्र के लिए भी संवेद्य नहीं रह जाती ।

भक्ति की यह सीमित-प्रमातृता और अप्राकृतता ही काव्यशास्त्री की दृष्टि में एक काव्य-रसिक सहृदय-सामान्य के लिए उसके एक स्थायी भाव के रूप में स्वीकार

किय जा सकने का अवकाश समाप्त कर देती है। जो भाव इतना विरल एवं अप्राकृत है, वह काव्य-सहृदयों के प्राकृत चित्तों में वासनारूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है? तब यही स्वीकार करना उपयुक्त प्रतीत होता है कि प्रवृत्तिमार्गी जन-मानस में भगवद्रति के संस्कार इतने गहरे और स्थिर नहीं होते कि उनके बल पर इस भाव को काव्योपयोगिता की दृष्टि से 'स्थायी भाव' नाम दिया जा सके। अतः भक्ति की अनुभूति जहाँ एक भक्त सहृदय के लिए परमार्थ रस है, वहाँ एक काव्य-रसिक सहृदय के लिए एक 'भाव' ही है, ऐसा ही स्वीकार करना होगा। भक्ति की साम्प्रदायिकरूपता, वैयक्तिकता, परिमित-प्रमातृता, विरल-संवेद्यता, और अप्राकृतता मिलकर काव्य-शास्त्रियों के इस निर्णय को अधिक संगत बना देती हैं कि भक्ति का काव्यात्मक परिपाक एक काव्य-सामाजिक के लिए 'रस' नहीं, 'भावकोटि' तक ही पहुँचता है। अतः मम्मटादि ने जो उसे 'भाव-कोटि' में रखा, वह चाहे रखा तो अन्य दृष्टियों से गया था, पर वह रखा ठीक ही है।

पर यह तर्क इसलिए पूर्ण संगत नहीं ठहराया जा सकता कि इसका आधार भक्तिशास्त्र है, काव्य-शास्त्र नहीं। विशुद्ध-सत्त्व की कल्पना कर भगवद्रति की अप्राकृतता की बात स्वयं काव्य-शास्त्र तो नहीं कहता। अतः भक्ति के रसत्व के निराकरण के लिए उसे अपनी ही स्थापनाओं पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। रही उसकी विरल-संवेद्यता और परिमित प्रमातृता की बात, उसके लिए हमें वस्तु-स्थिति की परीक्षा करनी होगी।

हिन्दी के वैष्णव साहित्य ने वस्तु-स्थिति द्वारा काव्य-शास्त्र को भक्ति-रस की स्वीकृति के लिए बाध्य किया है। इस सम्बन्ध में दो-तीन तथ्य ऐसे हैं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

एक तो यह कि विक्रम की १३वीं से १७वीं शती तक राम और कृष्ण के लीला-गान करते हुए भक्ति की जो प्रबल धारा भारतीय जनता के बीच बही थी वह आज तक भी एक पर्याप्त मात्रा तक उसे प्रभावित करती चली आ रही है। इसके फलस्वरूप विशुद्ध एवं उच्च कोटि की भक्ति की अनुभूति जन-सामान्य को न होती हो, किन्तु इसके सामान्य अनुशीलन के संस्कार उसमें सुस्थित हो चले हैं। वैष्णवी भक्ति ने अपने प्रवाही दिनों में न केवल हिन्दुओं को ही, अपितु अनेक मुसलमानों को भी अपनी धारा में निमग्न किया था। वैसे भी जन-मानस भक्ति के भावात्मक सामान्य संस्कारों से सदा युक्त रहा है, रहेगा। यह देश-काल की सीमा से परे का तथ्य है। प्रत्येक देश में भक्त होते रहे हैं, उनकी भावना का रूप चाहे भिन्न रहा हो। इस प्रकार रस-स्थिति तक पहुँचने के लिए किसी भाव में वैयक्तिकता की परिधि से उठते हुए

सामाजिकता के जिस स्तर तक पहुँचना अपेक्षित होता है, उस स्तर तक भक्ति का भाव देश-काल की सीमाओं से उठ कर पहुँचा हुआ है। नई सभ्यता की बढ़ती हुई बौद्धिकता जन-सामान्य की इस आस्तिक भावुकता को समाप्त कर सकेगी क्या, यह बात भविष्य पर छोड़ देने की है। वस्तु-स्थिति यह है कि भक्ति के एक सामान्य स्तर के संस्कार विश्व मानस में समाहित हैं। देश-काल के अनुरूप उनमें रूपान्तर मिलता है, मिल सकता है। हिन्दी के वैष्णव साहित्य ने उसी विश्व-सामान्य भाव को राम-कृष्ण के आलम्बनों के प्रति प्रकट करते हुए भारतीय जनता के संस्कारों में इस स्तर की स्थिरता प्राप्त करा दी है कि हम जन-संवेद्यता के आधार पर भक्ति को एक स्थायी भाव कह सकें। अतः, हिन्दी का वैष्णव काव्य जिन भाव-राशियों को अपने पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है उनके संस्कारों की आधारशिला उसके पाठकों में इस व्यापक भूमि पर जम चुकी है कि भक्तिशास्त्रीय 'भक्ति-रस' के न सही, काव्य-शास्त्रीय *'भक्ति-रस' के स्थायी भाव को एक अधिकतम जन-संवेद्य भाव के रूप में स्वीकार* किया जा सके।

दूसरी बात यह कि हिन्दी का भक्ति-साहित्य हमारे पाठक को एक उच्चकोटि के काव्य के रूप में उपलब्ध है। इस काव्य में एक कवि की रसिकता भी है, साथ ही इसमें एक भक्त का आत्मावेश भी घुला हुआ है। कवि जिस आत्मानुभूति को काव्य में घोल देता है, यदि उसका भावावेश कल्पनाजन्य नहीं है, और उसकी अभिव्यंजना दुर्बल नहीं है, तो थोड़े से संस्कारों वाले पाठकों को भी उसमें सम्बद्ध भाव की रसात्मक अनुभूति हो लेती है। हिन्दी वैष्णव काव्य में यह शक्ति भरपूर है। उसमें उच्चकोटि का कवित्व, गहरी आत्मानुभूति एवं सफल अभिव्यंजना है। फल यह हुआ है कि इस काव्य में भक्ति के भावात्मक हलके रूप से आगे बढ़ कर गहरे रसात्मक रूप के आस्वादन का अवकाश खुलता है। हाँ, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह भक्तिरसानुभूति भक्तिशास्त्र में निरूपित रसानुभूति नहीं होती, एक काव्य रस की ही अनुभूति होती है। इसी रसनीय क्षमता के कारण वैष्णव हिन्दी काव्य में एक काव्य-मर्मज्ञ सहृदय ही नहीं, एक हल-वाहक भी डुबकी लगा लेता है।

इसके साथ ही एक सीमा का भी हमें ध्यान रखना होगा। ऊपर के विवेचन में हम काव्य-निष्ठ कवि-व्यक्तित्व और काव्य को अधिक महत्त्व देते हुए स्वयं सामाजिक के व्यक्तित्व की एक मात्रा तक उपेक्षा-सी कर रहे हैं। हमने स्थायी भाव के रूप में वैष्णवी रति को एक व्यापक जन-संस्कार होने के नाते स्वीकृति दे दी है। इस व्यापक जन-संस्कार में निहित राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का एक स्तर और आदर्श रहा है। राम के प्रति जन-मानस में मर्यादा एवं आदर्श की प्रतिष्ठा है, कृष्ण के प्रति क्रीड़ा एवं लीला की। पर इस क्रीड़ा-लीला की रसिकता की एक सीमा है। सुसंस्कृत जन-मानस

(३) धनञ्जय की अन्तर्भाववादी मान्यता, जिसमे भक्ति को किसी समानजातीय स्थायी या सचारी मे अन्तर्भूत माना गया है।

(४) मम्मट की मान्यता जिसमे भक्ति की काव्यात्मक परिणति को रस-कोटि मे न मान कर भाव-ध्वनि की कोटि मे रखा गया है

(५) पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता, जिसमे भक्ति के रसत्व को तर्क के आधार पर स्वीकार करते हुए भी परम्परावाद की दुहाई देकर ही मम्मट की मान्यता का समर्थन किया गया है। इन मान्यताओ मे मम्मट की व्यवस्था ही परवर्ती युग की मान्य एव प्रचलित मान्यता रही है और आज भी काव्य शास्त्र की प्रतिनिधि मान्यता समझी जाती है।

जहाँ काव्य शास्त्रियो ने भक्ति को रस न मान कर भाव-कोटि मे रखा है वहाँ इसके विपरीत वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को ही परम उपेय एव परमार्थ रस के रूप मे सिद्ध किया है। यो सभी वैष्णव सम्प्रदायो की दृष्टि मे 'रसो वै स' श्रुति का प्रतिपाद्य लीलामय पुरुषोत्तम है, किन्तु उनकी दृष्टि मे भक्ति ही साध्य रही है। भक्ति उस प्रियतम की उपलब्धि का साधन होते हुए भी अपने मे साध्य है, चरम आनन्दमयी है। विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टिया के रहते हुए भी सभी वैष्णव आचार्य इस बारे मे एकमत हैं अत सबकी दृष्टि मे भक्ति एक रस ही नहीं, एकमात्र आस्वाद्य अप्राकृत रस है।

इस दृष्टि से लौकिक स्थूल सुख ही प्राकृत कोटि मे नही काव्यानन्द भी अर्थात् काव्य के शृङ्गारादि रस भी प्राकृत ही है। काव्य रसो मे लौकिक आनन्दो से सूक्ष्मता और लोकोत्तर चमत्कार प्रवणता होती है, यही उनकी अलौकिकता होती है किन्तु इस अलौकिकता मात्र से वे 'अप्राकृत' नहीं हो जाते। अन्ततोगत्वा काव्यानुभूति मे चित्त की अवस्थिति है, भावो की वासनाओ का उद्रेक है चित्तवृत्तियो के विविध स्पन्दन हैं। भले ही यह सब चित्त की सात्त्विक स्थिति के भीतर हो, जिसमे रजस्-तमस् दब गये होते हैं। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने रस का स्वरूप भग्नावरणविद्विशिष्ट स्थायी' या 'स्थाय्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चित्ति' के रूप मे निर्धारित किया है अत यह एक सोपाधिक स्थिति है। इसी कारण भट्टनायक ने इसे ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द-सहोदर ही कहा है। यह चित्त जिसकी भूमिका मे स्थायी भाव उद्रिक्त होता है, प्रकृति का ही विकार है। अत काव्य रसो की अलौकिकता एव लोकोत्तर-सूक्ष्मता को स्वीकार करते हुए भी उनकी प्राकृतता से इकार नही किया जा सकता।

दूसरी ओर ये वैष्णव आचार्य भक्ति को 'अप्राकृत' रस कहते हैं। इस मान्यता को स्थापित करने के लिए उन्होंने निजी दार्शनिक मान्यताओं का सहारा लिया है। उन्होंने एक 'विशुद्ध सत्त्व', नामक तत्त्व की कल्पना की हुई है। यह 'विशुद्ध सत्त्व' है तो 'सत्त्व' ही, पर प्रकृति का विकार सत्त्व गुण नहीं है, अपितु अनन्त शक्ति परमेश्वर की स्वरूप-भूत एक शक्ति है, ऐसी उनकी मान्यता है। इस विशुद्ध सत्त्व से ही परमेश्वर का विग्रह बना है, इसी से उनका क्रीड़ा-लोक, इसी से उनका परिकर आदि। अधिकारी भक्तों के हृदयों में प्रादुर्भूत होने वाली भगवद्विषयिका रति भी उसी विशुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति होती है जो भगवत्कृपा से ही, बड़ी साधना से भाग्यवानों को मिलती है। इस प्रकार भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद्विषयिका रति स्वरूपतः प्रकृति-विकार या चित्त-धर्म न होने के कारण 'अप्राकृत' है और उसका परिपाक 'भक्ति-रस' भी अप्राकृत ही है। अतः वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में परम तत्त्व लीलामय परमेश्वर के अतिरिक्त भक्ति ही परमार्थ रस है, जो अप्राकृत है। काव्य रस तो उसी तरह प्राकृत है जैसे लौकिक रस।

वस्तुतः वैष्णव आचार्य जिस अप्राकृत भक्ति-रस की बात करते है, वह काव्यशास्त्र का विवेच्य नहीं। वह सहृदय-सामान्य की अनुभूति का विषय नहीं। स्वयं वैष्णव आचार्यों के अनुसार यह भक्ति-रस हर व्यक्ति की अनुभूति मे नहीं आता, इसके सहृदय या अनुभवकर्ता बिरले ही होते है। इस विशुद्ध-सत्त्व रूप रति के उदय के लिए भी लम्बी भाव-साधना और संस्कारों की अपेक्षा है। रसत्व के लिए जैसे भाव के स्थिर संस्कारों की अपेक्षा है, वैसे ही भक्ति-रस के आस्वादन के लिए प्रमाता में भक्ति-रति की सुस्थिर वासना और संस्कार अपेक्षित हैं। इस प्रकार इस भक्ति-रस के स्थायी भाव की वासनारूपा अवस्थिति, जो प्रमाता में किसी भी रस की अनुभूति के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित होती है, बड़ी ही सीमित है, जन-सामान्य के लिए संवेद्य कदापि नहीं।

फिर, वैष्णव सम्प्रदायों में भी इस भक्तिरूपा रति का स्वरूप अपने-अपने सम्प्रदायों की विशिष्ट दृष्टियों के अनुरूप नाना रूपों में स्वीकृत हुआ है। मधुरा रति के मान्य विभिन्न रूप तो बिलकुल ही साम्प्रदायिक हो उठे हैं। भक्ति-रस के स्थायी भाव को इस साम्प्रदायिकता के कारण उसकी जनसामान्य-संवेद्यता और भी परिसीमित हो जाती है, और वह अपने अभीष्ट रूप में भक्त-मात्र के लिए भी संवेद्य नहीं रह जाती।

भक्ति की यह सीमित-प्रमातृता और अप्राकृतता ही काव्यशास्त्री की दृष्टि में एक काव्य-रसिक सहृदय-सामान्य के लिए उसके एक स्थायी भाव के रूप में स्वीकार

राधा-कृष्ण के अमर्यादित उन्मुक्त शृंगार में भक्ति की अनुभूति करने का अभ्यस्त नहीं है। काव्य रस के रूप में किसी रस के आस्वादन में उसके स्थायी भाव के औचित्य एवं जन-स्वीकृत रूप की अपेक्षा होती है। यही रसानुभूति की सामाजिकता है। अतः भक्ति-रस की काव्यानुभूति में सामाजिकता की रक्षा के लिए एक सीमा-मर्यादा अवश्य रखना होगी। उन्मुक्त रसिक भावुक ने अपनी भक्ति को प्रायः जन-सामान्य से गोप्य ही रखा है। वह भक्ति या साम्प्रदायिक रूप है और व्यक्तिगत अधिक है, उसकी सम्भावना काव्य शास्त्रीय भक्ति-रस के रूप में नहीं की जा सकती। इस साम्प्रदायिक भक्ति का जो भी हल्का-फुलका रूप कभी कभी प्रकट किया गया है उसके समर्थन के लिए अनेक प्रकार की व्याख्याएँ भी उनके समर्थकों को देनी पड़ी हैं। इस सबका निष्कर्ष यही है कि जन मानस भक्ति के आदर्श प्रधान रूप में एक लम्बी दूरी तक, और मधुर रूप में एक सीमित दूरी तक ही रस कोटि का आस्वादन पाता है। इस दूरी तक ही काव्य दृष्टि से वर्णकी भगवद्रति जन सामान्य के लिए एक स्थायी भाव बनी है और इस मात्रा की सीमा में ही उस रति के काव्यात्मक परिपाक में भक्ति का रसत्व स्वीकार किया जा सकता है। जन वस्तुस्थिति के इस पक्ष का ध्यान में रखते हुए ही हम भक्ति के रसत्व को स्वीकार कर सकते हैं।

निष्कर्ष यह कि काव्य रस के रूप में स्वीकृत भक्ति-रस केवल कवि के द्वारा अनुभूत रस के रूप में ही नहीं होना चाहिए, जन सामान्य के द्वारा, कहिए सुसंस्कृत सहृदय द्वारा अनुभूत भक्ति-रस होना चाहिए। इस प्रकार का काव्य रस बनने के लिए भक्ति रूप स्थायी भाव जन प्रतिष्ठित संस्कारों के मेल में होना चाहिए। उसमें कवि-व्यक्तित्व एक हलकी मात्रा तक ही हेर-फेर ला सकता है अधिक हेर-फेर में भक्ति की अनुभूति रसात्मक अनुभूति न रह कर या तो भाव-कोटिक रह जायेगी या फिर भक्ति की न होकर शृङ्गारादिक अन्य रसों या रसाभासों की कोटि की रह जायगी।

भक्ति की रसात्मक अनुभूति के लिए स्वीकृत भक्तिरूप स्थायी भाव में भगवान् के प्रति आराध्य भावना और महत्त्व चेतना मूलाधार तत्त्व हैं। जन-मानस इन चेतनाओं के साथ ही अपने आराध्य की भावना से युक्त है। यह तथ्य विश्वजन-मानस द्वारा स्वीकृत है। इसका आधार पकड़ रहते हुए चलने वाला काव्य भक्ति की रसकोटिक अनुभूति दे सकता है ऐसा कहा जा सकता है। इन तत्त्वों को भुला देने वाला काव्य यदि भक्ति की अनुभूति देता है तो वह उन्हीं लोगों के लिए हो सकता है जिनकी मानस पृष्ठभूमि उसी प्रकार के संस्कारों में पहिले से साधना द्वारा ढली हुई है। उसकी सहृदयता बड़ी परिसीमित होगी। भारतीय काव्य रस का रसत्व सरल सहृदय-संवादत्व पर आधारित है। इस कमी से उक्त प्रकार के भक्ति-काव्य को साम्प्रदायिक रूप में ही

पुष्टिमार्गीय भक्ति का स्वरूप

डॉ० मुंशीराम शर्मा

श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध में पुष्टि का लक्षण 'पोषण तदनुग्रह' शब्दों द्वारा किया गया है अर्थात् पुष्टि पोषण है। यह पोषण भगवान का अनुग्रह है। अतः पुष्टि शब्द से भगवत्कृपा का ही अर्थ लेना चाहिए। इस पुष्टि का तात्पर्य विषय-वासनाओं की तुष्टि नहीं है। वासनाओं के पोषण को आध्यात्मिक मार्ग नहीं माना जा सकता। यह तो वह लौकिक पक्ष है जो आध्यात्मिक विकास का पोषण नहीं, शोषण करता है। पुष्टिमार्ग आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है।

शास्त्रों में ज्ञान भक्ति रूप जिस साधन का वर्णन है, वह शास्त्रविहित साधन एवं परिमित साध्य की सिद्धि करने वाला है। इस परिमिति की मर्यादा मुक्ति है। शास्त्र-विहित साधनों के बिना भी प्रभु कृपा से जो भक्त को भगवद्स्वरूप की प्राप्ति होती है, वह पुष्टिमार्ग साध्य समझी जाती है। इस प्रकार पुष्टि मार्ग प्रमाण-पथ से विलक्षण और अनुग्रहैक साध्य कहा जाता है।[1] इसके भी मर्यादा और पुष्टि दो भेद हैं। मर्यादा पुष्टि में आन्तरिक विधि-विधान सहकारी बनते हैं। पुष्टि पुष्टि में किसी भी विधान की अपेक्षा नहीं होती है।

विषयाक्रान्त प्राणी भगवद्स्वरूप में प्रवेश करने के अधिकारी ही नहीं हैं। अतः पुष्टि मार्ग में विषयों से पराङ्मुख करने के लिए इन्द्रियों के विषयों को भगवान की ओर मोड़ देने का विधान किया गया है। हमारे पास जो कुछ है, गृह, धन, सन्तति, स्त्री, बल, चिन्तन, कीर्ति उन सबको भगवान के चरणारविन्दों में समर्पित कर देना चाहिए। हमारा सतति-स्नेह भगवान की ओर लगना चाहिए। हमारे धन का सदुपयोग भगवान और भक्तों की सेवा करने में है। हमारा चिन्तन भगवान को वरण करने में

---

१. पुष्टिमार्गो अनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः। (अणु भाष्य ४-४-६।)

प्रयुक्त होना चाहिए । हमारी कीर्ति प्रभु-प्रदत्त है। इसमें उसी भगवान का यश निहित है । इस प्रकार समस्त विषयों की योजना प्रभु की ओर उन्मुख होकर भक्त को विषय-वासनाओं से निःसंगत कर देती है ।

पुष्टि मार्ग को पंचपर्वा विद्या भी कहा जाता है । पंचपर्वों में वैराग्य, सांख्य (ज्ञान), योग (कर्म), तप और भक्ति की गणना है ।[1] वैराग्यपरक होने से पुष्टि मार्ग को काम-पोषक नहीं कह सकते । काम की स्थिति पाँच शत्रुओं में सर्वप्रथम आती है । शेष चार इसके परवर्ती ही नहीं, संतति स्वरूप भी समझे जाते हैं । *गीता में वर्णित विनाश-क्रम के अन्तर्गत इस तथ्य की व्याख्या उपलब्ध होती है ।*[2] गोपियों के प्रेम में हम इस काम-दोष की कल्पना नहीं कर सकते । वे तो कामादि समस्त विषयों का परित्याग करके भगवान के चरणकमलों में उपस्थित हुई थीं । उन्होंने सब कुछ छोड़कर एक प्रभु की शरण ग्रहण की थी । वे कुछ उदात्त प्रेम की फहराती हुई विशुद्ध, परमपूत पताकाएँ हैं । श्रीमद्भागवत के रासपंचाध्यायी प्रकरण का भाष्य करते हुए आचार्य वल्लभ ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है :

कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटम् ।
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यान्न संशयः ॥

कामोपभोग द्वारा काम की पूर्ति करने से तो स्पष्ट ही मेरे-तेरेपन का संसार जन्म लेता रहेगा । अतः काम का अभाव ही पूर्ण निष्काम बनाने वाला है, इसमें संशय नहीं है । पुष्टिमार्ग में इसी निष्काम भाव वैराग्य की मान्यता है । काम का उद्बोध लौकिक श्रृंगार में होता है । गोपियों का प्रेम अलौकिक श्रृङ्गार में आता है। वह प्राकृत विषयों के उपभोग के समान नहीं है । अलौकिक वासनाओं से सना हुआ प्रेम आगमापायी, क्षणिक और विनश्वर होने से नित्य, अच्युत एवं स्थायी रस की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता । वह तो रसाभास है । प्रभु-प्रेम ही नित्य है, और उसी को "रसो वै सः" कहा जा सकता है । इसे अलौकिक भजनानन्द के रसज्ञ दैवी जीव ही अनुभव कर सकते हैं । ऐसे ही जीव रसरूप भगवान को अपने वश में करने वाले

---

१. वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे ।
पंचपर्वेति विद्येयं विद्वान् हरिं विशेत् ॥ (तत्त्वदीप निबंध ४८-४६ ।)

२. गीता २-६२, ६३ ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

होते हैं। मर्यादा मार्ग में पुष्टिमार्गीय भक्ति का पथ भिन्न है। मर्यादा मार्ग वैदिक विधानों का अनुसरण करता है। उसका फल भी प्राकृत है। 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि वाक्य इसकी पुष्टि करते हैं। स्वर्ग सुख विनाशी प्राकृत लोक ही माना जाता है। पुष्टि मार्गीय भक्ति से उत्पन्न आनन्द अलौकिक और अति प्राकृत है। वह अक्षर ब्रह्म को पाता है, पुष्टिमार्ग साक्षात् भगवान के विग्रह से सम्बन्ध रखता है। मर्यादा मार्ग में वेदादि शास्त्रों के शब्दों का प्रामाण्य है। पुष्टिमार्ग में स्वयं भगवान और उनका वेणुनाद प्रामाणिक समझा जाता है। मर्यादा में ब्रह्म प्रमेय है पुष्टि में रस रूप पुरुषोत्तम। मर्यादा मार्ग वैधी भक्ति कहलाता है जिसमें पान और श्रवण अर्चा आदि भक्ति के ६ प्रकार आते हैं। पुष्टि मार्ग भाव भक्ति है जिसमें विप्रयोग रसात्मक सर्वात्म भावप्रदान ही साधन समझा जाता है। मर्यादा में प्राय सायुज्य की प्राप्ति है तो पुष्टि में भगवान के अधरामृत का आस्वादन है। इसी हेतु इस उत्तम भक्ति की संज्ञा भी प्राप्त है। मर्यादा मार्ग में वैराग्य के अनन्तर संन्यास लेने का अधिकार है पुष्टिमार्ग में कृष्ण सेवा से सिद्ध विषयों के विप्रयोग और भगवद् स्वरूप सम्बन्धी सर्वात्मक अनुराग के जाग्रत होने पर संन्यास का अधिकार प्राप्त होता है। संन्यास ग्रहण कर लेने पर भी मर्यादा मार्ग में श्रवण मननादि की कर्त्तव्यता अपेक्षित है। पुष्टिमार्ग में श्रवणादि भगवद् विरह भाव में बाधक बनते हैं अतः त्याज्य हैं। मर्यादामार्गी चित्त-स्वास्थ्य के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सकता है। परन्तु पुष्टिमार्गी के लिए अप्राकृत विकलता गुण मानी गई है और उसके निग्रमन के लिए स्थान-परिवर्तन का निषेध है। उसके लिए एक स्थान की अवस्थिति ही वाञ्छनीय है। पुष्टिमार्गी यदि एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता भी है तो उन स्थानों में जहाँ भगवान के चरणचिह्न अंकित हों और जहाँ उन्होंने क्रीड़ा की हो और जो उसके हृदय में भगवद् विरह भाव को उद्दीप्त करने वाले हों। मर्यादा मार्ग में संन्यासी देह रक्षार्थ भिक्षा माँगता फिरता है पुष्टि-मार्गी का समस्त उद्यम विप्रयोग द्वारा देहनाश ही होता है। इस कार्य में भिक्षार्थ भ्रमण सम्भव ही नहीं है। मर्यादामार्गी धार्मिक नियम विधानों का पालन करता है, पुष्टिमार्गी सब धर्मों को छोड़कर भगवान की शरण ग्रहण करता है। मर्यादा में आकार का जप ध्यान आदि करना पड़ता है, पुष्टि में विप्रयोग-पूर्वक भजन-मात्र का भावन करना। मर्यादा मार्ग बाह्योन्मुख है, पुष्टिमार्ग में आन्तर अनुभव की विशेषता है।

भक्ति के जो मर्यादा और पुष्टि दो भेद किये जाते हैं, उनमें मर्यादा भक्ति भगवान के चरणारविन्दों की भक्ति है पुष्टि भक्ति प्रभु के मुखारविन्द की भक्ति द्वारा नारदादि मुनियों ने श्रवण कीर्तन द्वारा भगवान का मुख सम्बन्ध उपलब्ध किया। यह सुलभ है। पुष्टि भक्ति द्वारा जो स्वयं भगवद् प्रदत्त है, गोपियों ने भगवान के अधरामृत का सेवन किया। यह दुर्लभ है। मर्यादा भक्ति वेद सिद्ध होने से परतन्त्र है। पुष्टि भक्ति स्वतन्त्र है। मर्यादा भक्ति का फल सायुज्य है, पर पुष्टि भक्ति का

फल अभेद भाव का बोध है। मर्यादा भक्ति फल की अपेक्षा रखती है। पुष्टि भक्ति में फल की अपेक्षा नहीं रहती। मर्यादा भक्ति में पुरुषोत्तम धर्मस्वरूप गुहानिहित और अक्षरात्मक व्यापी वैकुण्ठ के निवासी हैं। पुष्टि भक्ति में पुरुषोत्तम धर्मस्वरूप साक्षात् दृश्यमान और गोकुल के निवासी हैं। व्यापी वैकुण्ठ के ऊपर गोकुल है। अतः उसका महत्त्व भी वैकुण्ठ से अधिक है। एक स्थान पर ज्ञान है, तो दूसरे स्थान पर रस है। एक के द्वारा अक्षर ब्रह्म में लय होता है, तो दूसरी भक्ति के द्वारा पुरुषोत्तम लीला में प्रवेश होता है।

ब्रह्मवैवर्त के अनुसार कृषि शब्द भू वाचक और रण निवृत्ति वाचक है। इन दोनों का ऐक्य परब्रह्म है जिसे कृष्ण कहा जाता है। यह नित्यानन्द के स्वरूप है और परम अबाधित सत्य हैं। इससे बढ़कर और कोई सीमा नहीं है। यह पुरुषोत्तम शब्द वाच्य है। इसमें समस्त लीलायें नित्य होती रहती हैं और समस्त अलौकिक, धर्म प्रकट है। यह वैकुण्ठ में चतुर्भुज और गोकुल में द्विभुज से विद्यमान है। अपने विविध रूपों में यह भक्तों के साथ वृहद्वन, वृन्दावन तथा व्यापि वैकुण्ठादि मे रमण करता है। इस परमानन्दमय पुरुषोत्तम के मूल रूप के चार रूप हैं। एक श्रीकृष्ण शब्द वाच्य पुरुषोत्तम स्वरूप, दूसरा अक्षर स्वरूप जो अधिकारी भेद से दो प्रकार का है और चतुर्थ अन्तर्यामि स्वरूप। यह उपाधि साहित्य स्नेह वालों के लिए मत्स्यादि अवतारों के रूप में और निरुपाधि स्नेह वालों के लिए व्रजनाथ के रूप में प्रकट होती है। अतः समस्त अवतारों की अपेक्षा व्रजनाथ ही श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। मर्यादा मार्ग में पाप-क्षय के अनन्तर भक्ति में अधिकार प्राप्त होता है। पुष्टि भक्ति में भक्त सदैव शुद्ध है। एक में ज्ञानादि की सहकारिता है, दूसरी में इनकी आवश्यकता नहीं रहती।

पुष्टि भक्ति भी प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि नामों से चार प्रकार की है।[1] जिस पर प्रभु की कृपा है, वही पुष्टि भक्ति का अधिकारी है। जिस मार्ग में भक्त की रुचि है, उस रुचि द्वारा ही भगवत्कृपा का अनुमान किया जाता है। यह रुचि भी भक्ति का ही रूप है। शुद्ध पुष्टि भक्ति का फल नित्यलीला के अन्दर प्रवेश है। भगवद्-विषयक निरुपाधि स्नेह को सर्वात्मभाव कहते हैं। भक्ति की यह विशिष्ट दिशा है। यही पुरुषोत्तम प्राप्ति का मुख्य कारण है। इसी कारण भक्ति के मर्यादा और पुष्टि दो भेद हैं। भागवत के नवम स्कंध में वर्णित अम्बरीष की भक्ति मर्यादा प्रकार की है। दशम स्कंध में निरूपित व्रजसुन्दरी गोपिकाओं की भक्ति पुष्टि प्रकार की है।[2]

---

१. प्रमेय रत्नार्णव में इन भेदों का निरूपण किया गया है।

२. श्रीधर शर्मा प्रणीत अणु भाष्य की बालबोधिनी टीका के उपोद्घात, पृ० २३-२७

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आचार्य वल्लभ ने भक्ति को विहिता और अविहिता दो प्रकार की माना है। ब्रह्मसूत्र ३.३.३१ के अणुभाष्य में वे लिखते हैं—

भक्तिस्तु विहिता अविहिता च इति द्विविधा। माहात्म्यज्ञानयुत ईश्वरत्वेन प्रभोनिरुपाधि स्नेहात्मिका विहिता अन्यतो प्राप्तत्वात् कामादि उपाधिजा सा तु अविहिता। एवं उभयविधाया अपिनस्यामुक्तिसाधकत्वम् इत्याह।' ईश्वर में माहात्म्य ज्ञानयुत निरुपाधि स्नेह रखना विहित भक्ति है। कामादि उपाधियों से उत्पन्न भक्ति अविहिता है। दोनों ही मुक्ति की साधिका हैं।

भक्ति वर्धिनी में आचार्य जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्ति भाव की तीन स्थितियों को स्वीकार किया है स्नेह आसक्ति और व्यसन। भक्त पहले प्रभु से स्नेह करता है। यह स्नेह धीरे धीरे आसक्ति में परिणत होता है और आसक्ति अन्त में व्यसन बन जाती है। व्यसन से भक्त प्रभु की पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

पुष्टिमार्ग में जीवों के विकास की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं जिनके आधार पर भक्ति भी ऊपर वर्णित चार प्रकार की हो जाती है। प्रथम प्रकार प्रवाही पुष्टि भक्ति का है जिसमें भक्त प्रभु से अनन्त काल से प्रेम की याचना करता चला आ रहा है। प्रभु के प्रति भक्त का यह प्रेम जगत् के जटिल जालों में व्यवहित होता रहता है। फिर भी जीव को ईश्वर से मिलन की यह आकांक्षा शाश्वत है। दूसरी मर्यादा पुष्ट भक्ति है। इसमें भक्त मन को सब ओर से हटा कर प्रभु में लगाता है और आन्तरिक विधि विधानों का पालन करके अपनी आसक्ति को दृढ़ा करता है। तीसरी पुष्टि-पुष्ट भक्ति है जिसमें भक्त को भगवान से प्रेम करने का व्यसन हो जाता है। चौथी शुद्ध पुष्ट भक्ति है जिसे भक्ति की पूर्ण या सिद्ध अवस्था कहा जा सकता है। इसी से भक्त भगवान का कृपा पात्र बनता है उनके अनुग्रह को अनुभव करता है और भगवान् के साथ लीला में प्रवेश करके परमानन्द को प्राप्त होता है।

इस प्रकार आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति की दो शाखाएँ दिखलाई देती हैं—एक साधन रूप और दूसरी साध्य रूप। प्रथम शाखा में भक्त के लिए प्रयत्न करना आवश्यक समझा गया है। प्रयत्न करने के उपरान्त जब भक्त अशक्त हो जाये तब उसे प्रसन्न होकर प्रभु की शरण में जाना चाहिए जैसे बन्दर का बच्चा

(शेष पिछले पृष्ठ का)
के आधार पर। (आर्य भूषण प्रेस, पूना से १९२६ ई० में प्रकाशित, प्रथम संस्करण।)

उछल-कूद करने के पश्चात् अपनी माँ की शरण में जाता है। भक्ति की यह साधना-वस्था है जिसमें ज्ञान और कर्म—भक्ति के साथ मिल-जुलकर चलते हैं। भक्ति नवधा भी इसी के अन्तर्गत आती है। पर ये साधन हैं, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य है प्रेया या परा भक्ति की प्राप्ति। दूसरी शाखा में भक्त को प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्रभु स्वयं प्रेम-स्रोत-स्वरूप हैं, जैसे बिल्ली अपने बच्चों की चिन्ता में म्याऊँ-म्याऊँ करते हुए बच्चों के पास स्वतः पहुँच जाती है उसी प्रकार प्रभु भी शरणागत भक्त को अपनाने के लिए स्वयं उसके पास आ जाते हैं, प्रकट हो जाते हैं, प्रकाशित हो उठते हैं। भक्त के लिए प्रभु की ओर उन्मुख हो जाना, हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल पिपासा जाग्रत हो जाना अर्थात् पराभक्ति की निष्ठा दृढ़ हो जाना भर पर्याप्त है। अतः आचार्य वल्लभ के मतानुसार प्रभु के प्रति अविचल प्रेम साध्य रूप है। इस अविचल प्रेम के उत्कर्ष के लिए प्रभु-प्राप्ति की अभिलाषा, विरह-व्याकुलता का जागरण एकान्त आवश्यक है। इस विरह-व्यथा में, संयोग और मिलन की आकांक्षा में तड़पते हुए भक्त पर भगवान स्वयं आकर कृपा करते हैं, उसे स्वयं उठा कर गोद में लेते हैं।

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय मे प्रवेश करने के समय भक्त को ब्रह्मसम्बन्ध कराया जाता है, जो एक प्रकार का संस्कार है। इस संस्कार में साधक अपना सर्वस्व भगवान को समर्पित करता है और गुरु उसे "श्रीकृष्णः शरणं मम" मंत्र देता है। यह मंत्र भक्त को सदैव अपने ध्यान में रखना चाहिए। 'सिद्धान्त मुक्तावली', 'विवेक धैर्याश्रय' आदि ग्रंथों में आचार्य वल्लभ ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि पुष्टिमार्गीय भक्त के लिए परम आराध्य देव श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति-भावना, अविचल विश्वास, पूर्ण समर्पण और श्रद्धा भाव भक्त के उत्थान के लिए आवश्यक माने गये हैं। चतुःश्लोकी में आचार्यजी लिखते हैं—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेवधर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन् ॥१॥
एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्व समर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत ॥२॥
यदि श्री गोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किम् परं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकरपि ॥३॥
अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥४॥

अर्थात् सर्वदा समस्त भावों से व्रजाधिप श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिए। अपना यही धर्म है, अन्य कुछ नहीं। भगवान सर्व समर्थ है। जो कुछ मेरे लिए कर्तव्य

है उसे वे स्वयं वर दंगे ऐसा भाव कर निश्चिन्त हो जाना चाहिए। यदि श्रीकृष्ण को सर्वात्मना हृदय में स्थापित कर लिया तो लौकिक एवं कर्मकाण्ड द्वारा अन्य भिन्न फल की प्राप्ति शेष रही? अतः सभी भाँति श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणत होकर उनका स्मरण और भजन करना चाहिए। यही मेरा मत है।

भगवान का यह भजन तन मन तथा धन तीनों प्रकार से होना चाहिए। भक्त का परम पुनीत कर्त्तव्य प्रभु-सेवा में अपने शरीर वैभव, विचार आदि सबका समर्पण कर देना है। भगवान और भगवद्भक्तों की सेवा में उसके सर्वस्व का प्रयोग होना चाहिए। पर तन और धन से भी बढ़कर मन को प्रभु-सेवा में लगाना है। सिद्धान्त मुक्तावली' में आचार्यजी लिखते हैं—' कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।" तन और धन तो मन के ही ऊपर है। मन सेवा में नहीं लगा है, तो शरीर और सम्पत्ति का प्रयोग सफल हो ही नहीं सकता।

भगवद्भजन की ओर प्रेरणा देने वाला गुरु होता है। अतः आचार्य वल्लभ के मत में गुरु की आज्ञा का पालन प्रभु भक्ति का ही एक अंग है। आचार्य वल्लभ ने भगवान के बाल रूप की उपासना का ही प्रचार किया था परन्तु कुछ विद्वान् उनकी पुष्टि भक्ति के अन्तर्गत बाल किशोर दाम्पत्य और परकीया कान्ता भाव सभी प्रकार के भक्ति भावों का समावेश करते हैं।

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने आचार्यजी का अनुसरण करते हुए पुष्टि भक्ति को और भी आगे बढ़ाया। श्रीनाथ जी के स्वरूप-पूजन में आठ पहर की भावना शृङ्गार सजावट तथा कीर्तन आदि का मण्डन उन्होंने बहुत वैभव के साथ किया। आचार्य वल्लभ और उनकी पुत्र तथा शिष्य-परम्परा ने मिलकर पुष्टि भक्ति का जो स्वरूप खड़ा किया उसमें भागवत भक्ति की पूर्व परम्परा का तो समावेश था ही साथ ही उसमें वात्सल्य एवं माधुर्य भाव की रस सिंचित धारा ने मिलकर शताब्दियों से हृदय पर पड़ी हुई निवृत्ति की छाप को धोकर दूर बहा दिया। इस भक्ति ने एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न की जो जीवन से राग करना सिखलाती है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति नहीं प्रभु के प्रेम की प्राप्ति थी।[1] प्रभु का यह प्रेम भगवत्कृपा से ही साध्य था। इस प्रेम को प्राप्त कर भक्त वैकुण्ठ

१　आचार्य वल्लभ ब्रह्म सूत्र, अध्याय ३, पाद ३, सूत्र ३७ के अणुभाष्य, पृ० ११०० में प्रेमपरा पुष्टिमार्गीय भक्ति को ज्ञान से ऊंचा पद देते हुए लिखते हैं—' एवं सति

(शेष अगले पृष्ठ पर)

जाना भी नहीं चाहता था। वैष्णव कवियों ने इस प्रेम की प्रभूत प्रशंसा की है। यह प्रेम, प्रेम से ही उत्पन्न होता है और इसी से परमार्थ की प्राप्ति होती है। इसी के द्वारा प्रेमरूप गोपाल से भेंट होती है। प्रेम पैदा नहीं हुआ, तो हरिलीला का दर्शन करना असंभव है।

(शेष पिछले पृष्ठ का)

मुख्यं यद्द्वैतज्ञानं भक्ति-भावैकदेशव्यभिचार भावेषु एकतरदितिसर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयमिति भावः।" यहाँ ज्ञान को वे सरसों और भक्ति को स्वर्णाचल की उपमा देते हैं। ज्ञान मोक्ष तक ले जाता है, पर भक्ति प्रभु से मिला देती है।

रीतिकालीन आचार्यत्व का मूल्याङ्कन

डॉ० विजयपाल सिंह

इस काल को मिश्रबन्धुओं ने 'अलंकृत काल' नाम दिया है। कुछ के अनुसार इसे 'शृङ्गार काल' ही कहना चाहिए। परन्तु 'रीति-काल' नाम ही अधिक लोकप्रिय, बहुप्रयुक्त तथा उपयुक्त है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' एक पारिभाषिक शब्द था। 'विशिष्टा पदरचना" व्याख्या सहित वामन ने (९वीं शती) इसे काव्यात्मा माना था। रीति शब्द का शास्त्रीय अर्थ हिन्दी के आचार्यों ने ग्रहण किया। परन्तु इसका एक विकसित अर्थ भी प्रचलित हुआ काव्य रचना पद्धति तथा तत्सम्बन्धी शास्त्र। तुलसी ने भी 'कवित रीति' का उल्लेख किया है।[1] यहाँ कवि-मार्ग ही इसका अर्थ है। रीति या कवि-मार्ग के नियमों को व 'वर्ण्य विषय' के उपकारक रूप में ही स्वीकार करके उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत नहीं करते थे।[2] आगे के रीतिकालीन कवियों ने इस अर्थ में पथ' का भी उल्लेख किया है।[3] केशव के पश्चात् बहुधा 'रीति' शब्द का प्रयोग ही मिलता है। चिन्तामणि[4], मतिराम[5], देव[6], सुरति मिश्र[7], दास[8] प्रभृति आचार्यों ने रीति शब्द का प्रयोग किया है। अतः रीति शब्द काव्यशास्त्र अथवा काव्यशास्त्रीय विधान का वाचक न होकर, व्यापक अर्थ में विधान अथवा शास्त्रीय विधान का ही वाचक है।[9] इससे यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय काव्य विधान तथा

---

१ कवित रीति नहिं जानौं, कवि न कहावौं।

२ भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥

३ समुझ बाला बालकहू वर्णन पथ अगाध।

४. रीति सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार।

५ सो विश्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कवि रसरीति।

६ अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।

७ बरनत मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।

८ काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों।

९ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० १८०।

तत्सम्बन्धी बोध और अभिरुचि की पुनः स्थापना का यह युग था। भक्ति काव्य ने वस्तु को प्राधान्य दिया तथा शैली को गौण स्थाना। रीति काल ने इस स्थिति की प्रतिक्रिया में शैली और रूप को सुनिश्चित व्यवस्था देने का यत्न किया।[१] भक्तिकालीन आध्यात्मिक अथवा सामाजिक उपयोगितावाद के स्थान पर शैली-शिल्प के कलात्मक तत्त्वों को मान्यता दी गई। यदि उपयोगिता मानव की एक प्रमुख आवश्यकता है तो कला उसके अन्तर्मन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। भक्ति साहित्य यदि एक आन्दोलन से बल ग्रहण करके हिन्दी में एक सुदीर्घ परम्परा बना सका तो रीति काल मानव मन की कलाप्रियता से बल ग्रहण करके हिन्दी में एक सुदीर्घ परम्परा स्थापित कर सका। इसीलिये इस काल के आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की पूर्ण समृद्ध परम्परा को भाषा के कगारों में प्रवाहित होने के लिए बाध्य किया।

रीति काल की दीर्घ अविच्छिन्न परम्परा स्वयं अपने आप में कुछ निजी शक्तियाँ रखती है, जो उसे जीवन रस देती रहीं। उन्होंने प्रेम को अलौकिक धरातल से उतार कर, शुद्ध मानवीय लौकिक धरातल पर स्थापित किया। भक्ति काल में प्रेम को जन-जीवन के व्यावहारिक धर्म से अलग कर दिया, उसे अपने से इतर पुरुष निर्गुण अथवा सगुण के लिए समर्पित कर दिया, अपनी भावना का अपने ही हाड़-मांस के लिए कोई भी स्थान और उपयोग नहीं रहा।[२] प्रेम का भक्तिकालीन उदात्तीकरण एक सामयिक आवश्यकता और युगधर्म से प्रेरित था। रीतिकाल ने मानव की मूल भावना उसे वापस दी। प्रेम के इस उच्छलित रूप ने आचार्य-प्रणीत उदाहरणों में समा कर युग रुचि का सामान्यतः तथा राज रुचि का विशेषतया परिष्कार किया। राज रुचि को काव्य और काव्यशास्त्र की ओर मोड़ कर एक प्रकार से इस काल के कवि आचार्यों ने बड़ा उपकार किया। राज्याश्रय इन रीतिकालीन आचार्यों के लिये बन्धन माना जा सकता है परन्तु साथ ही साथ उन्होंने राज वर्ग के रागतत्त्व को भी नियंत्रित किया। इस प्रकार राज्याश्रय और अपनी निजी शक्तियों के बल पर यह युग दीर्घकाल तक चलता रहा। भक्ति काल में अर्थात् सत्रहवीं शती में ही रीत्याचार्यों का कार्य प्रारम्भ हो गया था[३], पर यह धारणा इतनी सघन एवं बलवती नहीं हो पाई थी। केशवदास को रीति काल का प्रवर्त्तक आचार्य मानने के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य

---

१. डॉ० सत्येन्द्र : 'कला, कल्पना और साहित्य', पृ० २१२।

२. वही, पृ० २११।

३. कृपाराम का समय सं० १५९८ वि० माना जाता है और सेनापति का १७०० वि०। इस काल के आचार्य कवियों की सूची के लिये देखिये 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास,' षष्ठ भाग, पृ० १६७-१६८।

नहीं है।[1] केशव और चिन्तामणि के बीच, काल की जो खाई है उसको पाटने वाली कड़ियों के अभाव में प्रस्तावना काल और रीति काल को अलग मान लिया जाता है। बीच की लुप्त कड़ियों का अनुमान भी तर्कसंगत ही होगा। रीति काल की सीमा का निर्धारण संवत् १७०० से १९०० तक ही होना चाहिए। सत्रहवीं और बीसवीं शती के रीति काव्य का क्रमशः प्रस्तावना एवं उपसंहार के रूप में आकलन किया जा सकता है। यथार्थ रीति काल का विस्तार तो संवत् १७०० से संवत् १९०० तक ही है।[2] इस प्रकार २०० वर्ष से कम का इतिहास रीति काल का नहीं है। यह अवधि इस युग के कवि-आचार्य तथा उनके कर्म के मूल्य का प्रमाण है।

इस दीर्घ कालावधि में सैंकड़ों ज्ञात-अज्ञात रीति ग्रन्थों की रचना हुई। इस युग के कवि-आचार्यों का परिमाण-गत मूल्याङ्कन कठिन है। बहुत से ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हैं, बहुत से अज्ञात हैं और बहुत से लुप्त हो गये। फिर भी प्राप्त सामग्री कम नहीं है। डा० भगीरथ मिश्र की सूची के आँकड़े[3] इस प्रकार हैं। अलंकार ग्रन्थ ४६ + रस ग्रन्थ ३८ + शृङ्गार और नायिका भेद ग्रन्थ ३० + काव्य शास्त्र ग्रन्थ ३२ = योग ११६। हिन्दी के वृहद् इतिहास की सूची के आँकड़े[4] इस प्रकार हैं। सर्वांग निरूपक आचार्य और ग्रन्थ १५ + सर्व रस निरूपक ग्रन्थ ३१ + शृङ्गार रस निरूपक ग्रन्थ १६ + नायिका भेद ग्रन्थ १३ + अलंकार निरूपक आचार्य २७ (लगभग इतने ही ग्रन्थ) + पिंगल निरूपक आचार्य १५ (लगभग इतने ही ग्रन्थ) = योग ११८। नाट्य विधान से सम्बन्धित केवल एक ग्रन्थ नारायण कृत 'नारायण-दीपिका' है, और कवि शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ 'कवि प्रिया'। इन आँकड़ों से रीति आँकड़ों का परिमाण-गत महत्त्व स्थापित हो जाता है।

इनके आचार्यत्व की सीमाएं हैं। इस युग के आचार्य के साथ कवि संलग्न था, वह सरस उदाहरणों की रचना का आग्रह करता रहता था। पर उदाहरण-

---

१ "अतः केशव के प्रादुर्भाव काल से रीति काल का प्रवर्तन स्वीकार न करके चिन्तामणि के समय से ही रीतिकाल का प्रवर्तन मानना अधिक युक्तिसंगत है। कृपाराम, करनेस और केशव की रचनाओं को रीति काव्य की प्रस्तावना के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। उक्त प्रस्तावना के साथ आगे के रीतिकाव्य का अध्ययन करने पर रीतिकाल का प्रारम्भ अठारहवीं शती से मानना होगा।" ('हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास', षष्ठ भाग, पृ० १७०।)

२ वही, पृ० १७२।

३ 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० ३७-४३।

४ षष्ठ भाग, पृ० ३८६ ३८८।

रचना या योजना भी आचार्यत्व का अंग ही माना जाना चाहिए। संस्कृत में काव्य-शास्त्रीय ऊहापोह उस कोटि तक पहुँच चुकी थी कि मौलिकता दिखाने का अवकाश ही नहीं था।[1] प्राचीन सिद्धान्तों की उपयुक्त वैज्ञानिक व्याख्या भी इन आचार्यों से प्रायः नहीं हो सकी। उदाहरण रचना, वर्णन विस्तार[2], नायिका भेद, वर्गीकरण तथा कुछ भाषा सम्बन्धी[3] प्रश्नों के समाधान में मौलिकता के दर्शन होते हैं। नवीनता लाने का मोह प्रायः सभी आचार्यों में दृष्टिगत होता है। संस्कृत के तत्कालीन आचार्य भी न कोई मौलिक चिन्तन ही प्रस्तुत कर सके थे और न सूक्ष्म विवेचन ही। हिन्दी के आचार्यों की भाँति उनका भी झुकाव वर्णन विस्तार की ओर ही विशेष था। पण्डितराज में मौलिक चिन्तन और मेधा दिखाई देती है, परन्तु वर्णन-प्रियता से वे भी मुक्त नहीं हैं।

रीतिकालीन कवि आचार्यों का प्रतिपादन अस्पष्ट, उलझा हुआ और दोष-पूर्ण था। इसका कारण यह था कि संस्कृत काव्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान बहुत कम आचार्यों को था। संस्कृत काव्यशास्त्र की उत्तरवर्ती परम्परा से इनका सम्बन्ध होना भी एक कारण था। वह परम्परा मौलिक चिन्तन और उद्भावना की दृष्टि से निर्जीव प्रायः हो चुकी थी। इस परम्परा में पण्डितराज ही दैदीप्यमान नक्षत्र के समान चमक रहे हैं। कवि-शिक्षा की परम्परा से ही इसका सीधा सम्पर्क हुआ, जिसमें सिद्धान्तों की सूक्ष्म ऊहापोह अथवा परीक्षण अपेक्षित नहीं था। उसका सामान्य बोध ही पर्याप्त था।

इन आचार्यों का साहित्य-संवर्द्धन और समीक्षा पद्धति की स्थापना में जो महत्त्वपूर्ण योगदान है उसे भुला नहीं देना चाहिए। इनके प्रयत्नों से काव्यशास्त्रीय अभिरुचि सुरक्षित रह सकी। काव्य-रचना के लिये और काव्यास्वादन के लिए शास्त्रीय पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई। 'भाषा' काव्य का इस पृष्ठभूमि में समुचित उन्नयन और समृद्ध काव्यरूपीय विकास सम्भव हो सका। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' तथा 'कलम गही नहिं हाथ' के आन्दोलन से प्रेरित बलवती प्रवृत्ति और परम्परा के वाता-वरण में काव्यशास्त्रीय परम्परा को इन्होंने लुप्त नहीं होने दिया। साथ ही कवि-कर्म के योग से शास्त्रीय चिन्तक को जहाँ क्षति पहुँची, वहाँ उसे सरसता भी प्राप्त हुई। अब यह उच्च मनीषिता-युक्त विचारक वर्ग के एकाधिकार का क्षेत्र नहीं रह गया। सामान्य कवि और रसिक के लिए भी रमणीय हो गया। इसके अतिरिक्त संस्कृतज्ञ

१. नारायणदास खन्ना : 'आचार्य भिखारीदास', पृ० १६१।
२. डॉ० नगेन्द्र : 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास', षष्ठ भाग, पृ० ४६४।
३. डॉ० भगीरथ मिश्र : 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० १६१।

हिन्दी आचार्यों में मौलिकता का सर्वत्र अभाव भी नहीं है। "हमारी वर्तमान आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का योगदान स्पष्ट है। बौद्धिक ह्रास के उस अन्धकार युग में काव्य के बुद्धि पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से बड़ा काम किया।"[१] इनका एक पारिभाषिक और शास्त्रीय योगदान भी है। संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। उसका स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्रायः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत अंग रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से मुक्त किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित की कि यहाँ "शृंगारवाद एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।"[२] इन आचार्यों की स्वसाधना इतिहासकारों की उपेक्षा पाती रही है। नवीन दृष्टि से इनका पुनर्मूल्यांकन अपेक्षित है।

---

१ डॉ० नगेन्द्र 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास', षष्ठ भाग, पृ० ४६७।
२ वही, पृ० ४६८।

नायिकाभेद-शास्त्र को हिन्दी की देन

डॉ० राकेश गुप्त

१. संस्कृत साहित्य-शास्त्र में नायिका भेद

नाट्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र में नायिका भेद की भी संक्षिप्त रूपरेखा प्राप्त होती है। प्रसिद्ध अष्ट नायिकाओं तथा नायिका के उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा भेदों का उल्लेख भरत ने किया है। अग्निपुराण में नायिका के केवल चार भेदों का कथन है : स्वकीया, परकीया, पुनर्भू, सामान्या। इनमें से पुनर्भू परवर्ती लेखकों द्वारा प्रायः मान्य नहीं हुई। काव्यालंकार के लेखक रुद्रट ने नायिका के मुख्य विभाजन के अन्तर्गत जिन सोलह भेदों का उल्लेख किया है, वे बाद में प्रायः सभी लेखकों द्वारा स्वीकृत हुए। रुद्र भट्ट ने अपने 'शृंगारतिलक' में भरत और रुद्रट के आधार पर नायिका के तीन वर्गीकरण प्रस्तुत किए, जिन्हें आगे चल कर मानक विभजनों के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। ये वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

प्रथम वर्गीकरण (१६ भेद)

नायिका : स्वकीया, परकीया, सामान्या।
स्वकीया : मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा (प्रौढा)।
मध्या तथा प्रगल्भा : धीरा, मध्या (धीराधीरा), अधीरा।
मध्या तथा प्रगल्भा पुनः : ज्येष्ठा, कनिष्ठा।
परकीया : कन्या (अनूढा), ऊढा (परोढा)।

द्वितीय वर्गीकरण (८ भेद)

नायिका (अवस्थानुसार) : स्वाधीनपतिका, उत्का (विरहोत्कंठिता अथवा

उत्कंठिता) वासकसज्जिका (वासकसज्जा), खंडिता (कलहांतरिता), विप्रलब्धा, खंडिता, अभिसारिका, प्रोषितप्रेयसी (प्रोषितपतिका अथवा प्रोषितभर्तृका)।

तृतीय वर्गीकरण (३ भेद)

नायिका उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

'दशरूपक' के लेखक धनंजय ने इन तीनों वर्गीकरणों को इसी रूप में स्वीकार किया है। 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'शृङ्गार प्रकाश' के लेखक भोज ने यद्यपि नायिका के विभाजन के सम्बन्ध में काफ़ी मौलिकता दिखाई है, किन्तु उनके वर्गीकरण किसी भी परवर्ती लेखक द्वारा मान्य नहीं हुए। नायिकाभेद-विस्तार के क्षेत्र में 'रसमंजरी' के लेखक भानुदत्त ने महत्त्वपूर्ण मौलिक कार्य किया है। प्रथम और द्वितीय वर्गीकरणों के अन्तर्गत उन्होंने कुछ नवीन उपभेद दिये हैं, तथा एक चतुर्थ वर्गीकरण की भी कल्पना की है, जो सर्वथा मौलिक है। प्रथम वर्गीकरण के अन्तर्गत उन्होंने अब तक अविभाजित मुग्धा के चार तथा परोढ़ा के छः भेद किये हैं—

मुग्धा ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना।
मुग्धा पुनः नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा।

परोढ़ा गुप्ता (वृत्त, वर्तिष्यमाण तथा वृत्तवर्तिष्यमाण सुरतगोपना), विदग्धा (वाग्विदग्धा, क्रियाविदग्धा), लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना (प्रथमा, द्वितीया, तृतीया), मुदिता।

द्वितीय वर्गीकरण के अन्तर्गत प्रोष्यत्पतिका (प्रवत्स्यत्पतिका) नाम के एक नवीन भेद की कल्पना की गई है, तथा अभिसारिका के तीन उपभेद माने गए हैं—ज्योत्स्नाभिसारिका (शुक्लाभिसारिका तमिस्राभिसारिका), (कृष्णाभिसारिका), दिवसाभिसारिका। उनका मौलिक वर्गीकरण इस प्रकार है—

चतुर्थ वर्गीकरण

नायिका अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता (गर्विता), मानवती।
वक्रोक्तिगर्विता प्रेमगर्विता, सौन्दर्यगर्विता (रूपगर्विता)।
मानवती लघुमानवती, मध्यममानवती, गुरुमानवती।

'रसार्णवसुधाकर' के लेखक शिंगभूपाल ने प्रथम वर्गीकरण के अन्तर्गत सामान्या

के दो भेद किए हैं : रक्ता, विरक्ता। प्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में मुग्धा के पाँच, मध्या के पाँच तथा प्रगल्भा के छः नवीन उपभेद किए है, जो इस प्रकार हैं—

मुग्धा : प्रथमावतीर्णयौवना, प्रथमावतीर्णमदनविकारा, रतिवामा, मानमृदु, समधिकलज्जावती।

मध्या : विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरा, प्ररूढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना, मध्यमव्रीडिता।

प्रौढा (प्रगल्भा) : स्मरान्धा, गाढतारुण्या, समस्तरतकोविदा, भावोन्नता, दरव्रीडा, आक्रान्तनायका।

महाप्रभु चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में सामान्या का कथन नहीं किया है, तथा मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नाम के भेद स्वकीया और परकीया दोनों में माने है। विश्वनाथ-कृत उपभेदों से मिलते-जुलते मुग्धा के छः, मध्या के चार तथा प्रगल्भा के सात उपभेद भी उन्होंने किए हैं—

मुग्धा : नववया, नवकामा, रतौवामा, सखीवशा, सव्रीडरतप्रयत्ना, रोषकृतबाष्पमौना।

मध्या : समानलज्जामदना, प्रोद्यत्तारुण्यशालिनी, किंचित्प्रगल्भोक्ति, मोहान्तसुरतक्षमा।

प्रगल्भा : पूर्णतारुण्या, मदान्धा, उरुरतोत्सुका, भूरिभावोद्गमाभिज्ञा, रसाक्रांतवल्लभा, अतिप्रौढोक्ति, अतिप्रौढचेष्टा।

२. हिन्दी नायिका भेद : भूमिका

हिन्दी आचार्यों के आचार्यत्व को प्रायः सन्देह की दृष्टि से देखा गया है। इस अवसर पर उक्त विषय के विस्तार में न जाकर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि विज्ञ आश्रयदाताओं और ईर्ष्यालु सहकर्मियों के बीच रीति काल का कोई भी कवि-आचार्य साहित्यशास्त्र के अधूरे और सन्देहास्पद ज्ञान के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने में समर्थ नहीं हो सकता था। गद्य के माध्यम के अभाव के कारण यद्यपि वे अपने ग्रन्थों में लिखित रूप से अपने विशिष्ट मतों के समर्थन में गम्भीर विवेचन नहीं कर सके, परन्तु विद्वद्गोष्ठियों में मौखिक रूप से उन्हें ऐसा अवश्य करना पड़ता होगा। मतिराम और पद्माकर जैसे लोकप्रिय कवि-आचार्यों ने प्रायः भानुदत्त का अनुसरण करते हुए नायिका के अनेक नवीन भेदोपभेदों को किन्हीं पुष्ट

तर्कों के आधार पर ही अस्वीकार किया होगा। खंडन-मंडन-मय गम्भीर विवेचन के अभाव में यदि स्थूल रूप से नवीन भेदोपभेदों और मौलिक वर्गीकरणों को ही आचार्यत्व की कसौटी माना जाए तो कम-से-कम नायिकाभेद के क्षेत्र में हिन्दी आचार्यों की देन असाधारण समझी जाएगी। संस्कृत नायिकाभेद की रूपरेखा प्रस्तुत कर चुकने के पश्चात् यहाँ हम संक्षेप में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी लेखकों ने उपर्युक्त चारों वर्गीकरणों के अन्तर्गत कौन-से नवीन भेदोपभेद कल्पित किए हैं तथा इनके अतिरिक्त कौन-से मौलिक वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं।

३ प्रथम वर्गीकरण

(क) इस वर्गीकरण के अन्तर्गत नायिका के स्वकीया, परकीया, सामान्या; तथा स्वकीया के मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा भेद प्रायः सभी हिन्दी लेखकों ने स्वीकार किए हैं। केवल कृपाराम ने सामान्या के भी मुग्धा, मध्या, प्रौढा भेद माने हैं।

(ख) कुमारमणि, रसलीन और 'भानु' ने सामान्या का विभाजन इस प्रकार किया है—

सामान्या स्वतन्त्रा, जनन्याद्यधीना, नियमिता।
सामान्या स्वतन्त्रा, जननीआधीना, नमता, प्रेमदुःखिता।
सामान्या जननीआधीना, स्वतन्त्रा।

(ग) मुग्धा, मध्या और प्रौढा के विभाजन कुछ लेखकों ने इस प्रकार किए हैं—

मुग्धा वयःसंधि, अविदितयौवना, अविदितकामा, विदितमनोभवायौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढा। (चिन्तामणि)

मुग्धा नवमदना, नवयौवना, लज्जावती, भूषणरुचि, रतिवामा, वयःसन्धि, विश्रब्धनवोढा।

नवयौवना ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना। (कुमारमणि)

मुग्धा प्रथमअंकुरितयौवना, शैशवयौवना, नवयौवना, नवलअनंगा, नवलबधू।

नवयौवना अज्ञानयौवना, दरशातयौवना।

नवलअनंगा अविदितकामा, विदितकामा।

नवलबधू नवोढा, विश्रब्धनवोढा, लज्जाआसक्तरतिकोविदा। (रसलीन)

नवोढा मुग्धा ललिता, वयःसंधि, उदितयौवना। (कृपाराम)

मध्या : आरूढयौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूतमनोभवा, सुरतिविचित्रा । (केशव)

मध्या : आरूढयौवना, आरूढमदना, विचित्रसुरता, प्रगल्भवचना । (चिन्तामणि)

मध्या : उन्नतयौवना, उन्नतकामा, वक्रवचना (प्रगल्भवचना), लघुलज्जा, रतिविचित्रा (सुरतविचित्रा) । (कुमारमणि तथा रसलीन)

प्रौढा : रतिप्रिया (रतिप्रीता), आनंदमत्ता (आनंदसंमोहिता) । (कृपाराम तथा अनेक परवर्ती लेखक)

प्रौढा : समस्तरतकोविदा, विचित्रविभ्रमा, अक्रामति, लब्धापति । (केशव)

प्रौढा : प्रौढयौवना, मदनमत्ता, रतिप्रीतिमती, सुरतिमोदपरवशा । (चिन्तामणि)

प्रौढा : अधिककामा, सकलतारुण्या, रतिमोहिनी, विविधभावा, लघुलज्जा । (कुमारमणि)

प्रौढा : उद्भटयौवना, मदनमाती, लब्धापति, रतिकोविदा । (रसलीन)

(घ) देव ने, जिनका रसलीन ने भी बहुत कुछ अनुकरण किया है मुग्धा, मध्या और प्रौढा के उपभेदों की निम्नांकित आयुसीमा निर्धारित की है—

मुग्धा : नवमुग्धा अथवा अंकुरितयौवना अथवा अज्ञातयौवना (सवा बारह से साढ़े बारह तक), नवलवधू अथवा ज्ञातयौवना (साढ़े बारह से तेरह तक), नवयौवना अथवा वयःसंधि (तेरह से चौदह तक), नवलअनंगा अथवा नवोढ़ा (चौदह से पंद्रह तक), सलज्जरति अथवा विश्रब्धनवोढ़ा (पंद्रह से सोलह तक) ।

मध्या : रूढयौवना (सोलह से सत्रह तक), प्रादुर्भूतमनोभवा (सत्रह से अठारह तक), प्रगल्भवचना (अठारह से उन्नीस तक), विचित्रसुरता (उन्नीस से बीस तक) ।

प्रौढा : लब्धापति (बीस से इक्कीस तक), रतिकोविदा (इक्कीस से बाईस तक), आक्रान्तनायका (बाईस से तेईस तक), सविभ्रमा (तेईस से साढ़े चौबीस तक) ।

(ङ) कृपाराम ने मध्या को अतिविश्रब्धनवोढा भी कहा है । केशव ने प्रौढा धीरा के अन्तर्गत आकृतिगोपना एवं आकृतिगोपनासादरा का उल्लेख किया है ।

(च) कृपाराम तथा कुछ अन्य परवर्ती लेखकों ने ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद केवल मध्या और प्रगल्भा में न मानकर स्वकीया मात्र में माने हैं । कृपाराम ने इन भेदों में समहिता नाम का एक नया भेद भी जोड़ दिया है ।

(छ) रसलीन ने पतिदुःखिता स्वकीया का उल्लेख करके उसके तीन भेद किये हैं मूढ़पतिदुःखिता बालपतिदुःखिता वृद्धपतिदुःखिता।

(ज) परकीया के कुछ नवीन विभाजन इस प्रकार किए गये हैं—

परोढा परप्रिया परविवाहिता। (कृपाराम)
परकीया दृष्टिज्येष्ठा असाध्या, साध्या। (तोष)
परकीया असाध्या सुखसाध्या। (रसलीन)
असाध्या गुरुजनभीता दूतीवर्जिता धर्मसभीता अतिकान्ता, खलवेष्ठिता (खलपृष्ठा)। (तोष और रसलीन)
साध्या अथवा सुखसाध्या वृद्धवधू बालवधू रोगीवधू, ग्रामवधू नपुंसकवधू आदि। (तोष और रसलीन)
परकीया उद्बुद्धा, उद्बोधिता। (तोष रसलीन आदि)

(झ) भानुदत्त कृत परोढा के छः भेदों को परकीया के भेदों के रूप में प्राय हिंदी के सभी लेखकों ने स्वीकार किया है। कुछ सामान्य विभिन्नताएँ इस प्रकार हैं—

वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना के स्थान पर (कृपाराम और रसलीन द्वारा अतिरिक्त भेद के रूप में) वर्तमानसुरतगोपना को स्वीकार किया गया है।

कृपाराम ने स्वयदूतिका अथवा स्वयदूती को परकीया का अतिरिक्त स्वतन्त्र भेद माना है।

कृपाराम ने अब तक अविभाजित लक्षिता के तीन भेद किए हैं क्रियालक्षिता, वचनलक्षिता प्रत्यक्षलक्षिता। तोष, देनीप्रवीण और गुलाबराय ने लक्षिता के दो भेद माने हैं हेतुलक्षिता सुरतिलक्षिता। भिखारीदास ने इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा भेद घोरालक्षिता माना है तथा रसलीन ने सुरतिलक्षिता और प्रकासलक्षिता, ये दो भेद माने हैं।

कुमारमणि और रसलीन ने परकीया के भेदोपभेदों के विन्यास में कुछ और स्वच्छन्दता भी दिखाई है। कुमारमणि और भिखारीदास ने कुलटा में रसाभास मानकर उसे परकीया के भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया।

(ज) रसलीन ने स्वकीया तथा परकीया के ये तीन-तीन भेद और माने हैं : कामवती, अनुरागिनी, प्रेमअशक्ता।

४. द्वितीय वर्गीकरण

(क) इस वर्गीकरण के अन्तर्गत नायिका के भरत-कृत आठ भेद तो प्रायः सभी हिन्दी लेखकों ने स्वीकार किये हैं। भानुदत्त-कृत नवाँ भेद प्रोष्यत्पतिका (अथवा प्रवत्स्यत्पतिका) भी अधिकांश लेखकों को मान्य है। कुछ अतिरिक्त भेद इस प्रकार हैं—

स्वागतपतिका (आगतपतिका) (कृपाराम तथा अधिकांश परवर्ती लेखक)
आगमिष्यत्पतिका (वेनीप्रवीन और गुलाबराय)
गर्विता, अन्यसंभोगदुःखिता तथा मानवती। (ब्रह्मदत्त)

(ख) केशव ने इस वर्गीकरण के अन्तर्गत आठों भेदों के प्रकाश और प्रच्छन्न दो उपभेद माने हैं।

(ग) कुमारमणि ने इस वर्गीकरण के अन्तर्गत सभी भेदों के उपभेद किये है, जो इस प्रकार हैं—

स्वाधीनपतिका : प्रेमगर्विता, रूपगर्विता, गुणगर्विता,[1] यौवनगर्विता।
वासकसज्जा के अन्तर्गत : एष्यत्पतिका (आगतपतिका)।
उत्कंठिता : कार्यविलंबितसुरता, अनुत्पन्नसंभोगा।
अनुत्पन्नसंभोगा : साक्षाद्दर्शनानुतापा, गुणश्रवणदर्शनानुतापा, चित्रदर्शनानुतापा, स्वप्नदर्शनानुतापा।
विप्रलब्धा : पतिवंचिता, सखीवंचिता।
खण्डिता : धीरा, अधीरा, धीराधीरा[2], वक्रोक्तिगर्विता खण्डिता, मानवती, अन्यसंभोगदुःखिता।[3]

---

१. भिखारीदास और बिहारीलाल भट्ट ने भी इन तीन गर्विताओं को स्वाधीन-पतिका के अन्तर्गत माना है।
२. भिखारीदास और ब्रह्मदत्त ने भी धीरादि भेदों को खण्डिता के अन्तर्गत माना है।
३. भिखारीदास ने मानवती को खण्डिता के तथा अन्यसंभोगदुःखिता को विप्रलब्धा

(शेष अगले पृष्ठ पर)

कलहांतरिता ईर्ष्याकलहांतरिता, प्रणयकलहांतरिता।

प्रोषितपतिका प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसत्पतिका, प्रवसितपतिका।

अभिसारिका ज्योत्स्नाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, वर्षाभिसारिका, प्याजाभिसारिका।

(घ) प्रोषितपतिका (प्रोषितभर्तृका) के कुछ अन्य लेखकों ने निम्नांकित उपभेद किये हैं—

रसलीन—गमिष्यत्पतिका, गच्छत्पतिका, आगमिष्यत्पतिका, आगच्छत्पतिका, आगतपतिका (संयोगगर्विता)।

भिखारीदास—प्रवत्स्यत्प्रेयसी, प्रोषितपतिका, आगच्छत्पतिका, आगतपतिका।

चन्द्रशेखर बाजपेयी तथा श्यामसुन्दरदास—भूत (प्रोषितपतिका), भविष्य अथवा भावी (प्रोष्यत्पतिका अथवा प्रवत्स्यत्पतिका), वर्तमान (प्रवत्स्यत्पतिका अथवा प्रवसत्पतिका)।

(ङ) अभिसारिका के भानुदत्त ने तीन भेद किये थे ज्योत्स्नाभिसारिका अथवा शुक्लाभिसारिका, तमिस्राभिसारिका अथवा कृष्णाभिसारिका, दिवसाभिसारिका। इनमें से प्रथम दो भेद अधिकांश हिन्दी लेखकों ने माने हैं। कुमारमणि-कृत चार उपभेदों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कुछ अन्य लेखकों ने अभिसारिका के अन्तर्गत निम्नांकित उपभेदों का कथन किया है—

केशव प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका, कामाभिसारिका।

नन्दराम अरुणाभिसारिका, पीताभिसारिका, हरिताभिसारिका।

५ तृतीय वर्गीकरण

नायिका के उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेदों को हिन्दी के अधिक लेखकों ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। केवल हरिऔध ने उत्तमा और मध्यमा के नवीन उपभेद कल्पित किये हैं जो इस प्रकार हैं—

(शेष पिछले पृष्ठ का)

के अन्तर्गत माना है। बिहारीलाल भट्ट ने दोनों को खण्डिता के अन्तर्गत माना है।

उत्तमा : पतिप्रेमिका, परिवारप्रेमिका, जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमि-प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोकसेविका, धर्मप्रेमिका ।

मध्यमा : व्यंग्यविदग्धा, मर्मपीड़िता ।

६. चतुर्थ वर्गीकरण

इस वर्गीकरण को हिन्दी के अधिकांश लेखकों ने स्वीकार किया है।[१] मतिराम, देव और नन्दराम आदि ने प्रेमगर्विता और रूपगर्विता को इस विभाजन के अन्तर्गत स्वतन्त्र भेदों के रूप में माना है। कृपाराम, तोष, कुमारमणि, रसलीन और भिखारीदास आदि ने वक्रोक्तिगर्विता (अथवा गर्विता) के अन्तर्गत गुणगर्विता नाम का तीसरा भेद भी माना है। कृपाराम और रसलीन ने तीनों गर्विताओं के वक्रोक्तिगर्विता तथा सरलोक्ति (अथवा शुद्धगर्विता), ये दो उपभेद माने हैं। कुमारमणि ने यौवनगर्विता का भी उल्लेख किया है। देव ने नायिका के आठ अंगों के आधार पर इन आठ गर्विताओं की कल्पना की है : यौवनगर्विता, रूपगर्विता, गुणगर्विता, शीलगर्विता, प्रेम-गर्विता, कुलगर्विता, वैभवगर्विता, भूषणगर्विता। तोष ने इस विभाजन के अन्तर्गत कामवती, अनुरागिनी तथा प्रेमअशक्ता, ये भेद और जोड़ दिए हैं। कृपाराम ने धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेदों को मानवती के अन्तर्गत रखा है।

ये भेद प्रथम वर्गीकरण में उल्लिखित नायिकाओं में से (मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया, सामान्या) किस-किस पर लागू होते हैं, इस सम्बन्ध में भी हिन्दी के कतिपय आचार्यों ने मौलिक विवेचन किया है। कृपाराम के अनुसार स्वकीया अथवा सामान्या ही अन्यसंभोगदुःखिता हो सकती है, परकीया नहीं। प्रतापनारायणसिंह के मत से यह वर्गीकरण केवल प्रौढा अथवा प्रगल्भा पर ही लागू होता है, जिसमें परकीया और सामान्या भी सम्मिलित है। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के मतानुसार मुग्धा को छोड़कर अन्य सभी नायिकाओं का सम्बन्ध इस विभाजन से है। हरिऔध के विचार से यह विभाजन यद्यपि मध्या और प्रौढा के लिए अधिक उपयुक्त है, तथापि परकीया और सामान्या पर भी लागू किया जा सकता है। पर प्रभुदयाल मीतल ने जोर देकर कहा है कि केवल मध्या और प्रौढा को ही समुचित रूप से इन भेदों में बाँटा जा सकता है।

---

१. जैसा हम द्वितीय वर्गीकरण पर विचार करते समय देख चुके हैं, कुमारमणि, भिखारीदास, ब्रह्मदत्त और बिहारीलाल भट्ट ने इस वर्गीकरण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न करके इसके अन्तर्गत उल्लिखित भेदोपभेदों को द्वितीय वर्गीकरण में ही समाविष्ट कर दिया है।

७ अन्य वर्गीकरण

अन्य वर्गीकरणों में नायिका का पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी में विभाजन अपना विशेष महत्त्व रखता है। पद्मिनी का उल्लेख हिन्दी साहित्य में प्राय हुआ है। हिन्दी में यह वर्गीकरण केशव द्वारा चलाया गया है, और उन्होंने इसे कोक्कोक के रति रहस्य से लिया है। केशव का अनुसरण करते हुए सुन्दर, तोष, देव रसलीन ब्रह्मदत्त भानु' हरिऔध और प्रभुदयाल मीतल आदि ने भी इस विभाजन का स्वीकार किया है।

देव को कई मौलिक वर्गीकरण प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है। अपने एक विभाजन में उन्होंने विभिन्न जातियों की नायिकाओं का वर्णन किया है तथा दूसरे में देश के विभिन्न राज्यों की रमणियों का। यद्यपि नायिकाभेद के अन्तर्गत उनके ये विभाजन शास्त्रीय दृष्टि से स्वीकृत नहीं हो सके किन्तु इनसे विभिन्न जातियों और प्रदेशों की रमणियों के रूप, स्वभाव, व्यवहार, वेशभूषा आदि के सम्बन्ध में देव के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित असाधारण ज्ञान का परिचय अवश्य मिलता है।

८ उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य शास्त्र के अन्य अंगों के सम्बन्ध में स्थिति चाहे जो हो किन्तु जहाँ तक नायिकाभेद का सम्बन्ध है, हिन्दी कवि-आचार्यों की देन उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। रस शास्त्र की सीमाओं पर विचार रखते हुए (शृङ्गार रस और नायिका भेद जिसके अंग हैं) तथा मनोविज्ञान एवं तर्कशास्त्र की दृष्टियों से प्रस्तुत निबन्ध के लेखक द्वारा नायिकाभेद की जो रूपरेखा तैयार की गई है, उसका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा।[1] ये वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

प्रथम वर्गीकरण—सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर

नायिका अनूढा स्वकीया, परकीया।

---

१ इन वर्गीकरणों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए लेखक का शोध ग्रन्थ 'स्टडीज इन नायक-नायिकाभेद' देखिए।

द्वितीय वर्गीकरण—लज्जा के अनुपात के आधार पर

नायिका : मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा।

टिप्पणी—प्रथम वर्गीकरण के प्रत्येक भेद पर यह विभाजन लागू है।

तृतीय वर्गीकरण—नायिका के प्रति नायक के प्रेम की मात्रा के आधार पर

नायिका : स्वाधीनवल्लभा, ज्येष्ठा, समहिता, कनिष्ठा।

टिप्पणी—प्रथम तथा द्वितीय वर्गीकरणों में उल्लिखित प्रत्येक भेद इस प्रकार विभाज्य है।

चतुर्थ वर्गीकरण—नायक-सापेक्ष परिस्थिति के आधार पर (१६ भेद चार वर्गों में)

(१) प्रवत्स्यत्वल्लभा, विरहपीड़िता (पूर्वरागिनी, प्रोषितप्रिया, अल्पविरह-दुःखिता, गुरुजनपरवशा), आगतवल्लभा, संयुक्ता (अथवा संयोग-आनंदिता)।

(२) अभिसारिका (अनूढा तथा परकीया अभिसारिका : शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, दिवसाभिसारिका, पावसाभिसारिका, व्याजाभिसारिका), वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता।

(३) विप्रलब्धा, अन्यसम्भोगदुःखिता, खण्डिता, कलहांतरिता।

(४) गुप्ता (भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् गुप्ता), विदग्धा (वचनविदग्धा, क्रियाविदग्धा), लक्षिता, अनुशयाना (जारागमनचिंताकुला, संकेताभावचिंताकुला), मुदिता (मिलनमुदिता, मिलननिश्चयमुदिता)।

टिप्पणी—वर्ग (१) तथा (२) की प्रत्येक परिस्थिति प्रथम तीन विभाजनों के अन्तर्गत किसी भी नायिका के लिए सम्भव है। वर्ग (३) की भी प्रत्येक परिस्थिति स्वाधीनवल्लभा को छोड़कर किसी भी प्रकार की नायिका के लिए सम्भव है। वर्ग (४) की प्रत्येक परिस्थिति स्वकीया एवं मुग्धा को छोड़कर किसी भी प्रकार

की नायिका के लिए सम्भव है। भूतगुप्ता तथा मुदिता की परिस्थिति कभी-कभी स्वकीया म भी सम्भव हो सकती है। लक्षिता और मुदिता की परिस्थिति कभी-कभी मुग्धा मे भी सम्भव हा सकती है।

पचम वर्गीकरण—प्रकृति के आधार पर

नायिका उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

टिप्पणी—ये भेद उपर्युक्त सभी नायिकाओ पर लागू हैं। किन्तु कलहान्तरिता उत्तमा नहीं हो सकती।

मध्या मध्यमा तथा प्रगल्भा मध्यमा। खण्डिता होने पर, नायक के प्रति अपने व्यवहार के आधार पर धीरा, अधीरा, धीराधीरा।

अधमा खण्डिता ही मानवती होती है।

अधमा स्वाधीनपतिका अथवा अधमा ज्येष्ठा ही सौन्दर्यगर्विता हो सकती है।

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

डॉ० ओम्प्रकाश

'शिवसिंह-सरोज' के अनुसार हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक पुष्य नाम का एक कवि था, जिसने सातवीं शताब्दी में काव्य-शास्त्र पर एक अलंकार-ग्रन्थ हिन्दी में लिखा। यद्यपि प्रमाण के अभाव में उक्त तथ्य किसी आलोचक को स्वीकार्य नहीं, फिर भी विचार करने से यह असम्भव भी नहीं जान पड़ता कि सप्तम शती में हिन्दी भाषा में काव्य-शास्त्र की कोई पुस्तक लिखी गई हो। कम विश्वास का तथ्य यह है कि सप्तम शती में, नितान्त साधारण जनता में ही सही, जिस भाषा का व्यवहार होने लगा था, वह अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। संस्कृत भाषा और साहित्य का देश में कुछ ऐसा आधिपत्य रहा है कि देशी भाषाओं का स्वतन्त्र विकास कम ही हो सका, काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सत्य है। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में संस्कृत से नितान्त स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य का अविरत सृजन हो रहा था—यहाँ तक कि संस्कृत-ज्ञान से शून्य व्यक्ति भी भारतीय काव्य-शास्त्र का सामान्य ज्ञान हिन्दी भाषा के माध्यम से प्राप्त कर सकता है; अन्य प्रादेशिक भाषाओं में इस प्रकार का न युग आया और न इस वर्ग का साहित्य है। अस्तु, सप्तम शती में भारतीय काव्य-शास्त्र पर देश भाषा में एक पुस्तक लिखी गई हो, यह कोई अविश्वसनीय आश्चर्य का तथ्य नहीं।

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री के अनुसार हिन्दी में केशवदास ही सर्वप्रथम आचार्य हैं। केशव से रामदहिन मिश्र तक चार सौ वर्ष का अपार साहित्य है, जिसके रचयिता असंख्य हैं; कदाचित् ही कोई ऐसा मण्डल हो जहाँ किसी भी व्यक्ति ने काव्य-शास्त्र पर कुछ न लिखा हो; कदाचित् ही कोई ऐसा साहित्यिक परिवार हो, जिसके पूर्व पुरुषों में से कोई भी उस बहती गंगा में एक डुबकी न लगा गया हो। अभी पर्याप्त खोज नहीं हुई, फिर भी यावत् प्रयत्न से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य हिन्दी (ब्रजभाषा) की एक अनन्य विशेषता है, और जिस मात्रा में इस साहित्य की सृष्टि हुई थी, उस मात्रा में किसी

अन्य साहित्य की नहीं—अपितु साहित्य की भी नहीं। काव्य शास्त्र सम्बन्धी विचारों की प्रतिष्ठा के लिए साहित्यिकों ने शृंगार वीर तथा शान्त तीन रसों का तो, अपने उदाहरणों में स्पष्ट आश्रय लिया है, ऐसे पद्य भी मिल सकते हैं, जिनमें दूसरे रस हों, और रसविहीन सूक्तियों द्वारा काव्य शास्त्र के उदाहरण निरूपण वाले साहित्यिक भी पर्याप्त हैं। यदि छन्दों की दृष्टि से देखा जाय तो सभी प्रचलित छन्द इस साहित्य में उदाहरण हेतु स्वीकार किये गए हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रवृत्ति भेद से भिन्नता एवं व्यापकता का परिचायक यह काव्य शास्त्रीय साहित्य अपने आप में विशाल तथा महान् है।

ऊपर यह कहा गया है कि काव्य-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य हिन्दी (ब्रजभाषा) की एक अन्य विशेषता है परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इतर भाषाओं में इस प्रकार के साहित्य का अत्यन्ताभाव है। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में इस प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध है, पाली-साहित्य का स्वाभाविक झुकाव कला के विरुद्ध था फिर भी वहाँ काव्यशास्त्र की नितान्त अवहेलना न हो सकी।[1] दक्षिण[2] की भाषाओं में इस साहित्य की भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है—तमिल में अगस्त्य ने सर्वप्रथम इयाल (साहित्य) इसइ (संगीत), तथा नुट्टु (नाटक) पर लिखा था, और द्वितीय संगम युग तक साहित्यशास्त्र के स्वतन्त्र नियम विकसित हो चुके थे, वस्तु (पोरुल) का 'अहम्' तथा 'पुरम्' में विभाजन एवं 'अहम्' के सम्बन्ध से भिन्न भिन्न अवस्थाओं, ऋतुओं, कालों आदि के नियम संस्कृत नियमों के समानान्तर प्रणीत होते हुए भी मौलिक हैं। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से बंगाल में वैष्णव काव्य शास्त्र के ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें भक्ति रस को सर्वमुख्य स्थान मिला, परन्तु इन ग्रन्थों (रूपगोस्वामी कृत 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि) की भाषा संस्कृत है, बंगाली नहीं। डिंगल में यद्यपि काव्य शास्त्र का विकास होने के फलस्वरूप 'रघुनाथरूपक' जैसे स्वतन्त्र अलंकारों का प्रादुर्भाव हुआ फिर भी काव्य-शास्त्र की जैसी लहर ब्रजभाषा में आई, वैसी राजस्थानी में नहीं। 'रहीम' ने अवधी में बरवै नायिका भेद लिखा, और तुलसी की 'बरवै रामायण' अलंकारों के उदाहरणस्वरूप लिखी हुई मानी जा सकती है, परन्तु बरवै की यह अवधी परम्परा आगे चलती हुई नहीं मिलती, अवध प्रान्त के

---

१ पाली भाषा में 'सुबोधालंकार', 'कविसारपकरण', 'कविसार टीक निस्सय' काव्य शास्त्र की तीन ही पुस्तकें हैं। (ए हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर, भाग सेकिण्ड, पृ० ६३८।)

२ सिंहली भाषा में 'सियबासलकार' ('स्वभाषालंकार') तथा कन्नड़ में 'कविराजमार्ग' दण्डी के 'काव्यादर्श' से अनुप्रेरित प्रतिष्ठित अलंकारशास्त्रीय रचनाएँ हैं। (पी० काणे, पृ० २६।)

कवियों ने भी[1] ब्रजभाषा का आश्रय लेकर ही काव्यशास्त्र पर ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

हिन्दी-साहित्य में काव्य-शास्त्र के मुख्यतया तीन भिन्नकालीन प्रवाह रहे हैं: एक केशव का, दूसरा रीति काल का और तीसरा आधुनिक युग का और क्योंकि इन प्रवाहों की गति एक दूसरे के अनन्तर ही दृष्टिगत होती है, इसीलिए आलोचकों ने तीनों में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध-सूत्र की खोज का प्रयत्न किया है; परन्तु वस्तुतः उन प्रवाहों का अध्ययन पृथक्-पृथक् ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में करना ही अधिक समीचीन है।

अकबर का शासन कला के लिये उतना प्रसिद्ध नहीं जितना धार्मिक समन्वय के लिए; मध्यकालीन कला का प्रोद्भाव अकबर की प्रवृत्ति और नीति से परिचालित हुआ, परन्तु उसका वास्तविक विकास शाहजहाँ के शासन काल में ही दिखाई देता है। हिन्दी काव्य-शास्त्र या काव्य-कला भी शाहजहाँ के समय में ही फली फूली। मुगल शासन का इस पर कितना प्रभाव है यह इस साहित्य के लिये ब्रजभाषा मात्र की स्वीकृति से अनुमानित किया जा सकता है—फारसी उस समय शासन की भाषा अवश्य थी और शिल्प कला आदि में भी ईरानी पच्चीकारी की स्थायी छाप है परन्तु साहित्य में भारतीयता का ही आधिपत्य था जिसका सबसे बड़ा प्रमाण पंडितराज जगन्नाथ है, जिनकी तुलना के लिए मुगल काल का कोई भी फारसी साहित्यिक नहीं है। मुगल शासन के क्षेत्र ब्रज में ही काव्य-शास्त्र का यह प्रवाह आया था और यह प्रवाह तत्कालीन जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिसके समानान्तर कला के दूसरे रूप शिल्प, संगीत, चित्रकला आदि भी उसी प्रकार प्रोच्छ्वासित हुए थे। केशव का काव्य-शास्त्र इस प्रवाह क्षेत्र से बाहर है; वह उस युग का स्वाभाविक विकास न होकर संस्कृत-परम्परा का देशीय रूप है; यदि केशव का प्रयत्न आगे भी चलता रहता तो ब्रज-भाषा में समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र की देशीय छाया सुलभ हो जाती, और आज के आलोचक को केशव स्थानभ्रष्ट-से न दिखाई पड़ते।

आचार्य केशव ने ब्रजभाषा में समस्त काव्य-शास्त्र को सुलभ बना देने का जो श्रीगणेश किया था, उसका महत्त्वाकन न कर सकने के कारण आज का अनुवादी आलोचक भी केशव को संस्कृत की पुरानी परम्परा का आचार्य मान मान बैठता है, वह यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि केशव ने भाषा में काव्य-शास्त्र को प्राप्य

---

१. दासकवि अवधी-प्रदेश के निवासी थे, फिर भी इन्होंने ब्रजभाषा को 'काव्य-निर्णय' जैसा काव्य-शास्त्र का अपूर्व ग्रन्थ दिया।

बनाने का मार्ग दूसरों के लिए भी प्रशस्त कर दिया था। केशव वस्तुतः एक बड़े आचार्य थे जिनका पाण्डित्य अतर्क्य है, उन्होंने काव्य-शास्त्र में जितने अंगों का विवेचन किया है, उतने अंगों का दूसरे आचार्यों ने नहीं। रीतिकाल के सामान्य प्रवाह से वे केवल इसी आधार पर अलग किए जा सकते हैं कि उनका आचार्यत्व पूर्ण तथा व्यापक है एकांगी नहीं, परन्तु इसमें भी महत्त्वपूर्ण विशेषता केशव की कवि-शिक्षा लिखना है—रीतिकालीन आचार्यों ने रस या अलंकारों के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये परन्तु केशव ने कवियश प्रार्थी युवकों को साधना का मार्ग दिखाया।

अस्तु केशव से काव्य शास्त्र सम्बन्धी प्रथा का प्रणयन आरम्भ नहीं होता, केशव समय की उपज नहीं, रीति-साहित्य सामयिक परिस्थितियों का स्वाभाविक विकास है, केशव आचार्यत्व की भावना से संस्कृत ज्ञान-वंचित युवकों के लिए काव्य शास्त्र लिख रहे थे, और कला के उपकरण हैं रस तथा अलंकार—अलंकार के उदाहरणों में रस छलक रहा है और रस की चर्चा भी अलङ्कृत है, केशव कला की क्रीडास्थली से दूर रहते थे, रीतिकाल के आचार्य कलाकलित वातावरण में ही जीवन का रस लूटते रहे। यदि अनुसंधान के फलस्वरूप केशव तथा चिन्तामणि के बीच की खाई को भरने के लिए ऐसा साहित्य मिल जाय, जो केशव के पद-चिह्नों पर चलता दिखाई पड़े तो भी केशव से रीतिकाल का आरम्भ न माना जायगा क्योंकि उस दशा में रीतिकाल के दो भाग होंगे, पूर्वार्द्ध में केशव का अनुकरण होगा और उत्तरार्द्ध में मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ का—प्राचीन' तथा 'नवीन' सरणि के आचार्य अलग-अलग तो रहेंगे ही।

चिन्तामणि से पद्माकर तक के आचार्यों की संख्या अगण्य है और प्रत्येक आचार्य की अपनी अपनी विशेषताएँ भी हैं क्योंकि ये आचार्य स्वच्छन्द कवि थे, पथ प्रदर्शक नहीं। आधुनिक आलोचकों ने इन आचार्यों या हिन्दी के रीतिकार कवियों को वर्गों में रखने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ' हिन्दी के अलंकार ग्रंथ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुसार निर्मित हुए कुछ ग्रन्थों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है।" इसलिए डा० नगेन्द्र ने इन आचार्यों की शैली को काव्यप्रकाश शैली और चन्द्रालोक शैली के नाम से पुकार कर इनके दो वर्ग मान लिये हैं।

यदि इन सब रीति कवियों की वर्ण्य वस्तु पर विचार किया जाय और केशव को इस प्रवाह से अलग मानकर चला जाय तो इन रीति कवियों की सामान्य विशेषता केवल यही है कि इन्होंने काव्य शास्त्र के सभी अंगों को ध्येय न बनाकर केवल एक या एक से अधिक अंगों के व्याज से ब्रजभाषा के सरस (प्रायः शृंगारमय)

उदाहरण प्रस्तुत किये हैं; लक्षण और विवेचन की ओर इनका ध्यान नहीं है—वस्तुतः भाषा में टीका-टिप्पणी दर्शन-शास्त्र के समान काव्य-शास्त्र में भी इतनी अधिक हो चुकी थी कि यदि ब्रजभाषा में भी इसकी आवृत्ति होती तो जटिलता का ही कारण बनती; आद्योपान्त तथा विवेचन प्रारम्भ करना भी सम्भव न था। अतः रीति कवि का ध्येय भाषा के पाठक को काव्य-शास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों से परिचित करा देना भर था। सरसता के कारण वह इस कार्य में अधिक सफल हो सकता था। हिन्दी के रीति कवि ने समय की माँग को भली प्रकार समझा और तदनुकूल आचरण भी किया।

यदि इन रीति कवियों के पारस्परिक भेद को व्यावर्त्तक धर्म मानकर वर्गीकरण किया जाय तो वस्तु की दृष्टि से ऐसा दिखाई पड़ता है कि अधिकतर वे काव्य-शास्त्र के केवल एक अंग—प्रायः अलंकार अन्यथा रस (नायिका-भेद), कहीं-कहीं छंद—के ही लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं; केवल कुछ एक ने एक से अधिक अंग (अलंकार, रस, शब्दशक्ति, गुण-दोष) का प्रसंग चलाया है। तब इन कवियों के दो वर्ग बने—एकांग-निरूपक तथा अधिकांग-निरूपक। एकांग-निरूपकों के अलग-अलग वर्ग बन सकते हैं—अलंकार-निरूपक, नायिका-भेद-निरूपक, छन्दो-निरूपक आदि। इस युग में अलंकार-निरूपकों का ऐसा बोलबाला था कि मिश्र-बन्धुओं ने इस काल का नाम ही 'अलंकृत-काल' दे दिया।

यदि इन रीति कवियों का, इनकी काव्यविषयक मान्यताओं को ध्यान में रख कर, सम्प्रदायों में वर्गीकरण किया जाय तो कुछ तो रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखे जा सकेंगे, शेष अलंकार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत। परन्तु इस साम्प्रदायिक भावना का हम को आरोप करना पड़ेगा, रीति कवि स्वयं इसके लिये अग्रसर नहीं होते; भूषण ने अलंकार का ग्रन्थ लिखा परन्तु वीर रस को वाणी का उद्धारक माना; रस को महत्त्व देने वाले भी अलंकार-विषय में सबसे अधिक रमते रहे। वस्तुतः उस युग में 'रस' शब्द 'जीवनानुराग' का पर्याय था। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति जितनी नायिकाभेद से हो सकती थी, उतनी ही अलकार-निरूपण से भी।

यदि इन रीति कवियों की निरूपण-शैली पर ध्यान दें तो कम से कम तीन प्रकार की शैलियाँ हैं—एक ही छद में लक्षण और उदाहरण फिट कर देना, लक्षण के लिये अलग छंद और उदाहरण के लिये अलग, तथा लक्षण के अनन्तर ऐसा वर्णन जिसमें उदाहरण भी बन सके। प्रथम पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है, द्वितीय पर 'काव्यप्रकाश' का, तृतीय पर विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' का। इन शैलियों के अतिरिक्त दूलह की स्वतंत्र शैली है, वे एक साथ लक्षण देकर फिर एकत्र उदाहरण

द देते हैं। ध्यान रखना होगा कि ये शैलियाँ संस्कृत के तत्तद् आचार्य या ग्रन्थ से ही प्रारम्भ नहीं होतीं, इनके बीज भी पहले से मिलते हैं और इनकी स्वीकृति भी हो चुकी थी—जिन आचार्यों की प्रसिद्धि थी उनके अपनाने से इन शैलियों को उन आचार्यों से सम्बन्धित नाम मिल सकता है।

चन्द्रालोक शैली तथा काव्यप्रकाश-शैली से यह अर्थ तो कदापि नहीं लिया जा सकता कि 'चन्द्रालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' के सिद्धान्तों को भी तत्तद् रीति कवि ने स्वीकार कर लिया अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि लक्षण-उदाहरण समन्वय में अमुक रीति कवि पर जयदेव का प्रभाव है, अमुक पर मम्मट का और अमुक पर विद्यानाथ का। क्या शैली का प्रभाव विषय को प्रभावित नहीं करता? उत्तर सचमुच कठिन है। 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त शैली को अपनाकर भी अनेक रीतिकवि जयदेव का अनुकरण नहीं कर सके हैं 'काव्यप्रकाश' का नाम लेने वाले मम्मट के सिद्धान्तों को समझते भी थे या नहीं—यह विचारणीय है। अस्तु, ऐसा ज्ञात होता है कि किसी आचार्य विशेष या पुस्तक-विशेष का नाम लेने पर भी रीति कवि उससे शैली अथवा सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हो—यह आवश्यक नहीं। जिनमें चन्द्रालोक शैली है, उन पर प्रभाव 'चन्द्रालोक' की अपेक्षा 'कुवलयानन्द' का अधिक है।

काव्यप्रकाश शैली से अभिप्राय क्या है? मम्मट प्रौढ़ आचार्य थे, उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों का अध्ययन करने के उपरान्त अपने लक्षणों में अन्वय व्यतिरेक का ध्यान रखा और कसे हुए लक्षण बनाये, अतः यह स्वाभाविक हो गया कि उनके उदाहरण लक्षणों से पृथक् रहते। लक्षण तो पद्य में थे परन्तु विषय का पूर्वापर सम्बन्ध गद्य की योजना द्वारा सम्भव हुआ, वृत्ति को आना पड़ा और उदाहरण अन्य-रचित रखने पड़े। कारण यह कि मम्मट आचार्य थे, कवि उतने नहीं, और उनका उद्देश्य प्रतिपादन था सरसता नहीं। अतः काव्यप्रकाश शैली की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) लक्षणों में कसावट।
(ख) वृत्ति (गद्य)।
(ग) अन्य रचित उदाहरण।
(घ) लक्षण और उदाहरण के लिए परस्पर स्वतन्त्र छन्द।

यदि इन विशेषताओं का ध्यान में रखकर निर्णय दिया जाय तो कहना होगा कि रीति कवियों में काव्यप्रकाश शैली है ही नहीं—'काव्यप्रकाश' के प्रति श्रद्धा अवश्य

अर्पित की गई है। लक्षण और उदाहरण के लिए स्वतन्त्र-स्वतन्त्र छन्द का प्रयोग-मात्र ही काव्यप्रकाश-शैली नहीं है, इससे अधिक महत्त्व तो अन्यरचित उदाहरण योजना का है (ऊपर विशेषताओं का क्रम महत्त्व के अनुसार रखा गया है)। काव्यप्रकाश-शैली की अपेक्षा तो काव्य-प्रकाश का प्रभाव कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि मम्मट-स्वीकृत काव्य स्वरूप अति उदार है, उसमें समन्वय का ध्यान रख कर सामान्य दृष्टिकोण की पूर्ण रक्षा की गई है—शब्द और अर्थ के अनन्य समन्वय को काव्य कहते हैं, यह दोषरहित तथा गुणसहित हो, अलंकार न हो तो भी कोई बात नहीं। मम्मट और जयदेव में नितान्त विरोध नहीं, अलंकार के सापेक्षिक महत्त्व पर मतभेद है।

'चन्द्रालोक' का मत तो स्पष्ट है कि जयदेव अलंकार की अवहेलना नहीं देख सकते। रीतियुग अलंकार का युग था, अतः उसमें अलंकार की अवहेलना का प्रश्न नहीं आता और यह कहा जा सकता है कि रीति कवियों पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है, परन्तु यह कथन सत्य के अत्यधिक निकट नहीं। इस युग में कला या अलंकार की ओर जनता की स्वाभाविक रुचि थी; काव्य में भी अलंकार को प्रतिष्ठा मिली; और 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' का सम्मान हो गया। जयदेव के समान अनेकांग-निरूपण हिन्दी के तथाकथित चन्द्रालोकी आचार्यों ने नहीं किया, 'भाषाभूषण' तक पर अलंकार प्रकरण में 'कुवलयानन्द' का प्रभाव है। अतः प्रभाव की दृष्टि से तो यही कहना अधिक उचित है कि अधिकतर रीति कवियों पर 'कुवलयानन्द' का प्रभाव है।

जयदेव ने लक्षण-उदाहरण-समन्वय की एक शैली का संस्कृत में प्रचार किया, जिसको अप्पयदीक्षित ने 'लक्ष्य-लक्षणश्लोक' नाम से अभिहित किया है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) संक्षिप्त अविकसित लक्षण।
(ख) लघुतम छन्द।
(ग) एक श्लोक में ही लक्षण तथा लक्ष्य । समावेश।
(घ) स्वरचित उदाहरण।
(ङ) वृत्ति (गद्य) का नितान्त अभाव।

ये सभी विशेषताएँ या तो अविकसित अवस्था की द्योतक हैं, या आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व के आधिक्य की। रीति कवियों में निश्चय ही इनका अनुकरण है, क्योंकि रीति कवि रसिक कवि एवं अप्रौढ़ आचार्य थे—उनमें विवेचन की रुचि अत्यल्प है। जसवंतसिंह और पद्माकर इसी वर्ग के थे। एक दोहे में ही लक्षण-लक्ष्य का

समावेश करने वाला कवि 'चन्द्रालोक' की शैली में तो अनुकरण करता है, विषय में नहीं, क्योंकि अलंकारों के भेद प्रभेद सर्वत्र ही 'कुवलयानन्द' के अनुसार हैं।

चन्द्रालोक शैली का प्रभाव मानने में एक आपत्ति है। जयदेव का लक्ष्य कण्ठोपयोगिता थी इसलिए सूक्ष्मता से उदासीन रहकर उन्होंने एक श्लोक में लक्षण-लक्ष्य को दबा-दबाकर भर दिया। अप्पयदीक्षित ने अलंकारों के भेदों का भी विस्तृत विवेचन किया इसलिए प्रत्येक भेद के लक्षण उदाहरण के लिए स्वतन्त्र श्लोक लिखने पड़े। हिन्दी के कवियों ने अप्पयदीक्षित की इस विशेषता की उपेक्षा कर दी। फलतः भेदों के लक्षण उदाहरण एक ही दोहे में न भरे जा सके प्रायः भेदों के लक्षणों को देकर तदनन्तर कवि उन भेदों के क्रमशः उदाहरण लिखता है जिससे कण्ठोपयोगिता नष्ट हो जाती है। अस्तु यदि चन्द्रालोक शैली से अभिप्राय लघु छन्द मात्र ही लिया जाय तब तो हिन्दी के कुछ रीति कवि इस वर्ग के माने जा सकते हैं अन्यथा जयदेव की एक मुख्य विशेषता (एक ही छोटे छन्द में लक्षण-लक्ष्य का समावेश) यहाँ अप्राप्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विषय सम्प्रदाय अथवा शैली की दृष्टि में रख कर इन रीति कवियों का कोई भी वर्गीकरण निर्दोष नहीं माना जा सकता। तब इनके दो ही वर्ग हो सकते हैं—अनेकांगनिरूपक तथा एकांगनिरूपक। अनेकांगनिरूपक दो प्रकार के हैं—पहले वे जिन्होंने एक रचना में काव्य के एक से अधिक अंगों पर विचार किया है जैसे दास देव आदि दो व दूसरे जिन्होंने भिन्न भिन्न पुस्तकों में भिन्न भिन्न अंगों का विवेचन किया है जैसे मतिराम, जिनके 'ललितललाम' में अलंकार तथा 'रसराज' में रस की चर्चा है। हमारा विचार है कि इस भाँति के कवि जो अलग-अलग पुस्तकों में अलग-अलग अंगों का विवेचन करते हैं एकांगनिरूपक ही हैं क्योंकि इनकी प्रवृत्ति समग्रता की ओर नहीं। एकांगनिरूपकों के अनेक वर्ग हैं—रसनिरूपक, अलंकारनिरूपक छन्दोनिरूपक आदि। रसनिरूपण के अन्तर्गत नायिका भेद नखशिख षड्ऋतु, बारह मासा आदि सभी विषयों की स्वतन्त्र रचनाएँ सन्निविष्ट हो सकती हैं।

कवि दूलह ने अपने 'कवि-कुल कण्ठाभरण' की भूमिका में हिन्दी के तद्युगीन साहित्यिकों का कुछ आभास दिया है—

> बरन, बरन, मच्छन ललित रचि रोम करतार।
>
> × × ×
>
> बोरस मत सतकवि के अर्थाशय सघुवण।

× × ×

जो या कंठाभरन को कंठ करै सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय ।।

'कर्त्ता', 'सत्कवि', तथा 'अलंकृती', ये तीन शब्द साहित्यिकों के ३ वर्गों के परिचायक है। 'कर्त्ता' वह है जो रमणीय रचना कर सके, आज की भाषा में उसको 'कवि' कहा जायगा, और रीति कवियों के प्रसंग में यह शब्द मतिराम, भूषण आदि उन साहित्यिकों का संकेत देता है जो लक्षणों की ओर ध्यान न देकर वर्णन प्रधान उदाहरणों में सिद्धहस्त थे। 'सत्कवि' शब्द यहाँ 'आचार्य' के लिये प्रयुक्त है, जो व्यक्ति एक से अधिक अंगों का निरूपण (एक ही पुस्तक में) कर सकता था वह उस युग का आचार्य था—दूलह ने कदाचित् 'सत्कवि' शब्द का प्रयोग संस्कृत के आचार्य के लिए किया हो; परन्तु देव ने 'पुरानन मुनि'[1] तथा 'आधुनिक कवि' शब्दों द्वारा संस्कृत के पुराने आचार्यों को 'मुनि' तथा संस्कृत-हिन्दी के समकालीन आचार्यों को 'कवि' शब्द से अभिहित किया है। हमारा विचार है कि 'मुनि' शब्द संस्कृत आचार्यों के लिए तथा 'सत्कवि' हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों के लिए प्रयुक्त हो तो अच्छा है। 'अलंकृती' से दूलह का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो अलंकारयुक्त कविता रच सके और अलंकार-विषय का ज्ञाता भी हो—चन्द्रालोक-शैली के जो आचार्य माने जाते हैं, वे सभी 'अलंकृती' हैं।

अस्तु, तत्कालीन शब्दावली में ही रीति काल के साहित्यिकों के चार वर्ग इस प्रकार बनेंगे—

१. सत्कवि—अनेक अंगों का एकत्र विवेचन करने वाले; दास, देव आदि ।
२. कर्त्ता—रीति के आश्रय से वर्णन करने वाले, मतिराम, भूषण आदि ।
३. अलंकृती—अलंकारविषय के ज्ञाता और लेखक ।
४. कवि—रीति-विहीन रचना वाले; बिहारी आदि ।

इस पिछले वर्ग से इस स्थल पर हमको कोई प्रयोजन नहीं, फिर इस पर विचार कर लिया है। कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने अलंकार-विषय के अतिरिक्त किसी अन्य

---

१. अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहें,
 येई पुराननि मुनि मतन में पाइये।
 आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
 इनहीं के भेद और विविध बताइये। (भावविलास)

भग पर लिखा हो उनका उसी अग के अनुसार वग बनेगा। कर्ता' तथा कवि' का क्षेत्र बडा व्यापक है जिसमे आचार्यत्व की प्रवृत्ति हो वह 'कर्ता', अन्यथा कवि तो सभी है।

×   ×   ×

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रति आधुनिक अनुराग को यदि ग्राफ द्वारा देखा जाय तो उसकी सीधी रेखा नहीं बनती—प्रारम्भ म यह अनुराग उत्तरोत्तर वर्द्धमान दिखाई पडता है परन्तु फिर इसकी गति कुछ काल तक के लिए स्तब्ध हो गई है, तदनन्तर नवीन परिस्थिति के प्रभाव से इसम पुन स्फूर्ति लक्षित होती है। विवेचन की वक्तानिक शैली गद्य का माध्यम, तथा प्राय सग्रहीत उदाहरण ही इन आचार्यों की सामान्य विशेषताएँ हैं, प्रत्येक आचार्य अपनी कुछ विशेषताओं का प्रण करके ही आगे बढा है अत रीतिकालीन पिष्टपेषण की इतिश्री स्वत त्त हो गई है।

आधुनिक युग म कविराजा मुरारिदान स लेकर रामदहिन मिश्र तक के काव्य शास्त्रियो की सख्या दो दशक से अधिक नही और चोटी के काव्य-शास्त्री तो एक दजन से अधिक न हुए होंगे, परन्तु प्रत्यक आचाय की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इस हेतु वर्गीकरण की समस्या यहाँ भी हल नहीं होती। मान्यताओं के नाम पर य सभी आचार्य समन्वयवादी हैं। इन शास्त्रीय आलोचकों की अपनी-अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं परन्तु विवेचन तथा प्रतिपादन म ही, प्रतिपाद्य विषय मे मौलिकता का प्रश्न इस युग म भी प्राय ज्यो-का त्यो बना रहा। लोक-रुचि या समय की माँग के अनुकूल प्रभूत सामग्री म स किम् ग्राह्यम्', 'किम् अग्राह्यम्' पर ही आधुनिक आलोचक आचाय बन गये हैं।

अस्तु, आधुनिक आचार्यों क सामायत दो वग बन सक्त हैं—(क) प्राचीनो के ही अनुसार अलकार शास्त्र की लक्षण-उदाहरण वाली शैली पर पुस्तक लिखने वाले, (ख) अलकार शास्त्र पर विचारात्मक (प्राय अनुसन्धान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले। क' वग मे ४ उपवर्ग हो सक्त हैं—(१) समस्त साहित्य शास्त्र पर रचना करने वाले, (२) केवल अलकार शास्त्र पर, (३) केवल रस विषय पर, (४) अन्य अगो पर। इसी प्रकार ख' वग के भी ४ उपवग बन सकते हैं—(१) समस्त रीति शास्त्र के विवेचक, (२) अलकार विवेचक, (३) रस विवेचक, (४) अन्य अगो (या अग) के विवेचक।

तालिका द्वारा इस वर्गीकरण को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(क) वर्ग—प्राचीन पद्धति पर लक्षण-उदाहरण शैली के आचार्य :—

(अ) उपवर्ग—समस्त साहित्यशास्त्र के व्याख्याता कविराज मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि।
(आ) उपवर्ग—अलंकार के व्याख्याता—भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया आदि।
(इ) उपवर्ग—रस के व्याख्याता—अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि।

(ख) वर्ग—विचारात्मक (प्रायः अनुसंधान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले :—

(अ) उपवर्ग—समस्त काव्य-शास्त्र के विवेचक—डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, डा० भगीरथ मिश्र, प्रो० बलदेव उपाध्याय।
(आ) उपवर्ग—अलंकार-विवेचक—डा० 'रसाल' आदि।
(इ) उपवर्ग—रस-विवेचक—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० भगवानदास, डा० गुलाबराय, डा० राकेश आदि।
(ई) उपवर्ग—अन्य अंगों के विवेचक—श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' आदि।

यह वर्गीकरण भी रीतिकालीन वर्गीकरण के समान निर्दोष नहीं है, क्योंकि समसामयिक साहित्यिकों का मूल्यांकन कठिन कार्य है।

आधुनिक समालोचना और रीतिकाल

डॉ० रमेशकुमार शर्मा

द्विवेदी-युग की समाप्ति तक आते-आते हिन्दी-साहित्य में एक नया ही फैशन चल पड़ा था। अपने को समय के साथ चलने वाले चैतन्य मन साहित्यकार सिद्ध करने के लिए अनेक कवि मध्ययुगीन कविता—विशेषकर रीतिकालीन कविता की आँख बन्द करके आलोचना करने लग थे। इनमें से अनेक विद्वान् रीतिकाल की कविता से केवल 'सेकिण्ड हैण्ड' परिचय रखते थे। चूँकि रीतिकाल की कविता ब्रजभाषा में है, इस कारण रीतिकाल का अर्थ ब्रजभाषा की कविता और ब्रजभाषा का अर्थ रीतिकाल की कविता लिया जाने लगा था। क्रमश यह फैशन इतना प्रचलित हुआ कि रीतिकाल की कविता तक ही इन आलोचकों ने अपने को सीमित न रखा, अपितु रीतिकाल की संस्कृति, विचारधारा, राजनीतिक तथा सामाजिक आस्थाओं को भी समेट लिया और सामूहिक रूप से सं० १७०० से १६०० तक की प्रत्येक बात इन लोगों का दूषित और घिनौनी लगने लगा। इस मनोवृत्ति के बीज भारतेन्दु-युग में बोये गये थे और उनकी जड़ द्विवेदी-युग में मजबूत हुई थी तथा प्रसाद पन्त निराला युग में उसका पूर्ण विकास हुआ। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में कहा है—

"उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बायें में विषपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गुदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं।

"इन " " में से जिसकी विलास वाटिका में भी आप प्रवेश करें " " सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत शत रसधारा में फूट रहा है" "कुंजों में उद्दाम यौवन की गन्ध आ रही है। इस तीन फुट के नखशिख के संसार के बाहर ये कविपुंगव नहीं जा सके।"[1]

---

[1] श्री सुमित्रानन्दन पन्त 'पल्लव', १६४२ ई०, पृ०, ७, ६, १०।

पन्तजी का यह कथन आधुनिक काल के विचारकों के संकीर्ण तथा अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

भारतेन्दु-युग तक व्रजभाषा का बोलबाला था, फिर इन लगभग ५०-६० वर्षों में ऐसा दृष्टिकोण-परिवर्तन कैसे हुआ ? खड़ीबोली और व्रजभाषा का झगड़ा इसका मूल कारण है।

भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली के गद्य का निर्माण हुआ; उर्दू भी विकसित होती जा रही थी; अँग्रेजी सरकार के प्रयासों से आवागमन के साधन बढ़ रहे थे, इसलिए देश में विभिन्न भागों के निवासी अधिकाधिक सम्पर्क में आ रहे थे; पढ़े-लिखों की सामान्य बोलचाल में खड़ीबोली का प्रयोग किया जाने लगा था; और ऐसे समय में व्रजभाषा की एक-देशीयता सामाजिकों को खलने लगी थी। जो लोग व्रजभाषा-भाषी नहीं थे, उनके मन में व्रजभाषा के प्रति विशेष—या कहिए आवश्यक—मोह न था और समय की पुकार के अनुसार कविता को सार्वदेशिकता प्रदान करने के लिए खड़ी बोली का सहारा लेना ही उन्हें लाभप्रद सूझ रहा था। उधर व्रजभाषा वाले अपनी भाषा का पल्ला छोड़ना नहीं चाहते थे। यहीं से एक सामान्य साहित्यिक विवाद का आरम्भ हुआ, जो कि आगे चलकर अपने वास्तविक स्वरूप को खोकर मामूली गाली-गलौज में परिणत हो गया। सृजनात्मक आलोचना और तर्कों का स्थान छिद्रान्वेषण तथा विध्वंसात्मक मनोवृत्ति ने लिया। धीरे-धीरे इस विवाद में कटुता की मात्रा बढ़ने लगी और द्विवेदी-युग में होता हुआ यह झगड़ा आधुनिक युग में पहुँचा और उसका स्वरूप एक पक्षीय विषवमन का रह गया।

भारतेन्दु-युग में इस विवाद का आरम्भ

१६वीं शताब्दी में लावनी और ख्यालबाजी की प्रतियोगिताएं अत्यधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय हो गई थीं। डा० केसरीनारायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक काव्यधारा' में भारतेन्दु-युग के लावनी-साहित्य के उदाहरण दिये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में जमशेदजी होमरसजी पीरान के 'कलगी के दिलपसन्द ख्याल' (१८८२ ई०), नन्दलाल का 'तुर्राराग' (१८८३ ई०), आदितराम जोइतराम तथा जोशी मनसुखराम के 'कलगिनी लावनियाँ' (१८८७ ई०) तथा शम्भुदयाल का 'असली व लावनी ख्यालात तुर्रा' (१८८८ ई०) रचनाओं की चर्चा की है। ख्यालबाजी तथा लावनियों के अखाड़े उन दिनों परम लोकप्रिय थे। ख्यालबाजी के दो 'स्कूल' माने जाते हैं, 'तुर्रा' और 'कलगी'। अखाड़ों में इन दोनों की 'चोंचें' देखने को हजारों की भीड़ लगा करती थी। जनता की इनमें विशेष रुचि थी और लोकरुचि

के अनुरूप ही इनकी भाषा खड़ी बोली हुआ करती थी। बाद में इन में कुछ उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी आरम्भ हुआ। लोक-साहित्य में खड़ीबोली का प्रयोग यहाँ तक आते-आते मुखर हो उठा था। लावनी और ख्यालों के अतिरिक्त लोकगीतों में सामयिक बातों पर (खड़ीबोली में) रचना होने लगी थी। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक आधुनिक हिन्दी-साहित्य (१८५० १९०० ई०) में एक उदाहरण प्रस्तुत किया।[1]

इसके अतिरिक्त ईसाइयों और आर्यसमाजी प्रचारकों ने भी अपने भजनों में खड़ी बोली का प्रयोग किया। आर्यसमाजी प्रचारकों के भजनों की भाषा शिथिल होने पर भी शुद्ध खड़ीबोली थी।[2] लोक-गीत तथा ख्याल-लावनी रचने वाले ये कवि किसी विवाद को ध्यान में रखकर खड़ीबोली में रचना नहीं कर रहे थे, अपितु लोकरुचि को देखकर अपनी रचना को लोकप्रिय और सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाने के लिए ही खड़ीबोली का प्रयोग कर रहे थे। उनके सामने ब्रजभाषा और खड़ीबोली का झगड़ा नहीं था। इन कवियों की इन रचनाओं का जनता ने इतना स्वागत किया कि उस काल के साहित्यकारों ने लोक-साहित्य का सृजन आरम्भ कर दिया। भारतेन्दुजी ने फूलों का गुच्छा (१८८२ ई०) पं० प्रतापनारायण मिश्र ने मन की लहर

---

१ राजा फिरगी रेल चलाई छिन मे आती जाती है।
   धिग ही दिल्ली धिग् ही आगरा धिग् ही भरतपुर जाती है॥
   अन्न न खाती पानी न पीती धुँआ के बल से जाती है।
   कच्ची सड़क पर वह नहीं चलती लोहे लट्ठों पर जाती है॥
   (आ० हि० सा० १९४८ ई०, पृ० ६१)

२ तू प्रभु हमारा पालनहारा।
      विनय सुनो हरि हे कर्तारा।
   कोमल मन हो दया मैं राखूँ
      निसि दिन प्रेम भोज को चाखूँ।
   सदा रहूँ मैं आज्ञाकारी
      बुद्धि मेरी रहे सुधारी।
   मेरी वाणी मीठी होवे।
      उत्तम गुण यह कभी न खोवे।
   मैं सतसंग से प्यार बढ़ाऊँ।
      खोटे मार्ग पर कभी न जाऊँ।
   —लाला देवराज कृत सप्ताङ्गी प्रथना', १८८७ ई० (डा० कपिलदेव सिंह 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली', पृ० ६७)

(१८८५ ई०), पं० श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०), पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'कजली कादम्बिनी' (१८६० ई०), बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'जोगीड़ों का संग्रह' (१८८७-६६ ई०) लिखा। पाठकजी के 'एकान्तवासी योगी' के प्रकाशन से खड़ी बोली और ब्रजभाषा का झगड़ा आरम्भ हुआ। ब्रजभाषा के पक्षपातियों को खड़ीबोली का यह 'बेजा दखल' बुरा लगा और खड़ीबोली वालों के साथ जनरुचि और समय की माँग थी। लेखे गड़ गये और भाषा-युद्ध की भेरी बज गई। लोक-काव्य ने खड़ीबोली की नींव दृढ़ कर दी थी[1] और दृढ नींव पर खड़े होने के कारण खड़ीबोली ने टक्कर लेना आरम्भ कर दिया।

उर्दू का विकास होना आरम्भ हो गया था और हिन्दी से उसकी प्रतिद्वन्द्विता थी। उर्दू का सामना करने के लिए एक सर्वाङ्गपूर्ण (गद्य तथा पद्य दोनों में समर्थ) भाषा की आवश्यकता थी और खड़ीबोली के समर्थकों ने खड़ीबोली को इस आवश्यकता-पूर्ति में समर्थ समझकर उसका समर्थन करना आरम्भ कर दिया। ब्रजभाषा वालों ने भ्रमवश, इसे अनधिकार चेष्टा समझा और विरोध करना आरम्भ कर दिया। इस अन्धाधुन्ध विरोध में भारतेन्दु ने साथ नहीं दिया। वास्तव में भारतेन्दु ने खड़ीबोली में कविता करने का प्रयत्न किया और उसके प्रचार का प्रयास भी किया, यद्यपि खड़ीबोली की कविता उनके मधुर मन के उपयुक्त नहीं पड़ती थी, परन्तु फिर भी युग-द्रष्टा भारतेन्दु ने खड़ीबोली के प्रचार का प्रयत्न किया।[2] कुछ लोग तो यहाँ तक

---

१. रासधारी, नौटंकी, जोगीड़ा, लावनी आदि गानों से खड़ीबोली का गढ़ दृढ़ करने में बड़ी सहायता मिली। इन्होंने इतने मजबूत मसाले से खड़ीबोली की ईंट जोड़ी कि सारा प्रहार निष्फल हो गया। (श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ : 'आधुनिक खड़ीबोली कविता की प्रगति', १६२६ ई०, पृ० ६)

२. भारतेन्दुजी ने १ सितम्बर १८८१ के 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ कुछ पद खड़ीबोली में रचकर भेजे थे, उन पदों के साथ उन्होंने निम्न पत्र सम्पादकजी को भेजा था—

"·····प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है, देखियेगा इस में क्या कसर है·····। तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।" डा० केसरीनारायण शुक्ल ('आधुनिक काव्यधारा', पृ० १३५)

और फिर भारतेन्दु इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके लिए काव्य की भाषा ब्रज ही उचित है। उन्होंने लिखा "जो हो मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कविता बनाऊँ, पर मेरे चित्तानुसार नहीं बनी।" (भारतेन्दु : 'हिन्दी भाषा')

के अनुरूप ही इनकी भाषा गढ़ी जाती हुआ करती थी। बाद में इन में कुछ उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी आरम्भ हुआ। लोक साहित्य में खड़ीबोली का प्रयोग यहाँ तक आते-आते मुखर हो उठा था। लावनी और खड़ीबोली के अतिरिक्त लोकगीतों में सामयिक बातों पर (खड़ीबोली में) रचना होने लगी थी। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१९०० ई०) में एक उदाहरण प्रस्तुत किया।[1]

इसके अतिरिक्त ईसाइयों और आर्यसमाजी प्रचारकों ने भी अपने भजनों में खड़ी बोली का प्रयोग किया। आर्यसमाजी प्रचारकों के भजनों की भाषा शिथिल होने पर भी शुद्ध खड़ीबोली थी।[2] लोक-गीत तथा ख्याल लावनी रचने वाले ये कवि किसी विवाद को ध्यान में रखकर खड़ीबोली में रचना नहीं कर रहे थे, अपितु लोकरुचि को देखकर अपनी रचना को लोकप्रिय और सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाने के लिए ही खड़ीबोली का प्रयोग कर रहे थे। उनके सामने ब्रजभाषा और खड़ीबोली का झगड़ा नहीं था। इन कवियों की इन रचनाओं का जनता ने इतना स्वागत किया कि उस काल के साहित्यकारों ने लोक-साहित्य का सृजन आरम्भ कर दिया। भारतेन्दु जी ने 'फूलों का गुच्छा' (१८८२ ई०) प० प्रतापनारायण मिश्र ने 'मन की लहर'

---

१ राजा फिरंगी रेल चलाई छिन में जाती जाती है।
घिग् ही दिल्ली धिग ही आगरा, घिग् ही भरतपुर जाती है॥
अन्न न खाती, पानी न पीती, धुंआ के बल से जाती है।
कच्ची सड़क पर वह नहीं चलती, लोहे-लट्ठो पर जाती है॥
(आ० हि० सा० १९४८ ई०, पृ० ६१)

२ तू प्रभु हमारा पालनहारा।
विनय सुनो हरि हे कर्तारा।
कोमल मन हो दया मैं राखूँ
निशि दिन प्रेम भोज को चाखूं।
सदा रहूँ मैं आज्ञाकारी
बुद्धि मेरी रहे सुचारी।
मेरी वाणी मीठी होवे।
उत्तम गुण यह कभी न खोवे।
मैं सतसंग से प्यार बढ़ाऊँ।
खोटे मार्ग पर कभी न जाऊँ।
—लाला देवराज कृत 'सन्ताड्डी प्रयना', १८८७ ई० (डा० कपिलदेव सिंह 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली', पृ० ६७)

(१८८५ ई०), पं० श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' (१८८६ ई०), पं० बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'कजली कादम्बिनी' (१८६० ई०), बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'जोगीड़ों का संग्रह' (१८८७-६६ ई०) लिखा। पाठकजी के 'एकान्तवासी योगी' के प्रकाशन से खड़ी बोली और व्रजभाषा का झगड़ा आरम्भ हुआ। व्रजभाषा के पक्षपातियों को खड़ीबोली का यह 'बेजा दखल' बुरा लगा और खड़ीबोली वालों के साथ जनरुचि और समय की माँग थी। मेमे गड़ गये और भाषा-युद्ध की भेरी बज गई। लोक-काव्य ने खड़ीबोली की नींव दृढ़ कर दी थी[1] और दृढ़ नींव पर खड़े होने के कारण खड़ीबोली ने टक्कर लेना आरम्भ कर दिया।

उर्दू का विकास होना आरम्भ हो गया था और हिन्दी से उसकी प्रतिद्वन्द्विता थी। उर्दू का सामना करने के लिए एक सर्वाङ्गपूर्ण (गद्य तथा पद्य दोनों में समर्थ) भाषा की आवश्यकता थी और खड़ीबोली के समर्थकों ने खड़ीबोली को इस आवश्यकता-पूर्ति में समर्थ समझकर उसका समर्थन करना आरम्भ कर दिया। व्रजभाषा वालों ने भ्रमवश, इसे अनधिकार चेष्टा समझा और विरोध करना आरम्भ कर दिया। इस अन्धाधुन्ध विरोध में भारतेन्दु ने साथ नहीं दिया। वास्तव में भारतेन्दु ने खड़ी-बोली में कविता करने का प्रयत्न किया और उसके प्रचार का प्रयास भी किया, यद्यपि खड़ीबोली की कविता उनके मधुर मन के उपयुक्त नहीं पड़ती थी, परन्तु फिर भी युग-द्रष्टा भारतेन्दु ने खड़ीबोली के प्रचार का प्रयत्न किया।[2] कुछ लोग तो यहाँ तक

---

१. रासधारी, नौटंकी, जोगीड़ा, लावनी आदि गानों से खड़ीबोली का गढ़ दृढ़ करने में बड़ी सहायता मिली। इन्होंने इतने मजबूत मसाले से खड़ीबोली की ईंट जोड़ी कि सारा प्रहार निष्फल हो गया। (श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ : 'आधु-निक खड़ीबोली कविता की प्रगति', १६२६ ई०, पृ० ६)

२. भारतेन्दुजी ने १ सितम्बर १८८१ के 'भारतमित्र' में प्रकाशनार्थ कुछ पद खड़ीबोली में रचकर भेजे थे, उन पदों के साथ उन्होंने निम्न पत्र सम्पादकजी को भेजा था—

"·····प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है, देखियेगा इस में क्या कसर है····। तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों व्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ।" डा० केसरीनारायण शुक्ल ('आधुनिक काव्यधारा', पृ० १३५)

और फिर भारतेन्दु इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके लिए काव्य की भाषा व्रज ही उचित है। उन्होंने लिखा "जो हो मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कविता बनाऊँ, पर मेरे चित्तानुसार नहीं बनी।" (भारतेन्दु : 'हिन्दी भाषा')

मानते हैं कि काव्य क्षेत्र में खड़ी बोली का सचार भारतेन्दु ने ही किया।[1] तात्पर्य यह कि इस विवाद में कटुता भरने में भारतेन्दु का हाथ बिलकुल नहीं था।

धीरे धीरे यह विवाद बढ़ता गया और इसके मूल में जो ब्रजभाषा वालों की मनोवृत्ति की संकीर्णता थी उसने इस विवाद में आरम्भिक कटुता लाने का काम किया। ब्रजभाषा के समर्थकों ने खड़ीबोली वालों को 'बुद्धिहीन' और 'हठी' कहना आरम्भ कर दिया।[2] इस विवाद में विदेशी विद्वान् भी अछूते न रहे। फ्रेडरिक पिंकाट ने खड़ीबोली के पक्ष का समर्थन किया,[3] किन्तु ग्रियर्सन साहब ने खड़ीबोली का विरोध किया।[4] ब्रजभाषा वालों को उर्दू का भय था। वे समझते थे कि खड़ीबोली के सहारे उर्दू घुस जायगी। इसी भय से भयभीत प० राधाचरण गोस्वामी ने लिखा था—

'हम अनुमान करते हैं कि यदि खड़ीबोली की कविता की चेष्टा की जाय तो फिर खड़ीबोली के स्थान में थोड़े दिनों में मानो उर्दू का प्रचार हो जायगा। इधर सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े, इधर पद्य में भी फारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा निपटा।' (हिंदोस्थान, १५ जनवरी, १८८८ ई०)

---

१ "खड़ीबोली का काव्य-क्षेत्र में वस्तुतः सचार भारतेन्दु बाबू ने किया और उसकी ओर सुकवियों का ध्यान स्वयमेव पथ प्रदर्शन करते हुए उन्होंने आकर्षित किया।" इस प्रकार खड़ी-बोली को काव्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया।" प० शुकदेवबिहारी मिश्र ('आधुनिक ब्रजभाषा काव्य,' पृ० ३, प्राक वचन)

२ जात खड़ीबोली पर कोऊ भयो दिवानो।

×　　×　　×

हम इन लोगन हित सारद सों चहत विनय करि।
काहू विधि इनके हिय की दुमति दीजै हरि॥
जासों ये सखि आनंदप्रद सो सुख पावें।
औ हठ करि नित औरनको नहिं बहकावें॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ('समालोचनादर्श', १८९६ ई०, पृ० ३०-३१)

३ बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री 'खड़ीबोली का पद्य', १८८८ ई०, पृ० ६० (भूमिका)।

४ ग्रियर्सन साहब का बाबू अ० प्र० खत्री को लिखा गया ६ फरवरी १८९० ई० का पत्र ('खड़ीबोली का आंदोलन', पृ० ४५।)

५ श्री अ० प्र० ` खड़ीबोली का आन्दोलन', पृ० १४।

उधर खड़ीबोली वालों ने केवल खड़ीबोली के प्रचार तक ही अपने प्रयत्नों को सीमित न रखा, वरन् उन्होंने कहना आरम्भ किया कि व्रजभाषा का जमाना गुजर गया है; उसके विकास की चरम सीमा निकल चुकी है; उसे अब विश्राम ले लेना चाहिए।

"इस संसार में एक वस्तु एक बार ही उन्नति के शिखर पर चढ़ती है फिर या तो स्थिर हो जाती है या गिर जाती है। ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुँच चुकी है और यद्यपि अनेक अन्य बातों में उसे उन्नति की समाई है, पर अवसर नहीं है। व्रजभाषा की कविता को.........विश्राम लेने का समय अवश्य आ पहुँचा है। उसको अधिक श्रम देना आवश्यक नहीं।"[1]

(हिन्दोस्थान, ३ फरवरी, १८८८ ई०)

पं० श्रीधर पाठक के इस कथन से और अन्य विद्वानों के इसी प्रकार के कथनों से झगड़ा भाषा और भाषा का नहीं रह गया, अपितु खड़ीबोली और व्रजभाषा के साहित्य का हो गया। धीरे-धीरे खड़ीबोली वालों ने मध्ययुगीन साहित्य पर आक्रमण करना आरम्भ किया। व्रजभाषा का दल दुर्बल होता गया और द्विवेदी-युग तक आते-आते परिश्रमित व्रजभाषा पर दायें और बायें, चारों ओर से उचित और अनुचित आक्रमण होने आरम्भ हो गये। पराजयोन्मुख व्रजभाषा-दल क्षोभ तथा खिसियाहट के कारण और खड़ीबोली-दल विजयमद के कारण संयम खो बैठा, औचित्य को ताक में रख दिया और इस भाषा-युद्ध में कटुता पूर्णरूपेण भर गई।

द्विवेदी-युग में

"व्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिन्दी की प्राचीनता प्रगट न होगी और खड़ीबोली की खिल्ली उड़ाने से नवीनता नष्ट न होगी। हानि दोनों से है। इसलिए दोनों दल वालों को ईर्ष्या-द्वेष त्यागकर काम करना चाहिए।"[2]

उपरोक्त प्रकार के सन्तुलित मत रखने वालों के शान्ति प्रचार के मध्य भी व्रज-भाषा और खड़ीबोली का युद्ध तीव्र से तीव्रतर होता गया। द्विवेदी-युग में आकर कुछ और नये कारण उपस्थित हुए और उनके कारण खड़ीबोली और व्रजभाषा वालों के मध्य की खाई और भी बढ़ गई। द्विवेदी युग की खड़ीबोली की कविता

---

१. 'खड़ीबोली का आन्दोलन', पृ० १६।

२. पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी : 'सिंहावलोकन', १९७४ वि०, पृ० ३२।

का एक प्रधान भाव था राष्ट्रीयता । अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की भावना में जनता को अनुप्राणित करने के लिए स्वदेशी भावना का राग फूँका गया । समय की पुकार थी कि देश में दासता के प्रति विद्रोह की भावना जगाई जाय और कवियों ने इस क्षेत्र में अग्रसर होना आरम्भ किया । राष्ट्रभक्ति की अधिकांश कविताएँ खड़ी बोली में की गई—"नर लिए वीर रस" की आवश्यकता थी । वीर रस तथा स्वदेशी भावना में जो आत्माहुति का रंग है उसका मन और शरीर को तृप्त करने वाली शृंगार भावना से विरोध है स्वाभाविक था कि उस काल के राष्ट्रीय कवि शृंगार से दूर रहकर स्वदेशी भावना का प्रचार करें । चूँकि ब्रजभाषा में शृंगार का आधिक्य है (और रीतिकाल उसका प्रमाण है) इसलिए राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ साथ शृंगार की उपेक्षा का भाव—और उसके साथ-साथ ब्रजभाषा और उसकी शृंगारी कविता के प्रति विरोध का भाव भी विकसित हुआ । कहा जाने लगा कि ब्रजभाषा वीर रस और देश प्रेम की कविता के अनुपयुक्त है । यह बात भूषण और भारतेन्दु की वीर रस तथा देश प्रेम की कविता के रहते हुए भी कही जाती थी । ब्रजभाषा वालों ने ब्रजभाषा में वीर रस तथा देशप्रेम की कविता करके इस तर्क का उत्तर नहीं दिया अपितु खड़ी वालों के गद्य में खड़ी बोली की कविता का विरोध ही वे करते रहे । इस विरोध में आवश्यक कटुता भी बहुधा आ जाया करती थी ।[२] यदि द्विवेदी युग के ब्रजभाषा के कवियों ने अपनी भाषा में समय की माँग के अनुरूप कविता की होती और थोड़ा-सा हेर-फेर कर लिया होता तो ब्रज भाषा आज भी अपने पूर्व गौरव के साथ जीवित होती ।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कविता कलाप' की तीव्र, कटूक्तियों से युक्त जो आलोचना सन् १९१३ ई० की मर्यादा में 'कलाप या प्रलाप' शीर्षक से छपी थी उस उग्र आलोचना के लेखक 'धृष्ट समालोचक' नाम के किसी गुमनाम सज्जन ने बड़ी कीचड़ उछाली और इस विवाद को एक और गन्दा स्वरूप

---

१ जयद्रथ वध', 'भारत भारती' आदि ।

२ 'आधुनिक कवि आशु कवि होने का दम भर रहे हैं" "चूरन वाले लटकों का लक्षण कितना प्रिय लगता है । देश का नाम लेकर एक-आध इधर-उधर के लटके सुनाओ और सुकवि बन जाओ । वन्दनीय महाशयों से अति विनयपूर्ण प्रार्थना है कि इस साहित्य-परिवर्तन के युग में नव मुरीद हिन्दी पाठकों को ऐसी शिक्षा न दें, जिससे सत्कवियों का तिरस्कार ही नहीं, वरन काव्य का आदर्श ही भ्रष्ट हो जाय ।' (पं० चन्द्रमनोहर मिश्र का 'कविता का मर्म' शीर्षक लेख इन्दु, कला ६, खंड २, किरण २ अगस्त १९१८, पृ० १४६ ।)

प्रदान कर दिया, और अब धीरे-धीरे इस विवाद में व्यक्तिगत छीछालेदर ने प्रवेश पा लिया।[1] इस आपस की छीना-झपटी में हानि हुई ब्रजभाषा की और उसके साहित्य की। धीरे-धीरे खड़ी बोली पनपने लगी और ब्रजभाषा के विरोधियों की संख्या बढ़ने लगी।

खड़ीबोली की कविता विकासोन्मुख हुई; उसमें नूतन प्रयोगों का आरम्भ हुआ। नूतन छन्दों की रचना की ओर कवियों ने ध्यान दिया तथा कविता अतुकान्त भी होने लगी। खड़ीबोली वालों ने इस प्रकार अपनी कविता को गत्यात्मकता प्रदान की और ब्रजभाषा वालों ने विरोध करने के हेतु ही, इन प्रयोगों का विरोध किया।[2] नूतन छन्दों का प्रयोग तथा अतुकान्त कविता का विरोध करके ब्रजभाषा वालों ने ब्रजभाषा का सबसे बड़ा अहित किया। उन्होंने जन-समाज के *सामने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रजभाषा और उसके समर्थक पुरातनपंथी—रूढ़िवादी—* हैं और प्रत्येक प्रकार के गत्यात्मक सुधार के विरोधी हैं। इस काल के इन कवियों ने अपनी इसी रूढ़िवादिता के कारण ब्रजभाषा (और शृंगार रस की कविता) पर रूढ़िवादी होने की मोहर लगवा ली और अपने विरोधियों का कार्य स्वयं ही सम्पन्न कर दिया। यदि इस काल के कवि ब्रजभाषा में अतुकान्त, छन्दहीन तथा देशप्रेम की वीररसात्मक कविता करना आरम्भ कर देते तो सम्भव है कि ब्रजभाषा और उसके काव्य को रूढ़ होने की उपाधि न मिलती। इन लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से जनता के सामने ब्रजभाषा को प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी सिद्ध कर दिया[3] तथा

---

१. पं० चन्द्रमनोहर मिश्र का 'कविता कर्म' शीर्षक लेख : 'इन्दु', कला ६, खंड २, किरण २, १६१५ ई०, पृ० १४७। इस निबन्ध में द्विवेदीजी और उनके शिष्य श्री गुप्तजी पर व्यक्तिगत लांछन लगाये गये।

२. "सज्जनो, कुछ ऐसे भी हैं जो बेतुकी हाँकते हैं। जब तुक न मिले और काफिया तंग हो जाय तो बेचारे क्या करें। बेतुकी काव्य ही नहीं, महाकाव्य भी बनने लगे हैं। बेतुके कवियों का कहना है कि तुक मिलाने में बड़ा झंझट है।" (पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी : 'सम्मेलन पत्रिका', भाग ६, अंक ११-१२, संवत् १६७६, पृ० २८३)

३. "हमारे बाप-दादे बैलगाड़ी पर चढ़ते थे, लेकिन हम रेलवे ट्रेनों में घण्टों में कोसों का सफर तय करते हैं। इसी तरह पुराने कवि दोहा और सोरठा लिखते थे तो कोई वजह नहीं कि हम भी सिर्फ 'शंकर चाप जहाज, सागर रघुवर बाहुबल' के

(शेष अगले पृष्ठ पर)

स्वयं रीतिकालीन परम्परा का जड़ अनुगमन करके रीतिकार के प्रति पढ़े लिखे लोगों के मन में संदेह उत्पन्न कर दिया कि ब्रजभाषा और उसका काव्य अगतिवान है।

भारतेंदु युग में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के झगड़े में खड़ीबोली की विजय के जो संकेत थे वे द्विवेदी-युग में आकर सत्य सिद्ध हुए तथा द्विवेदी-युग में यह बात साफ नजर आने लगी कि खड़ीबोली ने काव्य के क्षेत्र में अपना सिक्का जमा लिया है। ब्रजभाषा वालों ने इस युग में केवल ब्रजभाषा का ही अहित नहीं किया, वरन उन्होंने अपनी अनावश्यक रूढ़िवादिता के कारण आगे के युग में आने वाली रीतिकाल की अन्यायपूर्ण आलोचना के बीज भी बोये।

प्रसाद-पन्त-निराला युग में

हिन्दी की वाटिका में खड़ीबोली की कविता की क्यारियाँ, जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बागवानों के परिश्रम से लग चुकी थीं, आज धीरे धीरे कलियाँ दन गई हैं। कहीं कहीं किसी किसी पेड़ के दो चार सुमन पल्लवियाँ मानने लगे हैं। उनका आनन्द-सौरभ लोगों को खूब पसन्द आई है। हिन्दी के हृदय पर खड़ीबोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब चमक उठा है, इसमें कोई संदेह नहीं है।[1]

सन् १९२९ के निरालाजी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि खड़ीबोली की कविता विकास के मार्ग पर द्रुतगति में धावित हो रही थी। ब्रजभाषा के समर्थक और कवियों की संख्या कम होती जा रही थी और अब वे खड़ीबोली का खुले आम विरोध करने की रुचि भी नहीं रखते थे। उधर खड़ीबोली के समर्थकों ने गिरे में दो लातें और लगाने के लिये ब्रजभाषा का विरोध ही नहीं किया, अपितु द्विवेदी-युग के ब्रजभाषा समर्थकों के अतर्क्य तर्कों और रूढ़िवादिता के कारण चिढ़कर सम्पूर्ण ब्रजभाषा साहित्य पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। रीतिकाल की कविता ब्रजभाषा की कविता का प्रतिनिधित्व करने वाली मानकर अब रीतिकाल पर आक्रमण करना

(शेष पिछले पृष्ठ का)
वजन पर मिसरे बठाएँ। देश-काल को देखकर हम जितने तरह के नये छंद लिख सकें उतनी ही हम अपनी भाषा की सेवा कर सकेंगे।' (प० मन्नन द्विवेदी, 'मर्यादा', भाग ६, संख्या २, ३, जून जुलाई १९१३ ई०, पृ० १००।)

१ महाकवि निराला ('परिमल', पंचमावृत्ति, पृ० ६, ११, भूमिका)।

आरम्भ किया ।[1] इस से पूर्व खड़ीबोली वालों ने मध्ययुगीन कविता पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न नहीं किया था । उसे वे पैतृक सम्पत्ति ही मानते थे, परन्तु अब उसके प्रति उनकी श्रद्धा नहीं रही थी । यही अश्रद्धा की भावना आगे चलकर घृणा और द्वेष में परिणत हो गई। तात्पर्य यह नहीं है कि रीतिकाल के इन आलोचकों ने जो कुछ कहा, वह असत्य था; परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि आँख मूँदकर जो रीतिकाल की कटु आलोचना आरम्भ हुई, उसमें सत्य की मात्रा कम ही थी । इस आलोचना के मूल में ब्रजभाषा-खड़ीबोली का विवाद था, इसका प्रमाण यह है कि रीतिकाल के इन आलोचकों ने अपने को रीतिकाल तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् ब्रजभाषा के भक्त कवियों तक की टाँग जा पकड़ी—

"..........दुर्भाग्य देखिये कि उनकी कूपमण्डूकता कितनी लम्बी अवधि तक बनी रही ।.........सभी की प्रतिभा केवल कच-कुच-कटाक्षों तक ही सीमित रही । सूरदास तक ने अपने समस्त ज्ञान का 'सदुपयोग' अधिकांशतः राधा और कृष्ण की जोड़ी का वर्णन करने में ही कर डाला ।..................बात खलेगी ब्रजभाषा के हिमायतियों को, परन्तु सच्ची बात यह है कि ब्रजभाषा में जो कुछ भी है, उसका अधिकांश है कविता-बद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ ।"[2]

—पं० जगन्नाथप्रसाद मिश्र (सम्पादक 'विश्वमित्र')

बात यह थी कि खड़ीबोली में वीर रस और देशभक्ति की सुन्दर कविता का होना आरम्भ हो गया था, किन्तु शृंगार के क्षेत्र में ब्रजभाषा का-सा माधुर्य अभी तक उस में नहीं आ पाया था । जैसे ब्रजभाषा वालों ने दम्भ के कारण ब्रजभाषा में काल के अनुसार सुधार करने के स्थान पर खड़ीबोली की कर्णकटुता का सहारा लेकर उसकी आलोचना करना आरम्भ किया था, उसी प्रकार शृंगार के क्षेत्र में हेठी होती देख कर खड़ीबोली वालों ने शृंगार रस मात्र का विरोध करना आरम्भ किया था और झट रीतिकाल पर जा टूटे । यद्यपि आगे चल कर इस प्रकार की अनर्गल बातों का विरोध विद्वानों ने किया[3], परन्तु फिर भी रीतिकाल की हानि जो होनी थी, उसका होना आरम्भ हो चुका था ।

---

१. "इस काल (मध्यकाल) के कवियों को गुण्डेपन और शोहदेपन की हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता था।" (पं० मार्कण्डेय वाजपेई, एम० ए० : 'वीणा', वर्ष ८, अङ्क ११, सितम्बर १९३५, पृ० ८६२ ।)

२. 'विश्वमित्र', वर्ष ५, खंड ९, अंक १, अक्टूबर १९३६ ई०, पृ० ११०-१११ ।

३. "उनके गुरुपद पर प्रहार न करें"....बिना उनकी अयोग्यता प्रगट किये भी हम योग्य

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अपने को प्रगतिशील सिद्ध करने के लिए जिसे देखा, वही रीतिकालीन कविता पर कीचड़ उछाल रहा था। पहले कहा कि शृंगार अधिक है, फिर सूझी कि रीतिकाल को शृंगार के क्षेत्र में भी श्रेय क्या दिया जाय और तत्काल वह डाला कि वह शृंगार भी वकाये है—

शृंगार भी वह कायदे का नहीं रह गया। एक कवि के बाद दूसरा आता है और अश्लीलता के कीचड़ में लोटने को कविता का स्वरूप और अपनी प्रतिभा का निदर्शन समझता है। [१]
—प० माकण्डय वाजपेयी

कुछ सुधारवाद और नारी की स्वतन्त्रता का नाम लेकर रीतिकाल पर बरस पड़े—

ब्रज भाषा की अधिकांश कविता इसलिए सोने के कटोरे में हलाहल है कि वह आत्मा का नाश और पुरुषत्व का ह्रास करती है। स्त्री का जितना घोर अपमान इसमें है उतना हिन्दी के अन्य साहित्य में मुश्किल से मिलेगा। [२]
—प० वेंकटेशनारायण तिवारी

ढोल गवार शूद्र पशु नारी कहने वाले कविपुंगव तुलसी और नारी को विषय का प्रतीक मानने वाले कबीर आदि सन्तों से कुछ भी कहते न बनता था इन आलोचकों को बस रीतिकाल पर अपना क्रोध निकाल लेते थे। यही नहीं, कुछ लोग यहाँ तक कहने लगे कि हिन्दू-समाज में जो भी दोष हैं जो कुछ भी विगर्हणीय है वह सब ब्रज भाषा के कवियों के कारण है। देखिए—

ब्रजभाषा देश को जगाना नहीं जानती बल्कि सुख की नींद सुलाना जानती है और उसने अब तक देश को सुला भी रखा है।" मैं जोरदार शब्दों में सर्वसाधारण के

(शेष पिछले पृष्ठ का)
और बिना किसी माननीय की अवमानना किये ही हम मान्य हो सकते हैं।'
(हरिऔधजी सर्वस्व सर्वस्व', पृ० १६६ ६७।)
तथा प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हमारी साहित्यिक समस्याएँ' (द्वितीय संस्करण पृ० १६२) में प्राचीन तथा नवीन कवियों में काल्पनिक वार्तालाप करवाकर कहलाया है कि—
मगर एक इल्तमास इन नौजवानों से मैं करता हूँ,
खुदा के वास्ते अपने बुजुर्गों का अदब सीख।
१ वीणा' सितम्बर १९३५ पृ० ८३२।
२ सरस्वती दिसम्बर १९३३ पृ० ४६१।

सामने, यदि आवश्यकता हो तो कुतुबमीनार पर खड़े होकर कह सकता हूँ कि हिन्दू-समाज में व्यभिचार फैलाने, बेकारी, कायरता और आलस्य बढ़ाने की मिथ्यावादिता से जनता के हृदय का तेज घटाने के अपराधी (ब्रजभाषा के) कविगण हैं, ऐसे कवियों की कविताओं का विष हिन्दू जाति की नस-नस में घुस गया है।"[1]

—पं० रामनरेश त्रिपाठी

यद्यपि इस प्रकार के बेसिर-पैर के तर्कों का उत्तर भी दिया गया[2], किन्तु फिर भी चूँकि ब्रजभाषा वाले अल्पमत में रह गये थे, इस कारण अधिकांश लोग बिना रीतिकाल की कविता का अध्ययन किये ही सुनी-सुनाई बातों को दुहराने लगे, (इसी-लिए उनका रीतिकाल विषयक ज्ञान 'सेकिण्ड हैण्ड' कहा गया है) और रीतिकालीन कविता की कटु आलोचना करने का फैशन चल निकला।

कविवर बच्चन, महाकवि प्रसाद, कविराज पन्त, महाप्राण निराला, महादेवीजी आदि कवियों के प्रयत्नों से खड़ीबोली की कविता में माधुर्य का आगमन हुआ और धीरे-धीरे यह बात कविता में स्पष्ट हो गई कि काव्यक्षेत्र से ब्रजभाषा खड़बोली को निकाल नहीं सकती। ब्रजभाषा की कविता भी कम होने लगी और ब्रजभाषा के समर्थक अब भी कभी-कभी (अच्छी समयानुरूप कविता न करके) पुरानी कविता के सहारे अपना गौरव प्रकट करने का प्रयत्न कर रहे थे।[3]

इसी समय प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दी साहित्य में 'साम्यवाद' और 'मार्क्सवाद' घुस पड़ा। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना में प्रेमचन्द जैसे साहित्य-महारथियों का योग था, जो कि साम्यवादी, गान्धीवादी तथा सब कुछ होते हुए भी किसी भी वाद-विशेष के खूँटे से बँधे नहीं थे और पूर्णरूपेण भारतीय थे। धीरे-धीरे प्रगतिवाद के नाम पर कुछ लोगों का एक गुट्ट बन गया और वे इस साहित्यिक वाद की ओट में

१. 'सम्मेलन पत्रिका', भाग २, अंक २, सं० १९८७ वि०, नवीन संस्करण, पृ० ५५-६४।)

२. "ब्रजभाषा का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं।""ब्रजभाषा के कवियों ने सौन्दर्य को इतनी सूक्ष्म दृष्टि से देखा है कि शायद ही कोई सौन्दर्य उनसे छूटा हो।"—(निराला, 'प्रबन्ध-पद्म', संवत् १९९१ वि०, पृ० १०८, ११६।)

३. आगे चलकर इसी को 'विशाल भारत' के सम्पादक पं० श्रीराम शर्मा ने 'पिदरेमन सुल्तां बूद तुरा चोस्त' (मेरा बाप बादशाह था, पर तू क्या है?) वाली प्रवृत्ति कहा था। ('विशाल भारत', फरवरी १९४८, पृ० १०४, नोट।)

से साम्यवाद और मार्क्सवाद का प्रचार करने लगे। मार्क्सवाद के अनुसार जो कुछ भी पुराना है वह रूढ़िवादी है अतएव त्याज्य है। इस समय एक नया शब्द साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित किया गया—सामन्तवादी। साम्यवाद के अनुसार मध्ययुग सामन्तवादी था इस कारण उस युग की प्रत्येक भावना और युग का साहित्य बुर्जुआ तथा रूढ़िवादी था और त्याज्य एवं घृणास्पद था। यहाँ नहीं, प्राचीन संस्कृति तथा भावनाएँ उन्हें व्यर्थ तथा मूर्खतापूर्ण लगने लगी—

> मूढ़ माइथोलोजी' व्यर्थ आइडियोलोजी,
> रहने न पावे सदा देने को विचार नर।
> कहीं कोई मूढ़ ग्राह रूढ़ियों का हो प्रवाह,
> स्वार्थ के स्तरों में छिपा व्यर्थ का अहंकार।
> बन्द करो द्वार—
>
> —पं० उदयशंकर जी भट्ट[1]

आगे चलकर जब द्वितीय महायुद्ध के समय सब राष्ट्रीय भावना वाले विचारक जेलों में बन्द थे उस समय मार्क्सवादी प्रगतिवाद का विशेष प्रचलन हुआ। साम्यवादी पार्टी अंग्रेजों के साथ थी। इस कारण रेडियो समाचार-पत्र तथा अन्य प्रचार के साधनों पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया था। इन प्रगतिवादियों की जड़ें रूस में थीं, और वे रूसी सेना के गुणगान[2] करते थे तथा भारतीय नेताओं और शहीदों को गाली देते थे। इसी को देखकर डा० सुधीन्द्र ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक कवि' (पृ० २२५) में प्रगतिवाद के लिए लिखा था— यही कारण है कि एक ओर तो प्रगतिवादी शिविर में से राष्ट्रीयता विरोधी पंक्तियाँ उठ सकती हैं—

> बोस विभीषण ने भी देखो, कैसा जाल बिछाया है।
> कल था जो कि देवता, वह अब दानव दल ले आया है।
> यह कहकर वह गला कटावेगा, अपने ही भाई का।
> वह न स्वर्ग का देवदूत है, घृणित दलाल कसाई का।
>
> —श्री मलखानसिंह

---

१ 'हंस', मई १९४२, अंक ८।

२ श्री प्रभाकर माचवे की 'दा ज्द्रास्त्वुते सोवियत्स्की सोयूज' (सोवियत यूनियन जिंदाबाद) शीर्षक कविता, जिसका शीर्षक भी रूसी भाषा में था और उनकी सांस्कृतिक गुलामी का प्रदर्शन करता था। ('हंस', अक्टूबर, १९४२।)

और दूसरी ओर कविवर दिनकरजी 'प्रगतिवाद' की निन्दा करते हुए कहते है--

"मास्को का हम आदर करते हैं, किन्तु हमारे रक्त का एक-एक विन्दु दिल्ली के लिये अर्पित है, जब तक 'दिल्ली दूर है', मास्को के निकट या दूर होने से हमारा मुँह बनता बिगड़ता नहीं। पराधीन देश का मनुष्य सबसे पहले अपने देश का मनुष्य होता है। विश्व-मानव वह किस बल पर बने। हमारे समस्त अभियानों का एक मात्र स्पष्ट लक्ष्य मास्को नहीं, दिल्ली है। मास्को के उत्थान और पतन के साथ हँसने और रोने वाले सहकर्मियों से मेरा निवेदन है कि हमने वोल्गा का नहीं, गंगा का दूध पिया है। हम पर पहिला ऋण वोल्गा का नहीं, गंगा का है।"

इस प्रकार इस वर्ग के आलोचकों (पं० रामविलासजी शर्मा, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री अमृत राय आदि) ने जो कुछ पुरातन था और मार्क्सवाद की पटरी नहीं बैठती थी, उसकी आलोचना करना आरम्भ कर दिया। खड़ी बोली की राष्ट्रीय कविताएँ जो कि मार्क्सवादियों द्वारा नही लिखी गई थी (राजनीति का साहित्य पर अधिकार हो जाने के कारण समालोचना कविता की न होकर कवि की हुआ करती थी), उनकी भी अनर्गल आलोचना करना इन महानुभावों ने आरम्भ किया।[1] मार्क्स-

---

१. (अ) "किसान कविता में सोहनलालजी ने किसान का गुणगान किया है, उसकी खुली निर्धनता और छिपी शक्ति का वर्णन किया है। उन्होंने इस कविता में उचित लिखा है—'तुझसे ही गांधी है गांधी।' यह युगावतारवन, यह कोटिबाहु, कोटिरूप की कल्पना, पृथ्वी को आकाश में रखने की वेपर की बातें, इंडियन प्रेस में यह 'भैरवी' की छपाई, और सुन्दर समझे जाने वाले ये भोंडे चित्र······· 'भैरवी' कविता में पुराने गौरव को द्विवेदीजी ने खूब याद किया है, परन्तु यह गौरव क्यों धूल में मिल गया, यह नहीं लिखा! वह इसलिए धूल में मिल गया कि उस समय भी गांधीजी जैसे नेता और पं० सोहनलाल द्विवेदी जैसे कवि वर्तमान थे। किसानों की मेहनत पर अपना राज्य-विस्तार करते थे, मौज उड़ाते थे।" —पं० रामविलास शर्मा की पं० सोहनलाल द्विवेदी की पुस्तक 'भैरवी' की 'बापू के छौने' शीर्षक समालोचना। ('हंस', अंक १०, जुलाई १९४१।)

(ब) इसी में सेठ हीराचंद बालचंद जिन्हें गांधीजी ने जहाज बनाने का कारखाना खुलने पर शुभ संदेश भेजा था या वे किसान जिन्होंने लाठियाँ खाईं थीं? किसान से ही गांधी गांधी हैं, किसान से ही बिड़ला बिड़ला है; परन्तु गांधीजी पर जितना प्रभाव बिड़ला का है, उतना किसान का नहीं। राष्ट्रीय कवि पं० सोहनलाल द्विवेदी या तो इस तथ्य को नहीं जानते या जानकर भी छिपा जाते हैं।

वाद के साँचे मे ढालकर कविता को देखने वाले इन 'कथित' प्रगतिवादियो ने उस समय भारतीय संस्कृति की प्रत्येक पुरातन भावना पर 'सामन्तवादी' कह कर आक्रमण ही नहीं किया वरन् आधुनिकतम काव्य की भी 'मार्क्सवादी' आलोचना कर डाली। श्री गजानन मुक्तिबोध अपने निबन्ध 'कामायनी, कुछ नये विचार' मे लिखते हैं—

(अ) 'प्रथमत यह कि कामायनी विशिष्ट रूप से भारतीय पूँजीवाद के विकास को प्रतिबिम्बित करती है। वह भारतीय पूँजीवाद के बालक व्यक्तिवाद की असमता और निष्फलता की कहानी है। अन्य देशो के अनुसार भारतीय पूँजीवाद ने सामन्ती समाज रचना म क्रान्ति नहीं की।'

(ब) इस सामन्ती शासक-वर्ग का चित्रण देखिए, इस देव-सृष्टि का वर्णन देखिए—

'चिर किशोर-वय नित्य निवासी
सुरभित जिससे रहा दिगन्त।
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह
मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त।
अब न कपोलो पर छाया-सी
पडती मुख की सुरभित भाप।
भुजमूलो मे शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप।"

('हंस', अंक ४, जनवरी १९४६।)

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कैसे एक विशेष राजनैतिकवाद के कारण आलोचना के सिद्धान्त और उद्देश्य ही परिवर्तित कर दिये गये, और इन मार्क्स-वादियो ने किस प्रकार सामन्तवादी कह कर 'कामायनी' तक की अन्धाधुन्ध, इकतरफा आलोचना कर डाली। यह काल ऐसा था कि इस म अपने को प्रगतिशील कहने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्त स्वीकार करके कुछ आलोचक अन्य स्वतन्त्र कवियो की खिल्ली उडाया करते थे। उन्होंने रीतिकाल को 'सामन्तवादी' आदि नामो से पुकार कर उसकी इकतरफा आलोचना की। यही नहीं, उन्होंने यह भी कहना आरम्भ कर दिया कि केवल वे (स्वय) ही प्रगतिवादी हैं और इस कारण जो उनका विरोध करेंगे, उनकी गणना प्रतिक्रियावादियो म की जायगी।[1] इस प्रकार

१ "जो कलाकार हमारा विरोध करते हैं, वे शोषक वर्ग के हिमायती बन जाते हैं और प्रतिक्रियावादियों मे उनकी गणना होगी।" (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त 'प्रगतिशील पुस्तकें', पृ० २११, 'प्रगति क्यों')

इन कथित प्रगतिवादियों ने रीतिकाल की मनमानी आलोचना की।[1]

पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री श्यामसुन्दर दास, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने भी अपने इतिहासों में रीतिकाल का मूल्यांकन किया, किन्तु उनमें से केवल पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही किसी सीमा तक तटस्थ रहकर रीतिकाल के काव्य की व्याख्या की। पं० शुक्ल की सहानुभूति अवधी के प्रति अधिक थी। ब्रज-भाषा की कविता का दुर्भाग्य यह भी रहा है कि हिन्दी के समालोचकों में अधिकांश अवधी भाषाभाषी अथवा अब्रज-भाषा-भाषी रहे हैं। ब्रजभाषा वालों ने खड़ी-बोली को अपनाया नहीं; उधर विपक्षी दल के हाथों में खड़ीबोली के गद्य के रूप में एक शक्तिशाली हथियार आ गया, जिसका उन्होंने समालोचना के क्षेत्र में पुर-असर प्रयोग किया। अपने गम्भीर स्वभाव तथा 'प्यूरीटेनिक' (अति आदर्शवादी) प्रवृत्ति के कारण शुक्लजी शृंगार प्रधान ब्रजभाषा के कवियों तथा रीतिकाल की कविता के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सके थे। उनके अनुसार तो सूर भी पूर्ण कवि नहीं रह जाते, क्योंकि उनमें केवल एक रस और आनन्द की केवल सिद्धावस्था है।[2] श्री श्यामसुन्दरदास तथा शुक्लजी के द्वारा उठाये गये प्रश्नों तथा उनके द्वारा लगाये गये आरोपों का उत्तर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तकों में हमें पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। यहाँ केवल यह कहना है कि इन तीनों विद्वानों में भार-तीयता (और प्राचीन साहित्य) के प्रति पूर्ण सहानुभूति पाई जाती है, इस कारण इन्होंने 'कथित प्रगतिवादियों' के समान, रीतिकाल की एकपक्षीय आलोचना नहीं की और रीतिकाल के गुणों की ओर से आँखें सर्वथा बन्द नहीं कर ली थी। इन तीनों में से पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल का जो मूल्यांकन किया है, वह सबसे अधिक न्यायपूर्ण और युक्ति-युक्त है। इन तीनों विद्वानों के अतिरिक्त डा० नगेन्द्र ने भी रीति-कालीन साहित्य का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।[3]

---

१. कविवर पन्त : पल्लव, १९४२ ई०, पृ० ७, ९, १०।
२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, प्रथम भाग, १९४५, 'काव्यमें लोकमंगल की साधनावस्था', पृ० २९२।
३. रीतिकाल की भूमिका—देव और उनकी कविता।

भारतेन्दु-युग का काव्य-शास्त्र

डॉ० सत्यनारायण सिंह

हिन्दी-साहित्य के किसी युग विशेष के काव्य शास्त्र का अध्ययन करते समय संस्कृत साहित्य के काव्य शास्त्र की समृद्ध परम्परा की ओर दृष्टि का जाना बहुत स्वाभाविक है। संस्कृत साहित्य में, ईसा की दूसरी शती से लेकर सत्रहवीं शती तक भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धनाचार्य, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों द्वारा समय-समय पर रसवाद, अलंकार, रीतिवाद, ध्वनि सिद्धान्त, वक्रोक्तिवाद आदि काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों को काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण किया गया है। हिन्दी के विभिन्न युगों का काव्य भी अल्पाधिक मात्रा में काव्य शास्त्र के उपर्युक्त सिद्धान्तों से प्रभावित तथा प्रेरित होता रहा है।

काल क्रम की दृष्टि से भारतेन्दु-युग रीतिकाल के उपरान्त आरम्भ होता है। अतः विवेच्य-युग पर रीतिकालीन काव्य शास्त्र की मान्यताओं—ध्वनिवाद, रसवाद तथा अलंकारवाद—का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इस युग की मानसिक चेतना के मूल में राष्ट्रीय जागरण और नवसांस्कृतिक चेतना की भावना का प्राधान्य उसको सम्बन्ध विश्व में व्याप्त नव वैचारिक क्रान्ति के साथ जोड़ता है। अतः इस युग की विवेचना का अस्तित्व इस बात की काव्य शास्त्रीय मान्यताओं में नवीनता के समावेश का सूचक है। जिस प्रकार भारतेन्दु ने अपने साहित्य में यथावश्यक प्राचीनता का निर्वाह और नवीनता का समावेश किया, उसी प्रकार काव्य शास्त्र विषयक परम्परा के निर्वाह और प्रवर्तन में भी प्राचीनता तथा नवीनतापरक प्रवृत्तियों का परिचय दिया। आपने, एक ओर रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रवर्तित शृंगार-मूलक रसवाद को काव्य की आत्मा के रूप में अंगीकार किया, तो दूसरी ओर नव-जागृति-पूर्ण देशानुराग को काव्य का प्राण माना और इस प्रकार लोक-कल्याण को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। भारतेन्दु-युगीन काव्य शास्त्र के उक्त दोनों रूप विवेच्य युग के [illegible] के साहित्यकारों में अल्पाधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं।

भारतेन्दु ने संस्कृत के प्राचीन आचार्यों तथा हिन्दी के अर्वाचीन आलोचकों की भाँति काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में अपने प्रत्यक्ष सिद्धान्तों की स्थापना तथा अभिव्यक्ति तो की नहीं, पर उनकी रचनाओं से इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है। आपने 'कर्पूर मंजरी', 'रत्नावली नाटिका' की भूमिका, 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक के उपक्रम, 'प्रेमजोगिनी नाटिका', 'नीलदेवी के समर्पण' और 'नाटक' नामक निबन्ध में कई स्थलों पर ऐसे विचार व्यक्त किये हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वे एक स्थान पर रस को काव्य की आत्मा मानते थे और दूसरे पर लोक-कल्याण को। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने के पक्ष में भारतेन्दु के ये विचार देखने के योग्य हैं। आप ने लिखा था, "हिन्दी भाषा में जो सब भाँति की पुस्तकें बनने के योग्य हैं, अभी तक कम बनीं, विशेष करके नाटक तो कोई भी ऐसे नहीं बने जिनको पढ़ के कुछ चित्त को आनन्द और इस भाषा का बल प्रकट हो।"[१] यहाँ आपने ऐसे नाटकों की रचना पर बल दिया है जो चित्त को आनन्द-विभोर करते हों। दूसरे स्थान पर आपने लिखा है—"जामें रस कुछ होत है, पढ़त ताहि सब कोय।"[२] यह पंक्ति रसप्रधान काव्य-सृजन पर बल देती है। इसके अतिरिक्त 'भक्त सर्वस्व' तथा 'युगल सर्वस्व' के समर्पण में आपने स्वीकार किया है कि इन ग्रन्थों का प्रणयन आनन्द हेतु किया गया है।[3] यहाँ वे परमानन्द की प्राप्ति को काव्यरचना का उद्देश्य मानते हैं।

उक्त उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि भारतेन्दु रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे और इस मान्यता के आधार पर वे रीतिकाल के देव आदि रसवादियों की परम्परा का अनुवर्तन करते हैं पर साथ ही, रस को वे अनुभव-सिद्ध मानते थे। 'कवि वचन-सुधा' में 'सम्पादक के नाम पत्र' शीर्षक में आपने लिखा था—"रस ऐसी वस्तु है जो अनुभवसिद्ध है, इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आये मानिये, न आये न मानिये।" इन शब्दों से भारतेन्दु के मौलिक चिन्तन और नवीनतामूलक सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है। आपने आचार्य मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ के विपरीत 'भक्ति' और 'वात्सल्य' को भाव मात्र न मानकर स्वतन्त्र रस रूप में प्रतिष्ठित किया और नाटक में करुण रस के प्रवेश को वैध बताते हुए काव्य-शास्त्र की प्राचीन मान्यताओं को ठुकरा दिया। इस प्रकार काव्य-शास्त्र की प्राचीन रसवादी मान्यता का समर्थन करते हुए भी वे काव्य-शास्त्र की नवीन मान्यताओं के प्रवर्तक बन गये। पर आपके ही समसामयिक 'प्रेमघन' विशुद्ध रूप में रससम्प्रदाय के अनुवर्ती हैं। आप 'प्रेमघन सर्वस्व' में 'संगीत सरस साहित्य, पीये एक बन दीवाना'

---

१. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', प्रथम भाग, पृ० ४३।
२. वही, पृ० ३७२।
३. वही, भाग दो, पृ० ३ तथा भाग तीन, पृ० ६४६।

की बात कहकर अपने रसज्ञ होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वारांगना रहस्य नाटक को भी सामाजिकों के विनोदार्थ कहकर आपने स्वयं को रीतिकालीन काव्य शास्त्र का अनुयायी सिद्ध कर दिया है। प्रेमघन सर्वस्व की अधोलिखित पंक्तियाँ उनका दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं—

साहित्य सुधा संगीत सार, गायो बसंत रागहि सुधार।
बरसाइ प्रेमघन रस अपार, शोभित सुरभित सुषमा निहार॥

भारतेन्दु के काव्य शास्त्र विषयक मान्यताओं का दूसरा पक्ष सामाजिकता सम्पन्न है। सत्य हरिश्चन्द्र, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, 'प्रेमयोगिनी', 'स्तोत्र पंचरत्न तथा जातीय संगीत' आदि तथा अन्य अनेक देशभक्तिपूर्ण कविताओं का सृजन इस तथ्य का प्रमाण है। वे तत्कालीन साहित्य में रीतिकालीन शृंगारिकता जिसके मूल में विलास और मनोरंजकता का प्राधान्य था को मिटाकर क्रियात्मक एवं लोक-मंगल की भावना का समावेश कर रहे थे। फलतः विवेच्य युग की काव्य शास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं का दूसरा रूप भी धीरे-धीरे सामने आता गया। लाला श्रीनिवास दास, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास और बालमुकुन्द गुप्त ने समय-समय पर इसी मान्यता का समर्थन और प्रचार किया।

काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भारतेन्दु ने रागात्मक तत्त्व पर बल दिया है। वे वाणी का परिष्कार और आनन्द की उपलब्धि को काव्य के स्थायी प्रयोजन स्वीकार करने में संकोच नहीं करते। यहाँ तक आपको परम्परावादी ही माना जायगा। पर 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक में आपने काव्य की उपादेयता पर बल दिया है। नाटक के उपक्रम में आपने लिखा है— इस नाटक के पढ़ने वाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।[1] ये शब्द इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि भारतेन्दु लोक-कल्याण को काव्य का प्रयोजन मानते थे और आदर्श चरित्रों की सृष्टि द्वारा चारित्रिक उत्थान पर बल दिया करते थे। नीलदेवी के निवेदन से भी इसी विचार की पुष्टि होती है। भारतेन्दु ने लिखा है— निवेदन यही है आप लोग इन्हीं पुण्य रूप स्त्रियों के चरित्र पढ़ें-सुनें और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।[2] यहाँ भारतेन्दु काव्य शास्त्र की परम्परागत मान्यता—यश तथा धन-उपार्जन—को काव्य का

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली प्रथम भाग पृ० २५६।
२ वही पृ० ५१६।

प्रयोजन न मानकर चरित्र-उत्कर्ष और सामाजिक-हित को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। इस दृष्टि से बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी भारतेन्दु के अनुयायी हैं। आपने 'वारांगना रहस्य महानाटक' में 'मन्द प्रसंगहु ल्याय वाहू में सिक्षा सरस' कहकर इस बात पर बल दिया है कि काव्य में साधारण प्रसंग में भी सरस और उत्तम शिक्षा का समावेश होना चाहिए। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी इसी उद्देश्य से साहित्य का सृजन किया।

इसी विचार का अनुमोदन करते हुए पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'गोसंकट' नामक रचना का प्रणयन किया था। इस नाटक की रचना से आपका उद्देश्य 'किसी ऐसी लीला को दिखाना था, जिससे केवल क्षणिक मनोरंजन ही नहीं, किन्तु देशोन्नति तथा धर्मादि विषयक कुछ उपदेश भी प्रकट हो।' राधाकृष्णदास ने एक ओर रसवादिता का समर्थन किया है और दूसरी ओर उत्साह-वर्धन को काव्य का प्रयोजन माना है। आपके 'दुखिनी बाला' नाटक में सूत्रधार के कथन से काव्य का प्रयोजन समाज-संस्कार तथा लोक-हित-साधन ठहरता है। प्रस्तुत रचना के मूल में नाटककार का उद्देश्य देश-हित के कार्यों के लिए प्रेरणात्मक वातावरण की सृष्टि करना है।

ठा० जगमोहनसिंह निश्चय ही इस सम्बन्ध में संस्कृत-काव्य-शास्त्र की परम्परा का प्रवर्तन करते हैं। प्राचीन आचार्यों की भाँति आप आनन्द की उपलब्धि और यश-अर्जन की कामना को काव्य का प्रयोजन मानते हैं। इस दृष्टि से आपका यह दोहा प्रसिद्ध है—

> इकसै बत्तिस छन्द, विविध भाँति विरलै सही।
> जेहि पढ़ि लहहिं अनंद, रसिक सुजन कवि सुख लही।।

आपने आनन्दानुभूति को ही काव्य का प्रयोजन नहीं, वरन् यश-कामना को भी काव्य-रचना का प्रयोजन घोषित करते हुए लिखा है—

> कविता सरस अथाह, धारा सुइ कबहूँ न रुकै।
> माँगौं याही लाहु, जननि दीजिए वर सुयस।।

ठाकुर साहब के उक्त शब्द उनको संस्कृत-काव्य-शास्त्र की परम्परा का अनुयायी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। इस प्रकार, निश्चित है कि विवेच्य-युग

में काव्य-शास्त्र विषयक दोनों मान्यताएँ प्राणवान थीं। अधिकांश कलाकार ड्राइडन की भाँति काव्य द्वारा आनन्दप्रद रीति से शिक्षा देने के पक्ष में थे।

भारतेन्दु, प्रेमघन और ठाकुर जगमोहनसिंह की काव्य शास्त्र विषयक मान्यताओं के विषय में कहा जा सकता है कि वे अधिकांशतः रसवादी थे। उन्होंने लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के आनन्द की अभिव्यक्ति पर बल दिया है, पर इस युग के अन्य समय कलाकार काव्य शास्त्र की आनन्दानुभूति वाली इस मान्यता के विरोधी थे। वे भारतेन्दु की उस मान्यता के अनुयायी थे, जिसकी अभिव्यक्ति 'जातीय संगीत' में हुई है और जहाँ देशानुराग तथा चरित्रानुरूप के भावों को लोकगीतों द्वारा व्यक्त करने पर बल दिया गया है। इस मत के अनुयायी रस को काव्य का आत्मा न मानकर नीति और उपदेश को काव्य का प्राण मानते हैं। लाला श्रीनिवासदास ने हितोपदेश की परम्परा पर नीति-काव्य की रचना को महत्त्व दिया है। संवत् १९३६ की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित गयावासी चतुर्भुज मिश्र के नाटक 'अवधूत' की प्रस्तावना से स्पष्ट है कि इस युग में शृङ्गार रस की व्यंजना तथा आनन्दानुभूति के सिद्धान्त से विरोध हो गया था।[1] लालाजी के 'रणधीर-प्रेम मोहिनी' नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा कहे गये शब्द भी इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। सूत्रधार का कथन है— प्यारी, आज इस आर्य समाज के सामने कोई ऐसा नाटक खेलो जिसका फल केवल चित्त विनोद ही न हो।[2] यही नहीं, इसी प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा "भारत सोक मोह तम नासौ" नामक पंक्ति का पाठ कराना नाटक के उद्देश्य की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

लालाजी ने इस नाटक के 'निवेदन' में इटली के एक कवि 'पीट्राक' की एक कथा का उल्लेख करते हुए पुस्तकों की महत्ता के विषय में उससे जो कुछ कहलवाया है वह इस बात का प्रमाण है कि लालाजी साहित्य में किस तत्त्व का अस्तित्व देखना चाहते थे। लालाजी की मान्यताओं से स्पष्ट है कि पुस्तकें राजकाज, प्रजापालन, प्राचीन इतिहास ब्रह्म-माया का भेद आनन्द-चैन, धैर्य तथा आत्मनिर्भरता आदि गुणों का ज्ञान कराती हैं। आपने नाटकों में अलौकिक और चमत्कारिक दृश्यों पर श्रम करने की अपेक्षा यथार्थ के चित्रण पर बल दिया है।[3]

प० बालकृष्ण भट्ट लालाजी से अधिक नवीनता-पोषक थे। उन्होंने काव्य

---

१ 'श्रीनिवासदास ग्रंथावली,' भूमिका, पृ० ३।
२ वही, पृ० ७।
३ वही निवेदन, पृ० ६।

की रीति-बद्धता का डट कर विरोध किया है। रीतिकालीन साहित्य प्रमुखतः रस को काव्य-शास्त्र का अंग मानकर चला है, पर भट्टजी चित्त का श्रेष्ठतम आनन्द देशानुराग को मानते हैं और इसी की अभिव्यक्ति को काव्य का प्राण स्वीकार करते हैं। राजा शिवप्रसाद की मान्यताओं का खण्डन करते हुए आपने लिखा था—"सच्ची खुशी देशानुराग की है। जिसने अपने मुल्क या मुल्क की बहबूदी के लिए कभी एक कतरा खून भी बहाया या अपने निज के फायदे से बरतरफ हो सर्व-साधारण के हित या बेहतरी के लिए यावज्जीवन यत्न करता रहा बल्कि इसी धुन में जान माल सबसे हाथ धो बैठा उसी को सच्ची खुशी कहते हैं।"[१] भट्टजी की दृष्टि में यही वह आनन्द है, जिसकी अनुभूति काव्य से होनी चाहिए। यह मान्यता काव्य-शास्त्र में लोक-कल्याण की प्रतिष्ठा करती है।

भट्टजी ने एक दूसरे स्थान पर भी रीतिबद्ध कविता का विरोध करके इसी मान्यता को पुष्ट किया है। काव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यताएँ रीतिकालीन कवियों से भिन्न थीं। 'सच्ची कविता' शीर्षक में आपने 'क्लासिक पोइट्री' को कृत्रिम और दोष-युक्त माना है। साथ ही, भारतेन्दु की भाँति ग्राम-गीतों की प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता की प्रशंसा की है, क्योंकि भट्टजी को ग्राम-गीतों में 'सच्ची कविता का लसरा' अर्थात् चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर मिलती थी।

भट्टजी की भाँति ही बालमुकुन्द गुप्त की भी काव्य-शास्त्र-विषयक मान्यताएँ भारतेन्दु के नवीनतामूलक मत के अनुकूल थीं। गुप्तजी काव्य-सृजन का प्रयोजन लोक-रुचि-परिष्कार, सांस्कृतिक उत्कर्ष, लोकरंजन, सुरुचि-सम्पादन और राष्ट्रीय गौरव-संवर्धन मानते थे। इसी सिद्धान्त को आधार मानकर आपने मुंशी उदितनारायण द्वारा अनुवादित 'अश्रुमती नाटक' की आलोचना की थी। विवेच्य रचना के विषय में गुप्तजी ने लिखा था—"हमारी समझ में नहीं आया कि इसके बनाने वाले ने क्यों इस पुस्तक को बनाया है? बनाने में उसका उद्देश्य क्या था? देश की भलाई, समाज की भलाई, साहित्य की भलाई—तीनों में कौन सी बात इस पुस्तक के बनाने में सोची गई?"[२] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि गुप्तजी देश-हित और समाज-कल्याण को काव्य का प्रयोजन तथा उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण को काव्य का अभिप्रेत मानते थे।

---

१. हिन्दी, 'प्रदीप', जुलाई १८८० ।
२. 'गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त', पृ० २५५ ।

म काव्य शास्त्र विषयक दोनो मान्यताएँ प्राणवान थी। अधिकाश कलाकार ड्राइडन की भाँति काव्य द्वारा आनन्दप्रद रीति से शिक्षा देने के पक्ष मे थे।

भारतेन्दु प्रेमघन और ठाकुर जगमोहनसिंह की काव्य शास्त्र विषयक मान्यताओं के विषय म कहा जा सकता है कि वे अधिकाशत रसवादी थे। उन्होने लौकिक और पारलौकिक दोनो ही प्रकार के आनन्द की अभिव्यक्ति पर बल दिया है, पर इस युग के अन्य समय कलाकार काव्य शास्त्र की आनन्दानुभूति वाली इस मान्यता के विरोधी थे। वे भारतेन्दु की उस मान्यता के अनुयायी थे, जिसकी अभिव्यक्ति 'जातीय सगीत' मे हुई है और जहाँ देशानुराग तथा चरित्रानुमेय के भावो को लोकगीतो द्वारा व्यक्त करने पर बल दिया गया है। इस मत के अनुयायी रस को काव्य का आत्मा न मानकर नीति और उपदेश को काव्य का प्राण मानते हैं। लाला श्रीनिवासदास ने हितोपदेश की परम्परा पर नीति-काव्य की रचना को महत्त्व दिया है। सवत् १९३६ की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' म प्रकाशित गयावासी चतुर्भुज मिश्र के नाटक 'अवधूत' की प्रस्तावना से स्पष्ट है कि इस युग म शृङ्गार रस की व्यजना तथा आनन्दानुभूति के सिद्धान्त म विरोध हो गया था।[1] लालाजी के 'रणधीर प्रेम मोहिनी' नाटक की प्रस्तावना म सूत्रधार द्वारा कहे गये शब्द भी इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। सूत्रधार का कथन है— 'प्यारी, आज इस आर्य-समाज के सामने कोई ऐसा नाटक खेलो जिसका फल केवल चित्त विनोद ही न हो।'[2] यही नहीं, इसी प्रस्तावना म सूत्रधार द्वारा 'भारत शोक मोह तम नासो' नामक पक्ति का पाठ कराना नाटक के उद्देश्य की ओर स्पष्ट सकेत करता है।

लालाजी ने इस नाटक के 'निवेदन' मे इटली के एक कवि 'पीट्राक' की एक कथा का उल्लेख करते हुए पुस्तको की महत्ता के विषय मे उससे जो कुछ कहलवाया है, वह इस बात का प्रमाण है कि लालाजी साहित्य मे किस तत्त्व का अस्तित्व देखना चाहते थे। लालाजी की मान्यताओ से स्पष्ट है कि पुस्तकें राजकाज, प्रजापालन प्राचीन इतिहास, ईश-माया का भेद आनन्द चैन, धैर्य तथा आत्मनिर्भरता आदि गुणो का ज्ञान कराती हैं। आपने नाटको म अलौकिक और चमत्कारिक दृश्यो पर श्रम करने की अपेक्षा यथार्थ के चित्रण पर बल दिया है।[3]

प० बालकृष्ण भट्ट लालाजी से अधिक नवीनता-पोषक थे। उन्होने काव्य

---

१ 'श्रीनिवासदास ग्रन्थावली,' भूमिका, पृ० ३।
२ वही, पृ० ७।
३ वही निवेदन, पृ० ९।

की रीति-बद्धता का डट कर विरोध किया है। रीतिकालीन साहित्य प्रमुखतः रस को काव्य-शास्त्र का अंग मानकर चला है, पर भट्टजी चित्त का श्रेष्ठतम आनन्द देशानुराग को मानते हैं और इसी की अभिव्यक्ति को काव्य का प्राण स्वीकार करते हैं। राजा शिवप्रसाद की *मान्यताओं* का खण्डन करते हुए आपने लिखा था—"सच्ची खुशी देशानुराग की है। जिसने अपने मुल्क या मुल्क की बहबूदी के लिए कभी एक कतरा खून भी बहाया या अपने निज के फायदे से बरतरफ हो सर्व-साधारण के हित या बेहतरी के लिए यावज्जीवन यत्न करता रहा बल्कि इसी धुन में जान माल सबसे हाथ धो बैठा उसी को सच्ची खुशी कहते हैं।"[1] भट्टजी की दृष्टि में यही वह आनन्द है, जिसकी अनुभूति काव्य से होनी चाहिए। यह मान्यता काव्य-शास्त्र में लोक-कल्याण की प्रतिष्ठा करती है।

भट्टजी ने एक दूसरे *स्थान* पर भी रीतिबद्ध कविता का विरोध करके इसी मान्यता को पुष्ट किया है। काव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यताएँ रीतिकालीन कवियों से भिन्न थीं। 'सच्ची कविता' शीर्षक में आपने 'क्लासिक पोइट्री' को कृत्रिम और दोष-युक्त माना है। साथ ही, भारतेन्दु की भाँति ग्राम-गीतों की प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता की प्रशंसा की है, क्योंकि भट्टजी को ग्राम-गीतों में 'सच्ची कविता का लसरा' अर्थात् चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर मिलती थी।

भट्टजी की भाँति ही *बालमुकुन्द* गुप्त की भी काव्य-शास्त्र-विषयक मान्यताएँ भारतेन्दु के नवीनतामूलक मत के अनुकूल थीं। गुप्तजी काव्य-सृजन का प्रयोजन लोक-रुचि-परिष्कार, सांस्कृतिक उत्कर्ष, लोकरंजन, सुरुचि-सम्पादन और राष्ट्रीय गौरव-संवर्धन मानते थे। इसी सिद्धान्त को आधार मानकर आपने मुंशी उदितनारायण द्वारा अनुवादित *'अश्रुमती नाटक'* की आलोचना की थी। विवेच्य रचना के विषय में गुप्तजी ने लिखा था—"हमारी समझ में नहीं आया कि इसके बनाने वाले ने क्यों इस पुस्तक को बनाया है? बनाने में उसका उद्देश्य *क्या था?* देश की भलाई, समाज की भलाई, साहित्य की भलाई—तीनों में कौन सी बात इस पुस्तक के बनाने में सोची गई?"[2] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि गुप्तजी देश-हित और समाज-कल्याण को काव्य का प्रयोजन तथा उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण को काव्य का अभिप्रेत मानते थे।

---

१. हिन्दी, 'प्रदीप', जुलाई १८८०।
२. 'गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त', पृ० २५५।

प्लेटो ने जिस प्रकार साहित्य को मानव समाज को प्रभावित करने का सबलतम साधन मानते हुए उसमें उत्कृष्ट चरित्रों के समावेश पर बल दिया और साहित्य को नैतिक उत्कर्ष का आधार माना उसी प्रकार गुप्तजी भी काव्य तथा नाटकों में उत्कृष्ट चरित्रों के चित्रण पर बल देकर उसे शिक्षा का आधार बनाना चाहते थे। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'तारा' और प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता 'प्रियंवदा' की आलोचना में आपने इसी विचार को आलोचना की कसौटी बनाया था। 'अश्रुमती नाटक' के विषय में आपने लिखा था— इस पुस्तक को पढ़कर बंग देश की लड़कियों को क्या शिक्षा मिलेगी? और आप सब बंगाली लोग न्याय से कहें कि आप ही को इससे क्या उपदेश मिला। [1] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि गुप्तजी काव्य की आत्मा शिक्षा उपदेश संस्कार सांस्कृतिक उन्मेष और लोक कल्याण को मानते थे।

काव्य के वर्ण्य विषयों के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यता पूर्णत स्पष्ट थी। आपने लिखा था— नायिका भेद बाग बगीचा चदन चाँदनी तथा खसखाने आदि के वर्णन में शक्ति का अपहार न करके पेट का धन्धा करने वाले बच्चों को पालने तथा कुछ अर्जित कर जाने का काम करना चाहिए। [2] ये शब्द इस बात के साक्षी हैं कि गुप्तजी रीतिकालीन विनोद रसमग्नता आनन्दानुभूति नख शिख चित्रण नायक-नायिका भेद और राजा-महाराजा के प्रमोदवन तथा विलास प्रसाधनों के चित्रण को काव्य का वर्ण्य नहीं मानते थे। देशानुराग तथा सामाजिक उत्कर्ष को काव्य के प्राण के रूप में प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त आपने भगवत् विषयक रति को भी काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। पर भगवत् विषयक रति के मूल में भी वैयक्तिक मुक्ति की कामना नहीं है वरन् भारत के उद्धार का भाव है।

काव्य के हेतु और वर्ण्य के विषय में भी इस युग के साहित्यिक प्राय एक मत थे। भारतेन्दु ने यशादि की उपलब्धि को काव्य का हेतु नहीं माना। भक्तिभावानुप्रेरित वैष्णव आनन्द और वाणी का परिष्कार विवेच्य युग की काव्य-साधना के हेतु या प्रयोजन कहे जा सकते हैं। यहाँ कुछ सीमा तक भारतेन्दु की काव्य शास्त्र सम्बन्धी मान्यता परम्परा के अधिक समीप है। ठाकुर जगमोहनसिंह प्राचीन परम्परा के अधिक समीप थे। आप शक्ति को काव्य का हेतु मानते थे पर शक्ति से उनका तात्पर्य किसी अव्यक्त या अगोचर सत्ता नहीं वरन् पूर्ण शक्ति के साथ राष्ट्रीय जागरण से है। प्रेमघन जी अवश्य काव्य का हेतु प्रतिभा के परिष्कार और परिमार्जन

---

१ गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त, पृ० २५५।
२ वही, पृ० २५६।

को मानते हैं। इस प्रकार वे इस मान्यता में संस्कृत काव्य-शास्त्र की मान्यता के अनुयायी ठहरते हैं।

इस सम्बन्ध में भट्टजी का मत अन्यों की अपेक्षा भिन्न था। वे लोकहित को ही काव्य का हेतु मानकर लिख रहे थे। उनकी मान्यता थी—"समाज में पुराने ख़याल वालों का बाइकाट कर दीजिए, तीर्थो के मूर्ख पण्डों को लोभ की मूर्ति नाम मात्र के पण्डितों को, आलस्य और अकर्मण्यता की जननी वेदान्तियों की मुक्ति को, प्लेग के कराल कोप में बाल्य विवाह को, ब्राह्मणों को, आलसी और मूर्ख कर देने वाली दक्षिणा को, हिंदुस्तान की प्रधान मेवा वैर फूट को।"[1] भट्टजी की ये पंक्तियाँ उनकी साहित्य-साधना के रहस्य को भली प्रकार उद्‌घाटित कर देती हैं। उनकी दृष्टि में देश की वैमनस्य-प्रताड़ित असंख्य जनता की एकता स्थापना और राष्ट्रीय आन्दोलन की तीव्रता के अतिरिक्त अन्य कोई बात काव्य के हेतु के रूप में नहीं आती थी। साहित्य उनके सम्मुख साधन था, साध्य था लोक-कल्याण। इस विचार में वे भारतेन्दु के नवीनतापरक विचारों के अनुयायी थे। विचारों की इस राष्ट्रीय उग्रता और स्वाधीनता-प्रियता के कारण ही उनको कायस्थ पाठशाला की नौकरी छोड़नी पड़ी थी। अपनी काव्य-शास्त्र-विषयक मान्यताओं में भट्टजी एकदम नवीनतावादी हैं।

साहित्य के वर्ण्य विषयों के सम्बन्ध में भारतेन्दु भगवत-चर्चा के अतिरिक्त लोकहित को ही महत्त्व देते थे। उन्होंने या तो भक्त कवियों की भाँति लोकोत्तर आनन्द की धारा प्रवाहित की है, अथवा एक जाग्रत समाज-सुधारक तथा प्रबुद्ध देशभक्त की भाँति राष्ट्रीय जागरण के गान गाये हैं। उनकी शृंगार-रस-विषयक अधिकांश कविताएँ राधा-कृष्ण के लोकोत्तर आनन्द से ही परिपूर्ण हैं। इस प्रकार आप काव्य-शास्त्र की आनन्दवादी मान्यता के चाहे, वह लोकोत्तर आनन्द की रही हो अथवा लौकिक आनन्द की, पोषक रहे थे। लौकिक आनन्द की भावना निश्चय ही छायावादी अनुभूति से भिन्न और प्रयोगवादी वैयक्तिकता से सर्वथा मुक्त थी। उसमें सामाजिकता का पर्याप्त समावेश था। अतः आलोच्य युग की आनन्दवादी मान्यता को स्पष्ट-रूपेण समझने के लिए भारतेन्दु के विचारों पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। 'जातीय संगीत' में भारतेन्दु ने उन विषयों को प्रस्तुत किया है, जिन पर साहित्य-जगत् में लिखा-पढ़ी होनी चाहिए। इसी कार्य की सफलतापूर्वक उपलब्धि भारतेन्दु को यथार्थ आनन्द की प्राप्ति कराने वाली साधना थी। आप जिन विषयों पर लिखना चाहते थे, वे विषय है—बाल विवाह की हानियाँ, जन्मपत्री की विधि, बालकों की शिक्षा की

१. 'पं० बालकृष्ण भट्ट, पृ० ३४८।

आवश्यकता, बच्चों का भली प्रकार पालन-पोषण, अंग्रेजी फैशन का दुष्प्रभाव, स्वधर्म में मलग्नता भ्रूण-हत्या तथा शिशु हत्या निरोध के उपाय, भारत पर फूट और बैर का दुष्प्रभाव मैत्री और एकता के गुण, जातिवाद तथा बहुदेवोपासना की हानियाँ, योग्यता के लाभ जन्म भूमि के प्रति प्रेम, आकर्षण तथा उसके लिए बलिदान का भाव व्यापार की उन्नति का आवश्यकता तथा उसके उपाय, मादक पदार्थों के सेवन के कुप्रभाव अदालतों में अपव्यय तथा परस्पर वैमनस्य प्रसारण का निरोध, स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण और प्रयोग पर बल और भारत की अवनति पर खेद प्रकाशन आदि।

भारतेन्दु की भाँति ही प० प्रतापनारायण मिश्र भी आदर्शमूलक नैतिक कथानों के साहित्य में समावेश के समर्थक थे। मिश्र जी ने वेश्यावृत्ति निवारण, मदिरापान निषेध, सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन, विधवा विवाह समर्थन और बाल विवाह निरोधार्थ कितने ही लेख लिखे हैं। इनकी 'तृप्यताम्' कविता इस बात का प्रतीक है कि वे काव्य में किस प्रकार की चर्चा चाहते थे। इसके अतिरिक्त 'बकारी विलाप', 'ककाराष्टक', 'होली है' कवि कौतुक रूप और 'भारत दुर्दशा' आदि इनकी रचनाएँ हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु द्वारा निर्धारित लोक हित-साधना वाली पंक्ति से यह हटना नहीं चाहते थे। मिश्रजी ही नहीं, लाला श्रीनिवासदास तथा राधाकृष्णदास भी इसी विचार के समर्थक थे। लालाजी ने अपने उपन्यास 'परीक्षा गुरु' की व्याख्या में पुस्तक के शीर्षक के नीचे लिखा है— *अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की सधारी वार्ता।*"[1]

लालाजी द्वारा उपन्यास के शीर्षक की दी गई व्याख्या उनके विचारों का सम्यक प्रसारण करती है। वे रचना में उत्कट चरित्र निर्माणार्थ शिक्षा प्रधान उपदेश का आवश्यक समझते थे। इन की भाँति ही राधाकृष्णदास काव्य में समयोपयोगी आवश्यकताओं का वर्णन अपेक्षित मानते थे और साहित्य में उपयोगी तत्त्वों के समावेश का समर्थन करते थे। उनके एक नाटक का नाम 'दुखिनी बाला' और दूसरे का 'राणा प्रताप' उनके चरित्र तथा कवि के विचारों की व्यंजना करते हैं। प्रथम द्वारा तो उन्हें अपने समसामयिकों की भाँति भारत की गिरावट का चित्रण करना अभिप्रेत था और दूसरे के द्वारा आदर्श चरित्रों की स्थापना द्वारा नैतिक उत्कर्ष। प्रथम में, भारतेन्दु द्वारा निर्धारित बातों—बाल विवाह के दुष्परिणाम, जन्मपत्र के अनुसार विवाह तथा उसके अशुभ परिणाम आदि का वर्णन किया है और दूसरे में, भारतीय स्वाधीनता के अमर सेनानी महाराणा प्रताप के उत्कट चरित्र का अंकन किया गया है। ये दोनों रचनाएँ इस बात की प्रतीक हैं कि काव्य शास्त्र के सम्बन्ध में उनको भारतेन्दु की मान्यताएँ स्वीकार थीं।

---

१ श्रीनिवास ग्रंथावली, पृ० १४६।

बालमुकुन्द गुप्त तो पराधीनता काल की समस्त कविता को काव्य तक न मानने के पक्ष में थे। निश्चय ही, उनकी यह मान्यता पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्र की मान्यता का घोर विरोध करती है। उनका मत है—"भारत में अब कवि भी नहीं हैं, कविता भी नहीं है। कारण यह कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है।"[१] इस तरह गुप्तजी न तो रसानुभूति को काव्य की आत्मा मानते हैं और न कला की साधना मात्र को साहित्य का हेतु; वह न तो रीतिकाल के परम्परानुमोदित नायिका-भेद तथा पारस्परिक-हावभाव के चित्रण को काव्य का वर्ण्य स्वीकार करते थे और न भक्तिकालीन लोकोत्तर आनन्द को काव्य की आत्मा। देश और जाति की स्वाधीनता का उत्कर्ष उनके लिए काव्य की आत्मा, देश-दशा का चित्रण काव्य का वर्ण्य, राष्ट्रीय जागरण और सांस्कृतिक नवोन्मेष काव्य का प्रयोजन तथा हेतु आदि था। गुप्तजी के इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए 'क्षत्रिय पत्रिका' के सम्पादक बाबू रामदीन भी नेशनल संगीत तथा नेशनल काव्य की रचना पर बल दे रहे थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु-युग में काव्य-शास्त्र की प्राचीनतापरक मान्यताओं की परम्परा क्षीण होती चली जा रही थी और काव्य-शास्त्र की नवीन मान्यताएँ जन्म लेकर पुष्ट होती जा रही थी।

इस युग में काव्य के शिल्प के विषय में भी नवीनता का समावेश होता जा रहा था। काव्य में ब्रजभाषा की माधुरी के उपासक होते हुए भी गद्य में अधिकांश लेखक जनता की भाषा के प्रसार में तल्लीन थे। भारतेन्दु ने न तो भाषा के शास्त्रीय रूप को ग्रहण किया और न उसके किसी नवीन रूप की सृष्टि की, वरन् तत्कालीन भाषा में जन-समाज में प्रचलित शब्दों, मुहावरों, कहावतों और लोकोक्तियों का समावेश करके उसको बोधगम्य बनाया तथा उसको जातीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। पद्य में भी भारतेन्दु ने परम्परानुगत ब्रज-भाषा का परित्याग करके खड़ी-बोली में रचना का सूत्रपात किया था। ब्रज-भाषा की माधुरी से पल्ला छुड़ाने का भारतेन्दु द्वारा यह अभिनव प्रयास उनकी मौलिकता का प्रमाण प्रस्तुत करता है और साथ ही, काव्य-शास्त्र की परम्परानुगत मान्यता से दूर हटने की प्रवृत्ति की साक्षी प्रस्तुत करता है। भाषा के साथ ही, छन्दों के ग्रहण में भी भारतेन्दु ने अपने पूर्ववर्ती कवियों का पूर्ण अनुकरण करते हुए भी अपनी मौलिकता का परिचय ग्राम-गीतों के प्रयोग द्वारा दिया। इस प्रकार शिल्प की दृष्टि से भी भारतेन्दु अपनी काव्य-शास्त्र-विषयक मान्यताओं में कुशल सामंजस्यवादी दीख पड़ते हैं।

राधाचरण गोस्वामी, पं० प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की शिल्प-

---

१. 'गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त', पृ० ३८८।

विषयक मान्यताएँ भारतेन्दु के अनुकूल थी। पं० अम्बिकादत्त व्यास अवश्य संस्कृत की तत्समता के पक्षपाती व्याकरण के अनुवर्ती तथा नियमबद्धता के समर्थक थे। उनका संस्कृत प्रलाप इस इस कथन का प्रमाण है। भाषा के क्षेत्र में शास्त्रीयता के समर्थक होते हुए भी व्यासजी छन्द के विषय में प्रतापनारायण मिश्र के मुक्त छन्द के समर्थक थे और कविता के अन्त में तुक तक को अभिव्यक्ति के लिए अवरोध मानते थे। बालमुकुन्द गुप्त ने 'जोगीडा' तथा कबीर आदि लोक-गीतों में राजनीतिक विचारधारा की व्यंजना करके शिल्प जगत् में एक अभिनव प्रयास किया। 'हिन्दी-प्रदीप' और भारतेन्दु इससे पूर्व ही लोकगीतों की महत्ता पर बल दे चुके थे। उस युग की यह मान्यता काव्य शास्त्र की नवीनता की परिचायक है।

नाट्य शास्त्र की मान्यताओं के विषय में भी विवेच्य युग में नवीनता का समावेश हुआ। अधिकांश नाटककारों ने संस्कृत नाट्य शास्त्र के नियमों का प्रायः परित्याग किया। अंक सम्बन्धी प्राचीन नियम छोड़ दिये, एकांकी नाटक-परम्परा का प्रवर्तन किया, प्रहसन और वियोगान्त नाटक लिखना प्रारम्भ किया, दृश्य परिवर्तनों में शीघ्रता तथा नवीनता का समावेश हो गया, अधम पात्रों की सृष्टि की गई, विष्कम्भक प्रवेशक, अंकावतार और अंकमुख शनैः-शनैः गायब होते गये, रंगमंचीय आवश्यकतानुसार नाटकों का सृजन हुआ, नाटक दृश्यों में विभाजित किये गये और नाट्यकला को मनोविनोद तथा साधारणीकरण की सीमित परिधि से निकाल जीवन की विस्तृत भूमि पर आसीन किया गया। उसमें मनुष्य के रागद्वेष, हर्ष-विषाद और सुख-दुख का समावेश करके उसे यथार्थ जीवन का प्रतिनिधि बनाया गया। इस प्रकार नाट्य शास्त्र की प्राचीन मान्यताओं में आमूल परिवर्तन किया गया। संस्कृत-नाटक परम्परा का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन तथा साधारणीकरण था, विवेच्य युग के नाटकों ने सामाजिक यथार्थवाद को प्रधानता दी और उसे सामाजिक जागृति का सबल साधन बनाया।

अन्त में यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु-युग काव्य की प्राचीन मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी अस्वीकार करता है। इस युग में रस सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव होते हुए भी नवीनता वर्तमान है। ध्वनि सम्प्रदाय और अलंकार सम्प्रदाय को काव्य शास्त्र के सिद्धान्त रूप में इस युग में स्वीकार नहीं किया गया। इस युग के कवि सिद्धान्तों के प्रवर्तन पर ध्यान न देकर साहित्य द्वारा महान् कल्याण करने पर नजर रखते थे। मुख्यतः यही इस युग का काव्य शास्त्र था।

द्विवेदी-युगीन समीक्षा

डॉ० मक्खनलाल शर्मा

हिन्दी-समीक्षा की जो धारा भारतेन्दु-युगीन गङ्गोत्री से निःसृत हुई थी वह द्विवेदी-युगीन समतल वनस्थली में आकर विस्तृत होने के लिए गहराई में उतरी। उसे संस्कृत परम्परा की स्थायी निधि को शीघ्रातिशीघ्र आत्मसात् करने की चिन्ता हुई। आचार्य द्विवेदी ने विशेष रूप से इस उत्तरदायित्व को उठाया। भारतेन्दु-युग में सृजनात्मक साहित्य के समानान्तर समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ था किन्तु द्विवेदी-युग में सृजनात्मक साहित्य जिस गति से अग्रसरित हुआ वह गति समीक्षा ग्रहण न कर पाई और पिछड़ गई। उसे अंग्रेजी और संस्कृत की समीक्षा पद्धतियों से अपना भण्डार भरने की चिन्ता हुई क्योंकि व्यावहारिक समीक्षा के विकास के लिए अब सैद्धान्तिक पक्ष के समृद्ध होने का प्रश्न उपस्थित हो गया था। द्विवेदीजी ने स्वयं संस्कृत काव्यों की समीक्षा की तथा संस्कृत काव्यशास्त्रीय आधार को हिन्दी में प्रस्तुत किया, एवं अन्य लोगों से अंग्रेजी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अनुवादित कराये। आलोचना के महत्त्व को प्रतिपादित किया। किन्तु सामयिक सृजनात्मक साहित्य की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जा सका जितना कि भारतेन्दु-युग में दिया गया था एवं उस धारा को अग्रसरित करने की दृष्टि से दिया जाना चाहिए था। यह दूसरी बात है कि भारतेन्दु-युगीन समीक्षा के सभी प्रगतिशील तत्त्व किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण बने रहे। इस युग में भारतेन्दु-युग की कसौटी मान्य रही। भारतेन्दु-युग में जनता को सच्चा समीक्षक माना गया था। आचार्य द्विवेदी ने भी अच्छी कविता की कसौटी श्रोता घोषित किया।

"अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है।"[1]

---

१. 'सञ्चयन', पृ० ८।

भारतेन्दु-युग के जो लेखक पहले अंग्रेज़ की नीति की परोक्ष आलोचना करते थे किन्तु द्विवेदी-युग में अधिक राजनीतिक चेतना आने से वे भी खुलकर अंग्रेज़ का विरोध करने तथा देशवासियों को सङ्गठित होने की प्रेरणा देने लगे। भट्टजी ने स्पष्ट रूप से लिखा—

अंग्रेज़ी राज्य के बड़े शासन में जब हम सब ओर से दबे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिये गये हैं कि हिल नहीं सकते आमदनी का कोई द्वार न खुला रह गया ... ऐसी हालत में भी जब हम न चेते तो फिर कब चेतेंगे ?[1]

वे खुलकर कांग्रेस का समर्थन करने और उसकी जय बोलने लगे।

जहां हो ! आज तक हमारे कानों में और प्राणों में यही ध्वनि गूंज रही है और रह रह के मुह से यही निकलता है[2] कि कांग्रेस की जय। क्यों न हो कांग्रेस साक्षात् दुर्गाजी का रूप है। क्योंकि वह देश हितैषी देव प्रकृति लोगों की स्नेह शक्ति से आविर्भूत हुई है।

विज्ञान के विकास और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अनुरूप जीवन दृष्टि उस युग में आने लगी थी।

स्त्री शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था और शिक्षा में भी क्लर्क मुहर्रिर और स्कूलमास्टर की अपेक्षा सच्चा उत्पादक वर्ग पैदा करने वाली शिक्षा को प्रमुखता दी जाने लगी थी। अर्थवादी शिक्षा पर ध्यान आकर्षित किया जा रहा था जिससे सच्ची शिक्षा का सूत्रपात हो सके। इस शिक्षा के पीछे ही आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता थी। ये समीक्षक शासन निरपेक्षता द्वारा जनता को सरकार का विरोध करने की प्रेरणा देते थे।

भारतेन्दु युगीन समीक्षकों में से प्रतापनारायण मिश्र ने खेती की हीन और किसानों की अति दयनीय स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट किया तथा देश में विदेशी शासन के फलस्वरूप जो कारीगरी नष्ट हो गयी थी तथा देश का धन विदेशों को खिंचा जा रहा था उनका स्मरण दिलाया तो बालकृष्ण भट्ट ने ढाल के भीतर पोल में अंग्रेज़ों की चिउरियाँ ढीलने को रोकने पर ज़ोर दिया और स्वयं आचार्य

---

१ भट्ट निबन्धावली', पृ० ११६।
२ निबन्ध नवनीत', पृ० ८१।

द्विवेदी ने भी इन विषयों पर अपनी सशक्त लेखनी उठाई। अमेरिकन और भारतीय कृषि कार्य की तुलना करते हुए कृषक दशा तथा उसके शोषक कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा—

"भारतवर्ष में कृषकों की दुरवस्था और निर्धनता के कई कारण हैं। एक तो यहाँ किसानों में शिक्षा का अभाव है, दूसरे यहाँ की गवर्नमेंट ने देश के कुछ अंशों को छोड़कर अन्यत्र सभी कहीं भूमि को अपने अधिकार में कर रखा है। वही उसकी मालिक बनी बैठी है, अतएव उसने भूमि के लगान और मालगुजारी के सम्बन्ध में जो कानून बनाए हैं वे बहुत ही कड़े हैं। फिर जहाँ कहीं ताल्लुकेदारियाँ हैं वहाँ किसानों के सुभीते का कम, ताल्लुकेदारों के सुभीते का अधिक ध्यान रखा गया है। यही सब कारण है जो किसानों को पनपने नहीं देते।"

इसी लेख में वे भारतीय कृषक को शिक्षित होकर कृषि विकास की ओर उन्मुख होने की शिक्षा देते हैं। क्योंकि वे केवल रुपये को धन न मानकर वास्तविक सम्पत्ति उत्पादन को कहते हैं। युग ने जागरूक रह कर धर्म, मत, सम्प्रदाय, जाति-पाँति-विभेद मूलक अनेकता का विरोध कर आर्थिक और राजनीतिक आधारों पर सङ्गठन का बिगुल बजाया और इसी को धर्म का स्थानापन्न बनाने पर अपनी शक्ति लगाई। युग अपनी जाग्रतावस्था की सूचना निम्न शब्दों में देता दिखाई देता है—

"हिन्दू भाइयों को यह समय मतमतान्तरों में पड़ने का नहीं है और न संतोषक है और न वेदान्ती बनकर उदासीन होकर बैठने का है। भाइयो, ऐसे घोर काल में कुछ धार्मिक कार्य नहीं हो सकता, न वह शास्त्र विहित ही है। केवल देश बचाने के लिए जिस तरह हो सके, कटिबद्ध होकर यत्न करो। यह समय देश-विदेश व जाति-पाँति के विचार का नहीं है, सबका प्रायश्चित्त केवल देश भाइयों को बचाना ही परम धर्म है। यही सबका परम कर्त्तव्य है। जैसे हो सके वैसे शिल्प-शिक्षा का प्रचार करो, जैसे, बन पड़े वैसे कला-कौशल सीखने का यत्न करो। यही सबका उद्धार है और कुछ नहीं।"[1]

सत्यदेव परिव्राजक जैसे धार्मिक पुरुषों ने भी धर्म की अपेक्षा राजनीति को प्रमुखता दी और बताया कि जो इस लोक को नहीं सुधार पाता है वह परलोक को कभी भी सुधार नहीं पावेगा। अतः इहलोक—अपना वर्तमान—पहले सुधारना

१. 'इन्दु,' कला ४, खण्ड २, किरण ६, पृष्ठ ५४०।

चाहिए। इस युग के मुख्य समीक्षक मिश्रबन्धुओं ने ब्राह्मणवाद का खण्डन किया और द्विज के अन्तर्गत तीनों वर्णों को रखा। यह प्रगतिशील दृष्टिकोण था जिसे स्वीकार करने के लिए उन्हें गोस्वामी तुलसीदास की महानता को भी चुनौती देनी पड़ी और उनके काव्य में दोष दिखाने पड़े।

आचार्य द्विवेदी की साहित्य-समीक्षा का प्रभाव न केवल साहित्य पर पड़ा वरन् उससे ज्ञान के प्रति स्पृहा उत्पन्न हुई। और इसका सम्बन्ध समाज, देश तथा जन-जीवन की वर्तमान अवस्था से बड़ी ही घनिष्ठता के साथ जुड़ा हुआ था। साहित्य का द्वार अब तक कुछ के लिए—विशिष्ट जनों के लिए ही उन्मुक्त था उसे सर्व-साधारण के लिए खोलने का श्रेय आचार्य द्विवेदी को है। वे साहित्य को सामान्य जनता के इतना पास ले आये कि दोनों एक दूसरे को पहचानने लगे। निम्न पंक्तियाँ इस पर प्रकाश डालती हैं—

द्विवेदीजी की कितनी ही ऐसी रचनाएं हैं जो पाठकों में सत्साहित्य के प्रति अनुराग और ज्ञान के प्रति स्पृहा उत्पन्न करने के लिए लिखी गई हैं और कितनी ही ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध देश और समाज की वर्तमान अवस्था से है। हिन्दी भाषा भाषियों में ज्ञान का जितना प्रचार द्विवेदीजी ने किया है उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं किया। द्विवेदी जी ने रजत शृङ्खला क्या तोड़ी हिन्दी साहित्य में सर्वसाधारण के लिए ज्ञान का द्वार ही उन्मुक्त कर दिया। [१]

द्विवेदीजी ने हिन्दी के पोषण के लिए अंग्रेजी का विरोध किया और यह देखकर आश्चर्य होता है कि द्विवेदीजी अंग्रेजी के विरोध के माध्यम से अंग्रेजी शासन व्यवस्था का विरोध कैसी कौशलपूर्ण शैली में कर रहे थे। उन्हें राजनीतिक गुलामी की अपेक्षा सांस्कृतिक गुलामी अधिक भयङ्कर लगी—

हाय री अंग्रेजी! तूने हमारे खाद्य और पेय पदार्थों में परिवर्तन कर दिया। तूने हमारे वस्त्र-परिच्छदों में अदल-बदल कर डाला यहाँ तक कि तूने हमारी मातृभाषा को भी तिरस्कृत कर दिया!!! अभागे हिन्दुस्तान को छोड़ कर धरती की पीठ पर एक भी ऐसा सभ्य देश नहीं जहाँ इस तरह की अस्वाभाविक बात होती हो। [२]

इस युग की समीक्षा का आशीर्वाद न केवल स्वतन्त्रता आन्दोलन को मिला

१ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ० ५३७।
२ सरस्वती, वर्ष १५, संख्या ४५ पृ० १६६।

था वरन् उसके नेता महात्मा गान्धी को महर्षि कहा जाता था। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने लिखा था—"गान्धीजी को आधुनिक साँचे में ढला हुआ प्राचीन महर्षि समझना चाहिए। उनके लेखों और व्याख्यानों में व्यक्त किए गए उनके विचारों से हम लोगों को यथाशक्ति लाभ उठाना चाहिए।"[1]

'पद्म-पराग' में समीक्षा का उपयोग लोक-कल्याण तथा राजनीति के हित के लिए किया गया है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने काव्य से शिक्षा लेने की प्रेरणा देते हुए लिखा है—

"इसमें लीडर लोग भगवान के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।"

कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन के समर्थक रहते हुए भी समीक्षकों ने समाज और नेता के सामने समर्पण बुद्धि से काम नहीं लिया। वे आन्दोलन के प्रतिक्रियावादी रूप को समझते थे तथा उसकी यथार्थवादी समीक्षा कर जनता को सच्ची तस्वीरें दिखाते रहते थे। प्रभाव उत्पन्न करने के लिए व्यंग का उपयोग किया गया और फब्तियाँ कसी गई—

"श्रीकृष्ण ने अपने सगे सम्बन्धी, पर अन्यायी दुर्योधन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। और एक आजकल के लीडर हैं जो कहीं निमन्त्रण पाने के प्रयत्न में रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं, कल उड़ती चिड़िया के द्वारा निमंत्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं। इन्हें ही लक्ष्य करके कवि ने कहा है—

कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ॥

इतिवृत्तात्मक युग ने रीतिकालीन मान्यताओं की अस्वीकृति का उद्घोष किया। इस युग की समीक्षा ने रीतिकालीन साहित्य को आर्षत्व से मुक्त माना और दरबारी संस्कृति का तीव्र विरोध किया। इससे काव्य सामान्य जनता के स्तर पर आया एवं उसमें लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों का समन्वय हो सका। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अमीर खुसरो की कविता के उस अंश को हेय माना जो दरबार के दबाव का परिणाम था—

१. सरस्वती, वर्ष १५, सं० ४५, पृ० १६६।

दिया गया था। समीक्षा में तत्कालीन नाटकों तथा अन्य साहित्यिक विधाओं को समक्ष रखकर सिद्धान्त निर्धारण हुआ। समीक्षा के जो उद्देश्य निश्चित हुए, जिनमें साहित्य की उन्नति साहित्य को सामान्य जनता तक पहुँचाना साहित्य को सामान्य जनप्रिय बनाना साहित्य की उपयोगिता स्पष्ट करना तथा साहित्य को रमणीय शिक्षाओं द्वारा जीवन को अधिक आनन्दमय बनाने की शिक्षा दिलाना आदि प्रमुख थे। द्विवेदीजी की साहित्य कसौटी जनमत पर आधारित होने के कारण व्यक्तिवादी समीक्षा की अपेक्षा सैद्धान्तिक समीक्षा के समाजवादी रूप को ही श्रेष्ठ मानती थी। इसलिए उन्होंने मिश्रबन्धुओं की भाववादी समीक्षा का खण्डन किया। आर्यसमाज के शास्त्रार्थों के समान समीक्षा क्षेत्र में भी उपस्थापनवाद का यथेष्ट प्रचार हुआ किन्तु उसका कारण लोकमङ्गल था। सामाजिकता की स्वीकृति का ही परिणाम यह था कि सैद्धान्तिक समीक्षा में रस को कसौटी के रूप में माना गया।

छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

डॉ० विनयमोहन शर्मा

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी साहित्य में नूतन चेतना का उदय हुआ। इसलिए नहीं कि उस पर युद्ध का सीधा प्रभाव पड़ा। पर पराधीन देश उससे अछूता बचा रहा, यह कहना भी गलत है। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय धन-जन की आहुति चढ़ाई गई (हमारे देश के चोटी के नेताओं ने भी उस समय युद्ध में सहायता प्रदान की) और जब मित्र राष्ट्र जीते तो भारतीयों को उनकी सेवा के उपलक्ष्य में दमनकारी कानूनों के शिकंजे में जकड़ कर रौंदा गया, पीसा गया। इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में हुई। गांधीजी के नेतृत्व में देश स्वाधीनता के लिए छटपटाने लगा, वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मार्ग से विद्रोह के पथ पर चलने लगा। देश की बाह्य क्रान्ति साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई।[1] इस समय हिन्दी कविता के दो रूप दिखलाई दिये। एक तो वह जिसमें देश की स्वाधीन भावना मुक्त कण्ठ से मुखरित हो रही थी—कवि अपने चारों ओर की उत्पीड़नमयी घटनाओं और जनता के रोष को अभिधा में व्यक्त कर रहे थे। ऐसे कवि राष्ट्रीय कवि कहलाये। दूसरा वह जिसमें धर्म-समाज-साहित्य की रूढ़ियों से विमुख हो कवि अपनी सत्ता को स्वच्छन्द रीति से प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहे थे। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि देश के बाह्य राजनीतिक विद्रोह में भाग लेने में अक्षमपन ने साहित्य के निरापद क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्दता वृत्ति का परिचय दिया। यही स्वच्छन्दतावाद आगे चलकर छायावाद-

---

१. "आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रान्ति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रान्ति का पुतला था। जिस क्रान्तिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुरवस्थाओं की अनुभूतियाँ तीव्र होती जा रही थीं, वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थी और मनुष्य की मनोदशा विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थी।"
—दिनकर (मिट्टी की ओर)

रहस्यवाद से अभिहित किया जाने लगा। ऐसे कवि छायावादी कहलाये पर हिन्दी छायावाद में स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कवि हार्डी, यीट्स या डी ला मेरे आदि का स्वच्छन्दतावाद नहीं है। उसमें तो रोमांटिक युग के वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, कालरिज आदि की आत्मा झांक रही है सीधे या बंगला माध्यम से।

जिस प्रकार अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद के कवियों ने कविता को पुरातन मान्यताओं का तिरस्कार कर उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार छायावादी कवियों ने कविता को देखने की नई दृष्टि दी, जिससे पूर्ववर्ती शास्त्रीय समीक्षा धीरे-धीरे दूर होकर कालेजीय विवेचना-दीवारों में सिमट कर रह गई। प्रसाद कहते हैं, "इस युग की ज्ञान सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचना-शैली का व्यापक प्रभाव क्रियात्मक रूप से दिखलाई देने लगा। किन्तु साथ ही साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही है।" प्रसाद ने भी साहित्य-कला की विवेचना करते समय भारतीय पारिभाषिक शब्दों का विस्मरण नहीं किया पर उनकी व्याख्या में आधुनिकता भरने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। वे कहते हैं, "यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रख कर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे ''' तो प्रमाद कर बैठने आशंका है।" इस तरह छायावादी कवि पाश्चात्य और भारतीय दोनों मान्यताओं को लेकर चले हैं। साहित्य क्या है ? कविता क्या है ? उसके प्रेरक स्रोत क्या हैं ? उसका भाव और बाह्य रूप-विधान (Form) से क्या सम्बन्ध है ? वह युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष ? आदि प्रश्नों पर उन्होंने विचार-चिन्तन किया है। प्रसाद ने काव्य को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।" वे 'काव्य और कला' में लिखते हैं, "वह (काव्य) एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" संकल्पात्मक मूल अनुभूति से 'प्रसाद' का तात्पर्य है "आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।" प्रसाद का "श्रेय 'सत्य ज्ञान' ही है जिसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उसे वे 'एक शाश्वत चेतनता या चिन्मयी ज्ञान धारा' कहते हैं जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। 'असाधारण अवस्था' युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है।"

'प्रसाद' की काव्य की यह रहस्यमयी व्याख्या आंग्ल-रोमेंटिक-युग के कवियों

की अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान के समान जान पड़ती है।

ब्लेक का कथन है, "Vision or imagination is representation of what externally Exists Really and Unchangeably." (भीतरी झलक या कल्पना बाह्यावस्थित शाश्वत सत्य का प्रतिनिधिकरण है)। काव्य प्रतिभा परम सत्य (Truth and Reality) को अनुभव करने की शक्ति का नाम है। प्रसाद का 'सत्य', 'शाश्वत चेतन' या 'चिन्मयी ज्ञानधारा' ब्लेक के 'Truth and Reality' से दूर नहीं है। वह भी इन्हें अपरिवर्तनशील कहता है। कॉलरिज भी कविता को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मानता है और उसमें 'भीतरी सत्य' का आभास पाता है।

अंग्रेजी रोमेंटिक कवि काव्य को प्रसाद के शब्दों में प्रायः 'आत्मा की अनुभूति' मानते है, क्योंकि वे उसमें आध्यात्मिकता का किसी न किसी रूप में समावेश करते हैं। प्रसाद की तरह डा० रामकुमार का मत है, "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।"

छायावादी कवि आंग्ल समीक्षकों के समान कविता के आत्मपरक (Subjective) और परात्मक (Objective) भेद को नही मानते। डा० रामकुमार कहते हैं, "जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय हो जाता है। 'मैं' चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण कर लेता है।" पं० माखनलाल का वक्तव्य है—"साँस और सूझ जिस तरह एक दूसरे के विद्रोही नहीं, उसी तरह विश्व के प्रलयंकर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण तथा दूसरी तरफ हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल दोनों में कहीं विद्रोह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान माँगती है और दूसरी ओर, वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उच्चतर समर्पण का प्रमाण चाहती है। एक कवि का निश्चय और दूसरी कवि की अनुभूति बनकर रहना चाहती है।" 'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध है—

> "मैंने 'मैं' शैली अपनाई,
> देखा एक दुखी निज भाई,
> दुख की छाया पड़ी हृदय में
> झर उमड़ वेदना आई।"

महादेवी कहती हैं—"जीवन का वह असीम और चिरंतन सत्य जो परिवर्तन

की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों को एकत्र सफल साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य जगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है, वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में, एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युग विशेष से सम्बन्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।"

कॉलरिज श्रेष्ठ कविता उसी को मानता है जिसमें कवि अपने सुख-दुःख से ऊपर उठकर सृष्टि के सुख दुःख में अपने को मिला देता है।[1] "Self regarding emotions यानी स्वार्थ सीमित भावनाओं में प्रपणीयता नहीं होती। पन्त 'आधुनिक कवि' में स्वीकार करते हैं— यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अपने मानसिक मंथन को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी। मैंने उनसे ऊपर उठने की चेष्टा की है।" बौद्धिकता और भावप्रवणता (Emotions) को पन्त एक मानते हैं।[2] प्रसाद ने भी बुद्धि और भाव, मन के ही दो रूप प्रतिपादित किये हैं।[3] अतः जो बाह्यात्मक (Objective) रचनाओं को बौद्धिक कहकर उनका इसलिए उपहास करते हैं कि उसमें कवि का मन नहीं रमा रहता, यह भ्रान्ति है। कवि को द्रवित होने के लिए उसी पर सीधी चोट पड़ना आवश्यक नहीं है। वह बाह्य वस्तु के माध्यम से भी पीड़ित हो सकता है। विधवा की करुण मानसिक स्थिति के अंकन के लिए कवि को स्वयं विधवा बनने की आवश्यकता नहीं। उसके हृदय की संवेदनशीलता विधवा के दुःख को कल्पना के माध्यम द्वारा ग्रहण कर सकती है। इसी से कल्पना को केवल 'बुद्धि-व्यापार' नहीं कहा जा सकता। वह कवि की संवेदनशीलता से जाग्रत होती है और उसमें स्वयं संवेदना भी भरती है। [गीतिकाव्य (Lyrical Poetry) में कवि के 'स्व' को देखना और अन्य रचनाओं में उसको तटस्थ कहना पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र का गड़बड़झाला है।] पन्त ने सजग हो 'स्व' और 'पर' में विभेदक पर्दा नहीं रहने दिया। इससे हिन्दी समीक्षा को एक नई दृष्टि ही मिली है।

---

१ 'So long as the poet gives utterances merely to the subjective feeling he has no right to the title" —Coleridge
२ "बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है।" (आधुनिक कवि, ८)
३ 'मनु'—अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है। 'कामायनी' (आमुख से)

काव्य की अभिव्यंजना के सम्बन्ध में छायावादियों में मतभेद है। अभिव्यंजना में भाषा, छन्द, अलंकार आदि का समावेश है। वह काव्य की वाह्य आकृति (Form) है। कलाकार के मन में कलाकृति का चित्र पूर्णरूप से उतर आता है, तभी अभिव्यक्ति में पूर्णता आती है। 'प्रसाद' कहते हैं—"जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।"[१]

भावाभिव्यंजना भाषा और प्रायः छन्द का रूप धारण करती है। भाषा भावानुगामिनी होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में 'पन्त' का आग्रह है—"कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ। जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों—।" (पल्लव) छायावादी कवियों ने भाषा को माधुर्य प्रदान करने में कम योगदान नहीं दिया। कहीं-कहीं तो इसी से कवि की अनुभूति उसी के आवरण मे ओझल हो गई। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जोर से कहना पड़ा कि छायावादी अभिव्यंजना पर ठहर गये है, उनकी भावना का स्रोत सूख गया है। 'प्रसाद' ने छायावादी रचना को अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर कर दिया। उन्होंने कहा—"ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"[२]

भाषा में 'प्रतीक' शब्दों के प्रयोग की ओर छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहा है। उसने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द की ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँट कर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमल कलेवर दिया।[३] निराला भी भाषा को 'भावों की अनुगामिनी' मानते है और यह भी कि, "बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही।" छायावादियों ने भाषा की पुष्टि और भावों में तीव्रता भरने के लिए अलंकारों का उपयोग किया है। 'पन्त' उन्हें 'राग को परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान'[४] कहते हैं। जीवन में एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम लाने के लिए 'पन्त' काव्य में छन्द की आवश्यकता अनुभव करते हैं। "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों

१. 'काव्य और कला'।
२. वही, पृ० १४६।
३. महादेवी : 'आधुनिक कवि', पृ० १०।
४. 'पल्लव' की भूमिका।

ही म अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। संस्कृत के वर्णवृत्त हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल है क्योंकि उनकी लहरों म उसकी धारा अथवा चचल नृत्य अपनी नैसर्गिक मुखरता कलरव छलछल तथा अपने क्रीडा कौतुक खो एक साथ खो बैठती उसका हास्य-दृप्त सरल मुख मुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती उसका चचल भृकुटि भंग स्मितावली गरिमा से दब जाता है। भगवतीचरण वर्मा मुक्त छन्द की कविता को अधिक से अधिक गद्यकाव्य मानते हैं। कविता नहीं।[1] दिनकर कविता म छन्द को स्वाभाविक मानते हैं। क्योंकि छन्द स्पदन समग्र सृष्टि म व्याप्त है। क्या हो नहीं जीवन की प्रत्येक शिरा म यह स्पदन एक नियम से चल रहा है। सूर्य चन्द्र ग्रहमण्डल और विश्व की प्रगतिमात्र म एक लय है जो समय के तार पर गति लेते हुए अपना काम कर रही है।[2] 'लय' और 'ताल' पर महत्त्व देने के कारण ही नई छायावादियों ने भाषा के व्याकरण की अधिक परवाह नहीं की। द्विवेदी-युग म जहाँ कविता परम्परागत अलकार छन्द म वस्तु-कथन का शास्त्र बन गई थी वहाँ छायावाद-युग म कवियो ने उस परखने का एक नया दृष्टिकोण प्रचलित किया। वस्तु के साथ भावों का मेल किया और उसे कला के साथ समन्वित करने का प्रयास कर क्रोचे के शब्दों म Intuition and Expression का सुन्दर गठबन्धन किया।

उनके सामने जीवन को देखने का भी प्रश्न था— जीवन ऐसा होना चाहिए जीवन ऐसा है और जीवन सबसे पृथक है की समस्या उनके सामने खडी थी। जीवन ऐसा होना चाहिए म आदर्शवाद जीवन ऐसा है म यथार्थवाद और जीवन सबसे पृथक है म व्यक्तिवाद आ जाता है।

महादेवी ने आदर्श और यथार्थ दोनो पर विचार किया है। आदर्श हमारी दृष्टि को मलिन सकीर्णता धोकर उस विस्तृत यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामजस्य को देखने की शक्ति देता है। हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खडित भावना को अखड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। । यथार्थ स्थूल बन्धनों के भीतर निश्चित स्थिति रखता है। आदर्श का सत्य निरपेक्ष है परन्तु यथार्थ की सीमा के लिये सापेक्षता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य रहेगी। आदर्शवादी कलाकार अपनी सृष्टि को अन्तर्जगत म घर लेता है और यथार्थवादी अपने निर्माण को केवल बाह्य

---

१ प्रगतिशील कविता पर रेडियो प्रसारित परिसवाद।

२ मिट्टी की ओर पृ० १२१।

जगत् में बिखरा देता है।" पर यथार्थवादी कवि का 'कर्म' सहज नहीं है। महादेवी उसमें अशिवत्व-तत्त्व नहीं देखना चाहतीं। महादेवी जीवन में ऐसे आदर्श को अपनाना चाहती हैं जिसे प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है। ऐसा आदर्श जो यथार्थ के संकेत छोड़ जाता है। 'बच्चन' आदर्श और यथार्थ दोनों से स्फूर्ति पाते हैं। उनका इंगित है "देखते नहीं कि उसका (कवि का) एक हाथ उपवन में खिली चमेली का हिम-कण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तमोमय साम्राज्य में निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खींच रहा है, देखते नहीं उसका एक कान निर्झरणी की रागिनी श्रवण कर रहा है और दूसरा कान इन्द्र के अखाड़ों में खड़े हुए संघर्ष, किन्नर और अप्सराओं के आलाप का आनन्द ले रहा है।"[1] आज हिन्दी में जिस यथार्थवादी साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है, उस सम्बन्ध में छाया-वादियों का दृष्टिकोण यह है कि वे इन यथार्थवादी रचनाओं में कवि का 'यथार्थ' पाते ही नहीं। 'प्रसाद' का मत है, "यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है—समाज कैसा है या था।" प्रसाद आदर्शवाद के भी भक्त नहीं हैं। क्योंकि 'आदर्श-वादी' धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वे साहित्य को इन दोनो 'वादों' से ऊपर उठा ले जाते हैं। वे आदर्श और यथार्थ का मेल कराते है। कहते हैं—"दुःख दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"

महादेवी भी यथार्थवाद को 'जीवन का इतिवृत्त' (इतिहास) कहती हैं। इसीलिए वह 'प्रकृति और विकृति' दोनों चित्र देने के लिए स्वतन्त्र हैं। पर जीवन मे विकृति अधिक प्रसारगामिनी है। परिणामतः यथार्थ की रेखाओं में यही बार-बार व्यक्त होती रहती है। "अतः महादेवी जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियों को प्रगति देने वाले प्रकृति-चित्रकार को सच्चा यथार्थवादी मानती हैं। पर आज की 'यथार्थवादिनी' कविता ऐसे 'कण्ठ' से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित है।" 'महादेवी' और 'प्रसाद' चूंकि यथार्थ जगत् के भौतिक जीवन से अधिक परिचित नहीं हो पाये इसलिए उनमे उसके प्रति तीव्र संवेदना नहीं जाग सकी। पन्त की भी यही स्थिति है—उनकी भी यथार्थ मानव जीवन के प्रति 'बौद्धिक सहानुभूति' रही है। प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श की उपयोगिता को नष्ट होते देख कर भी 'पन्त' ने आदर्श से विद्रोह नहीं किया, पर यथार्थ की उपेक्षा भी नहीं की, दोनों का समन्वय करके कविता का एक नया 'तन्त्र' उन्होंने देना चाहा—"मेरा विश्वास है, लोकसंगठन तथा मनःसंगठन एक दूसरे के पूरक हैं। क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।"—(उत्तरा) "आज

१. मधुबाला-प्रलाप, पृ० १०-११।

व्यक्ति कभी व्यक्ति से असन्तुष्ट होकर समाज की ओर मुड़ता है कभी समाज से असन्तुष्ट होकर व्यक्ति की ओर।" पन्त की धारणा है, 'इन दोनों किनारों पर उन्हें अपनी मन्ज़िल का स्पन्दन नहीं मिलता।' इसीलिए वे 'बहिरन्तर' जीवन के समन्वय को ही महत्त्व देते हैं। इस तरह 'पन्त' साहित्य में समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह दृष्टिकोण 'प्रसाद' के 'समरसता' का पर्याय कहा जा सकता है।

छायावादी कवि राजनीति के दायरे में अपने को नहीं बाँधना चाहते।

'निराला' के शब्दों में 'एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है। साहित्यिक मनुष्य की प्रवृत्तियों को ही श्रेय देता है, जीवन के साथ राजनीति का नहीं साहित्य का सम्बन्ध है।' दिनकर भी साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते। 'कला क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सर्वथा अनिषेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने आपके प्रति पूर्ण रूप से इमानदार रहे।'[१]

संक्षेप में, छायावादी कवियों में प्रायः अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों की प्रवृत्ति पायी जाती है। उनमें साहित्य की रूढ़ मान्यताओं के प्रति अनास्था की तीव्रता न होते हुए भी उनसे आग्रहपूर्वक लगाव भी नहीं है। वे कविता को अन्तर्बाह्य अनुभूति का परिणाम मानते हैं। इसलिए उनके आत्मपरक और परात्मक भेद को बहुधा नहीं मानते। अन्तर में 'मधुर मधुर मेरे दीपक जल' की मनुहार करने वाली महादेवी और 'मेरे नगपति मेरे विशाल' पर दृष्टि जमाने वाले दिनकर एक ही पंक्ति में बैठते हैं। दिनकर की बाह्य दृष्टि होने पर उसका बिम्ब उनके अन्तरपट पर ही पड़ता है। इसी प्रकार छन्दों की रूढ़ता से विरक्ति दिखाने पर भी उन्हें त्यागने के स्थान पर नूतन छन्दों की खोज में वे व्यस्त दीखते हैं। भाषा में बाह्य शृंगार से उन्हें प्रेम है। प्रकृति के प्रति तादात्म्य प्रदर्शित कर वे उससे स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी अभिन्नता स्थापित करना उनका ध्येय है। साहित्य को युगापेक्षी बनाना उनका लक्ष्य नहीं है। पर युग-चेतना से वे अनुप्राणित भी होना चाहते हैं।

वे भावपक्ष पर आग्रह प्रदर्शित करते हैं। इसलिए भारतीय रसवादी हैं। वे कला पक्ष के प्रति सहज ममता रखते हैं। इसलिए पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी हैं। उनमें भाव और कला दोनों को समान अनुभव करने की प्रवृत्ति है। इसलिए उनका दृष्टिकोण 'समरसता' अथवा 'समन्वय' का है।

---

१ मिट्टी की ओर।

नवीन धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था तथा साहित्य

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

देश की संस्कृति के रक्षक राजवंशों के हट जाने और विदेशी शासन के हो जाने पर यद्यपि मध्यदेश की जनता राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में असमर्थ रही किन्तु उसने देश की संस्कृति की विदेशी धर्म और संस्कृति से रक्षा करने की दृष्टि से अपने को तुरन्त ही समयानुसार सुसंगठित किया। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि अब तक देश की सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और संचालन का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ देश के शासकों के हाथ में था, किन्तु विदेशी शासकों के हो जाने पर अब यह सम्भव नहीं था, अतः समाज को यह कार्य अपने हाथों में लेना पड़ा। भारतीय समाज की अवस्था मैदान में पड़ी हुई उस सेना के समान थी जिसका सेनानायक मारा गया हो और इसलिए प्रत्येक टुकड़ी के नायक पर अपनी टुकड़ी की रक्षा का भार आ पड़ा हो।

फलतः हम यह पाते हैं कि देश के परम्परागत भौगोलिक विभाग और उनके अन्तर्गत देशों के श्रेणी-विभागों के हाथ में संगठन और रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व आ गया, अर्थात् प्रत्येक जनपद के भिन्न-भिन्न पेशों की पंचायतों के हाथ में सम्पूर्ण सामाजिक अधिकार चला गया। इसी कारण इस काल में जनपद प्रदेशों के अनुसार 'हिन्दू' समाज में पृथक्-पृथक् उपजातियों अथवा बिरादरियों का सगठन और विकास हुआ। उदाहरण के लिए मथुरा प्रदेश (शूरसेन जनपद) के ब्राह्मणों या कायस्थों की, अथवा कान्यकुब्ज प्रदेश (पंचाल जनपद) के ब्राह्मण, कायस्थ या अन्य वैश्य वर्गों की पृथक्-पृथक् उपजातियाँ बन गईं। केवल अपने प्रदेश की अपनी उपजाति ही ठीक-ठीक देख-रेख कर सकती थी और प्रादेशिक उपजाति विशेष पर दबाव डाल सकती थी।

सामाजिक नियम तोड़ने वालों को दण्ड देने का अधिकार अभी तक राजा को प्राप्त था। अब विदेशी शासकों के होने के कारण यह दण्ड विधान भी समाज को

अपने हाथ में लेना पड़ा। छोटा अपराध करने पर उपजाति की पंचायत, साथ का खाना-पीना बन्द करके अपराधी व्यक्ति को आगाह करती थी। बड़ा अपराध करने पर विवाह सम्बन्ध विच्छेद करके उस व्यक्ति अथवा परिवार को समाज से बिलकुल पृथक कर देती थी। वर्तमान हिन्दू जातियों तथा उपजातियों के अन्दर रोटी-बेटी का बंधन और महत्त्व इसी प्रकार इस काल में विकसित हुआ और इसी कारण रोटी-बेटी सम्बन्ध की सीमा साधारणतया प्रत्येक जनपद तथा प्रदेश की एक एक पेशे वाली जनता तक सीमित रही जैसे माथुर ब्राह्मणों का रोटी-बेटी सम्बन्ध केवल माथुर ब्राह्मणों तक, माथुर कायस्थों का रोटी-बेटी सम्बन्ध केवल माथुर कायस्थों तक इत्यादि।

आत्मरक्षा के इस प्रबन्ध के साथ-साथ विदेशियों के साथ सामाजिक असहयोग का ऐसा विराट आयोजन किया गया कि जिसके आगे आधुनिक काल का राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्धित असहयोग आन्दोलन बिलवाड़ [खिलवाड़] पड़ता है। आक्रमणकारी विधर्मियों अथवा उनके धर्म और संस्कृति ग्रहण कर लेने वाले भारतीयों ने अपने को पृथक रखने का यत्न किया गया यहाँ तक कि मृत्यु या जन्म आदि के अवसरों पर भी आने जाने आदि किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखा जाता था। जो भारतीय विदेशी शासन में साधारणतया सहयोग देते थे या किसी तरह उनकी संस्कृति का अनुकरण करते थे उनको भी नीची दृष्टि से देखा जाता था। मध्यदेश के कायमारी ब्राह्मण और कायस्थों को हिन्दू समाज इसी कारण घृणा की दृष्टि से देखती थी।

इस दोहरी व्यवस्था के फलस्वरूप लगभग ६०० वर्ष तक समाज ने आत्मरक्षा की और मुसलमानी शासन के समाप्त होने पर भी जीवित बनी रही। हिन्दू समाज की जाति-व्यवस्था की जहाँ निन्दा की जाती है वहाँ उसका उपयुक्त दूसरा ऐतिहासिक और व्यावहारिक पहलू भी है। यह सामाजिक व्यवस्था आत्मरक्षा के लिए तो अत्यन्त सफल सिद्ध हुई—इसी के लिए इसका निर्माण भी किया गया था—किन्तु सुसंगठित होकर आक्रमण करने तथा स्वतन्त्र होने की शक्ति इससे पैदा नहीं हो सकती थी। किन्तु इस असाधारण काल में जब कि संस्कृति के जीवित रख सकने की समस्या सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या थी यह दूसरा दृष्टिकोण महत्त्व नहीं रखता था। दोनों कार्यों को साथ-साथ चलाना असम्भव था। मुसलमानी शासन ऐसा उदार नहीं था जिसमें केवल सामाजिक संगठन की शक्ति से सफलता मिल सकती। वह तो सैनिक शासन था। ईसाई यूरोपीय आर्यों वाले बाद के विदेशी शासन का वातावरण इससे बहुत भिन्न उदार और सभ्य था। ऐतिहासिक तुलनाओं से ही वास्तविक तथ्य का पता चलता है।

आत्मरक्षा की दृष्टि से ही संरक्षक पति के न रहने पर विधवा के सती हो

जाने की प्रथा को समाज ने देशकाल की दृष्टि से बुरा नहीं समझा। राजपूतों की जौहर की प्रथा भी इसी का एक प्रकार का सामूहिक रूप था। रक्षा के उत्तरदायित्व को बाँटने की दृष्टि से कन्याओं का विवाह धीरे-धीरे छोटी अवस्था में होने लगा। माँ-बाप तथा अभिभावक लड़कियों की रक्षा के उत्तरदायित्व से घबड़ाते थे और इससे शीघ्र मुक्त हो जाना चाहते थे। इसी कारण उस समय के धर्मशास्त्रों में इस सम्बन्ध में नियम बनाये गये अथवा पुराने धर्मशास्त्रों या उनकी टीकाओं में आवश्यक परिवर्धन तथा परिवर्तन किये गये। यह भय यहाँ तक अति को पहुँचा कि कुछ परिवारों में कभी-कभी लड़की को जन्म होते ही मार डाला जाता था। इसी कारण मध्यदेश में उच्च परिवारों में या नगरों में, जहाँ विधर्मी अधिक संख्या में बसते थे, स्त्रियों को घर से बाहर कम से कम निकलने दिया जाता था। पर्दे के रिवाज का एक सहायक कारण विदेशियों का अनुकरण भी हो सकता है क्योंकि इनमें स्त्रियों को परदे में रखने का रिवाज था। जो हो इन सब कारणों के फलस्वरूप हिन्दू समाज के उच्चवर्ग में इस काल में स्त्रियों का स्थान निम्नतम कोटि पर पहुँच गया और प्राचीन आदर्श बहुत-सी बातों में भुला दिये गये। यों परिवार के अन्दर साधारणतया स्त्री के प्रति, विशेषतया उसके माता के पद के सम्बन्ध में, मान की भावना थी और उसके अधिकार बहुत-कुछ सुरक्षित रहे, यद्यपि परिस्थितियों के फलस्वरूप वे बहुत-कुछ विकृत भी अवश्य हो गये थे।

देश और जनता के नाम में भी प्रथम विदेशी सम्पर्क के फलस्वरूप परिवर्तन हुआ। क्योंकि मुसलमान पहले-पहल सिन्धु प्रदेश में आये थे, जिसे वे हिन्दु कहते थे, फलतः आगे चलकर उत्तर भारत और विशेषतया मध्यदेश में आने पर उसे भी ये लोग हिन्द या हिन्दुस्तान नाम से पुकारने लगे। इस तरह से समस्त भारतवर्ष का ही हिन्द या हिन्दुस्तान नाम पड़ गया। यूरोपीय नाम इंडिया ईरानी हिन्द का विकृत रूप है। भारतीयों को ये विदेशी हिन्दू कहते थे। धीरे-धीरे हिन्दू शब्द भारतीय संस्कृति और धर्म के अनुयायी के लिए प्रयुक्त होने लगा। विदेशी शासकों के प्रभाव के फलस्वरूप इन शब्दों का देश की जनता में भी धीरे-धीरे प्रचार हुआ। इसी प्रकार क्योंकि उत्तर भारत में जनता को तुर्की आक्रमणकारियों के सम्पर्क में आना पड़ा था इसलिए सब विदेशी मुसलमानों के लिए तुर्क या तुरुक शब्द का प्रयोग होता था और इसके विरोध में भारतीय संस्कृति और धर्म का अवलम्बी हिन्दू कहलाता था। हिन्दू वास्तव में किसी धर्म विशेष का नाम नहीं है। यह परम्परागत भारतीय संस्कृति और धर्म का प्रतीक है। यों साधारणतया समस्त हिन्दवासियों को हिन्दी कहा जाता था, जैसे तुर्की मुसलान, हिन्दी मुसलमान। मध्यदेश की समकालीन प्रधान भाषा को हिन्दुई या हिन्दवी या हिंदी नाम से विदेशी पुकारते थे। इस शब्द का यह अंतिम हिन्दी रूप मध्यदेश की आधुनिक भाषा के लिए अपना लिया गया। हिन्दुस्तान शब्द

अपने हाथ न लेना पड़ा। छोटा अपराध करने पर उपजाति की पंचायत, साथ का खाना-पीना बन्द करके अपराधी व्यक्ति को आगाह करती थी। बड़ा अपराध करने पर विवाह सम्बन्ध विच्छेद करके उस व्यक्ति अथवा परिवार को समाज से बिलकुल पृथक् कर देती थी। वर्तमान हिन्दू जातियों तथा उपजातियों के अन्दर रोटी-बेटी का बन्धन और महत्त्व इसी प्रकार इस काल में विकसित हुआ और इसी कारण रोटी-बेटी सम्बन्ध की सीमा साधारणतया प्रत्येक जनपद तथा प्रदेश की एक-एक पत्र वालों जनता तक सीमित रही, जैसे माथुर ब्राह्मणों का रोटी-बेटी सम्बन्ध केवल माथुर ब्राह्मणों तक माथुर कायस्थों का रोटी-बेटी सम्बन्ध केवल माथुर कायस्थों तक, इत्यादि।

आत्म रक्षा के इस प्रबन्ध के साथ-साथ विदेशियों के साथ सामाजिक असहयोग का ऐसा विराट आयोजन किया गया कि जिसके आगे आधुनिक काल का राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्धित असहयोग आन्दोलन खिलवाड़ दिखलाई पड़ता है। आक्रमणकारी विधर्मियों अथवा उनके धर्म और संस्कृति ग्रहण कर लेने वाले भारतीयों से अपने को पृथक रखने का यत्न किया गया, यहाँ तक कि मृत्यु या जन्म आदि के अवसरों पर भी आने जाने आदि किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखा जाता था। जो भारतीय विदेशी शासन में साधारणतया सहयोग देते थे या किसी तरह उनकी संस्कृति का अनुकरण करते थे उनको भी नीची दृष्टि से देखा जाता था। मध्यदेश के कश्मीरी ब्राह्मण और कायस्थों को हिन्दू समाज इसी कारण शंका की दृष्टि से देखता थी।

इस दोहरी व्यवस्था के फलस्वरूप लगभग ६०० वर्ष तक समाज ने आत्मरक्षा की और मुसलमानी शासन के समाप्त होने पर भी जीवित बनी रही। हिन्दू समाज की जाति-व्यवस्था की जहाँ निन्दा की जाती है वहाँ उसका उपर्युक्त दूसरा ऐतिहासिक और व्यावहारिक पहलू भी है। यह सामाजिक व्यवस्था आत्मरक्षा के लिए तो अत्यन्त सफल सिद्ध हुई—इसी के लिए इसका निर्माण भी किया गया था—किन्तु सुसंगठित होकर आक्रमण करने तथा स्वतन्त्र होने की शक्ति इससे पैदा नहीं हो सकती थी। किन्तु इस असाधारण काल में जब कि संस्कृति के जीवित रख सकने की समस्या सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या थी, यह दूसरा दृष्टिकोण महत्त्व नहीं रखता था। दोनों कार्यों को साथ-साथ चलाना असम्भव था। मुसलमानी शासन ऐसा उदार नहीं था जिसमें केवल सामाजिक संगठन की शक्ति से सफलता मिल सकती। वह तो सैनिक शासन था। ईसाई यूरोपीय आदर्शों वाले बाद के विदेशी शासन का वातावरण इससे बहुत भिन्न, उदार और सभ्य था। ऐतिहासिक तुलनाओं से ही वास्तविक तथ्य का पता चलता है।

आत्मरक्षा की दृष्टि से ही संरक्षक पति के न रहने पर विधवा के सती हो

जाने की प्रथा को समाज ने देशकाल की दृष्टि से बुरा नहीं समझा। राजपूतों की जौहर की प्रथा भी इसी का एक प्रकार का सामूहिक रूप था। रक्षा के उत्तरदायित्व को बाँटने की दृष्टि से कन्याओं का विवाह धीरे-धीरे छोटी अवस्था में होने लगा। माँ-बाप तथा अभिभावक लड़कियों की रक्षा के उत्तरदायित्व से घबड़ाते थे और इससे शीघ्र मुक्त हो जाना चाहते थे। इसी कारण उस समय के धर्मशास्त्रों में इस सम्बन्ध में नियम बनाये गये अथवा पुराने धर्मशास्त्रों या उनकी टीकाओं में आवश्यक परिवर्धन तथा परिवर्तन किये गये। यह भय यहाँ तक अति को पहुँचा कि कुछ परिवारों में कभी-कभी लड़की को जन्म होते ही मार डाला जाता था। इसी कारण मध्यदेश में उच्च परिवारों में या नगरों में, जहाँ विधर्मी अधिक संख्या में बसते थे, स्त्रियों को घर से बाहर कम से कम निकलने दिया जाता था। पर्दे के रिवाज का एक सहायक कारण विदेशियों का अनुकरण भी हो सकता है क्योंकि इनमें स्त्रियों को परदे में रखने का रिवाज था। जो हो इन सब कारणों के फलस्वरूप हिन्दू समाज के उच्चवर्ग में इस काल में स्त्रियों का स्थान निम्नतम कोटि पर पहुँच गया और प्राचीन आदर्श बहुत-सी बातों में भुला दिये गये। यों परिवार के अन्दर साधारणतया स्त्री के प्रति, विशेषतया उसके माता के पद के सम्बन्ध में, मान की भावना थी और उसके अधिकार बहुत-कुछ सुरक्षित रहे, यद्यपि परिस्थितियों के फलस्वरूप वे बहुत-कुछ विकृत भी अवश्य हो गये थे।

देश और जनता के नाम में भी प्रथम विदेशी सम्पर्क के फलस्वरूप परिवर्तन हुआ। क्योंकि मुसलमान पहले-पहल सिन्धु प्रदेश में आये थे, जिसे वे हिन्द कहते थे, फलतः आगे चलकर उत्तर भारत और विशेषतया मध्यदेश में आने पर उसे भी ये लोग हिन्द या हिन्दुस्तान नाम से पुकारने लगे। इस तरह से समस्त भारतवर्ष का ही हिन्द या हिन्दुस्तान नाम पड़ गया। यूरोपीय नाम इंडिया ईरानी हिन्द का विकृत रूप है। भारतीयों को ये विदेशी हिन्दू कहते थे। धीरे-धीरे हिन्दू शब्द भारतीय संस्कृति और धर्म के अनुयायी के लिए प्रयुक्त होने लगा। विदेशी शासकों के प्रभाव के फलस्वरूप इन शब्दों का देश की जनता में भी धीरे-धीरे प्रचार हुआ। इसी प्रकार क्योंकि उत्तर भारत में जनता को तुर्की आक्रमणकारियों के सम्पर्क में आना पड़ा था इसलिए सब विदेशी मुसलमानों के लिए तुर्क या तुरुक शब्द का प्रयोग होता था और इसके विरोध में भारतीय संस्कृति और धर्म का अवलम्बी हिन्दू कहलाता था। हिन्दू वास्तव में किसी धर्म विशेष का नाम नहीं है। यह परम्परागत भारतीय संस्कृति और धर्म का प्रतीक है। यों साधारणतया समस्त हिन्दवासियों को हिन्दी कहा जाता था, जैसे तुर्की मुसलान, हिन्दी मुसलमान। मध्यदेश की समकालीन प्रधान भाषा को हिन्दुई या हिन्दवी या हिंदी नाम से विदेशी पुकारते थे। इस शब्द का यह अंतिम हिन्दी रूप मध्यदेश की आधुनिक भाषा के लिए अपना लिया गया। हिन्दुस्तान शब्द

के आधार पर हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग विशेषतया यूरोपीय लेखकों ने प्रारम्भ किया था। हिन्दी भाषा की फारसी गर्भित साहित्यिक शैली के लिए उर्दू शब्द का प्रयोग बाद का गढ़ा गया यद्यपि अब तो यह इस अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार देश के लिए हिन्द या हिंदुस्तान देशवासियों के लिए हिंदू, तथा भाषा के लिए हिन्दी ये सब के सब शब्द इस प्रथम विदेशी सम्पर्क की देन हैं। इनमें पहले दो शब्द तो समस्त भारत के लिए तथा परंपरागत संस्कृति पर मुदृढ़ रहने वाले समस्त भारतीयों के लिए प्रयुक्त होने लगे। अंतिम शब्द अधिक सीमित अर्थ में मध्यदेश की आधुनिक प्रधान आर्यभाषा के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

बौद्ध धर्म, जो इस काल के आरम्भ में मगध के बौद्ध भिक्षुओं और विद्यापीठों में अब तक चल रहा था विदेशी आक्रमणकारियों ने आमूल नष्ट कर दिया। जैन धर्म के केन्द्र पहले ही हट कर राजस्थान तथा गुजरात की ओर चले गये थे। वे वहाँ बने रह सके। पौराणिक कालीन देवताओं के विशाल वैष्णव और शैव-मंदिर, जो इस समय मथुरा, कान्यकुब्ज, काशी, अयोध्या, उज्जैन आदि मध्यदेश के प्रधान नगरों की शोभा बढ़ाते थे, सब के सब नष्ट कर दिये गये और प्रायः इनके स्थान पर मस्जिदें बना दी गईं जो आज तक मौजूद हैं। इसी कारण मुसलमानों के आक्रमण के पहले के मन्दिर केवल दक्षिण भारत में, कुछ छोटे मन्दिर राजस्थान या बुंदेलखण्ड आदि के प्रदेशों में बचे रह गये हैं। गंगा की घाटी के नगरों में इनमें से एक भी बचा नहीं रह सका।

नवीन परिस्थिति के फलस्वरूप परम्परागत पौराणिक धर्म के रूप में परिवर्तन आवश्यक हो गया। यह हम सन्त-सम्प्रदायों और भक्ति-सम्प्रदायों के रूप में पाते हैं। इनका विकास भी लगभग विदेशी आक्रमण के दो-तीन शताब्दी बाद धीरे धीरे मध्यदेश में हो सका। सन्त-सम्प्रदायों में कई धार्मिक भावनाओं का सम्मिश्रण हुआ। मगध के सिद्धों द्वारा चलाये हुए नाथ-सम्प्रदाय से सन्त-सम्प्रदायों ने योग और तपश्चर्या का सिद्धान्त अपनाया, उपनिषदों की परम्परा, वेदान्त तथा ईरान के सूफी मुसलमान फकीरों से, जो इस समय बहुत बड़ी संख्या में यात्रा करने लगे थे या जगह-जगह बस गये थे, इन्होंने एकेश्वरवाद का आदर्श लिया। स्वयं सूफियों ने भी यह सिद्धान्त भारतीय उपनिषद् और वेदान्त के प्रभाव के फलस्वरूप सीखा था। दक्षिण भारत के वैष्णव आचार्यों के आंदोलन से प्रभावित होकर सन्त सम्प्रदायों में भक्ति की भावना आई। परम्परागत बौद्ध और जैन धर्मों तथा इस्लाम से प्रभावित होकर इन्होंने समाज में ऊँच-नीच की भावना मिटाने का सन्देश अपनाया। इस खिचड़ी से जो धार्मिक सम्प्रदाय बने वे सत-सम्प्रदाय या पंथ कहलाये, जिन में कबीर सम्प्रदाय, नानक सम्प्रदाय, दादूपंथ, मलूकदासी आदि मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः समाज के निम्न वर्ग तक सीमित रहा। ऊँचे वर्ग इन में विदेशीपन की गंध अनुभव करते थे।

ऊँचे वर्गों ने सन्त सम्प्रदायों के स्थान पर भक्ति-सम्प्रदायों को अपनाया जो कि परम्परागत राम, कृष्ण अथवा शिव की उपासना को आधार मानकर चलते थे। इन पौराणिक देवताओं की साधारण पूजा के स्थान पर इनके प्रति भक्ति या पूर्ण आत्म-समर्पण अथवा उत्कट प्रेम की भावना इस समय प्रमुख हो गई थी। इस दृष्टि-कोण का प्रारम्भ दक्षिण भारत में हुआ था। १२वीं शताब्दी के लगभग दक्षिण के चार वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव भक्ति को शास्त्रीय रूप दिया और फिर इनके द्वारा स्थापित सम्प्रदायों के प्रभाव के फलस्वरूप यह संदेश उत्तर भारत में आया और बहुत शीघ्र लोकप्रिय हो गया।

मध्यदेश में इसके प्रचार का श्रेय रामानुज की शिष्य-परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले स्वामी रामानंद को है। इन्होंने राम-भक्ति का प्रचार किया और राम के जन्मस्थान के निकटवर्ती प्रदेश में इसका स्वाभाविकतया विशेष प्रचार हुआ। इसी आन्दोलन के फलस्वरूप अयोध्या, चित्रकूट आदि रामचन्द्रजी से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों का जीर्णोद्धार हुआ और राम-नाम और राम-महिमा का जनता में प्रचार हुआ। पश्चिम मध्यदेश, विशेषतया मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, कृष्णभक्ति का केन्द्र बना और इसका विशेष प्रचार महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके द्वारा स्थापित पुष्टिमार्ग या वल्लभ-सम्प्रदाय के द्वारा हुआ। बाद को राधावल्लभ सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय आदि और भी अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय स्थापित हुए। इन वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों के साथ-साथ शिवभक्ति तथा शक्ति की पूजा चलती रही, किन्तु इस काल के प्रतिनिधि धार्मिक आन्दोलन सन्त सम्प्रदाय तथा वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय ही कहे जायेंगे।

इन भक्ति-सम्प्रदायों के लोकप्रिय होने के अनेक कारण थे। साहित्यिक दृष्टि से गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी की तरह सन्तों तथा वैष्णवों ने जनता की भाषा को अपनाया। गीतिकाव्य के माध्यम का कारण भी यही था। फलस्वरूप सर्वसाधारण तक इनके सन्देश की पहुँच हो सकी और शीघ्रता से इसका प्रचार हो सका। इसके अतिरिक्त वैदिक या पौराणिक धर्मों की अपेक्षा इन सम्प्रदायों ने सामाजिक उदारता का सन्देश दिया, किसी ने कम किसी ने अधिक।

इस बात में भी ये सम्प्रदाय बौद्ध और जैन सुधारों से मिलते-जुलते थे। धार्मिक दृष्टि से इनका रूप कम-से-कम प्रारम्भ में, अत्यन्त सरल था—न अधिक धन की अपेक्षा रखने वाले जटिल कर्मकाण्ड की इनमें आवश्यकता पड़ती थी और न किसी ऊँचे दार्शनिक ज्ञान की ही। सम्भव है कि राजनीतिक दृष्टि से असहाय अवस्था ने भी किसी इष्टदेव के प्रति आत्मसमर्पण और पूर्ण श्रद्धा के इस सन्देश को अधिक लोक-प्रिय बना दिया हो। जो हो, १४वीं, १५वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर यह भक्ति

सम्प्रदाय बहुत शीघ्रता से मध्यदेश की जनता में फैल गये और आज तक चल रहे हैं। बौद्ध और जैन धर्म के समान इनके प्रवर्तक भी व्यक्तिविशेष थे और इनकी गुरु-शिष्य परम्परा चलती है। इसी कारण इनमें गुरु का महात्म्य विशेष हुआ। अहिंसात्मकता, कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा पौराणिक कथानकों का आधार इन्होंने देश की परम्परागत धार्मिक विचारावली से ज्यों का त्यों ले लिया।

इस काल में पहुँचते-पहुँचते वैदिक धर्म से जनता बिलकुल अपरिचित हो गई थी, यद्यपि वेद के नाम के प्रति आदर की भावना अब भी चल रही थी। वैदिक कर्मकाण्डी तथा दार्शनिक मीमांसक तो काशी, मिथिला आदि प्राचीन केन्द्रों में इने-गिने ब्राह्मण पंडितों तक सीमित रह गये थे।

विदेशी शासकों का इस्लाम धर्म इस समय राजधर्म था। उसके प्रचार के सम्बन्ध में शासकों ने हर तरह का निरन्तर उद्योग किया। हिन्दुओं पर विशेष टैक्स—जजिया—लगाया गया। धर्म-परिवर्तन करने पर टैक्स हटा लिया जाता था। मुसलमान हो जाने पर विशेष मान और अधिकार दिये जाते थे। अपराध करने पर धर्म-परिवर्तन से व्यक्ति दण्ड से मुक्त कर दिये जाते थे। लगभग ६०० वर्ष तक इस प्रकार के अनेक उद्योग करने पर भी अन्त में मध्यदेश में इस्लाम ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की संख्या नौ दस प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकी। इनमें कदाचित् एक प्रतिशत से भी कम बाहर से आने वाले मुसलमान होंगे। इसके विपरीत पंजाब तथा बंगाल में इनकी संख्या ५० प्रतिशत से भी अधिक हो गई जिसके फलस्वरूप आधुनिक समय में ये भाग पाकिस्तान के नाम से पृथक् हो गये।

यद्यपि दिल्ली आगरा के विदेशी शासकों की राजभाषा फ़ारसी थी और आगे चलकर खड़ी बोली की फारसी मिश्रित एक नवीन शैली हिन्दवी अथवा उर्दू विकसित हुई किन्तु भाषा और साहित्य के ये विदेशी रूप केवल मुट्ठी-भर विदेशी शासकों और शासन से सम्बन्ध रखने वाले नागरिकों तक ही सीमित रहे। जनता की भाषाओं में साहित्य-रचना स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित होती रही। वास्तव में हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं और साहित्यों का विकास इसी काल में हुआ।

नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में हम पूर्व मध्यदेश में सिद्धों और नाथों की अपभ्रंश मिश्रित रचनाएँ पाते हैं तथा दक्षिण मध्यदेश और गुजरात की ओर जैन कवियों की प्राकृत और अपभ्रंश रचनाओं में भाषा का पुट पाने लगते हैं। पश्चिम मध्यदेश में इस समय आधुनिक भाषा की क्या स्थिति थी इसका ठीक पता

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (११५०-१२०० ई०) से हिन्दी की तीन कृतियों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है—(१) नाल्ह-कृत बीसलदेवरासो (अजमेर), (२) चंद-कृत पृथ्वीराजरासो (दिल्ली), तथा (३) जगनिक कृत आल्हखंड (महोबा) । इन तीनों रचनाओं का विषय इसी काल से सम्बन्ध रखता है तथा प्राचीनतम रूप भी कदाचित् इसी काल में प्रारम्भ हो गया था, किन्तु मौखिक परम्परा से अनेक शताब्दियों तक चलते रहने के कारण इन तीनों में बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए । दोनों रासो ग्रन्थों को १५वीं, १६वीं शताब्दी के लगभग और आल्हखंड को १९वीं शताब्दी में लिपिबद्ध किया गया । इन ग्रन्थों के अन्तिम परिवर्द्धित रूप ही अब उपलब्ध हैं ।

मध्यदेश में १२०० से १४०० ई० तक की प्रामाणिक साहित्यिक सामग्री अभी विशेष उपलब्ध नहीं हो सकी है । १४०० ई० के उपरान्त सन्त तथा भक्ति सम्प्रदायों की परम्परा प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप कबीर आदि निर्गुण भक्त तथा गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास जैसे रामभक्त और कृष्णभक्त कवियों का आविर्भाव हुआ । एक अन्य धारा सूफी मुसलमान कवियों की थी, जिसमें प्रमुख नाम जायसी का है ।

सन्तों का साहित्य प्रायः खड़ीबोली के मिश्रित रूप में है । रामचरितमानस और प्रेमाख्यान-काव्य अवधी में लिखे गये । कृष्णकाव्य ने ब्रजभाषा को अपनाया । ब्रजभाषा ही इस काल में मध्यदेश की जनता की प्रतिनिधि साहित्यिक भाषा कही जा सकती है । मध्यदेश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में पश्चिम राजस्थान की डिंगल (मध्यकाल की साहित्यिक मारवाड़ी) और उत्तर विहार की मैथिली का उल्लेख किया जा सकता है । दक्खिन में इसी समय हिन्दवी (पुरानी खड़ीबोली) विकसित हो रही थी ।

उपर्युक्त समस्त साहित्यिक परम्पराएँ चलती रहीं, किन्तु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में हिन्दू नरेशों के दरबार में साहित्यिक ब्रजभाषा में रीति-ग्रंथों के लिखने की परम्परा चली । इनमें काव्य के भिन्न-भिन्न अंगों की परिभाषाएँ तो प्रायः इन विषयों के संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर दी गई हैं किन्तु उदाहरण के अंशों में, विशेपतया शृंगार रस से सम्बन्धित मौलिक मुक्तक रचनाएँ मिलती हैं । केशव, विहारी, भूषण, मतिराम आदि कवि इसी परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं । ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-साहित्य का यह दरबारी शृंगारी रूप कहा जा सकता है । इस साहित्य में कला और शैली का विशेष चमत्कार है ।

प्रथम विदेशी संघर्ष काल का उपर्युक्त हिन्दी साहित्य यद्यपि अपने सीमित क्षेत्रों में अत्यन्त उत्कृष्ट है किन्तु उसके साथ उसकी परिधि अत्यन्त संकीर्ण है । संस्कृत नाटकों

की परम्परा का इसमें अभाव है। गद्य साहित्य का अभाव है। शिक्षा के अभाव के कारण उपयोगी विषयों पर ग्रन्थ-रचना बिलकुल नहीं हुई। वैदिक संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यों का पठन-पाठन न होने के कारण इन साहित्यों से भी इस काल के हिंदी साहित्य को विशेष प्रेरणा नहीं मिल सकी। फ़ारसी को छोड़कर किसी अन्य विदेशी साहित्य के सम्पर्क में भी हमारे लेखक नहीं आ सके, जिससे उन्हें नवस्फूर्ति मिल सकती।

इन्हीं शताब्दियों में यूरोप के स्वतन्त्र देशों के साहित्य, जैसे फ्रेञ्च, जर्मन, अंग्रेजी आदि अपने ललित और उपयोगी साहित्य का नवनिर्माण कर रहे थे, जबकि मध्यदेश के कवि और लेखक केवल भक्ति और शृंगार-सम्बन्धिनी रचनाओं के निर्माण में संलग्न थे, इसके मूल में प्रधान कारण-स्वरूप कदाचित् देश की राजनीतिक परतन्त्रता थी।

प्रगतिवाद : सिद्धान्त और उपलब्धि

डॉ० कमलाकान्त पाठक

[१]

व्यक्तिनिष्ठ प्रवृत्तियाँ प्रायः स्वच्छन्द और कल्पनाशील हो जाती हैं। जीवन की वास्तविकता के प्रति वे उतनी सजग नहीं दिखाई पड़तीं, जितनी अपनी भावात्मक सत्ता के प्रति। उनमें जन-हित की दृष्टि प्रमुख नहीं रह पाती, किन्तु सौन्दर्य-चेतना विशेषतः प्रबुद्ध बन जाती है। ऐसा साहित्य भावात्मक जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होता है। उसमें जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के स्थान पर मानवीय अनुभूतियों का सूक्ष्म आलेखन होता है। ऐसी कृतियों का सामाजिक मूल्य अतिशय संदिग्ध ज्ञात होता है। इन्हें वर्ग-विशेष की मनोवृत्तियों ने सीमित सामाजिक उपयोगिता की वस्तु बना दिया है। ये रचनाएँ लोक-मंगल-विधायिनी न होकर आत्मपरक, स्वच्छन्दतामुखी और भावात्मक आदर्शों से युक्त होती हैं। प्रगतिवादी जीवन-दर्शन का साहित्यिक प्रवर्तन स्वच्छन्दतावादी साहित्य के धारा-प्रवाह का अवरोध करने के लिए हुआ। प्रगतिवाद ने जीवन की स्थूल वास्तविकता को महत्त्वपूर्ण समझा। यह यथार्थवादी विचार-सरणी थी, जिसने व्यक्ति के स्थान पर समाज को, भाव के स्थान पर तथ्य को, अव्यक्त के स्थान पर व्यक्त को और आदर्श के स्थान पर यथार्थ को प्रतिष्ठित किया। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वहारा की वर्ग-चेतना और समूह-भावना का इसने प्रतिनिधित्व किया। पूर्ववर्ती साहित्य इसे अवास्तविक और परोपजीवी व्यक्तियों की मानसिक अवस्था का निदर्शक ज्ञात हुआ। कदाचित् हमारा जटिल सामाजिक जीवन इस प्रकार स्पष्ट-रूपेण विभाजित नहीं किया जा सकेगा। यह मंतव्य सापेक्षिक दृष्टिकोण से ही सत्यांश-भरा ज्ञात होता है। सम्प्रति व्यक्तिवादी और समाजवादी प्रवृत्तियों का साहित्य अन्ततः विभक्त हो गया है, पर हैं दोनों ही यथार्थ-बोध से संचालित। एक का पक्ष व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सहअस्तित्व का है तथा दूसरे का पक्ष सामाजिक समता और आर्थिक क्रान्ति का। एक का मानववाद व्यक्ति से आरम्भ होकर संगठित समाज में पर्यवसित होता है तथा दूसरे का मानववाद समाज से आरम्भ होकर समूहवादी व्यक्ति में परिणत। हम यह नहीं कह सकेंगे कि मतवाद

के रूप म एक ही विचार-पद्धति सत्य है तथा दूसरी असत्य।

सामाजिक विकास को प्रकम्पित करने की दृष्टि से ही उपयुक्त विचारणाएँ साहित्य मे मूल्यवती हैं। समता और स्वातन्त्र्य सहयोग और प्रम, सघप और व्यवस्था, वस्तु और भाव दोना ही एक-दूसरे के परिपूरक हैं। स्वच्छन्दतावाद के पश्चात् समाजवादी यथार्थवाद का आगमन युग चनना का रूपान्तरण था। पर यथार्थ-बोध की समूहवाची और व्यक्तिवादी भूमिकाएँ इस भाँति एकान्तत विषम नही हैं। मैं समझता हूँ कि ये प्रगतिवादी और मानववादी चिन्तन की धाराएँ हैं जिन्हें एक सीमा तक साथ-साथ भी रखा जा सकता है क्योकि लोक-कल्याण और मानवोत्कर्ष दोना ही साम्य हो सकते हैं। भारत की राष्ट्रीय विचार-धारा यही व्यापक दृष्टिकोण रख रही है जहाँ समाजवादी समाज रचना के लक्ष्य को प्रजातन्त्रात्मक राज्य-व्यवस्था ही प्रलम्भ करना चाहती है। हमारा साहित्यिक भी सामाजिक लक्ष्यादर्शों को वैयक्तिक जीवन के अनुभूत सत्य के रूप म अभिव्यक्त कर रहा है। हमारी यह राष्ट्रीय चेतना निस्सन्देह समन्वय मूलक है जिसने अतिवादी जीवन दृष्टियों को न अपना कर मानववादी जनवाद को प्रतिष्ठित किया है। यहाँ मताग्रह प्रधान नही है, प्रधान है समाज का हित और इस कारण भारतीय साहित्य औरों की अपेक्षा अधिक साहित्यिक तथा व्यावहारिक भूमिका पर रखा जा रहा है। सघष की नहीं, यह सहयोग की वाणी है। हिमालय की लड़ाई ने अनेक प्रबुद्ध समाजवादी लेखकों को राष्ट्रवादी स्वर मुखरित करने के लिए विवश किया है, यथा नागार्जुन। भारत की सास्कृतिक विशेषता ने प्रगतिवाद को यह नई अथ दीप्ति प्रदान की है।

[२]

मुख्यत साहित्य हमारी अनुभूतियों की ही वाणी है, पर ये अनुभूतियाँ हम जीवन की परिस्थितियों से ग्रहण करते हैं या जीवन की परिस्थितियाँ हमें अनुभूति-प्रवण बनाती हैं। इस भाँति व्यापक जीवन साहित्य का प्रसार-क्षेत्र या विषय-वस्तु ज्ञात होता है। इसे देखने समझने और अनुभव करने की अनेक पद्धतियाँ हो सकती हैं, जो सामाजिक संस्कृति के अनुरूप अपना-अपना स्वरूप स्थिर करती हैं। इसी को जीवन का दशन कहा जाता है। ये दार्शनिक पद्धतियाँ कभी एक तत्त्व को और कभी दूसरे को प्रधान मानकर जीवन के सत्य का बोध कराती हैं। प्रत्येक सारवान रचना या साहित्यिक कृति किसी-न-किसी दशन-पद्धति से अनुप्राणित रहती है। अतएव दशन प्रत्यक्षत साहित्य का प्रतिपाद्य विषय न होकर भी उसके भीतर चनना की भाँति व्याप्त है। इसे साहित्यिक की जीवन-दृष्टि या उसका तत्त्व-दशन कहा जाता है। पर एक सीमा तक ही इसका महत्त्व है और वह यह है कि इस युग, समाज, इतिहास या जीवन का जाय और साहित्य के पापक तत्त्व के रूप म यह गृहीत हो।

अन्यथा साहित्य शास्त्र बन जायगा या मतवाद का प्रचार मात्र। उसका वास्तविक स्वरूप सुरक्षित नहीं रहेगा।

मार्क्स का दर्शन है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। इसके अनुसार जगत् का प्रत्यक्ष या भौतिक रूप ही सत्य है। सत्ता वस्तु की या पदार्थ जगत् की है। विचार उसी का प्रतिरूप है। यह हीगेल की मान्यता का खण्डन था, जिसने विचार को सत्य और जगत् को उसकी प्रतिकृति समझा था। पदार्थ जगत् ही सत्य है, आत्मा, विचार या भाव नहीं। ये तो भौतिक सत्ता के परिणाम हैं। भौतिकवाद को सिद्ध करने की तर्क-पद्धति द्वन्द्वात्मक है, अतएव इसे यहाँ विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। आत्मा, बुद्धि या विचार पदार्थ जगत् के ही विकास हैं। उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अतएव वे असत्य हैं। भौतिकता का सिद्धान्त तात्त्विक दृष्टि से चेतन के ऊपर जड़ तत्त्व की सत्ता का सिद्धान्त है। मूलभूत तत्त्व है सत्ता। चेतना इसी का विकार है। परिणामस्वरूप समाज की सत्ता है और सामाजिक चेतना उसी का विकार या प्रतिफल है। सामाजिक चेतना या व्यक्तिगत चेतना जैसी किसी सत्ता का मौलिक अस्तित्व नहीं है। ये वस्तु-प्रक्रिया के परिणाम हैं। अतएव मानव-जीवन का व्यक्त और प्रत्यक्ष रूप ही सत्य है। इसी सत्य का परिज्ञान जीवन का यथार्थ-बोध है। यही सत्य तत्त्व भाव या बुद्धि विषयक चेतना का निर्धारण करता है। इसी कारण सामाजिक यथार्थ साहित्य, दर्शन या शास्त्र विशेष का नियामक ही नहीं, स्रष्टा भी होता है।

मार्क्स सृष्टि के अन्तर्गत दो तत्त्वों की स्थिति मानता है। दोनों मूलभूत किन्तु आत्यंतिक विषम तत्त्व हैं। दोनों में शाश्वत संघर्ष होता रहता है। वस्तु जगत् ही सत्य है। पर जगत् की प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी तत्त्वों की स्थिति विद्यमान है। एक है धन, या पाजीटिव तत्त्व, जो विकासशील होता है। दूसरा तत्त्व ऋण या नेगेटिव तत्त्व है, जो ह्रासशील या नाशवान् रहता है। इन्हीं का द्वन्द्व या संघर्ष जीवन-विकास या जगत् की गति का रहस्य है। पदार्थ जगत् ही सत्य है, पर प्रत्येक वस्तु की द्वन्द्वपूर्ण अवस्थिति के कारण वह चिर परिवर्तनशील भी है। सत्ता वस्तु की है अवश्य, पर उसके गतिशील अस्तित्व की ही सत्ता है। वस्तु का अवस्थान या थिसिस विरोधी तत्त्वों से स्वाभाविक और अस्तित्व-विषयक संघर्ष करता हुआ प्रत्यवस्थान या एंटीथिसिस को प्राप्त होता है। आशय यह है, अनुकूल परिस्थिति प्रतिकूल अवस्था को प्राप्त होती है। पर यह भी संघर्षशील गतिमयता सक्रिय रहती है अन्ततः दोनों तत्त्वों में आन्तरिक संतुलन स्थापित हो जाता है। यह समन्वयात्मक स्थिति है, जिसे सिन्थिसिस या सम-अवस्थान कहते हैं। यह स्थिति भी स्थायी नहीं होती। इसमें पुनः विरोधी तत्त्व सक्रिय हो उठते हैं और मरणशील तत्त्वों का नाश तथा विकासशील तत्त्वों का उत्कर्ष स्पष्ट होता है। यहाँ परमाणु तक की सत्ता अपरिवर्तनशील नहीं है। समस्त पदार्थ जगत् और उसके सृष्टि-क्रम में

उत्पादन स्वीकार किया है। अन्याय समाजवादी विचारकों ने इस अनिवाद का थोड़ा
शमित किया है। उनके अनुसार अर्थ व्यवस्था प्रत्यक्ष नहीं बल्कि परोक्ष रूप से
साहित्य का नियमन करती है। आशय यह है कि रचनाकार की वादन-वाई सामा-
जिक स्थिति होता है जो किसी-न किसी वर्ग के अन्तर्गत समाहित रहती है। उसमें
स्वभावत वर्ग चेतना विद्यमान होती है। इसी वर्ग की मनोवृत्ति को वह साहित्यिक
अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक अवस्था साहित्य का
नियन्त्रण किया करती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर साहित्य को वर्ग-
विशेष की सृष्टि समझा गया। वर्गहीन साहित्य की सृष्टि वर्गहीन समाज में ही
सम्भव होती है। वर्गयुक्त समाज में वर्गवादी साहित्य ही रचा जा सकता है।

[४]

साहित्य न स्वतन्त्र स्वतन्त्र वस्तु है, न उसकी समाज निरपेक्ष सत्ता है। युग-
चेतना और वर्ग भावना से वह सतत सम्बद्ध होता है और उसी का प्रतिनिधित्व
भी करता है। परिणामत साहित्य में सामूहिक मनोभावों की ही अभिव्यक्ति होती है,
वैयक्तिक अनुभूतियों की नहीं। सत्ता वस्तु की या बाहरी परिस्थितियों की है, अतएव
उन्हें उपयुक्त दिशा में अग्रसर करने के लिए, जैसे युद्ध में अथवा संकटकालीन उत्पा-
दनादि के रूप में सामूहिक चेतना को संगठित और सक्रिय किया जाता है। यहाँ
मनुष्यों का प्रत्यक्ष वस्तु की धारणा न बनाते हुए उद्देश्य की भविष्यद्-कल्पना समझायी
जाती है, जिससे समूह भावना ऊर्जस्वित हो जाय और काम में तेजी आये अन्यथा
वस्तु सत्य का परिज्ञान उन्हें ऊहापोह में डाल देगा। संसार भर में मजदूर ही राज्य
करेंगे अथवा मानव-समुदाय का एक ही वर्ग बन जायगा तथा कोई विषमता नहीं
रह पायगी अथवा आक्रमण द्वारा दूसरा देश पूंजीवाद के अत्याचारों से मुक्त हो
जायगा, प्रभृति उद्देश्यों की अवस्तुसत्ता या कल्पना से भ्रान्ति उत्पन्न होती है जो मन
में लक्ष्य की सत्ता देखती है पर जो वस्तु जगत् में प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं रखती। इस
दूरवर्ती लक्ष्य से प्रेरित होकर मानव की सर्वस्व शक्ति प्रवर्द्धित हो जाती है, सामूहिक
भावना प्रपुष्ट बनती है तथा कर्म प्रवृत्ति प्रकर्ष प्राप्त करती है। लक्ष्य की सुखद
कल्पना का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, पर सामूहिक भावों की इसी प्रकार की
साहित्यिक अभिव्यक्ति की जानी चाहिए, जो मानव की श्रम प्रवृत्ति को उभारे और
समुपस्थित कष्टों को भोगने में उसे सक्षम बनाये। भविष्य की कल्पना सामूहिक
भ्रान्ति की अवस्था पैदा करती है, जो सामूहिक संगठन और उत्पादन के लिए आव-
श्यक होती है। यही साहित्यकार का दायित्व है। यदि वह ऐतिहासिक आवश्यकता
से अपने इस कार्य को भली भाँति सम्पादित कर पाया तो उसे सामाजिक प्रगति का
पोषक समझा जायगा अन्यथा वह ह्रासशील या प्रतिक्रियावादी रचनाकार होगा,
जिसका सामाजिक उपयोग न होने के कारण वह दण्डनीय बन जायगा। इस प्रकार

अप्रत्यक्ष ढंग से कला या साहित्य आर्थिक उत्पादन ही सिद्ध होता है। साराश यह है कि सामाजिक प्रगति में सहयोग देने वाली रचनाएँ प्रगतिवादी कही जाएँगी और उसकी प्रगति का पोषण न करने वाली किंवा उसमे बाधक सिद्ध होने वाली कृतियाँ क्रमशः ह्रासशील या समाजद्रोही करार दी जाएँगी।

भाव-मूलक या आत्मवादी दर्शन की प्रतिक्रिया यहाँ स्पष्टतः अनावरित हो जाती है। व्यक्तिवाद की रेशमी ग्रंथियाँ यदि एक वैचारिक अतिरेक था तो समाज-वाद का इस्पाती सांचा दूसरा सैद्धान्तिक अतिरेक है। मानव समाज का अंग भी है और व्यक्ति भी। अतिवादी दृष्टियाँ उसकी वास्तविक सत्ता का संदर्शन नही कर पाईं। रक्त-मांस ही सत्य नहीं है, न वायवी चेतना हो। दोनों का समीकरण ही मानव है। आत्मा की सत्ता शरीर के माध्यम से व्यक्त होती है और शरीर की अव-स्थिति का कारण आत्मा है। दोनों परस्परावलम्बित है। निवेदन यही है कि अतिवाद या मताग्रह सत्य के शोध का सही रास्ता नहीं है। पर जब प्रजातन्त्र और समाजवाद की राज्य व्यवस्थाएँ इन्हें अपना मूल दर्शन बना लेती हैं तो वैषम्य बढ़ता ही है। व्यवहार में लाते ही सिद्धान्त स्वतः जड़ हो जाते हैं। मानव-विकास क्या सामाजिक प्रगति मात्र है या वह वैयक्तिक उत्कर्ष भी है। व्यक्तिवादी वैयक्तिक उन्नयन के द्वारा ही सामाजिक विकास को सम्भव मानता है तथा समाजवादी सामाजिक प्रगति के द्वारा ही वैयक्तिक विकास को सम्भव। दोनों ही अपने आपको मानववादी कहते हैं, पर मैं समझता हूँ कि मानव का यह उभय-पक्षीय बँटवारा काम्य नहीं है। इससे तो बेचारा मानव स्वयं त्रस्त हो उठा है। उसे व्यक्ति भी मानिए और समाज का अंग भी। इसी में उसका कल्याण निहित है। इस दृष्टि से राजनीतिक सत्ताएँ, शासन-पद्धतियाँ और सामाजिक संगठन अपनी-अपनी शक्ति-साधना में चाहे कमजोर पड़ते जायें, पर उन्हें त्याग का मार्ग ही अपनाना होगा, अन्यथा प्रलयंकर अतियुद्ध ही सम्भाव्य है। देकर ही पाते है, पर लेकर सदैव खोते हैं। कदाचित् यह नीतिवाक्य भ्रान्ति ही समझा जायगा, क्योंकि यह वस्तुवादी मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। न्यस्त स्वार्थों की यह लाचारी है कि वे इसे मान नही सकेंगे।

अस्तु, सामाजिक विषय-वस्तु और सामूहिक मनोभावना को ही साहित्यिक उपादान मान लिया गया है। साहित्य सामाजिक प्रगति में सहायक होता है। अतएव भौतिक विकास में उपादेय प्रमाणित होना ही साहित्य का प्रयोजन है। आनन्द उसका साध्य नहीं, साधन मात्र है। साहित्य इसी कारण उपयोगी कला है, जो सामाजिक विकास में योग देती है, बौद्धिक जागृति और सामूहिक भावना पैदा करती है, वर्ग-संघर्षों को प्रतिबिम्बित करती है तथा सामाजिक अर्थात् आर्थिक-राजनीतिक क्रान्तियों अथवा कार्यक्रमों का अस्त्र बन जाती है। साहित्य का लक्ष्य सामूहिक हित और सामाजिक प्रगति ही है। पर यहाँ हित और प्रगति का एक ही रास्ता है, एक

गतिमयता की अटूट व्यवस्था क्रियमाण रहती है। इस गति का रहस्य द्वन्द्व है, अतएव भौतिकवाद का द्वन्द्वात्मक विशेषण साभिप्राय और सार्थक है।

यह द्वन्द्वमयी गतिशीलता व्यर्थ नहीं है। परिवर्तन विकास का द्योतक है, क्योंकि ऋण-तत्त्वों का निरन्तर निराकरण सृष्टि क्रम के अन्तर्गत होता ही रहता है और धन तत्त्व संघर्ष के द्वारा ही प्रश्रय को प्राप्त करते हैं। नित्य परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु जगत् में जो विकास होता है वह आरम्भ में परिमाण की वृद्धि के रूप में दिखाई पड़ता है। परिमाण-वृद्धि ही गुण-वृद्धि का भी कारण बन जाती है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक संघर्ष विकास का कारण होता है और प्रत्येक विकास पूर्ववर्ती अवस्था का उन्नयन।

उपर्युक्त परिवर्तन क्रम अनवरत ही नहीं अपरिहार्य भी हैं। विरोधी तत्त्वों का पारस्परिक संघर्ष जीवन की गति है और विकास उसका प्रतिफलन। यह विकास क्रम भी अटूट है पर क्रमिक नहीं। यह क्रान्ति जन्य है। मरणशील तत्त्वों के समग्र विनाश पर ही विकासशील तत्त्व नवीन सत्ता का रूप धारण करते हैं। नवीन सत्ता परिमाण गुण और स्वरूप सभी में अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से नितान्त भिन्न होती है। विनाश ही निर्माण की भूमिका है। अतएव यहाँ रचना और समझौते का नहीं, क्रान्ति और विध्वंस का विकास-पथ उन्मुक्त होता है। इसी कारण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रगति का सिद्धान्त है अवश्य पर वह प्रगति समन्वयात्मक व्यापार न होकर विरोधात्मक क्रिया है वैचारिक उदारता न होकर ऐतिहासिक अनिवार्यता है तथा मानवीय प्रेम और अहिंसा से सम्बद्ध न होकर सामाजिक संघर्ष और क्रान्ति में अनुप्राणित वस्तु है। विकास मूलतः और प्रत्यक्षतः परिमाण का होता है गुणात्मक विकास तो परिणाम मात्र है।

[३]

द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन की धारणा के आधार पर समाज के क्रमबद्ध विकास का और व्यक्ति तथा व्यक्ति के तथा व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण तथा विवेचन किया गया। इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा गया। स्पष्टतः व्यक्ति-चेतना के आधार पर व्यक्ति का अस्तित्व सिद्ध ही नहीं होता। व्यक्ति का अस्तित्व सामाजिक वस्तु है और उसी पर उसकी चेतना निर्भर करती है अर्थात् सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति की रुचि मति और प्रवृत्ति तथा विचारणा और संवेदना का निर्धारण करती हैं। भौतिक परिस्थितियाँ या सामाजिक जीवन का स्वरूप मानव-चेतना का नियन्ता है। पर भौतिक परिस्थितियाँ परिवर्तनमयी हैं, अतएव समाज का स्वरूप तथा संगठन भी बदलता रहता है। परिस्थितियाँ समाज

को रूपायित तथा नियन्त्रित करती हैं, जो स्वयं भी मानव-चेतना का नियमन करता है। भौतिक परिस्थितियाँ समाज-व्यवस्था को संगठित करती हैं और सामाजिक संगठन व्यक्ति-चेतना का निर्धारण। आशय यह है कि साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति इत्यादि भौतिक जीवन की वास्तविकता के अनिवार्य परिणाम हैं। उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ये सभी नित्य गतिशीलता के परिणामस्वरूप विकासशील हैं। अंततः इनका अस्तित्व समाज-सापेक्ष है, जिसमें स्थिति की अपेक्षा गति का तत्त्व प्रधान रहता है। अतएव साहित्य, संस्कृति और विविध बौद्धिक कार्य-व्यापार समाज की चेतना को ही प्रकम्पित करके गति के ऐतिहासिक सत्य के प्रति प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। संक्षेप में, सामाजिक परिस्थितियाँ सांस्कृतिक चेतना की नियामक हैं। स्थूल और वाह्य वास्तविकता सूक्ष्म और आभ्यन्तर जगत् का उपादान करती हैं। सत्ता स्थूल की है, सूक्ष्म की नहीं, पदार्थ की है, चेतना की नहीं।

परिवर्तन की नित्यता और शाश्वत संघर्ष की अवस्थिति के कारण जीवन की कोई स्थिति, समाज का कोई संगठन तथा राज्य की कोई विधि-व्यवस्था सार्वकालिक सत्य नहीं है। पदार्थ जगत्, मानव-समाज, रीति-नियम, आचार, संस्कृति-दर्शन, साहित्य-कला, सभी का गति-प्रवाह अव्याहत है। इसी कारण कोई भी विचार, नियम या रचना-कार्य स्वतन्त्र या स्थायी मूल्य का अधिकारी नहीं है। समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध निरन्तर बदलता रहता है। नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य या संस्कृति सभी का सामाजिक सत्ता से सापेक्षिक सम्बन्ध है। इनका अस्तित्व ही वहिर्वस्तु की सत्ता पर आधारित है। अतएव किसी भी विचारणा, नियम या धारणा का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। समाज की भौतिक स्थितियों के साथ-साथ उसकी नैतिकता, साहित्यिक दृष्टि, शासन-पद्धति तथा नाना प्रकार की संगठन-संस्थाएँ बदलती जाती हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थ-व्यवस्था के आधार पर ही समाज और राजनीति, धर्म और दर्शन, नीति और अध्यात्म तथा साहित्य और अन्यान्य कलाओं की स्थिति निर्भर होती है तथा आर्थिक क्रान्तियों के फलस्वरूप समस्त सांस्कृतिक उपकरणों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। उपार्जन के तौर-तरीके भीतरी और वाहरी सारी जीवन-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। अतएव साहित्य तथा संस्कृति का अनुशासन अर्थ-व्यवस्था ही करती है। पर समाज की अर्थ-व्यवस्था और उसकी उपार्जन-पद्धतियाँ बरा-बर बदलती रहती हैं। फलतः जीवन की धारणाएँ निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं, जो साहित्य के विकास का भी नियन्त्रण करती हैं। निश्चय ही युग-विशेष की सामाजिक व्यवस्था उस युग के साहित्य की नियामक ही नहीं है, बल्कि उस युग के साहित्य को पैदा भी करती है। साहित्य परिस्थितियों की ही उपज है। मार्क्स का कथन है कि मानवीय मस्तिष्क की सभी सृष्टियों की भाँति साहित्य का समाज की अर्थ-व्यवस्था अथवा उत्पादन के तरीकों से ही अन्ततः नियमन होता है। कॉडवेल ने भी काव्य को तत्त्वतः जातीय, राष्ट्रीय, आनुवंशिक या विशिष्ट वस्तु न मानकर आर्थिक

उत्पादन स्वीकार किया है। अन्यान्य समाजवादी विचारकों ने इस अतिवाद को थोड़ा शमित किया है। उनके अनुसार अर्थ-व्यवस्था प्रत्यक्षतः नहीं, बल्कि परोक्ष रूप से साहित्य का नियमन करती है। आशय यह है कि रचनाकार की कोई-न-कोई सामाजिक स्थिति होती है जो किसी-न-किसी वर्ग के अन्तर्गत समाहित रहती है। उसमें स्वभावतः वर्ग चेतना विद्यमान होती है। इसी वर्ग की मनोवृत्ति को वह साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक अवस्था साहित्य का नियन्त्रण किया करती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर साहित्य को वर्ग-विशेष की सृष्टि समझा गया। वर्गहीन साहित्य की सृष्टि वर्गहीन समाज में ही सम्भव होती है। वर्गयुक्त समाज में वर्गवादी साहित्य ही रचा जा सकता है।

[५]

साहित्य न स्वतन्त्र स्वतः पूर्ण वस्तु है न उसकी समाज निरपेक्ष सत्ता है। युग चेतना और वर्ग भावना से वह सतत सम्बद्ध होता है और उसी का प्रतिनिधित्व भी करता है। परिणामतः साहित्य में सामूहिक मनोभावों की ही अभिव्यक्ति होती है, वैयक्तिक अनुभूतियों की नहीं। मनोभाव वस्तु की या बाहरी परिस्थितियों की है, अतएव उन्हें उपयुक्त दिशा में अग्रसर करने के लिए, जैसे युद्ध में अथवा संकटकालीन उत्पादनादि के रूप में सामूहिक चेतना को संगठित और सक्रिय किया जाता है। यहाँ मनुष्यों को प्रत्यक्ष वस्तु की धारणा न बताते हुए उद्देश्य की भविष्यद्-कल्पना समझायी जाती है, जिससे समूह भावना ऊर्जस्वित हो जाय और काम में तेजी आवे अन्यथा वस्तु सत्य का परिज्ञान उन्हें ऊहापोह में डाल देगा। संसार भर में मजदूर ही राज्य करेंगे अथवा मानव-समुदाय का एक ही वर्ग बन जायगा तथा कोई विषमता नहीं रह पायगी अथवा आक्रमण द्वारा दूसरा देश पूँजीवाद के अत्याचारों से मुक्त हो जायगा, प्रभृति उद्देश्यों की अवस्तुसत्ता या कल्पना से भ्रान्ति उत्पन्न होती है जो मन में लक्ष्य की सत्ता देखती है, पर जो वस्तु जगत् में प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं रखती। इस दूरवर्ती लक्ष्य से प्रेरित होकर मानव की संकल्प शक्ति प्रवर्द्धित हो जाती है, सामूहिक भावना प्रपुष्ट बनती है तथा कर्म प्रवृत्ति प्रश्रय प्राप्त करती है। लक्ष्य की सुखद कल्पना का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, पर सामूहिक भावों की इसी प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्ति की जानी चाहिए, जो मानव की श्रम प्रवृत्ति को उभारे और समुपस्थित कष्टों को भोगने में उसे सक्षम बनाये। भविष्य की कल्पना सामूहिक भ्रान्ति की अवस्था पैदा करती है, जो सामूहिक संगठन और उत्पादन के लिए आवश्यक होती है। यही साहित्यकार का दायित्व है। यदि वह ऐतिहासिक आवश्यकता से अपने इस काम को भली भाँति सम्पादित कर पाया तो उसे सामाजिक प्रगति का पोषक समझा जायगा अन्यथा वह ह्रासशील या प्रतिक्रियावादी रचनाकार होगा, जिसका सामाजिक उपयोग न होने के कारण वह दण्डनीय बन जायगा। इस प्रकार

अप्रत्यक्ष ढंग से कला या साहित्य आर्थिक उत्पादन ही सिद्ध होता है। सारांश यह है कि सामाजिक प्रगति में सहयोग देने वाली रचनाएँ प्रगतिवादी कही जाएँगी और उसकी प्रगति का पोषण न करने वाली किंवा उसमें बाधक सिद्ध होने वाली कृतियाँ क्रमशः ह्रासशील या समाजद्रोही करार दी जाएँगी।

भाव-मूलक या आत्मवादी दर्शन की प्रतिक्रिया यहाँ स्पष्टतः अनावरित हो जाती है। व्यक्तिवाद की रेशमी ग्रंथियाँ यदि एक वैचारिक अतिरेक था तो समाजवाद का इस्पाती सांचा दूसरा सैद्धान्तिक अतिरेक है। मानव समाज का अंग भी है और व्यक्ति भी। अतिवादी दृष्टियाँ उसकी वास्तविक सत्ता का संदर्शन नहीं कर पाईं। रक्त-मांस ही सत्य नहीं है, न वायवी चेतना ही। दोनों का समीकरण ही मानव है। आत्मा की सत्ता शरीर के माध्यम से व्यक्त होती है और शरीर की अवस्थिति का कारण आत्मा है। दोनों परस्परावलम्बित हैं। निवेदन यही है कि अतिवाद या मताग्रह सत्य के शोध का सही रास्ता नहीं है। पर जब प्रजातन्त्र और समाजवाद की राज्य व्यवस्थाएँ इन्हें अपना मूल दर्शन बना लेती हैं तो वैषम्य बढ़ता ही है। व्यवहार में लाते ही सिद्धान्त स्वतः जड़ हो जाते हैं। मानव-विकास क्या सामाजिक प्रगति मात्र है या वह वैयक्तिक उत्कर्ष भी है। व्यक्तिवादी वैयक्तिक उन्नयन के द्वारा ही सामाजिक विकास को सम्भव मानता है तथा समाजवादी सामाजिक प्रगति के द्वारा ही वैयक्तिक विकास को सम्भव। दोनों ही अपने आपको मानववादी कहते हैं, पर मैं समझता हूँ कि मानव का यह उभय-पक्षीय बँटवारा काम्य नहीं है। इससे तो बेचारा मानव स्वयं त्रस्त हो उठा है। उसे व्यक्ति भी मानिए और समाज का अंग भी। इसी में उसका कल्याण निहित है। इस दृष्टि से राजनीतिक सत्ताएँ, शासन-पद्धतियाँ और सामाजिक संगठन अपनी-अपनी शक्ति-साधना में चाहे कमजोर पड़ते जायें, पर उन्हें त्याग का मार्ग ही अपनाना होगा, अन्यथा प्रलयंकर अतियुद्ध ही सम्भाव्य है। देकर ही पाते हैं, पर लेकर सदैव खोते हैं। कदाचित् यह नीतिवाक्य भ्रान्ति ही समझा जायगा, क्योंकि यह वस्तुवादी मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। न्यस्त स्वार्थों की यह लाचारी है कि वे इसे मान नहीं सकेंगे।

अस्तु, सामाजिक विषय-वस्तु और सामूहिक मनोभावना को ही साहित्यिक उपादान मान लिया गया है। साहित्य सामाजिक प्रगति में सहायक होता है। अतएव भौतिक विकास में उपादेय प्रमाणित होना ही साहित्य का प्रयोजन है। आनन्द उसका साध्य नहीं, साधन मात्र है। साहित्य इसी कारण उपयोगी कला है, जो सामाजिक विकास में योग देती है, बौद्धिक जागृति और सामूहिक भावना पैदा करती है, वर्ग-संघर्षों को प्रतिबिम्बित करती है तथा सामाजिक अर्थात् आर्थिक-राजनीतिक क्रान्तियों अथवा कार्यक्रमों का अस्त्र बन जाती है। साहित्य का लक्ष्य सामूहिक हित और सामाजिक प्रगति ही है। पर यहाँ हित और प्रगति का एक ही रास्ता है, एक

ही मुद्रूर कल्पना है एक ही वर्ग हीन समाज रचना की मंगलाशा है अतएव प्रगतिवादी साहित्य मताग्रह-पूर्ण ही नहीं होता अथवा श्रमजीवियों का हिमायती और पूँजीपतियों का विरोधी ही नहीं होता वरन् प्रचारात्मक भी होता है। सूक्ष्म भाव-बोध के अभाव में और स्थूल आवश्यकताओं से उत्प्रेरित होने के कारण उसमें लालित्य तथा आर्जव की अपेक्षा ओज तथा वक्तृत्व अधिक होता है। वह अपने पक्ष का प्रचारात्मक समर्थन ही नहीं करता बल्कि प्रतिपक्षी का विरोध भी करता है। फलतः उसका स्वर में तिक्तता होती है। व्यंग्य और परिहास ही नहीं, वह आघात और वस्तु विपर्यय भी करता है। वह प्रहारात्मक कठोरता के साथ-साथ वस्तु सत्य का भिन्नार्थक और विपर्यस्त परिणति देने में सिद्ध हस्त दिखाई पड़ता है उदाहरण के रूप में चीनी आक्रान्ताओं के अनेकानेक वक्तव्यों की परीक्षा की जानी चाहिए। आशय स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य न केवल उपयोगी कला है, बल्कि उसका अस्तित्व ही प्रचारात्मक है। उसकी वाणी में जो विलक्षणता है, वह व्यंग विनोद और प्रहार विपर्यास, आदि के रूप में उद्घाटित होती है। उसका स्वरूप और शिल्प भव्य वस्तु अवश्य है पर प्रयोजन विशेष के कारण उसमें वाच्यता प्रधान है और गाम्भीर्य की प्रवृत्ति प्राय न्यून।

[५]

मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की मुख्यतः दो धाराएँ उपलब्ध हैं। श्रेष्ठ साहित्य चिन्तन युग-जीवन के सामाजिक संघर्षों का यथार्थ चित्रण ही नहीं करता, वरन् परम्परा का विरोधी तथा प्रगति का समर्थक भी होता है। अपने सामाजिक जीवन को अन्य कोटिक्रम या विचार धारा की रचनाएँ भी यथायत चित्रित कर सकती हैं, पर मार्क्स-वादी समीक्षा के अनुसार साहित्य का श्रेष्ठत्व आन्तरिक गुणों की अपेक्षा उसके प्रगति वाद दृष्टिकोण पर ही निर्भर करता है। प्राचीन कृतियाँ भी सामाजिक जीवन के ऐतिहासिक क्रम विकास में अपने योग-दान के कारण मूल्यवती हैं। सामाजिक यथार्थ के चित्रण तथा समाज के ऐतिहासिक विकास में अपने प्रदेय के कारण ही कोई रचना श्रेष्ठ होती है। स्पष्टतः साहित्य अपने जीवन-दर्शन, यथार्थवादी चित्रण तथा सामाजिक प्रगति के प्रयोजन के कारण श्रेष्ठ या हीन समझा जाता है। यह साहित्य-विवेचन की उपयोगितावादी स्थूल परिपाटी है जिसमें अनुभूति की मार्मिकता, चित्रणों की कलात्मकता या रचना की रसात्मकता साहित्य-समीक्षा के मान नहीं माने गये हैं। यही नहीं, मानव-समाज की वे सहजात मनोवृत्तियाँ, जो आदि युग से आज तक अक्षुण्ण हैं, यथा प्रेम ममता, क्रोध-वैर, घृणा-करुणा, आदि, इस साहित्य-दर्शन में उपेक्षित हुई हैं। और भी यह कि हम केवल आर्थिक सामाजिक जीवन ही नहीं जीते या हमारी युग-सत्ता ही नहीं होती वरन् हम मानव-संस्कृति की विशाल परम्परा के भीतर भी सक्रिय रहते हैं। युग-चेतना और सांस्कृतिक परम्परा, सामाजिक जीवन

और चिरकालिक भाव-संवेदन, वर्तमान और अतीत के उभय पक्षों की परिपूर्णता आदि को न देखकर हम मतवादी या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपना लेते हैं। जीवन-विकास को समझने की पद्धति होने से तथा प्रगतिपरक मंगलाशा स्थिर रखने के कारण यह दृष्टिकोण ही ज्ञात होता है, साहित्य का समग्र दर्शन नहीं। भौतिक प्रतिमानों पर मार्क्सवाद का वैचारिक सांचा चाहे अटूट जान पड़े, पर सांस्कृतिक और साहित्यिक तत्त्वों या आन्तरिक गुणों के आधार पर यह एकांगी या पक्षविशेष से सम्बद्ध ही ज्ञात होता है।

इसकी यह सीमा है कि मानव मात्र के प्रति यह सदाशयी या सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। वर्ग-विशेष के प्रति उत्तरदायी होने के कारण इसका मानववाद भी अधूरा है, जो सामाजिक जीवन में क्षोभ और घृणा भर सकता है। मैं समझता हूँ कि यह शान्ति, व्यवस्था और प्रेम का मन्त्र नहीं है। वर्गवादी करुणा पर यह आधारित है, जो अन्य वर्गों के प्रति मानवीय धरातल पर भी सहृदयता अनुभव नहीं करता। जिसका विनाश किया जाना है, उसके प्रति सहृदयता कैसी ? मानव के नैतिक विकास की दृष्टि से क्या यह हिंस्र प्रवृत्तियों का परोक्ष समर्थन नहीं कहा जायगा ?

इसकी दूसरी परिणति समाज-शास्त्रीय समीक्षा प्रणाली है, जो फ्रांसीसी समीक्षक एच० ए० टेन से आरम्भ होती है। उसने सौन्दर्यात्मक सापेक्षता का सिद्धान्त उपस्थित किया था, जिसके अनुसार युग-परिवृत्ति, आदि सामाजिक या जातीय आधारों पर ही साहित्य की जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए। उसने ऐतिहासिक समीक्षा का आधार प्रस्तुत किया था, जिसमें तुलना तथा मूल्यांकन के तत्त्व उपेक्षित हुए थे। देश-काल और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही जब साहित्य के तत्त्व बन गईं, तब रचना का अस्तित्व केवल युग-विशेष के अन्तर्गत सीमित समझा गया। ह्रासयुग की प्रत्येक कला-कृति ह्रासशील मानी गई और वर्गीय स्थिति के आधार पर रचनाकार उस वर्ग का प्रतिनिधि सिद्ध हुआ। इसे 'कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण' कहा जाता रहा है। मार्क्सवादियों ने इस समीक्षा-दृष्टि की यह सीमा बताई है कि ह्रासयुग में भी प्रगति की शक्तियाँ सक्रिय होती हैं तथा रचनाकार वर्ग-चेतना से ही अनुशासित नहीं रहता। यथार्थ-बोध के कारण वह समाज के द्वन्द्वात्मक अवस्थान से भी प्रेरित-प्रभावित हो सकता है।

मार्क्सवादी दृष्टि से जिस समाज शास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली को अंगीकृत किया गया है, उसका आधार यह है कि सामाजिक यथार्थ साहित्यिक रचना-कार्य का कारण होता है। कोई भी रचना अपने युग के सामाजिक यथार्थ को किस रूप और कितने परिमाण में उपस्थित करती है, वह उसके प्रति किस सीमा तक प्रामाणिक है तथा वह प्रगतिशील शक्तियों का किन अंशों में और किस प्रकार समर्थन, प्रतिपादन या प्रति-

प्रतिबिम्बित करती है।' इस प्रश्न का आशय यह है कि सामाजिक यथार्थ का चित्रण और सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव इन दो मानों पर समाजशास्त्रीय समीक्षा आधारित है।

साहित्य को सर्वत्र युग, स्थान और परिस्थिति के सामाजिक यथार्थ का अनिवार्य प्रतिफलन मान लेने पर दोनों का कार्य-कारण सम्बन्ध ही स्पष्ट नहीं होता, रचनाकार पर भी यथार्थ-बोध का आरोप कर दिया जाता है। उसकी रुचि, विवेक और रचना प्रक्रिया की यहाँ नितान्त अवहेलना कर दी गई है। साहित्य सामाजिक जीवन का परिणाम है और उसे बदलने या प्रगतिशील बनाने का साधन भी। यह समीक्षा-पद्धति रचना विशेष के सामाजिक परिवेश तथा सांस्कृतिक पीठिका का भली-भाँति उद्घाटन करती है। इसे वस्तुमूलक तटस्थता के कारण प्रायः स्वीकार कर लिया गया है। पर मुख्यतः वैज्ञानिक परिपाटी के रूप में ही इसे अपनाया गया है, जिसका मतवाद से कोई सुनिश्चित सम्बन्ध नहीं है। यह साहित्य को सम्यक् रूप से समझने में मूल्यवान् सिद्ध हुई है। यह रचनाकार के प्रत्यक्ष परिवेश और उसके रचना-कार्य की तुलना में प्रवृत्त होकर साहित्यिक विश्लेषण में अंशतः सहायक होती है। हिन्दी की नवीन समीक्षा धारा में प्रायः इसे इसी सीमा तक अन्तर्भुक्त किया गया है। इसकी सीमा है साम्प्रदायिक जीवन-दृष्टि, जो साहित्यिक प्रतिमानों पर हावी हो जाती है। समाज शास्त्र की अभिज्ञता एक गुण मात्र है, पर समीक्षक की कला-चेतना उसके समग्र कार्य का मूलाधार। कभी हम जीवन को सम्पूर्ण रूप में न देखकर वर्गीय प्रवृत्तियों या अपने मतवाद के आधार पर ही संकीर्ण सीमाओं में ग्रहण कर सकते हैं अथवा कभी सामाजिक यथार्थ की ही छानबीन में व्यस्त होकर कला के आन्तरिक तत्त्वों की उपेक्षा कर सकते हैं। सर्वोपरि सीमा यह भी है कि वर्ग चेतना सामाजिक यथार्थ को व्यस्त स्वार्थ की दृष्टि से ही देख-परख सकती है और यह तथ्य मूलतः मानव-अस्तित्व का सम्पूर्ण सांस्कृतिक सत्य या अन्तर्भूत तत्त्व कदाचित् नहीं है।

[६]

प्रगतिवाद के साहित्य-दर्शन तथा उसकी समीक्षा प्रणाली का यहाँ विवरण प्रस्तुत किया गया है। विचारकों ने इसकी सीमा का निर्देश करते हुए अर्थ-व्यवस्था की सर्वोपरि धारणा तथा वर्ग-चेतना, प्रचार प्रवृत्ति, आदि की एकांगिता को स्पष्ट किया है। यह भी कहा गया है कि साधारणीकरण और समूह भाव में प्रकृत्या अन्तर है। एक सामान्य या निर्विशेष मनःस्थिति है, दूसरी स्वार्थ निष्ठ प्रवृत्ति। एक सर्वचेता है, दूसरी वर्ग चेता। एक आनन्द प्रद है, दूसरी क्षोभ की उत्पादक। इस धारा की ये सीमाएँ भी निर्दिष्ट हुई हैं कि यहाँ जीवन को सम्पूर्ण और वास्तविक रूप में ग्रहण नहीं किया जाता, साहित्यिक और ऐतिहासिक परम्पराओं का सम्यक् आकलन नहीं

होता; राष्ट्रवादी धारणा निर्बल हो जाती है या उसे आक्रामक परिणति प्राप्त होता है; भावनात्मक अथवा सौन्दर्य-प्राण रचना-प्रवृत्तियाँ प्रशमित की जाती हैं; कलात्मक परिष्करण की अनुचित उपेक्षा होती है; मानव को परिस्थितियों का निर्माता मान लेने से उसकी सत्ता और महत्ता की उपेक्षा ही सम्भव होती है; तथा उसके मनोविश्लेषण और आन्तरिक विशेषताओं के समुचित विकास पर ध्यान नहीं दिया जाता। यह मतवाद साम्प्रदायिक कट्टरता और अपनी विशिष्ट कार्य-पद्धति के कारण प्रायः संकीर्ण समझा गया है। आघातकारी और छिद्रान्वेषी रचना-शैली को अपनाने के कारण इस पर अश्लीलता, अनैतिकता, कुत्सा-प्रचार, आदि सामाजिक आरोप लगाये गये हैं जो साहित्यिक मानों पर केवल अनौचित्य या भावाभास की सीमा में गृहीत हो सकते हैं।

इस धारा के प्रदेय का उल्लेख किया जाना अभी शेष है। हमारे यहाँ साम्प्रदायिक अर्थ में इसे 'वाद' की सीमा में गृहीत किया गया, पर सामाजिक विकास के सामान्य सन्दर्भ में यह प्रगतिशील धारा के रूप में स्मरण किया जाता रहा। राजनीतिक मत-वाद से नियन्त्रित लेखकों के कारण इसे प्रगति के वाद की संज्ञा प्राप्त हुई, पर स्वतन्त्र-चेता रचनाकार प्रगति का शीलत्व ही स्वीकार कर सके। इसकी सर्वप्रधान उपलब्धि यह दिखाई पड़ी कि जीवन के यथार्थ के प्रति हम जागरूक हुए और अन्तर्जगत् के स्थान पर बहिर्जगत् को देखने-परखने लगे। हमारे साहित्यकारों ने सामाजिक यथार्थ की बोधव्यता का विकास किया। कल्पनाशील और वैयक्तिक प्रवृत्तियों के स्थान पर वस्तु-निष्ठ और सामाजिक प्रवृत्तियाँ साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय दिखाई पड़ीं। गत दो दशकों के साहित्य में युग-बोध और यथार्थ चेतना का व्यापक प्रसार हुआ। इसे स्वस्थ विचारणा और प्रतिक्रियावादी धारणा के खेमों में विभक्त किया गया है, जिसका जो भी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक पक्ष हो, पर यह निस्सन्देह साहित्यिक विभाजन नहीं है। हमारे यहाँ असाम्प्रदायिक समाजवाद की साहित्यिक प्रतिष्ठा ही सामान्यतः हो पाई है। यह राष्ट्रवादी समाजवाद, स्वच्छन्दतावादी समाजवाद, मानववादी जनवाद या समाजवादी यथार्थवाद, जैसे विविध रूप-प्रकारों में गृहीत हुआ है। कट्टर वर्गवाद या हठवादी समाजवाद इने-गिने लेखकों की कृतियों में ही प्रत्यक्ष हो पाया है। हमने प्रायः इस धारा को स्वतन्त्र रूप से ही अपनाया है। जहाँ-तहाँ आत्मवाद और भूतवाद को समन्वित करने के छुट-पुट प्रयत्न भी हुए हैं।

रचना के क्षेत्र में नये-नये सामाजिक विषयों को ग्रहण किया गया है। कृषक और श्रमिक वर्ग को नई साहित्यिक अर्थवत्ता प्राप्त हुई है। पूँजीवादी और शासनाधिकारी वर्ग के प्रति सक्रिय विरोध का भाव विद्वेषभरी और आग्रहमयी अभिव्यक्तियाँ करता रहा है। उपेक्षा वृत्ति के स्थान पर विरोध और समर्थन के स्वर मुखर हो उठे

है। परिवर्तन की पुकार बलवती बनी है और मुखियों, महन्तों, सामन्तों और पुनः-पतियों के विनाश की कामना की गई है। धर्म, अर्थ और राजनीति के विविध सामाजिक क्षेत्रों में इसका स्पष्ट प्रसार हुआ है। अत्याचारों का विशद् चित्रण किया गया है तथा मर्मस्पर्शी संवेदना का विधान हुआ है। सामाजिक असंगतियों, वैचारिक अंत-विरोधों और शासन की विशृंखलताओं पर खुलकर प्रहार किये गये हैं। गाँवों, गरीबों और नारियों के विषमता-भरे चित्रण में आत्यंतिक यथार्थ दृष्टि का विनियोग हुआ है। ये चित्रण प्रायः करुणोत्पादक हैं और कहीं-कहीं विशेषतः नारी विषयक चित्र आसक्ति भरे या सुरुचि रहित भी हैं। प्रगतिवादी धारा ने प्रत्यक्ष जीवन का व्यापक विषय-क्षेत्र अपनाया है जिसके कारण वैचारिक विभेद न होते हुए भी रचनाओं में विषयों का वैविध्य प्रकट हुआ है। प्रेम का विकृत रूप, उत्साह का आवेग और करुणा की मार्मिकता मुख्यतः यहाँ अभिव्यक्त हुई है। इसमें परिवर्तन की तथ्यनिष्ठता, जीवन की आस्था, समस्त प्रक्रिया मूलक तत्त्वों के प्रति क्षोभ भरा विद्रोह और परिस्थितियों तथा कार-व्यापारों का उसके वास्तविक रूप में दर्शन की चेष्टा प्रत्यक्ष हुई है। साहित्यिक रचना-कार्य में एकदेशीयता का परित्याग, वर्ग भावना का उन्मेष, समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव, बुद्धिवाद का प्रसार तथा व्यंग्य, विनोद और आघात का विधान हुआ है। कलात्मक प्रसाधन की अनावश्यकता अवश्य समझी गई और काव्य रचना तथा अलंकार-नवीसी ममकक्ष हो चली। सरल और सीधी अभिधा-विशिष्ट शैली प्रायः अपनाई गई पर उपमानों के चयन में यह सतर्कता बरती गई कि वे प्रभावपूर्ण हों। व्यंग्य विषयक और प्रहार मखौल की नई-नई शैलियाँ आविष्कृत हुई। सामान्य जीवन तथा ग्रामीण वातावरण की व्यवहृत भाषा या अभिव्यक्ति-भंगिमाएँ समादृत की गई। प्रचार प्रवृत्ति का रचना-कार्य होने के कारण यहाँ तर्क-प्रतिपादन, उपदेश-कथन, वृत्त-वर्णन, आदि से सम्बद्ध रचना प्रणालियाँ प्रयुक्त हुईं, जिनके द्वारा उद्बोधन या व्यंग्य तर्क या विचार अथवा वस्तु या विषय के विवरणों को प्रभावपूर्ण बनाने का आयास हुआ। इन रचनाओं में समय का तकाजा और अवसर का महत्त्व समझा गया है। यह कर्म की प्रेरणा और गति का संदेश देने वाला साहित्य है।

संक्षेप में, प्रगतिवाद की मान्यता है कि साहित्य सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति है और उसका मूल्यांकन भी समाज शास्त्रीय तथा मार्क्सीय प्रतिमानों पर होना चाहिए। वह अपनी ही नहीं, अन्यान्य साहित्य सृष्टियों की समीक्षा भी अपने मानदण्डों से करता है। इसने जीवन के प्रति भावनात्मक और कल्पनाशील दृष्टिकोण को छोड़ कर वस्तुमूलक तथा बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया है। जीवन के विशेषत्व की निष्ठा के स्थान पर सामान्यत्व की प्रतिष्ठा सम्भव हुई है। वैयक्तिकता के स्थान पर समूह-भावना और सामाजिक हित या प्रगति को समस्त रचना-कार्य का आधार समझा गया है। युग चेतना का आग्रह विश्व-व्यापी घटनाओं और सामयिक परिस्थितियों

के प्रति जागरूकता उत्पन्न कर सका है। मतवादी और वर्ग-भावना से ग्रस्त रचना-व्यापार होते हुए भी इस धारा में अदम्य उत्साह, व्यापक करुणा और अक्षम्य क्षोभ के मनोभावों का व्यापक प्रसार हुआ है। मानव को एकांगी दृष्टि से देखने के कारण प्रगतिवादी साहित्य ने बद्धमूल धारणाओं, स्थायी संस्कारों और असंगत रीति-नीति तथा आचार-व्यवहार पर कस-कस कर प्रहार किये हैं। इसका जीवन-दर्शन नया है और रचना-पद्धति भी नवीन है। अतएव साहित्यिक रूपों, अभिव्यक्ति-भंगिमाओं, भाषा-शैलियों, अलंकरण-पद्धतियों तथा लय और प्रवाह के गति बन्दों में नये-नये परिवर्तन होते रहे हैं। आशय यह है कि प्रगतिवाद विशिष्ट दर्शन और सामान्य जीवन का मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त है।

प्रगतिवाद

श्रीमती विजय चौहान

[१]

सन् १६३६ म प्रगतिशील लेखक संघ के जन्म के साथ भारतीय भाषाओ के साहित्यो म भी मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव मुखर हो उठा। प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की बगल म और एक सीमा तक उसके विरोध म साहित्य का एक नया दृष्टि-कोण सामने आया जिसे आगे चलकर हिन्दी-साहित्य म 'प्रगतिवाद' के नाम स पुकारा गया। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण स विभिन्न देशो के मार्क्सवादी आलोचक पिछली शताब्दी मे ही जिस वैज्ञानिक सौन्दयशास्त्र की रचना करते आये हैं 'प्रगतिवाद' वस्तुत उसका ही भारतीय नामकरण है।

साहित्यालोचन के इस दृष्टिकोण ने अनेक तात्त्विक और व्यावहारिक प्रश्न उठाये हैं और अपने वस्तुवादी जीवन-दर्शन की सहायता स उनका विवेचन करके उनके समाधान भी उपस्थित किये हैं। साहित्य और कला क्या है और मूल्याकन की समस्या क्या है? इन दो मूल प्रश्नो तथा इनसे सम्बद्ध अनेक दूसरे प्रश्नो का उत्तर 'प्रगतिवाद' ने अपनी वैज्ञानिक स्थापनाओ स साहित्य शास्त्र को नई दृष्टि दी है।

यह अलग बात है कि अनेक 'प्रगतिवादी' आलोचक अपने वक्तव्यो और विवेचनो म मार्क्सीय सौन्दय-शास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति का पालन नही कर पाये और विशेष स्थानीय प्रभावो के कारण उनकी आलोचना-दृष्टि पथ भ्रष्ट होकर मूलत फ्रासीसी इतिहासकार टेन' (Hippolyte Taine) के सापक्षतावादी सौन्दय सिद्धान्त का अनुगमन करने लगी जिससे प्रभाव ग्रहण करके रूसी विचारक प्लेखानोफ (Art and Society) ने साहित्य के सम्बन्ध म मार्क्सीय विचारधारा को कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के बीहड जगल म भटका दिया था। इस कुत्सित समाज-शास्त्रीय ने साहित्य

और कला की कृतियों, शैलियों (तथा इससे भी अधिक, जन्म या सामाजिक स्थिति के आधार पर साहित्यकारों-कलाकारों) के वर्ग-आधार को ढूंढ़ निकालने में अपने आलोचक-कर्म की इतिकर्तव्यता समझ ली। बहुत दिनों तक मार्क्सवादी आलोचक इस बीहड़ जंगल में भटकते रहे और मार्क्स-लेनिन के कला सम्बन्धी सिद्धान्तों की उपेक्षा करते रहे। मूल्यांकन के नाम पर किसी कृति को मनमाने ढंग से 'सामन्ती' पूँजीवादी (बुर्जुआ) या प्रोलेतेरियन—जैसे तीन-चार खानों में ठूंस-ठांसकर रख देना और कलाकारों को इनमें से किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधि घोषित कर देना ही उनके निकट सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया। एक लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष के बाद अन्य देशों के मार्क्सवादी विचारक अपने ही बीच के कुत्सित समाजशास्त्रियों और उनके अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और कुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण को नंगा कर देने में सफल हुए हैं, किन्तु अभी तक हिन्दी में 'प्रगतिवाद' के नाम पर कुत्सित समाजशास्त्रीयता का ही बोलबाला है, जिससे प्रगतिवाद के विरोधियों को उस पर गलत आरोप लगाने का अवसर मिलता गया है।

और यह बात भी अलग है कि 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण से प्रभावित कवियों और कथाकारों ने हिन्दी में जो साहित्य रचा वह कला की दृष्टि से (जिसमें विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व अन्योन्याश्रित होते हैं) बहुधा उच्च कोटि का नहीं हो पाया। बल्कि यदि समग्र रूप से देखें तो रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र का यथार्थ-वाद और छायावादी कवियों की मार्मिकता भी इन रचनाओं में नहीं है। इसमें जो कोरी 'नारेबाजी का साहित्य' (?) नहीं है वह भी अधिकतर साधारण कोटि का ही है। उसमें जीवन-यथार्थ के ऊपर से प्रत्यक्ष दीखने वाले अंगों का ही यथा-तथ्य प्रकृत (नेचुरलिस्टिक), रूप-रस-वर्ण-गन्धहीन, उथला-पुथला चित्रण है; जो युग-सत्य का उद्‌घाटन न करके उसे एकांगी और विकृत बना देता है। उसमें जिन पात्रों का चित्रण हुआ है वे प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) नहीं, बल्कि यन्त्रवत् लेखक की इच्छा-अनिच्छा पर उठने-बैठने-बोलने वाली कठपुतलियाँ है, जो सजीव न होकर विचारों और वर्गों की 'प्रतीक' हैं। इस नये साहित्य में नई विचार-वस्तु को अधिकतर ऊपर से ठूंसकर क्रान्तिकारिता का आभास पैदा किया गया है। वास्तव में उसमें नया कुछ भी नहीं है, वह विचारों को स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं देता और न भावनाओं को अधिक संवेदनशील, उदात्त और मानवीय बनाता है, क्योंकि उसमें यथार्थ का वेदन नहीं है। दुर्भाग्य से यशपाल, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन—जैसे प्रमुख कथाकार भी, अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण के बावजूद, इस ह्रासोन्मुखी कला-दृष्टि से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये। उन्होंने भी यह प्रभाव देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों से ग्रहण किया है, जिससे वे अपनी कला सम्बन्धी समस्याओं का सही समाधान खोजने में एक सीमा तक असमर्थ रहे हैं।

परन्तु नये साहित्य म या प्रगतिवादी आलोचना म यदि ये विकृतियाँ आई हैं और जिन्हीं कारणों म हमारे देश म आज भी नय साहित्यकार प्रकृत-चित्रण (नचुरलिज्म) और अधिकतर प्रगतिवादी आलोचक कुत्सित समाजशास्त्रीयता की ही ओर बरबस आकृष्ट होते हैं तो इससे 'प्रगतिवाद' के वास्तविक दृष्टिकोण और उसकी साहित्य रचना सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल्य किसी भी अश म कम नहीं हो जाता। कुत्सित समाजशास्त्रीयता की अनैतिहासिक अवैज्ञानिक और सापेक्षतावादी प्रवृत्ति केवल एक परिस्थितिजन्य सामयिक विकृति है, जिस प्रकार 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त और प्रतीकवाद प्रकृतवाद, रूपवाद चित्र-कल्पनावाद आदि की प्रवृत्तियाँ ह्रासोन्मुखी समाज की परिस्थितिजन्य सामयिक विकृतियाँ हैं। अन्तत प्रगतिवाद का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही विजयी होगा क्योंकि यह ऐतिहासिक भौतिकवादी है और विश्व की श्रेष्ठतम कला और साहित्य की परम्पराओं के सांगोपांग अध्ययन विवेचन के द्वारा विकसित हुआ है और हो रहा है। इसके साथ ही हमारे यहाँ का प्राचीन काव्य-शास्त्र और उसके सिद्धान्त यद्यपि अपने म सम्पूर्ण दिखते हैं किन्तु फिर भी न तो वे कला और साहित्य-सम्बन्धी उन मौलिक प्रश्नों का समुचित उत्तर ही दे सकते हैं जिन्हें प्रगतिवाद' ने उठाया है और न वे हम प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का सही-सही कलात्मक—अत सामाजिक—मूल्य आँकने की पर्याप्त गहरी ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यबोधिनी अन्तर्दृष्टि ही देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन काव्य-शास्त्र म अब ऐसे तत्त्व नहीं रहे जो उपयोगी हों, या नया साहित्यकार अपनी कृति म रस और काव्यानन्द की सृष्टि न करके उसे नीरस बना दे और नया पाठक उसकी कृति से मनोरंजन की अपेक्षा ही न रखे, या नये साहित्य के रूप विधान और रचना-तन्त्र म अलंकार वक्रोक्ति गुण और ध्वनि आदि का कलात्मक समाहार निष्प्रयोजन समझा जाय या नया आलोचक प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की शब्दावली का त्यागकर सर्वथा नये शब्द संकेत गढ़े। प्राचीन मनीषियों और विचारकों की देन के प्रति ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण प्रगतिवाद का न था, न है। वस्तुत प्रगतिवादी विचारकों का आरम्भ से ही यह दृष्टिकोण रहा है कि वैज्ञानिक सौन्दर्य शास्त्र का निर्माण तभी हो सकेगा, जब आदि काल से लेकर आज तक साहित्य-कला सम्बन्धी जो अनुभव सिद्ध और मूर्त्त सत्यान्वेषी उद्भावनाएँ होती आई हैं, उन सबका ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक व्यापक सौन्दर्य सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहार और समन्वय किया जाय।

सम्भवत इसीलिए प्रारम्भ म 'प्रगतिवाद' ने अधिकतर वे प्रश्न ही उठाये जो आधुनिक जीवन और कला-साहित्य के विशिष्ट विकास ने अनिवार्य रूप से स्थापित कर दिये हैं और जिन पर वैज्ञानिक रीति से विचार करना आधुनिक विज्ञान और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण ने सम्भव बना दिया है। प्राचीन काव्य शास्त्र के विवेचक आचार्यों के सम्मुख ये प्रश्न इस रूप म न उठे थे, न उनका वैज्ञानिक उत्तर

दे सकना ही उस समय उनके लिए सम्भव था। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन करके प्रगतिवादी सौन्दर्य-शास्त्र उन्हें किस रूप में और किस सीमा तक ग्रहण कर लेगा, इस बारे में मैं जल्दी ही कोई मत प्रकट करना उचित नहीं समझती। यद्यपि यह कह देना अवश्य निरापद होगा कि हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने अपने दायित्व को समझकर अभी तक गम्भीरता से प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन-विवेचन नहीं किया है।

[२]

प्रगतिवाद की दृष्टि मे स्वयं कला क्या है ?—इस प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान पाना ही सबसे मौलिक समस्या है, क्योंकि और सब समस्याओं, जैसे वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला-निर्माण की पद्धति क्या है अर्थात् कला मे विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व का समन्वय कैसे होता है और कला किस प्रकार वास्तविकता (रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करती है, कला का सामाजिक प्रयोजन क्या है और वर्ग-समाज हो या वर्गहीन समाज, श्रेष्ठ कलाकार क्योंकर मानव आत्मा का शिल्पी होता है और इस प्र.ार समग्र मानवता का सजग सत्यान्वेषी पक्षधर बनता है तथा इस कर्त्तव्य से च्युत होकर वह किस प्रकार अपनी कला का ही हनन कर बैठता है आदि सभी समस्याओं का समाधान इस मौलिक प्रश्न के ही आश्रित है।

कला क्या है ?—इस प्रश्न के उत्तर अरस्तू और भरत मुनि के समय से साहित्य-कला के आचार्य देते आये हैं, किन्तु उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक न होगा। मार्क्सीय ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से कला भी एक प्रकार की सामाजिक चेतना है, या कहें, कला सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य का मानस सामाजिक वास्तव (सोशल रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करता है। आदि काल से लेकर आज तक की कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर काल और हर युग में कला वास्तविकता या जगत के धार्मिक बोध का ही साधन रही है। सामाजिक सम्बन्धों में पड़कर मनुष्य अपने चतुर्दिक् जगत् के बारे में क्या सोचता-समझता है और सक्रिय रूप से उसे कैसे बदलता है, कला के माध्यम से उसने अपनी इस सामाजिक चेतना को ही अभिव्यक्ति दी है। सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप होने के कारण कला मनुष्य के सत्य का उद्‌घाटन करने और उसका बोध कराने का साधन है। मनुष्य का सत्य कोई निर्विकार, निरपेक्ष, कालातीत वस्तु नहीं है जो अलग से प्रत्येक मनुष्य में निहित हो। वास्तव में बाह्य प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष-रत मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का सत्य ही मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित करती है।

कलाकार मानवता के सघर्ष का अगुआ है क्योंकि अधिक सवेदनशील प्राणी होने के कारण वह वास्तविकता के नित्य नये पहलुओं का उद्घाटन करता जाता है और मनुष्य के भाव-विचारों को नयी स्फूर्ति मनुष्य की चेतना को नयी सवृद्धि देता हुआ मनुष्य को अधिक मानवीय और सौन्दर्यप्रिय बनाता है। साहित्य और कला का यही प्रयोजन है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धात को भारतीय प्रतिबिम्बवाद का प्रतिरूप नहीं समझ लेना चाहिए। भारतीय प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रतिबिम्ब। किन्तु मार्क्सीय भौतिकवादी दर्शन के अनुसार उसको प्रतिबिम्बित करके उसका बोध कराती है। साहित्य और कला तो वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को किंचित् विस्तार से समझ लेना होगा। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध रूपगत प्रकृत चित्रण से नहीं है। अर्थात् श्रेष्ठ कला में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब हू-बहू उसकी अनुकृति नहीं होता। प्राचीन काल में अफलातून अरस्तू आदि ने प्रकृत की अनुकृति (इमीटेशन) को ही कला की सचाई की कसौटी माना था। किन्तु यदि ध्यान से देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि अनुकरण का सिद्धान्त वस्तुतः रूपवादी है और उसका यथार्थवाद' कला के रूप-तत्त्व (फार्म) तक ही सीमित है। यह वस्तु (आब्जेक्ट) का ज्यों का त्यों चित्रण कर देने का ही सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यदि एक युवती का चित्र है तो उसके नख शिख का ज्यों का-त्यों अविकृत खाका खींच देना ही कला की श्रेष्ठता का प्रमाण मान जायगा। किन्तु प्रगतिवाद इस प्रकार के यथारूप चित्रण को एकांगी ही नहीं, कला की मूल प्रकृति के विरुद्ध भी समझता है। यद्यपि भौतिक जगत् (वास्तविकता) का अस्तित्व मनुष्य की चेतना पर निर्भर नहीं करता और उसकी स्वतन्त्र इयत्ता है—यानी विषयी (सब्जेक्ट या मनुष्य) से बाहर भी विषय (आब्जेक्ट या प्रकृति) की सत्ता है लेकिन साथ ही यह भी निश्चित है कि मनुष्य भौतिक जगत् या वास्तविकता का अविच्छिन्न अंग है और इस वास्तविकता को बदलने अपने अनुकूल बनाने के निमित्त विषयी रूप में हमारी सवेदात्मक ऐन्द्रियिक क्रियाशीलता का जो प्रतिबिम्ब हमारे मानस पर पड़ता है—उसी से चेतना का जन्म होना है। प्रकृति को बदलने अपने अनुकूल बनाने वाली इस चिरकालिक क्रियाशीलता का एक अंग ही कला है। कला किसी शाश्वत या परिवर्तनशील प्रकृति की अनुकृति नहीं है कि विषय (आब्जक्ट) के रूप में मनुष्य निस्सग और निर्विकार मन से उसका मनन चिन्तन करते रहें बल्कि वह जीवन की मार्मिक छवियों के द्वारा मनुष्य-समाज के यथार्थ-सत्य का प्रतिबिम्बन करती है। इसलिए प्रगतिवाद यथारूप अनुकृति को नहीं यथार्थवाद' को कला की श्रेष्ठ कसौटी मानता है। यथार्थवाद को इसलिए कि उसका सम्बन्ध कला के रूप-तत्त्व से नहीं बल्कि

विचार-तत्त्व या विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) से है। कलाकार वास्तविकता के किसी विशिष्ट अंग या सत्य उद्‌घाटन करने के लिए जिस विचार का प्रेषण करना चाहता है—कला के रूप-तत्त्व की समस्या उसे जीवन की मूर्त्त और मार्मिक छवियों द्वारा पूरी तरह अभिव्यक्ति देने और उस विशिष्ट छवि का साधारणीकरण करके उसे सबके लिए अर्थवान् बनाने की समस्या है। अर्थात् रूप-तत्त्व किसी मूल-विचार (कण्टेण्ट) की अभिव्यक्ति और प्रेषण का ही माध्यम है।

इतिहास साक्षी है कि प्राणवान् और श्रेष्ठ कला के निर्माताओं ने यथार्थ या वास्तविकता की किसी परिकल्पना को ही मानव-जीवन के किसी सत्य या रहस्य को ही उद्‌घाटित करने के लिए मनोनुकूल रूप-विधानों का आश्रय लिया है। परियों की कथाओं, अन्योक्ति-विधानों और धार्मिक रचनाओं में भी यथार्थ-जीवन का देश-काल-सापेक्ष्य सत्य ही प्रतिबिम्बित हुआ है। यथार्थ केवल वही नहीं है जो प्रत्यक्ष दिखता है, सीधे तौर पर अनुभवगम्य है, अर्थात् जो वर्तमान में है। प्रकृति और मानव-जीवन (वास्तविकता) निरन्तर परिवर्तनशील है। उसका अतीत भी है और भविष्य भी। कोई भी वस्तु आत्म-निर्भर नहीं। असंख्य सीधे और परोक्ष सम्बन्धों-अन्तर्सम्बन्धों द्वारा अन्य वस्तुओं से जुड़ी हुई है। इसलिए वास्तविकता के यथार्थ को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जिस केन्द्रीय विचार को अभिव्यक्ति देना चाहता है उसका वैविध्यपूर्ण, अन्तरंग और मूर्त्त चित्रण करे ताकि वह केन्द्रीय विचार अपने समस्त अन्तर्सम्बन्धों के साथ उद्‌घाटित हो जाय। श्रेष्ठ कला के निर्माण की यही प्रणाली है, और कोई नहीं। प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थ-वाद' को श्रेयस्कर माना था। प्रकृतवाद या यथार्थ के फोटोग्राफिक हू-बहू चित्रण को अक्सर 'यथार्थवाद' की संज्ञा दी जाती रही है, क्योंकि इस प्रकार केवल कला के रूप-तत्त्व (फार्म) से ही उसका सम्बन्ध जोड़ देने से उस पर सहज ही आक्रमण किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने इसीलिए 'यथार्थवाद' के साथ 'आदर्शोन्मुखता' का संयोग किया था, क्योंकि एक श्रेष्ठ कलाकार होने के नाते वे केवल वास्तविकता के उस रूप से ही सन्तुष्ट न थे जो 'है', बल्कि उसके सत्य का उद्‌घाटन करने के लिए यह दिखाना भी जरूरी समझते थे कि 'वह क्या था' और 'क्या होने वाला है' या 'होना चाहिए।' वास्तव में यही 'यथार्थवाद' है, क्योंकि वास्तविकता गतिशील है। हमारे एक प्रगतिवादी (या कुत्सित समाजशास्त्री) आलोचक[1] हैं, जो इस बात को न समझ पाकर 'आदर्शोन्मुख' शब्द का प्रयोग करने के लिए प्रेमचन्द पर ही पिल पड़े। उन्होंने इस बात का भी ध्यान न रखा कि दार्शनिक विचारधारा के रूप में आदर्शवाद

१. डा० रामविलास शर्मा कृत 'प्रेमचन्द'।

का जो अर्थ है साधारण प्रयोग में आदर्शवाद का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है। एक जगह आदर्शवाद का अर्थ अध्यात्मवाद है तो दूसरी जगह उसका अर्थ कोई मानवीय नैतिक सामाजिक लक्ष्य मात्र है। प्रेमचन्द ने इस दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया था क्योंकि वे सम्भवतः यह न जानते थे कि यथार्थवाद के अन्दर यथार्थ जीवन की सम्भावनाएं भी निहित हैं। उदाहरण के लिए वर्गहीन साम्यवादी समाज की ओर इतिहास प्रगति कर रहा है तो वह हर देश की शोषित-पीड़ित मानवता का लक्ष्य भी है और आदर्श भी। इसलिए एक सच्चा कलाकार जब वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है तो यथार्थ रूप में अर्थात् दैनन्दिन जीवन में जो कुछ साधारणतः घटित होता रहता है उस सब को ज्यों का त्यों नहीं चित्रित कर देता, बल्कि ऐतिहासिक सम्भावना की दृष्टि से यथार्थ के सत्य को उद्घाटित करने के लिए जो भी सारपूर्ण हैं प्रामाणिक हैं केवल उन्हीं अंशों का चयन करता है। वस्तुतः कला की भाषा जीवन और इतिहास की भाषा होती है।

मनुष्य की चेतना के विशिष्ट रूप होने के नाते कला और विज्ञान दोनों ही भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करते हैं और सत्य का बोध करने के साधन हैं। मनुष्य की चेतना निरपेक्ष सत्य (एब्सोल्यूट-ट्रुथ) का बोध प्राप्त करने में समर्थ है—निरपेक्ष सत्य सापेक्ष्य सत्यों के समाहार का ही परिणाम होता है। इससे ये दोनों बातें सिद्ध हैं कि (१) वास्तविकता में मूलतः कोई ऐसा तत्व नहीं है जिसको मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित नहीं कर सकती और उसे नेति-नेति की आर्त घोषणा करनी पड़े तथा (२) अपने सक्रिय जीवनानुभव और ज्ञान की सहायता से मनुष्य की चेतना वास्तविक जगत् को प्रतिबिम्बित नहीं करती तो वह निस्सार, शून्य और खोखली ही बनी रहती है। इससे स्पष्ट है कि कला और विज्ञान जो वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं यदि ऐसा न करते होते या न करें तो वे अर्थवान् नहीं बन सकते। कला के लिए कला के नाम पर केवल रूप-तत्त्व को प्रधानता देने वाले जो अनेक प्रवाद खड़े किये जाते रहे हैं उनकी निरर्थकता स्वयं सिद्ध है।

कला और विज्ञान यद्यपि इस जगत् और जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं परन्तु दोनों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। विज्ञान विचारों के रूप में वास्तविकता का बोध कराता है तो कला मार्मिक और अर्थवान छवियों या जीवन चित्रों के रूप में। विज्ञान अलग-अलग (विशिष्ट) तथ्यों का निरीक्षण करके उनके आधार पर सामान्य नियमों की खोज करता है क्योंकि इन नियमों की जानकारी बाह्य प्रकृति को बदलने नियन्त्रित करके अपने लिए उपयोगी बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मनुष्य की समस्त क्रियाशीलता का आधार और उत्तरोत्तर प्रकृति के अन्ध प्रकोपों से उसकी मुक्ति का साधन बनती है। इसके विपरीत कला विचारों की अमूर्त भाषा में नहीं बल्कि अर्थवान् मार्मिक छवियों या जीवन चित्रों की

भाषा में वास्तविक जगत में होने वाली घटनाओं या उनमें भाग लेने वाले मानव-चरित्रों के सक्रिय, अन्तरंग और वैविध्यपूर्ण चित्र अंकित करके और उनके माध्यम से सामान्य या प्रतिनिधि रूपों का उद्घाटन करती है। तात्पर्य यह कि विज्ञान आदि विशिष्ट तथ्यों को अमूर्त विचारों द्वारा सामान्य (जनरल) के रूप में उपस्थित करके उनकी इयत्ता को सिद्ध और प्रमाणित करता है तो कला सामान्य विचारों और धारणाओं को मूर्त्त, व्यक्ति-चित्रों के रूप में अंकित करती है जिससे अपने गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के साथ वस्तुओं, घटनाओं और व्यक्तियों की निश्चित, मूर्त्त और विशिष्ट छवियां दर्शनीय और संवेदनीय हो उठें। कला इस प्रकार विशिष्ट के माध्यम से साधारण (रवीन्द्रनाथ के शब्दों में ससीम में ही असीम) की उपलब्धि कराती है।

इसके अतिरिक्त कला और विज्ञान में एक उल्लेखनीय भेद है। विज्ञान का कोई सिद्धान्त या उसकी कोई भी स्थापना उससे अधिक व्यापक और प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त या स्थापना द्वारा रद्द की जा सकती है, किन्तु कला के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक कला-कृति अपने-आप में सम्पूर्ण, अविभाज्य इकाई होती है और इसी रूप में इतिहास में अमर होती है। यह ठीक है कि देश-काल की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ और प्रभाव ग्रहण करते हैं, लेकिन उसकी प्रेरणा देने की शक्ति अपनी सम्पूर्णता और अविभाज्यता में ही निहित है। कला के क्षेत्र में नये प्रयोगों और नई कृतियों के निर्माण से उसका सौन्दर्य या सत्य नष्ट नहीं हो जाता कि उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय। उदाहरण के लिए, पृथ्वी के चारों ओर सूर्य घूमता है—किसी युग विज्ञान की यह स्थापना चाहे गलत सिद्ध होकर आज व्यर्थ हो गई हो, लेकिन वाल्मीक, व्यास, कालिदास और तुलसीदास के काव्य-ग्रन्थ या अजन्ता के चित्र इतने युग बीत जाने पर भी व्यर्थ और निरर्थक नहीं हुए, न कभी होंगे। इतना ही नहीं, यदि एक ही विषय को लेकर बहुत से कलाकार रचना करें तो उनकी कृतियाँ एक-दूसरे से सर्वथा मौलिक हो सकती हैं और वास्तविकता के विविध पहलुओं का उद्घाटन कर सकती हैं और उन सब रचनाओं से मानव-संस्कृति समृद्ध हो सकती है। कारण स्पष्ट है कि कला में अनन्त वैविध्यशालिनी वास्तविकता का कल्पनाजन्य, संवेदनात्मक प्रतिबिम्बन होता है, और वास्तविकता की ही तरह कला-कृति का निर्माण व्यक्ति-छवियों के अन्तर्सम्बन्धों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही होता है।

कला और विज्ञान के इन भेदों को इससे अधिक आगे बढ़ा कर देखना उचित न होगा क्योंकि वैज्ञानिक या कलात्मक चेतना का सामान्य माध्यम मनुष्य के इंद्रियज-संवेदन ही है जो बाह्य वास्तविकता का बिम्ब ग्रहण करके उसे पुनः प्रतिबिम्बित करते हैं। अर्थात् इस द्वैत की कल्पना कर लेना एक प्रवंचना को जन्म देना होगा कि

मनुष्य अपने ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष में उनसे सदा ही प्रेरणाएँ लेते जायेंगे। इसी तात्विक दृष्टि से प्रगतिवाद एक सच्चे कलाकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानता है। पर एक सच्चे कलाकार या मानव आत्मा के शिल्पी का गौरवशाली पद किसी व्यक्ति को तभी मिला है या मिल सकेगा जब वह अपनी कला-कृति से जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करके उसके किसी-न किसी ऐतिहासिक सत्य को उद्घाटित करता है या भविष्य में करेगा। इसी अर्थ में सच्चा कलाकार मानवता का पक्षधर होता है। वह जीवन का निरपेक्ष द्रष्टा नहीं, सक्रिय चितेरा होता है, यानी मनुष्य के सामने देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार इतिहास सामाजिक विकास की जो नई-नई सम्भावनाएँ पैदा करता जाता है और उनसे मनुष्य के कर्म जीवन में जो नई-नई समस्याएँ उठती जाती हैं, सच्चा कलाकार इस यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देकर मनुष्य को अपने जीवन की यथार्थ समस्याओं और सम्भाव्य समाधानों का साक्षात् कराता है, और इस प्रकार मनुष्य को कर्म की प्रेरणा देता है।

[३]

ऊपर के विवेचनों में हमने प्रगतिवाद के दृष्टिकोण से कला क्या है, वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला किस प्रणाली से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, कला में विचार-तत्त्व और रूप-तत्त्व का संयोग किस प्रकार होता है तथा कलाकार क्योंकर मानवता की प्रगतिशील शक्तियों का पक्षधर होता है, इन मौलिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। अब हम इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन के प्रश्न को संक्षेप में समझ लेना चाहेंगे, क्योंकि कुत्सित समाज-शास्त्रियों ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में ही सबसे ज्यादा विकृत और एकांगी बनाया है।

मूल्यांकन की समस्या क्या है? इस समस्या के दो पहलू हैं (१) साहित्य और कला की प्राचीन कृतियाँ आज भी क्या मूल्यवान् हैं अर्थात् हमें सौन्दर्य-बोध कराने और प्रेरणा देने में क्यों समर्थ हैं और आगे भी रहेंगी, तथा (२) आधुनिक युग में इतनी प्रचुर मात्रा में जो साहित्य रचा जा रहा है उसमें कौन-सी कृतियाँ स्थायी महत्त्व की हैं, अर्थात् समग्र रूप से जीवन का वैविध्यपूर्ण, गम्भीर, यथार्थ और मूर्त्त चित्रण करने के कारण महान् (क्लासिक) हैं। उनकी पहचान करके उनके सही-सही मूल्य को कूतना—मूल्यांकन की वास्तविक समस्या यही है। आज की तरह प्राचीन युगों में भी एक ही समय में सैकड़ों कवि और कलाकार साहित्य-कला के निर्माण में संलग्न रहे हैं लेकिन जिनमें श्रेष्ठ कलाकार की प्रतिभा न थी, उनकी मात्र सामयिक महत्त्व की कृतियाँ अपने आप ही काल-कवलित हो चुकी हैं और आज हमें प्राचीन से विरासत रूप में जो कृतियाँ प्राप्त हैं, उनमें से कौन स्थायी महत्त्व की

हैं और कौन सामयिक महत्त्व की—यह प्रश्न आज हमारे सामने नहीं है। यदि कोई प्रश्न है तो केवल यह कि जो कृतियाँ हमें प्राप्य हैं उनकी सच्ची महत्ता क्या है ? या फिर खोज का प्रश्न है ताकि सामयिक रुचि के कारण कोई वास्तविक रूप से महान् कृति उपेक्षित न पड़ी हो या खो न गई हो। परन्तु जिस साहित्य और कला का निर्माण इस युग में हो रहा है, उसमें कौन वास्तव में श्रेष्ठ और स्थायी महत्त्व की है और कौन केवल सामयिक महत्त्व की—साहित्य और कला के आलोचक के ऊपर उन्हें पहचान कर बताने का दायित्व है। तभी वह श्रेष्ठ कला के विकास में और इस प्रकार मानव-संस्कृति और मनुष्य-मात्र के मुक्ति-संघर्ष की प्रगति में सक्रिय योग दे सकता है।

किन्तु मूल्यांकन की यह समस्या दो कारणों से जटिल बन गई है। एक ओर तो कलावादी हैं जो रूपगत सापेक्षता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, दूसरी ओर कुत्सित समाज-शास्त्री हैं जो कला के वर्ग-आधार के सिद्धान्त को विकृत करके एक दूसरे ही प्रकार का सापेक्षतावाद प्रचारित करते हैं। इन दोनों के कथन या दृष्टिकोण एकांगी हैं, इसीलिए असत्य हैं।

कलावादियों की दृष्टि में कला की श्रेष्ठता को जाँचने की कोई सामान्य (जनरल या ऐब्सोल्यूट) कसौटी नहीं हो सकती। हर युग की कला की रूप-शैली भिन्न होती है तो उसकी श्रेष्ठता की जाँच करने की कसौटियाँ भी उस युग की परम्परा और कला-रुचि के अनुकूल ही होती हैं। दूसरे युग में कला-शैली बदलती है, तो उसके सौन्दर्य की परख करने वाली कसौटियाँ भी बदल जाती हैं और पाठक या दर्शक की रुचियाँ भी। इसलिए अजन्ता की चित्रकला को जाँचने के लिए जो मानदण्ड उन दिनों प्रचलित थे उनसे आधुनिक युग की चित्रकला को जाँचना सम्भव नहीं है और न आधुनिक मानदण्डों से अजन्ता की चित्रकला को जाँचना ही सम्भव है। उसको उस युग के मानदण्डों से ही पसन्द किया जा सकता है।

इससे भिन्न, किन्तु मूलतः सापेक्षतावादी दृष्टिकोण कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का है जो प्रगतिवाद या मार्क्सवाद की रामनामी ओढ़कर सामने आता है। यह दृष्टिकोण कला की भिन्न-भिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति की खोज करने के लिए तत्कालीन समाज की वर्ग-व्यवस्था का विश्लेषण करता है, और उसी की सापेक्षता में उनको जाँचता है या अधिक गम्भीरता का उपक्रम करके 'युग की सामान्य चेतना' से उनका सम्बन्ध जोड़ता है। और अधिक विकृत होकर यह दृष्टिकोण कला-कृतियों का वर्ग-आधार खोजने के लिए उनके निर्माता कलाकारों और साहित्यकारों ने जिस वर्ग में जन्म लिया होता है, उसका हवाला देना-मात्र ही जरूरी समझता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि कलाकार जिस वर्ग में जन्म लेता

कला की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के भाव हैं और विज्ञान की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के विचार हैं—एक की सत्ता भाव-पक्ष तक सीमित है और दूसरे की सत्ता केवल बुद्धि पक्ष तक। इससे यह भ्रम भी लगाया जा सकता है कि कला में विचार-वस्तु होती ही नहीं उसके द्वारा मनुष्य चेतना के तल पर वास्तविकता का बोध नहीं करता बल्कि ऐन्द्रिय संवेदनों के तल पर ही उसकी अनुभूति करता है। प्रगतिवाद कलाकार की सृजन प्रक्रिया तथा कलाकृति दोनों के लिए ऐन्द्रिक-संवेदनों तथा अनुभूति के आत्यन्तिक महत्त्व को तो स्वीकार करता है लेकिन इस अनिवार्य माध्यमिक तत्त्व को कला का मूल तत्त्व या सार तत्त्व नहीं मानता। प्रगतिवाद के अनुसार ये प्राथमिक कोटि के सहज संवेदन और अनुभूतियाँ मनुष्य के लिए तभी अर्थवान और सुन्दर बनती हैं जब वे पाशविक धरातल से ऊँची उठकर मानवीय बन जायें, अर्थात् वास्तविकता के किसी सत्य को मूर्त अभिव्यक्ति दें।

कला की समस्या इसीलिए अर्थवान् और मार्मिक छवियों के माध्यम से वास्तविकता का सारपूर्ण चित्रण करने की समस्या है। विचार-वस्तु (कण्टेण्ट) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के केवल सारपूर्ण प्रसंगों और तत्त्वों को ही चयन करके उपस्थित किया जाय न कि इन्द्रिय-बोध से जो कुछ भी दिखाई दे उस सबकी हू-बहू नकल उतारी जाय। रूप-तत्त्व (फार्म) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के इन सारपूर्ण प्रसंगों को सजीव ढंग से उनके गुण और चारित्रिक विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाय ताकि वे सबके लिए अर्थवान् हो जायें। कला के रूप-तत्त्व की समस्या विचार-वस्तु की अपेक्षा में ही कोई अर्थ रखती है। कलाकार का जो विचार है उसे वह कैसे कलात्मक रूप में व्यक्त करे कि वह सबके लिए प्रेषणीय बन जाय। प्रगतिवाद साधारणीकरण के प्रश्न को इस रूप में ही पेश करता है।

कलाकार मर्म-छवियों के माध्यम से ही अपने विचार को मूर्त और कलात्मक बनाता है, इसलिए इस मर्म छवि को पहले समझ लें। मर्म छवि क्या होती है ? मर्म छवि वास्तव में विशिष्ट और सामान्य (पर्टीक्यूलर और जनरल) की इकाई होती है। यह गुलाब का फूल है—इसमें व्यक्ति वाचक और जातिवाचक दोनों संज्ञाओं का द्वन्द्वात्मक योग है। वस्तुतः दोनों ही एक हैं। विशिष्ट में ही सामान्य है। सामान्य विशिष्ट में है और उसी के द्वारा है। हर सामान्य विशिष्ट का अंग या पहलू होता है। प्रत्येक विशिष्ट असंख्य सूत्रों द्वारा दूसरे विशिष्टों से सम्बद्ध होता है। विशिष्ट और सामान्य परस्पर विरोधी हैं अर्थात् उनका आन्तरिक संघर्ष नित्य है। उन दोनों में एकता स्थापित होती है पर यह एकता अस्थायी सापेक्ष्य परिस्थितिजन्य और अनित्य होती है। यह वास्तविक जगत् का नियम है। कला की दृष्टि से मर्म-छवि का अर्थ यह है कि कलाकार अपने चित्र में विशिष्ट और सामान्य की इस क्षणकालिक, सापेक्ष्य तथा

परिस्थितिजन्य एकता को चिरकाल के लिए अंकित कर देता है जिससे यह चित्र पाठक या दर्शक को सन्तोष प्रदान करता है। लेकिन यह चित्र तभी अर्थवान् और सम्पूर्ण बनता है जब वह इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों के चिरन्तन संघर्ष को भी साथ ही उद्घाटित करे, ताकि उसकी कला-कृति सन्तोष प्रदान करने के साथ ही विचारोत्तेजक भी हो, और मनुष्य को इन दोनों तत्त्वों की ओर भी गम्भीर तथा सारपूर्ण एकता स्थापित करने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दे। उदाहरण के लिए, उपन्यास साहित्य में मर्म-छवि का अर्थ होगा ऐसे सजीव, विशिष्ट मानव-पात्रों की सृष्टि करना, जिनसे वास्तविक जीवन की आभा विकीर्ण होती हो, जो केवल कठपुतली पात्र न हों, अर्थात् उन व्यक्ति-पात्रों के चरित्र, उद्योग और उनकी नियति में मानव-जीवन की वास्तविक नियति पूरी तरह अन्तर्निहित हो, जिससे वे अपनी विशिष्टता में ही सामान्य के प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) बन सकें। प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट पात्र—युधिष्ठिर, दुर्योधन, अर्जुन, द्रौपदी, कृष्ण, भीष्म, कर्ण, राम, भरत, रावण, सीता, दमयन्ती आदि कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, मैलियर, बाल्जक, तालस्ताय, गोर्की, रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के अनेक पात्र ऐसे ही प्रतिनिधि मानव-चरित्र हैं जो मनुष्य के साहस, औदार्य, प्रेम, न्याय, सौन्दर्य, हीनता, असमंजस, भीरुता, नृशंसता, कायरता आदि के देश-काल सापेक्ष्य गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के प्रतीक हैं। अपने सीमाबद्ध जीवन की परिस्थितियों से उनका संघर्ष मनुष्य के ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष का प्रतीक है। इसीलिए उनके हर्ष-विमर्ष, सफलता-असफलता, उत्साह-निराशा में प्रत्येक पाठक न्यूनाधिक मात्रा में अपने विशिष्ट जीवन और भाग्य की समस्याओं की झलक पा लेता है। इस प्रकार कला में साधारण (जनरल) का चित्रण व्यक्ति-पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से ही होता है। बाह्य-जीवन की निश्चित परिस्थितियों से जूझते हुए व्यक्ति-विशेष की निश्चित मन:स्थितियों और भाव-विचार-प्रतिक्रियाओं का उद्घाटन ही 'साधारण' (जनरल या कलाकार के मूल विचार) को इस योग्य बनाता है कि पाठक या दर्शक उसकी सचाई पर विश्वास कर ले और उससे स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर सके।

कला-कृतियों के रूप में या उनके द्वारा ही हम कला का साक्षात् करते हैं। कला-कृतियों के निर्माता कलाकार होते हैं। प्रगतिवाद सच्चे कलाकार को (अर्थात् उसे जिसने वास्तव में अमर कला-कृतियों की रचना की है या जो आज भी कर रहे हैं) मानव-आत्मा का शिल्पी मानता है, क्योंकि कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपनी रची श्रेष्ठ और अमर कला-कृतियों द्वारा इन कलाकारों ने, वे चाहे जिस वर्ग या समाज, देश या काल में क्यों न पैदा हुए हों, समग्र मानवता की संस्कृति को समृद्ध किया है और मनुष्य को अपने दैनन्दिन जीवन की क्षुद्रताओं और सीमाओं से ऊपर उठाकर अधिक मानवीय, सत्यान्वेषी, सौन्दर्यप्रेमी, नैतिक और सामाजिक मानव बनने की प्रेरणा दी है, और किसी-न-किसी रूप में

है, वह उस वर्ग की चेतना को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार चूँकि बीते युगों के कलाकार अधिकतर अभिजात वर्गों में ही पैदा हुए या उन्होंने अपनी जीविका के लिए अभिजात वर्गों की नौकरी की या दरबारों का आश्रय लिया, इसलिए उनकी कला भी सामन्ती या पूंजीवादी आदि है। इसलिए इस दृष्टि से कला का मूल्य जांचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती, क्योंकि जीवन के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण कुछ और था और अब पूंजीवादी दृष्टिकोण कुछ और, तथा समाजवादी दृष्टिकोण कुछ और है। सच्ची कला का तो अभी जन्म ही हुआ है किन्तु वह वर्ग-मुक्त समाज मे ही पूरी तरह विकास करेगी जब श्रमजीवी जनता के बीच से लेखक और कलाकार उत्पन्न होंगे। इस समय तो आलोचक का काम प्राचीन और आधुनिक लेखकों के गले में तख्ती लटकाकर उनको वर्ग-खटे से बाँध देना भर है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक रुचियों और शैलियों का या सौन्दर्य की जांच का प्रश्न है, कला की रुचियाँ, शैलियाँ और मनुष्य की सौन्दर्य दृष्टि बदलती ही नहीं रहती, बल्कि अभिजात वर्ग के लिए जो सुन्दर है, श्रमजीवी-वर्ग के लिए वही असुन्दर है, कर्म जीवन से तटस्थ, केवल काम-क्रीड़ा की वस्तु नारी के कोमल अंग क्षीण कटि और पतली-लम्बी मुलायम उँगलियों का अभिजात आदर्श श्रमिक और किसान नारी के पुष्ट अंग और रूक्ष मजबूत हाथों के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। अतः सौन्दर्य को जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती।

इस प्रकार रूपवादी और कुत्सित समाज शास्त्री दोनों ही अपने एकांगी सापेक्षतावादी दृष्टिकोणों के कारण मूल्यांकन के वास्तविक प्रश्न से कतराते हैं। उदाहरण के लिए, कुत्सित समाज शास्त्री यदि कभी दो कलाकारों की तुलना करते हैं तो अजब औंडी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए मनगढ़न्त आधार पर प्रेमचन्द को गोर्की और तॉल्स्तॉय से महान् सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, क्योंकि गोर्की में आवारापन'[1] और तॉल्स्तॉय मे अध्यात्म'[2] के प्रति मोह था; या भारतेन्दु को शेक्स-पियर के मुकाबले में श्रेष्ठ ठहराते हैं क्योंकि शेक्सपियर सामन्ती वर्ग का प्रतिनिधि कलाकार था और उसकी कला 'ह्रासोन्मुखी' थी जबकि भारतेन्दु जनता के कलाकार थे,[3] या शरत् को मध्यवर्गी कलाकार और पन्त को स्वर्ण तथा प्रतिक्रियावादी आदि[4] सिद्ध करते हैं। किन्तु साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न इतना सरल नहीं है।

इन दोनों दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य है। यह सच है कि कला की शैलियाँ,

---

१ डॉ० रामविलास कृत 'प्रेमचन्द' प्रथम संस्करण।
२ वही।
३ डॉ० रामविलास कृत 'भारतेन्दु युग', प्रथम संस्करण।
४ डॉ० रामविलास के फुटकर लेख।

रुचियाँ, रूप-विधान आदि बदलते रहते हैं। यह भी सच है कि वर्ग-समाज में पैदा हुए कलाकार के संस्कार एक-न-एक सीमा तक अपने वर्ग की मान्यताओं से प्रभावित होते हैं। किन्तु इतना ही सत्य नहीं है। एक कलाकार की सम्पूर्ण चेतना (कलाकार ही क्यों, किसी भी व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना) केवल अपने वर्ग की चेतना तक ही सीमित नहीं रहती। कला, विज्ञान और दर्शन के रूप में ज्ञान की जो पुंजीभूत राशि है, एक कलाकार उसके सम्पर्क में भी आता है तथा साथ ही कला-साहित्य की पूर्व-परम्परा, अपने तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के द्वन्द्व-जनित पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न लोक-चेतना, और अन्य देशों की कला-संस्कृति, जिनसे उस कलाकार का देश असंख्य आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों में पड़कर विनिमय करता है, वह प्रभाव ग्रहण करता है। इसलिए यह सत्य नहीं है कि वह जिस वर्ग में पैदा होता है, उसकी ही विचार-धारा को व्यक्त करता है, और यदि कोई वर्ग या युग ह्रासोन्मुखी है तो उसकी कला भी अनिवार्यतः ह्रासोन्मुखी ही होगी। कला-साहित्य का इतिहास तो यह बताता है कि महान् कलाकार अनिवार्यतः अपने समय की विचार-सीमाओं से आगे के द्रष्टा रहे हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने जो 'है' से आगे बढ़कर इतिहास की गति को पहचानते हुए जो 'होना है' या 'होना चाहिए' की दृष्टि से जीवन-यथार्थ को रूपायित किया है। साथ ही इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि समाज की ह्रासोन्मुखता या प्रगतिशीलता के साथ कला की प्रगति या अधोगति का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत अक्सर ऐसा हुआ है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील युगों में कला का ह्रास हुआ है, और ह्रासकालीन समाजों ने महान् कला को जन्म दिया है। इस आधार पर ही मार्क्स ने कहा था पूँजीवादी युग (जो इतिहास की अपेक्षा बर्बरता, दासता या सामन्तवाद के युगों से अधिक उन्नत युग है) श्रेष्ठ कला के निर्माण के लिए अनुकूल युग नहीं है।

एक कलाकार और उसकी चेतना यद्यपि युग-सापेक्ष्य होती है, क्योंकि वह किसी-न-किसी युग विशेष में ही जन्म लेता है और देश-काल की परिस्थितियों और विचार-धाराओं से अछूता नहीं रह सकता, फिर भी चूँकि वह वास्तविकता के किसी सारपूर्ण अंग या सत्य का चित्रण करता है, इसलिये उसका वस्तुनिष्ठ (आब्जेक्टिव) मूल्यांकन भी सम्भव है। जिस प्रकार व्यक्ति में समष्टि और विशेष में साधारण होता है, उसी तरह सापेक्ष्य में भी निरपेक्ष निहित रहता है। रूपवादियों और कुत्सित समाज-शास्त्रियों को प्रगतिवाद का यह उत्तर है कि यद्यपि कलाकार अपनी कला-कृति के निर्माण के लिए, अपने जीवन-काल की परिस्थितियों से आबद्ध रहने के कारण सापेक्ष मानदण्डों का ही प्रयोग करता है, लेकिन बिना निरपेक्ष के सापेक्ष की कल्पना ही असम्भव है, वह सापेक्ष भी किसी निरपेक्ष की अपेक्षा में ही होता है और इन दोनों का सम्बन्ध भी सापेक्ष होता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के भक्ति-काव्य को लें। भक्ति-भावना मध्य युग की सामान्य लोक-चेतना की माध्यम थी। भक्त कवियों

ने इस सापेक्ष माध्यम को ही अपनाया, किन्तु भक्ति-काव्य के माध्यम से जिन कवियों ने जीवन-वास्तव और तत्कालीन समाज सम्बन्धों के सत्य को जितनी ही गहराई और कलात्मक छवियों के रूप में व्यक्त किया है उस हद तक ही, उस युग-सापेक्ष भावना में जीवन का ऐतिहासिक सत्य प्रतिबिम्बित हुआ है। इसी आधार पर प्राचीन और आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन की सामान्य वस्तुनिष्ठ कसौटी बन सकती है। प्रगतिवाद सापेक्ष और निरपेक्ष इन दोनों कसौटियों पर परखकर किसी कला-कृति का मूल्य आँकता है। इन दोनों कसौटियों पर न परखने से किस आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि तुलसीदास (राम भक्ति के बावजूद) महान् कलाकार हैं और जैनेन्द्रकुमार (गाँधीवादी विचार-धारा के बावजूद) प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के सबसे बड़े कथाकार हैं और उनकी कृतियाँ हिन्दी कथा-साहित्य और इस प्रकार विश्व-साहित्य की स्थायी निधि हैं? कला यदि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है तो वास्तविकता ही कला की साधारण कसौटी है जिसकी अपेक्षा हमें उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जो कलाकार वास्तविकता के किसी सारपूर्ण यथार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं करता उसकी कला निर्जीव होती है और जो आलोचक मूल्यांकन से कतराते हैं उनकी आलोचना सत्यान्वेषी और रचनात्मक न होकर निरर्थक होती है। कला की शैलियाँ, प्रवृत्तियाँ या युग की विचार-धाराएँ सापेक्ष मानदण्ड हैं। केवल उनके आधार पर ही सही-सही मूल्यांकन कर पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार हम अन्ततोगत्वा अपने रुचिगत या विचारगत पूर्वाग्रह को ही कला-कृति का मूल्य आँकने के लिए आरोपित करते हैं।

कला क्या है और मूल्यांकन की वास्तविक समस्या क्या है, इन प्रश्नों पर प्रगतिवाद का यही दृष्टिकोण है।

प्रयोगवादी काव्य की मूल्याङ्कन समस्या

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

शास्त्र शब्द का प्रयोग करते समय कुछ स्थिरता और गतानुगतिकता का बोध होता है। शास्त्र शब्द का यहाँ तात्पर्य है कुछ ऐसे मानदण्डों से जिनके आधार पर हम प्रयोगवादी या नई कविता का निर्णय कर सकें, यह बता सकें कि यहाँ और क्या श्रेष्ठ है, क्या वांछनीय है अथवा क्या निकृष्ट और अवांछनीय है। एक निबन्ध में यह कार्य सम्भव नहीं है, परन्तु स्थूल रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

शास्त्र के निर्माण में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र से भी सहायता मिल सकती है, यह बात प्रयोगवादी या नये कवि नहीं मानते। नया कवि अपने को परम्परा से सर्वथा असम्बद्ध रूप में देखता है किन्तु छायावाद भी अपने को सर्वथा विलक्षण समझता था। रोमानीभावना और नवीन छायावादी शैली से मध्ययुगीन रुचि के ब्रजभाषाप्रेमी आज तक समझौता नहीं कर पाये। बहुत से रीतिकालप्रेमी अब भी पूछते हैं कि अन्ततः 'कामायनी' का आप लोग इतना अधिक स्तवन क्यों करते हैं? निराला का दैवीकरण आखिर आप क्यों कर रहे हैं, आदि, लेकिन पुराने काव्य-शास्त्र से सहायता लेकर जब छायावाद का विवेचन किया गया तो पता चला कि न तो रोमानीभावना ही सर्वथा अकल्पनीय थी और न छायावादी शैली का विवेचन लक्षणाशक्ति या व्यंजनाशक्ति तथा समासोक्ति, समाधि आदि अलंकारों से बाहर था। 'आधुनिक हिन्दी कविता' नामक अपनी पुस्तक में मैंने छायावाद को पुरानी मान्यताओं के आधार पर परखा है, विशेषकर ध्वनिसम्प्रदाय के प्रकाश में। ध्वनिवाद के आधार पर प्रयोगवादी साहित्य की भी परीक्षा हो सकती है, यद्यपि इस कार्य में हम प्राचीन आचार्यों का पूर्णानुसरण तो कर नहीं पायेंगे, क्योंकि ध्वनिवादियों के सम्मुख जो कविता थी, उससे प्रयोगवादी काव्य में अवश्य कुछ भिन्नता है। इसके सिवा देशी-विदेशी पुराना काव्यशास्त्र समाज के प्रति अपरिवर्तनवादी दृष्टि अपना कर चला है, यह इस काव्य-शास्त्र की सीमा थी, अतएव प्रयोगवादी काव्य की समाजसापेक्षता पर विचार करते

समय हम पुराने काव्यशास्त्र से सहायता नहीं पा सकते, इसके लिए समाजशास्त्र और इतिहास से सहायता लनी होगी। चूकि कोई भी धारणा, चाहे वह काव्य के विषय म हो या अय किसी विषय म अन्य मानवीय अनुभवों स असम्पृक्त नहीं होती अत काव्य से आनन्द की सृष्टि इस आनन्द प्राप्ति की प्रक्रिया, रचनाउत्स से विभाजन, आनन्द म तारतम्यता अन्य कलाओं और रचनाओ म तुलना आदि के विशिष्ट क्षेत्र म भी हम कला और काव्य के मूलभूत प्रश्नो पर विचार करते समय अन्यमानवीय अनुभवों या जीवन की अय समस्याओ से सवथा तटस्थ हो नही सकते, क्योंकि कलागत या काव्यगत अनुभूति सम्पृक्त या सकुल होती है। अनुभूति सर्वदा व्यक्ति और बाह्य परिस्थिति क द्वन्द्व का परिणाम होती है अत जिसे हम सर्वथा निजी और विशिष्ट समझते हैं, यदि उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया पर विचार करें तो वह समग्रत बाह्य का प्रतिबिम्ब ही प्रमाणित होती है। हमारा प्रयत्न बाह्य परिस्थितियो के साथ टकराता हुआ, सघष और समझौता करता हुआ, अपने और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने समूह के अस्तित्व के लिए प्रयत्न करता हुआ हारता, जीतता, निराशा, आशा के अनुभवों से गुजरता, समस्याओ का सुलझाता और समस्याओ क सुलझाने की प्रक्रिया म अपनी अपूर्णताओ क कारण अनेक नई समस्याएँ खडी करता हुआ और फिर उन्हे सुलझाने के लिए तत्पर होता हुआ चला आ रहा है। शताब्दियो की इस दीर्घ अवधि म मानवीय प्रयत्न की इस भूमिका को नजरन्दाज कर देने पर ही 'कला कला के लिए' अथवा साहित्य सवथा व्यक्ति की निजी सृष्टि है और यह सृष्टि" उपयुक्त विकास स असम्बद्ध है ऐसे स्पष्टत असगत सिद्धान्तो का समथन किया जा सकता है। पुरान दशी विदशी काव्यशास्त्र म उपयुक्त मानवीय विकास पर विचार नही किया गया, बल्कि भारतवष म तो समाज और इतिहास क प्रति एक ह्रासवादी दृष्टिकोण ही स्वीकृत हुआ जो स्पष्टत आधुनिक और सकुल समाज के स्वरूप को नही समझ पाता और इसलिए किसी दिव्य ग्रन्थ या अतीत पूजा की शरण लेता है।

अतएव प्रयोगवाद या नए काव्य-साहित्य की मीमांसा में इसकी अनुभूति के जन्म, विकास और इसक समाज पर प्रभाव के विवेचन में ध्वनिवाद, रसवाद आदि से सहायता नही मिल सकती। पहले इसी पक्ष पर विचार कर लिया जाए, बाद म भारतीय काव्य शास्त्र से सहायता ली जाए।

प्रयोगवादी साहित्य का उद्दश्य और प्रभाव—प्रयोगवाद और बाद म नयी कविता—अज्ञेय लक्ष्मीकांत वर्मा जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती आदि लेखकों ने वस्तुत प्रगतिवादी जीवन दृष्टि और कलारूढियों के विरुद्ध जो 'नवीन' दृष्टिकोण अपनाया, उसमे अतस् को बाह्य से असम्बद्ध रूप मे देखा गया। यह भुला दिया गया कि प्रत्येक युग के विशिष्ट व्यक्तियो का वशिष्ट्य भी युगानुरूप होता है। नागार्जुन एक विशिष्ट व्यक्ति था, शकराचार्य, अभिनव गुप्त, तुलसीदास, प्रसाद, निराला और प्रेमचन्द

विशिष्ट व्यक्ति थे किन्तु इन सबकी 'विशिष्टता' भी युगपरक है, क्योंकि इनके अपने युगों में काव्य या दर्शन के अतिरिक्त अन्य लोगों का जो सामान्य अनुभव था उसके सन्दर्भ में ही इनकी विशिष्टता का विकास सम्भव हो सका था। शंकराचार्य के समय यदि भौतिक-विज्ञान विकसित हो गया होता तो उनका विवेचन जिस रूप में मिलता है, उससे कुछ विशेष प्रकार का होता। विवेकानन्द भी अद्वैतवादी थे और शंकर भी, दोनों 'विशिष्ट' व्यक्ति थे किन्तु उनकी 'विशिष्टता' दो प्रकार की है; यह अंतर दो व्यक्तियों की 'प्रतिभा' का अंतर भी है किन्तु 'प्रतिभा' का विशिष्ट विकास बाह्य के सतत दबाव से ही होता है, अन्यथा एक ही परम्परा का सब अनुसरण करते रहते और उस परम्परा में भी पुराने किसी विशिष्ट व्यक्ति की धारणाओं की पुनर्व्याख्या न होती।

युग के इस दबाव का विशिष्ट व्यक्ति के सृजन से कोई सम्बन्ध है, इस बात को कुछ प्रयोगवादियों ने स्वीकार भी किया, किन्तु, इस दबाव को दूर करने के लिए साहित्य का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपयोग है, यह स्वीकार नहीं किया। श्री शिवदान सिंह चौहान के अभी 'आलोचना' के ताजे सम्पादकीय की आलोचना करते हुए श्रीकान्त वर्मा ने 'कल्पना' के सितम्बर (१९६३ ई०) के अंक में साहित्य के प्रति इसी निरपेक्ष दृष्टिकोण को अपनाया है कि साहित्य मूलतः व्यक्ति की अपनी प्रतिक्रिया है, अपनी संवेदना है, समाज में वांछनीय परिवर्तन आदि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, साहित्यकार अपनी संवेदनशील प्रकृति के कारण लिखने के लिए विवश हो जाता है, लिखते समय या लिखने की तैयारी के समय उसके मन में उदात्तीकरण या परिवर्तन आदि का प्रश्न नहीं उठता, स्पष्टतः इस व्याख्या से वाल्मीकि, तुलसी, प्रसाद आदि की ही नहीं, स्वयं श्रीकान्त वर्मा की रचनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि श्रीकान्त वर्मा स्पष्टतः समाज आग्रही लेखक रहे हैं और हैं, प्रगतिवादियों के विरोध के क्षण में स्वयं अर्ध या अपरिपक्व प्रगतिवादी भी कभी-कभी प्रतिक्रियावादी प्रयोगवादियों से भी आगे बढ़ जाते हैं, इसे 'क्षण' की तीव्र अनुभूति का दोष मानना चाहिए, सुचिंतित विचार का नहीं। प्रयोगवादी अनुभूति की प्रक्रिया को चिंतन की प्रक्रिया में बदल देते हैं, जबकि द्वितीय पद्धति में विचारक को काफी तटस्थ होकर समग्र जीवन दृष्टि अपनानी पड़ती है।

इस सन्दर्भ में यहाँ भारतीय काव्यशास्त्र की इस मान्यता का स्मरण किया जा सकता है कि साहित्य सोद्देश्य होता है किन्तु वह प्रिया पद्धति पर अभिव्यक्त होता है, गुरुओं या मित्रों या अन्य अभिभावकों की तरह उपदेश नहीं करता। साहित्य का उद्देश्य वही है जो धर्मशास्त्र का उद्देश्य है। यह मान्यता "राम के समान आचरण हो, रावण के समान नहीं" इस रूप में भी मिलती है, इनके स्थान पर आज के परिवर्तन और उदात्तीकरणवादी मान्यताओं को रखा जायगा, यह स्वाभाविक है, क्योंकि

राजनीति अर्थशास्त्र, इतिहास विज्ञान आदि का स्थान वही है जो पुराने जमाने में धर्मशास्त्रों या दर्शनों का था। कठिनाई यह है कि हमारे "नये" कवि और लेखक इन आधुनिक स्मृतिकारों के द्वारा निश्चित "प्रयोजन" पर विरोधी दल अपनाते हैं और इसके लिए निजी अनुभूति के स्तर की दुहाई देते हैं, परिणामतः साहित्यकार पुनः "स्वयं क्लिन्न जल्पन्ति क्लिन्न मार्दन्ति वायसा" के कटघरे में स्वयं अपने आप को खड़ा कर लेते हैं। कोई इतिहासकार और समाजशास्त्री यह नहीं मान सकता कि किसी जाति या देश या विश्व का अभ्युदय और क्षय साहित्य को समाज से निरपेक्ष मान कर हो सकता है। इसका कारण यह है कि उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत मूल्य नहीं, समग्र मानवहित की भावना रहती है साहित्य की व्यापक संवेदना में काट कर अलग करने में प्रयोगवाद का योगदान स्वीकार करना ही पड़ता है।

विशिष्ट मूल्यों की सुरक्षा का प्रश्न—कुछ प्रयोगवादी और नये कवियों का यह भी कथन है कि वे साहित्य का उच्च उद्देश्य स्वीकार करते हैं किन्तु समष्टिवादियों के द्वारा जो मूल्य प्राप्त नहीं हो सकते उन मूल्यों की सृष्टि साहित्यकार करते हैं। इसी संदर्भ में वस्तुतः 'लघु' या सामान्य व्यक्तियों की छोटी और तरल अनुभूतियों को पकड़ने का प्रश्न उठाया गया है। साहित्य पुराने युग में बड़े-बड़े व्यक्तियों का ही चित्रण करता रहा। स्टालिन युग में साम्यवादी देशों में भी व्यक्ति-पूजा या वीर पूजा चलती रही। नये कवि का विश्वास है कि इस वीर पूजा से, 'सामूहिक पक्षपातों या सामूहिक अहंकारों" को चरितार्थ करने वाले नेता पर ध्यान देने से तानाशाहों का जन्म होता है। यही नहीं, इन तानाशाहों के गौरवगायन से प्रत्येक तानाशाह ही बनना चाहता है, वह सर्वोच्च स्थान जब नहीं प्राप्त कर पाता तो छोटे स्तरों पर ही तानाशाह बन लेता है। उदाहरण के लिये आज सर्वोच्च गौरव के बाद प्रान्तीय, जनपदीय, स्थानीय आदि सभी स्तरों पर—आफिसों के अधिकारी, शिक्षा-संस्थानों के अधिपति, कारखानों के मनेजर, दूकानों के मालिक—तानाशाह नहीं तो और क्या हैं? यह 'महानपूजा" का परिणाम है, अतः 'लघु' व्यक्ति की भावनाओं को देखना चाहिए। हर आदमी अद्वितीय होता है, सामूहिक कल्याण के मूल्य के लिए व्यक्ति क्या अपना सर्वस्व होम कर दे? हमारी सारी परम्परा समूहवादी महानवादी और इसलिए तानाशाहवादी है, इससे व्यक्ति के विशिष्ट मूल्यों के सृजन से ही मुक्ति पाई जा सकती है। इसीलिये नये लोग, सामाजिक हित के आग्रह को एक प्रकार का रोग या कुण्ठा कहते हैं।

इस बिन्दु पर प्रगतिवादी और परम्परावादी विचारक—दोनों नये कवियों के विरोधी हैं, यद्यपि दोनों के सामाजिक कल्याण की कल्पना और पद्धति भिन्न है। दोनों ही इतिहास में मनुष्य के अनुभव की जाँच करते हैं। इतिहास गवाह है कि पुराने सामाजिक संगठनों में व्यक्ति का हित और उसके मूल्यों का अस्तित्व पूरे समाज के

हित के साथ ही सम्बद्ध था। किसी कबीले के स्वरूप को देखिए, वहाँ कोई व्यक्ति कबीले के समानान्तर चलने की कल्पना ही नहीं कर सकता, क्योंकि इससे उस व्यक्ति की अपनी ही हानि है; आज भी, जरा कल्पना कीजिए कि यदि सत्ता 'लघुवादियों' या 'क्षणवादियों' के हाथ में दे दी जाय तो अपने बदलते हुए मन के अनुसार ही समाज का संचालन होने लगेगा और कोई व्यक्ति किसी महत् उद्देश्य के लिए अपने बहुमूल्य प्राण या धन या तन न देगा, परिणामतः देशरक्षा, नवनिर्माण, दरिद्रतानाश, अशिक्षा-विनाश, अत्याचार दूरीकरण जैसे 'बड़े' कार्यों के लिए कोई 'स्वतः' तैयार न होगा, अपने मन की धाराओं को ही सर्वाधिक महत्त्व देने वाले व्यक्तियों का समूह, समूह होगा, राष्ट्र नहीं। समाज का ऐसा स्वरूप कल्पना में भी कष्टदायक है, यथार्थ में तो भयंकर ही होगा, अरण्यमात्र !

अतः महत्ता और उदात्त की उपासना अपने कल्याण की उपासना है, तानाशाही का पर्याय महत्ता नहीं है। तानाशाह सर्वथा एक क्षुद्र व्यक्ति होता है, महान् व्यक्ति सर्वदा कल्याणवादी या समष्टिवादी होता है। अतः व्यक्ति के विशिष्ट मूल्यों का वहीं तक महत्त्व है जहाँ तक वे व्यापक मूल्यों के विरोधी न हों और यह मानना ही होगा कि 'प्रगतिवाद' में पार्टी के कठोर अनुशासन और अत्यधिक राजनैतिकता से 'व्यक्ति' की जो अवहेलना होती थी, उसके स्थान पर प्रयोगवाद ने 'व्यक्ति महिमा' को होने वाली क्षति का विरोध किया है और उससे कुछ लाभ भी हुआ है। रूस में भी ख़ुश्चेव युग में 'व्यक्ति महिमा' की मात्रा अधिक बढ़ी, किन्तु यह स्मरणीय है कि व्यक्तिवाद से हमारे नवनिर्माण और समाज के अवांछनीय तत्त्वों के निराकरण में बाधा भी बहुत पड़ी है। प्रतिक्रिया की झोंक में व्यापक मानव मूल्यों का विरोध हिन्दी में इतना अधिक हुआ है कि यह 'नये कवि' का सन्निपात ही कहा जा सकता है। महान् की साधना के अभाव के कारण ही नये साहित्य में एक 'निरर्थकतावाद' का प्रचार हुआ है, जो 'तानाशाही' से भी अधिक खतरनाक है। निरर्थकतावाद किसी प्रयत्न, किसी महत् उद्देश्य, किसी संगठन आदि को सार्थक नहीं मानता, वह अब तक के सारे विचारों और मानवीय प्रयत्नों में एक निरर्थकता के दर्शन करता है, यह दृष्टिकोण स्पष्टतः या तो जगत् में वैराग्य की प्रेरणा देता है या आत्महत्या की। वैराग्य का अनुभव पूर्वकाल में हो चुका है, वह भी निरर्थक निकला, अतः आत्महत्या ही केवल एक मार्ग है। आश्चर्य यह है कि नये निरर्थकतावादियों में आत्महत्या करने वाला भी कोई नहीं निकला। "द एनाटामी ऑफ नानसेंस" के लेखक ने राबिन्सन जैफर्स पर भी यही आत्महत्या न करने का आरोप लगाया है।[1] यदि जीवन निरर्थक

1. 'The Anatomy of Nonsense or In defence of Reason.'
Y. Winters, London.

है तो आत्महत्या के सिवा और कौन सा मार्ग हो सकता है ? फ्रान्स की एक पत्रिका के एक लेख में "नए युवकों" की दो प्रवृत्तियाँ बताई गई हैं, एक चमत्कार, और दूसरी आत्म-हत्या।

"There are two doors leading out of reality toward which hasty and impatient young minds run One is the door of the miracle the other, that of Suicide"[1]

'नये साहित्य का प्रतिनिधि लेखक अपना स्वामी नहीं है, वह अपने को अनुशासित नहीं करना चाहता। वह नहीं जानता कि वह क्या है, कौन है ? कोई नहीं जानता कि उसके अन्तस् में क्या छिपा है, उसके उद्गार, उसका क्षोभ, उसकी झख, खीझ, पाठकों और श्रोताओं से अधिक स्वयं उसी को चकित करने वाली होती है।"[2]

सौरे या सौरट ने लिखा है कि क्लासीकल लेखक 'रीज़न' के हामी थे, अतः व्यक्ति को समाज के आगे समर्पित करते थे और ईश्वर की इस रूप में कल्पना करते थे कि वह ज्ञानमय शासक है। रोमानी लेखक भावावेशवादी थे—उन्होंने कल्पना को स्वच्छन्द कर दिया, व्यक्ति को अत्याचार के विरुद्ध प्रेरित किया और एक सर्वव्यापक दिव्यसत्ता को कल्पित किया किन्तु 'नये' लेखकों ने प्रज्ञा (रीज़न) तथा भाव (Passion) दोनों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।[3] वह भाव के ही विरोधी नहीं हैं, प्यार के भी विरोधी हैं, स्थायी शब्द से इन्हें चिढ़ है, जो व्यक्ति एक जीवन या शाश्वत रूप में प्रेम को स्वीकार करता है, वह झूठा है।

तब सत्य क्या है ? सत्य है, एन्द्रिकबोध (Sensation is real)। जिसे इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं, जिसे मैं जिस 'क्षण' में अनुभव करता हूँ, वही सत्य है। जिस प्रेमिका को जिसने आज प्यार किया है वह कल उसे प्यार नहीं कर सकता (और यदि कोई ऐसा कहता है तो वह झूठा है)। रोमांटिक आन्दोलन के यह सर्वथा विपरीत प्रवृत्ति है।[4]

---

1. 'Essays from the Nouvelle Revue Frrancaise' (N R. Fr) edited by Justin O' Brien, New York, 1959
2. वही, Essay No II p 60
3. वही।
4. 'The Woman one loves today, one has ceased to love tomorrow Romanticism is in collapse' (*Ibid*)

हिन्दी के एक उपन्यासकार (नये) ने अपने एक उपन्यास का समर्पण 'प्रूस्ट' को किया है। मजा यह है कि यह उपन्यासकार, डा० देवराज एक दार्शनिक भी हैं, वह प्रूस्ट की कला में इन्द्रियवाद का, नई रुचि के कुचक्र में समर्थन कर गये। इस इन्द्रियवाद के अनुसार एक स्त्री, एक चेहरा, एक भवन का अग्रभाग, यह दास्तावस्की के लिए एक 'मूल्य' है। हार्डी में इन्द्रियबोध का समानान्तरतावाद मिलता है, (Sensation of Parallelism)। प्रूस्ट के अनुसार प्रेम का आधार यही ऐन्द्रिकता है। प्रेमी शारीरिक आनन्द खोजता है, प्रेमिका के मन या आत्मा से प्रेम का प्रदर्शन तो प्रेमियों का शिष्टाचार मात्र है, शारीरिक भूख मिटते ही, स्त्री अनावश्यक और असम्भव हो जाती है। पुनः नये ऐन्द्रिकबोध के लिए या तो नई औरत हो या पूर्व-प्रेमिका के साथ कुछ समय बाद सहवास हो। इस ऐन्द्रिकतावाद में नैतिकता का प्रश्न उठाना असम्बद्ध है। रोमांटिक लेखक शाश्वत-प्रेम और शाश्वत-सौन्दर्य के विश्वासी थे, 'नये कवि' इनमें से किसी को नहीं मानते।

"Proust sees sensation as the basis of love. He seeks a physical pleasure and it is only out of courtesy that he consents to an appearance of belief in a woman's mind or soule. Once the sansation has been obtained, the woman becomes impossible, until the next occasion or the next woman. The question of the morality of the sensation is irrelevant."[1]

इन्द्रिकतावाद का शत्रु है, पुनरावृत्ति; अतः 'कलाकार' को नये-नये 'सेंसेशन' के लिए नई-नई प्रेमिकाओं और दृश्यों आदि की आवश्यकता है। अतः 'स्थायी' के स्थान पर 'अस्थायी' या 'क्षणवाद' आधुनिक कला का अनिवार्य सिद्धान्त है। स्थायी प्रवृत्ति ऐन्द्रिकबोध या इन्द्रिय तृप्ति को नष्ट कर देती है। अतः 'कलाकार' की संवेदना को तीव्र करने के लिए नये-नये चेहरे चाहिएँ। पूर्व 'क्षण' के अनुभव का नाश ही अगले 'क्षण' को जन्म दे सकता है, इस प्रकार प्रत्येक नया क्षण नूतन सौन्दर्यबोध देता चलता है। पूर्व 'क्षण' में नैतिकता बरतने वाला कलाकार अगले 'क्षण' में अपराध कर सकता है, यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी कला 'जड़' हो जाती है। सोरट के अनुसार इसीलिए 'नया कलाकार' कुमारियों की खोज में रहता है। जीवन नीरस हो जाय, यदि यह पता चल जाय कि अगले क्षण में कवि क्या अनुभव करने जा रहा है, आदतें ऐन्द्रिकता को नष्ट कर देती हैं, आदत का मारा हुआ आदमी केवल अपनी ऊब से मरने के बाद ही मुक्त हो सकता है।

---

१. वही।

अत क्रिया वान की आदत मन डालो प्रत्येक क्षण मे जो इन्द्रियाँ कहें वह करो इन्द्रियो को अनुशासन म लाने का अथ है कला की मौत। कला म सच्चाई का अथ है प्रत्येक क्षण को तीव्रता क साथ जीना।

यह भोगवाद कितनी मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ यहाँ प्रस्तुत किया गया है। पुराने विलासी लोग भी यही कहते थे। शुद्ध चार्वाकमत यही है यद्यपि चार्वाकमत म इतना अनुत्तरदायित्व नहीं है। भोगवाद को इतनी बारीकी के साथ पुराने लोग नहीं रख सके परन्तु उन्होंने बारीकी स भोग के आनन्द और नित्यनववाद को अनुभव अवश्य किया होगा शायद सूत्रशैली के कारण वह इतने विशद रूप में कला के लिए भोगवाद का प्रवतन नहीं कर सके।

जेम्स मार्टन मनुष्य सुन्दर पशु है क्योंकि ऐन्द्रिकता पशुता है और विक्टर ह्यूगो ने लिखा है कि पशु ही सत्य' को देख पाता है— The Beasts alone see God

आधुनिक विशिष्ट कलाकार को न तो ईश्वर का सहारा है और न मानवता का वह न समाज के विकास म विश्वास करता है न इस आशा और प्रकाश म कि मनुष्य इस धरती पर अवश्य किसी दिन स्वगराज्य की स्थापना करेगा। वह न सगठन म आस्था रखता है न उन्नतीकरण म वह न पुराने साहित्य की उपयोगिता मानता है और न पुराने आचार विचार को वह न उदारतावाद मानता है न साम्यवाद न समाजवाद न जनतन्त्रवाद। सबका सहार इसी क्षण हो जाय तो भी वह उस सहार-क्षण की तीव्रता के अनुभव म लीन रह सकता है अथवा सब उल्लसित हो उठे तो भी वह उल्लास क्षण को निष्पीडित कर सृष्टि कर सकता है। वह पुष्पों और इन्द्रधनुष स 'बोर' हो सकता है और खण्डहर स पुलकित हो सकता है। वह भोजन करते हुए लोगो के चलते हुए मुँह देख कर उस 'पशुता' पर खीज सकता है और पशु की तरह अकरणीय काय म भी दिव्य आनन्द ले सकता है रोम को बनाने वाले नायकों के मन की वह उतना चिन्ता नहीं करता जितनी कि रोम के जलने पर भी बाँसुरी बजाने वाले नीरो की। उसका बल उसकी ईमानदारी से क्षणभोग' है उसकी निष्ठा निष्ठाहीनता म है उसका सदाचार दुराचार म है उसका सद्भाव अपने तक ही सीमित है उसका उत्थान उसके पतन म ही निहित है वह सिद्ध है सवतन्त्र स्वतन्त्र नानारूपधर कौल है अपने म मस्त मनमौजी और साथ ही प्रत्येक क्षण की दशना का भोक्ता। उसकी प्रवृत्ति प्रवृत्तिगत है बुद्धिगत या भावगत नहीं, वह किसी के दशन' या सिद्धान्त' को नहीं मानता परन्तु अपने अनुभव की साक्षी पर अटल है, दृढ है। पुनर्जन्म अप्रमाणित है मनुष्य का भविष्य अप्रमाणित है वतमान में प्रत्यक्षीकरण भी तो अप्रमाणित है किसका विश्वास किया जाय? जीवन का जब कुछ

प्रयोजन नहीं, कोई सार्थकता नहीं, तब इस मूर्खतापूर्ण 'प्रवाह' के लिए, जिसके हम एक बिन्दु मात्र है, क्यों मर मिटें ? मूर्ख तो 'प्रवाह' में बहेंगे ही, तब क्या जागरूक बिन्दु भी प्रवाह के लिए अपना अस्तित्व नष्ट कर दें—

बूँदता बिलैहैं बूँद बिवश बेचारी की।

यह कहना आवश्यक है कि ऐन्द्रियवाद, अस्तित्ववाद निरर्थकतावाद आदि से "प्रगतिशील प्रयोगवाद" पीड़ित नहीं है, और यह प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी में प्रगतिशील-प्रयोगवादी या प्रगतिशील नये कवियों की अब संख्या प्रतिक्रियावादी प्रयोगवादियों, से बहुत अधिक हो गई है। इस तथ्य को 'वातायन' के मूल्यांकन विशेषाङ्क में इस प्रकार स्वीकारा गया है—"सन् ६० के बाद समलेखन का धरातल 'व्यक्तित्व' के लेखन का है, व्यक्तिवादी या लघुमानववादी या क्षणवादी वैयक्तिक कुण्ठावाद से यह लेखन परिचालित नहीं है। इसमें उन संवेदनाओं, रागों, अनुभवों, संवेगों की अभिव्यक्ति हो रही है जिससे आधुनिक मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है या बना है··· यानी एक व्यक्ति के रूप मे हम जिन संवेगों, अनुभवो और परिवेशो को झेलते हैं, वे ही आज के समलेखन के साहित्य में अभिव्यक्ति पा रहे हैं···आज के जीवनबिम्ब, विचार तथा सवेग औसत समष्टि के मस्तिष्क मे है।"

तो नव्यतर साहित्यकार अब 'व्यक्तिवाद' के खतरे से सावधान हो गया है। उक्त पंक्तियों के लेखक श्रीराम तिवारी ने उक्त समष्टिवादी प्रवृत्ति का प्रारम्भ सन् ६० से ही माना है, जबकि मेरा विचार यह है कि पूरे प्रयोगवाद में प्रारम्भ से ही समष्टिवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व रहा है, यह द्वन्द्व प्रतिक्रियावाद के पक्ष में कुछ वर्षों तक रहा किन्तु अब पुनः भारत की प्रगतिशील चेतना बलवती हो उठी है और इसका कारण यह है कि हमारे समाज मे इतना वैषम्य, पीड़न और अभाव है कि यह 'विराट् वेदना' साहित्यकारों के मन पर प्रत्यक्षतः प्रभाव डालती है, अधिकांशतः साहित्यकार निम्न मध्यवर्ग के हैं अतः वह अपनी वर्ग-चेतना से बच नहीं सकते। निराला के 'कुकुरमुत्ता' से प्रारम्भ होने वाला प्रयोगवाद जैसे पुनः 'विदेशी गुलाबी चेतना' के विरुद्ध संघर्ष कर उठा है। स्वयं अज्ञेयजी अपने शिष्यों के विश्वासघात से खिन्न होकर अब प्राचीन भारतीय विराट् चेतना के गीत गाने लग गये हैं, ये परिवर्तन साधारण नहीं हैं, न उपेक्षणीय हैं।

शैली की दृष्टि से प्रयोगवाद के प्रगतिशील और प्रतिक्रियावाद का भेद उचित नहीं है, सभी एक ही शैली में लिख रहे है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना रंग है।

काव्य शास्त्र की दृष्टि से समग्रतः प्रयोगवाद में भाव-विमुखतावाद या डीह्यूमेनाइज़ेशन अधिक मिलता है, जहाँ कविता ने लोकजीवन को वाणी दी है वहाँ काव्य 'रसाप्ति' अधिक है। नया-साहित्य में भी प्रत्येक अनुभूति के तीव्रतम क्षणों में भी तटस्थ रहकर उसके विश्लेषण का प्रयत्न है यथा 'अपने अपने अजनबी' उपन्यास (अज्ञेय) में अथवा सर्वत्र 'रिक्तता' का अनुसन्धान है, यथा, 'खाली कुर्सी की आत्मा' (लक्ष्मीकान्त वर्मा) में। व्यक्तित्व की टूटन, बिखराव या रीढ़हीनता को राजेन्द्र यादव के 'एक इंच मुस्कान' में देखा जा सकता है, यहाँ भी 'रसाभिव्यक्ति' पद्धति नहीं है। नया साहित्य किसी अनुभूति में भिगोता नहीं, कचोटता है यह आनन्दवादियों का साहित्य नहीं अभिशप्तों का साहित्य है, अतः इसे 'रसवादी' काव्य शास्त्र पर सीधा-सीधा रगड़ना उचित नहीं है, हाँ इसकी परीक्षा 'ध्वनिवाद' के आधार पर की जा सकती है।

ध्वनिवाद के अनुसार कलाओं की रचना प्रक्रिया कथनात्मक नहीं, व्यंजनात्मक होती है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का यह महान् योगदान है, कोई भी कलारूप ऐसा नहीं है, जिस पर, रचना प्रक्रिया की दृष्टि से ध्वनिवाद के प्रकाश में विचार न हो सके। श्रीयुत जगदीश गुप्त ने भी 'कृपा करके' ध्वनिवाद को, अन्य सम्प्रदायों को पूर्णतः निषिद्ध कर एक सीमा तक स्वीकार किया है, हालाँकि यह नहीं बताया कि इसका उपयोग किस प्रकार हो सकता है।

अत्यधिक तरल अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए प्रयोगवादियों ने अधिकांशतः लक्षणामूला ध्वनि का अनजाने ही प्रयोग किया है। इनमें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि नामक ध्वनि का ही प्रयोग अधिक हुआ है। यह भी शब्द या पदगत उतनी नहीं है, जितनी सन्दर्भगत है। वक्ता के अभिप्राय को व्यंजित करना ही, इस काव्य का उद्देश्य है, इसके लिए वह आड़ी तिरछी लकीरों, विरामों, डैशों, शॉक पद्धति, प्रहेली, भर्त्सना, प्रवचन, भाषण आदि अनेक विधियाँ अपनाता है—

यह अद्भुत पुल!
पत्थर के पैरों को खाई ने बाँध लिया है। (शिवकुटीलाल वर्मा)

यहाँ पुल की वस्तुव्यंजना है किन्तु 'पुल' अन्तिम व्याख्या में आधुनिक व्यक्तित्व बना दिया गया है। आज खाई से सब बँधे हैं, पूर्ण और भीतर बाहर से भरे हुए व्यक्तित्व कहाँ हैं। अतः 'पुल' को व्यंजित करके पुनः आधुनिक व्यक्तित्व की व्यंजना होती है। जैसे 'गंगायाम् घोषः' में शैत्य पावनत्व आदि व्यंजित हैं उसी तरह प्रयोगवाद में लक्षणा द्वारा वर्ण्यवस्तु व्यंजित होकर पुनः यह 'आधुनिकता' व्यंजित होती है।

यह स्मरणीय है कि ध्वनिवाद उत्तम काव्य में रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि और वस्तु ध्वनि तीनों को शामिल करता है, यद्यपि 'रस ध्वनि' को श्रेष्ठ मानता है। बुद्धि को भाव से अधिक महत्त्व देने वाले युगों में रस को उतना महत्त्व नहीं मिल पाता। यह वस्तुतः 'रुचि' का परिणाम है, संस्कृत में भी चमत्कारवाद के आगे रसवाद की उपेक्षा शताब्दियों तक हुई थी। एक-एक पंक्ति के कई-कई अर्थ वाले काव्य लिखे गये, 'राघवपांडवीय' आदि ऐसे ही काव्य थे। वैयाकरण कवियों ने सारे सूत्रों की व्याख्या भी काव्य द्वारा कर डाली और साथ ही वर्ण्य विषय का भी वर्णन होता गया, अतः परिस्थितिवश—विज्ञान और विश्लेषणपरक तत्त्व-चिन्ता के प्राबल्य के युग में रसबोध को आघात पहुँचना स्वाभाविक भी था, छायावाद और प्रगतिवाद, दोनों में भावोद्गार काफी मात्रा में है, ऐसे स्थलों पर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि की ही प्रधानता है किन्तु प्रयोगवाद ने अभिधा का तिरस्कार करके लक्षणामूला ध्वनि को ही अपनाया है।

राधा है राह की कुतिया।
उसका न कोई धंधा न वेतन।
कूड़ा करकट गुदड़ी मसान।
यही है उसकी बपौती जागीर।
हाल ही में उसकी मौत हो गई।
जिसे सुन एक दुष्ट हँस पड़ा।
रो पड़ी एक वेश्या बाजार की! (वेंद्रे)[1]

प्रारम्भ में कवि अभिधा का मार्ग अपनाता है किन्तु अन्त में दो पंक्तियों से प्रारम्भ की अभिधा भी 'विपरीतलक्षणा' में परिवर्तित हो जाती है। यह 'राधा' का वर्णन नहीं है, अपितु अभावग्रस्त, स्थूल नैतिकताग्रस्त मानवता की व्यंजना है। 'शॉक' देने के लिए कवि ने कुतिया कहा है। 'कुतिया' और आज की अपनी अस्मत बेचने को मजबूर राधाओं में अन्तर भी नहीं है। इस प्रकार पहले अर्थ की संगति लगते ही, नाना अर्थपरम्पराएँ घंटाध्वनि की तरह देर तक एक से एक निकलती चलती हैं, यहाँ 'राग' उद्गारात्मक शैली पर नहीं, बल्कि लक्षणात्मक शैली पर व्यंजित है।

प्रतीकात्मक शैली भी व्यंजनावाद ही है। क्योंकि प्रत्येक प्रतीक कुछ छिपे अर्थों का संकेतक होता है, प्रयोगवाद के ऐसे स्थलों की भी व्याख्या ध्वनिवाद द्वारा सम्भव है—

---

१. 'नयी कविता', अंक तीन, १९५९।

'एक दीवार, दीवार पर जमी काई ।
काई पर सूखी, काली छाया।'

प्रथम अर्थ मे वस्तुव्यंजना-सी लगता है दीवार की काई पर डालती छाया का वर्णन लगता है, किन्तु इस 'वस्तु' पर ध्यान जाने के बाद ही पुन आधुनिक चेतना या उस चेतना पर सवट जसी अनुभूति की व्यजना होती है तब दीवार काई और छाया प्रतीकों मे बदल जाते हैं।

कही-कही कवि स्वय अपने प्रतीकों या बिम्बो के अर्थ खोल देता है यहाँ व्यजना की अतिगमता को धक्का पहुँचता है और नाना अर्थों का प्रवाह बन्द हो जाता है जितना कवि कहता है, वहा तक पाठक का ध्यान सीमित रह जाता है—

जसे जस इस कागज को तुमने मोडा।
तहें लगाइ, फिर तिरछे मुस्काकर थोडा
पास रखे सरकण्डे को जिस भाँति मरोडा, हस कर तोडा।
उसी तरह मैं भी मुड मुड कर, पत्त पत्त मे हुआ विभाजित
और अन्त में टूट गया सरकण्डे जसा!

जिस प्रकार छाया अनग अप्सरा बादल आदि को लेकर छायावादियो ने नये पर्यायो या विशेषणो का ढेर लगा दिया है उसी तरह प्रयोगवादियो ने नये पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत किए हैं यहाँ भी ध्वनिवाद हमारी सहायता करता है। अलकारवादियो के अनुसार ये सब अलकार ही हैं नये बिम्ब और प्रतीको को भी अलकारवादी अलकार ही मानते थे किन्तु ध्वनिवाद की दृष्टि से इनकी व्याख्या अधिक वैज्ञानिक विधि से हो सकती है।

सुबह के आकाश मे बादल की टुकडी एक।
छरहरी बादल की टुकडी एक।
चौंक कर लम्बी बनी काली हरिणी!
केटकली' नाली है जिससे होकर दमित इच्छाओं का पानी बाहर निकलता है।
दुगन्ध है पानी में, नाली तो सीमेण्ट की है।
जिससे चाहो तो कगूरा गढ़ लो।

यहाँ अलकारध्वनि है। उपमा या रूपक ध्वनि का यह उदाहरण हो सकता है। केटकली' आधुनिक नायिका है। अनेक विलक्षण और अनुचित-उचित उपमाओं के द्वारा पाठक के सौन्दर्यबोध को झकझोरता हुआ कवि आज की 'पकिल चेतना' को

ध्वनित करता है, यों वह नारी को ऐसी सीमेण्ट मानता है, जिससे मंदिर का या भवन का कँगूरा भी गढ़ा जा सकता है।

यह समझना भूल है कि प्रयोगवाद में गुणीभूतव्यंग्य का प्रयोग नहीं है, बहुत-सा काव्य वक्तव्यपरक है, घोषणात्मक या प्रचारात्मक भी है। गुणीभूतव्यंग्य में व्यंग्य को वाच्यार्थ दबा लेता है, ऐसे स्थलों में आकर्षण का कारण कवि द्वारा कोई नयी बात का कहा जाना है, कहीं-कहीं सीधा उद्बोधन होता है—

गमन के क्षण। अब रुको मत ओ अप्रस्तुत मन।
चल दो, राह में लगी है आग, चलना है खेल नहीं।
पर क्या सकोगे भाग, कर्म से बचोगे कहाँ?
अभी जीवन में बहुत कुछ है अनागत, बहुत बाकी है।

यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है, ऐसे उदाहरण अनेक मिलेंगे।

सवाल यह है कि पुराने काव्य में अलंकारध्वनि, वस्तुध्वनि के अनेक उदाहरण होने पर भी नये कवियों को वे क्यों प्रिय नहीं लगते, पहले उदाहरण लीजिए—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ् मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरियं पयोधिः।
(ध्वन्यालोक, उद्योत २)

यहाँ ध्वनिकार के अनुसार श्लेष अलंकार वाच्य है, और रूपक अलंकार व्यंग्य है। अतः अलंकार से अलंकार व्यंग्य हुआ।

अपरिवर्तित अंकुर हूँ मैं
चिरन्तन शाश्वत सत्य, अक्षय असत्य हूँ मैं
ओ! अर्धविकसित! अनुकरण करो मेरा!

यहाँ रूपक और विरोधाभास अलंकार वाच्य हैं, व्यंग्य है वक्रोक्ति। वस्तुतः प्रयोगवाद में अधिकांशतः सतह पर प्रयुक्त या वाच्य अलंकारों द्वारा वक्रोक्ति की ही व्यंजना हुई है! और इन वक्रोक्तियों के द्वारा आधुनिक चेतना के द्वन्द्व ध्वनित हुए हैं। प्रश्न यह है कि पुराने उदाहरण और नये उदाहरण दोनों में एक ही रचना प्रक्रिया

होने पर भी पुरानी पद्धति की निन्दा क्यों की जाती है। इसका कारण यह नहीं है कि रचना प्रक्रिया की दृष्टि से आज की कविता सर्वथा भिन्न है, असलियत यह है कि अनुभूति के स्वरूप की दृष्टि से ही नयी कविता को नये लोग अधिक पसन्द करते हैं, सौंदर्य बोध के परिवर्तन के कारण। ध्वनिवादी आनन्दवादी थे, आज का कवि अवसादवादी है पुराने सौन्दर्य में विराटता, अवयवों की संगति, लावण्य, माधुर्य आदि पर बल है नये सौन्दर्य-बोध में असंगति, बिखराव, खुरदुरीपन', वक्रता आदि को पसन्द किया जाता है किन्तु इनकी अभिव्यक्ति या तो अलंकार व्यंजना के आधार पर हुई है या वस्तु व्यंजना के आधार पर, अथवा इन कोटियों में न समा सकने वाली सामान्य ध्वनि के आधार पर। वस्तु व्यंजना' का एक उदाहरण और देखिए—

ध्वनिवादियों ने वस्तु को स्वतःसम्भवी और कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध' तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध' इन कोटियों में विभाजित किया गया है। प्रयोगवाद में ये तीनों प्रकार की वस्तुएँ वर्णित हुई हैं प्रायः नया वैज्ञानिक वस्तुओं का प्रयोग किया गया है और उनके द्वारा तरल अनुभूतियों की व्यंजना की गई है।

'कामदेवसखा वसन्त मात्र युवतियों को लक्ष्य बनाने वाले मुखों (अग्रपत्र भाग) से युक्त नवपल्लवों से पत्र (बाण के पख) युक्त कामदेव के बाणों का निर्माण करता है परन्तु प्रहारार्थ उसे देता नहीं है।'

ध्वनिवाद के अनुसार यहाँ कामदेव के बाण कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध हैं, क्योंकि लोक में उन बाण कहीं नहीं मिलते। यहाँ उद्दीप्त वासना' और उसकी प्रतिक्षण वृद्धि रूप वस्तु व्यंग्य है। अलंकार में वस्तु व्यंजना का एक नया उदाहरण यह हो सकता है—

अनगिन बौनों की गठरी सिर पर लादे
चौंक गया मैं, शोर शराबा
देखा नभ पर फिर आए वे बादल।

यहाँ बूँदों की बौनों से उपमा दी गई है, इस उपमा या रूपक से ही इस 'वस्तु' की व्यंजना हो सकी है कि हम सब बौने' हैं, लघुता से पीड़ित हैं। अलंकारों द्वारा वस्तु व्यंजना के उदाहरण प्रयोगवाद में बहुत अधिक मिलते हैं, यों वस्तु से वस्तु वस्तु से अलंकार आदि ध्वनियों के उदाहरण भी प्राप्य हैं।

ध्वनि की कोटियों में उदाहरण बैठाने के कार्य में सफलता न मिलने पर

प्रायः कहा जाता है कि पुराने काव्य-शास्त्र द्वारा नये का मूल्यांकन सम्भव नहीं है किन्तु कला का मर्म ही व्यंजना है, अतः कोई कला ऐसी नहीं हो सकती जो व्यंजना न हो, यह व्यंजना कहीं किसी एक पद से, काव्य से, अथवा सन्दर्भ से स्फुट हो उठती है। पूरी रचना को पढ़ते ही समग्र प्रभाव के कारण जो आधुनिक चेतनाद्वन्द्व ध्वनित होता है, वह स्पष्टतः ध्वनिवाद के प्रकाश में ही समझा जा सकता है।

प्रयोगवाद में नये बिम्बों और प्रतीकों की भरमार है। इसके औचित्य पर भी काव्य-शास्त्र प्रकाश डालता है। वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र-वृत्ति में नारंगी की उपमा हूण की ठोड़ी से देने वाले कवि की उक्ति उद्धृत की है। किसी पठान की घुटी हुई चाँद को देखकर पुराने कवि भी उसे उपमान बनाया करते थे। मृच्छकटिक में नूतन बिम्बों और विलक्षण उपमाओं का खुलकर प्रयोग हुआ है। अतः यह भी हमारी परम्परा से परिचितों के लिए कोई अभूतपूर्व कला नहीं है, किन्तु ऐसी विलक्षण उपमाओं के लिए आचार्यों ने बार-बार वर्ण्यवस्तु के गुण, आकार आदि के 'साहृश्य' पर बहुत बल दिया है। वामन ने रमणी के उरोजों के लिए 'हूणमुख' की उपमा में साहृश्य का अभाव माना है। अतः वस्तु के 'स्वभाव' या 'व्यक्तित्व' को ध्यान में रखकर उपमा देनी चाहिए। प्रयोगवादियों ने इस तथ्य की बुरी तरह अवहेलना की है अतः असौन्दर्य की वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से छायावादी श्रेष्ठ कवि थे। यों पन्त जी ने 'नक्षत्र' को 'शुचि उलूक' भी कहा था। व्यंग्य की स्थिति में असाहृश्य का प्रयोग फबता है किन्तु यदि कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका से प्रेम निवेदन के क्षण में यह कहे कि तुम्हारी आँखें रेवड़ी और उरोज गुलाबजामुन, कलाइयाँ लौकियों सी चिकनी और नितम्ब कद्दू जैसे हैं; हे प्रिये ! तुम एक हलवाई की दूकान या काछी की टाल हो तो किंचित् साहृश्य के कारण दुःखद हास्य-रस की सृष्टि ही होगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्रयोगवाद ने हिन्दी में हास्य-रस की क्षति पूर्ति अवश्य की है। गम्भीर सौन्दर्यचेता को किंचित् असाहृश्य भी बुरा लगेगा ही। वर्फ की शिव के अट्टहास की उपमा से परिचित व्यक्ति यदि वर्फ के लिए सफेद प्लास्टिक के ढेर की उपमा को 'गौरव के अभाव' के कारण अनुचित समझता है तो यह उचित ही है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रयोगवाद में उचित उपमाएँ हैं ही नहीं, देखिए—

> और वह सुबह मंगलाचरण सी किसी
> लोकमहाकाव्य की आदिम नूतन पूरी कथा को
> समेट फैला रही, बढ़ रही, वहीं, वहीं,''''''वहीं। (शमशेर)।

यहाँ 'साहृश्य' पूर्ण है। प्रकृति वर्णन में अनेक प्रयोगवादी उपमान सटीक और

सुन्दर है, बिम्बवाद का यह योगदान स्वीकार्य है। मैंने 'आधुनिक हिन्दी कविता' में ऐसे सटीक उपमानों का संग्रह किया है वही द्रष्टव्य है।

प्रतीकों के विषय में और भी अधिक धींगामुश्ती बरती गई है। सटीक प्रतीक चुनना एक कठिन कार्य है प्रयोगवाद में प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक क्रिया को 'प्रतीक' बनाकर अनुभवों की व्यंजना का प्रयत्न हुआ है। वस्तुतः अधिक अपरिचित प्रतीकों और अस्पष्ट अनुभूतियों के कारण ही नया-काव्य अधिक दुरूह हुआ है, कथन में अन्विति का अभाव तो है ही!

इस सम्बन्ध में एक बात यह भी स्मरणीय है कि 'शब्द संस्कृति' की प्रयोगवाद प्रायः परवाह नहीं करता। गिरती हुई बर्फ के लिए "आसमान से तूलराशि झर रही है"—यह कवि प्रौढ़ोक्ति सुन्दर होगी और काव्य को जनता के निकट लाने के उत्साह में यदि कहा जाय कि यह "बारवधूटियाँ नहा रामडोवरियाँ हैं या यह कि चुंगी के नल की तरह तुम क्यों रो रही हो? तो औचित्य होगा। झरने की तरह उसकी आँखों से आँसू झर रहे हैं'—यह शिष्ट प्रयोग है, चुंगी के नल की जगह, नल का तत्समीकरण कर देने से यही बात उचित लग सकती है। छायावाद के विरुद्ध विद्रोह के कारण तथा कविता को गद्य के निकट लाने के प्रयत्न में 'शब्द संस्कृति' का अपमान बहुत अधिक हुआ है। कहीं तद्भव शब्दों में उपमान अच्छा लगता है कहीं तत्सम शब्दों में—अश्व तुरग या सैंधव शब्द में जो गौरव है वह घोड़े में नहीं है, भोजन करने और भकोसने' में अन्तर है। किसी जाति के मन में किन्हीं शब्दों के प्रति जो विशेष भाव पाया जाता है, उसकी चिन्ता प्रयोगवाद ने नहीं की।

छन्द के सम्बन्ध में भी पुराना काव्य-शास्त्र शिक्षा दे सकता है। अब नये कवि महसूस करने लगे हैं कि केवल अर्थ की लय' से काम नहीं चल सकता, कम से कम प्रवाह' पर अवश्य ध्यान देना चाहिए, जैसा कि निरालाजी किया करते थे। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि टी० एस० इलियट की कविता छन्दोबद्ध है जैसा कि हर्बर्ट रीड ने True Voice of Feelings, नामक ग्रन्थ में प्रमाणित किया है। रीड ने इलियट का यह कथन भी उद्धृत किया है कि मुक्त छन्द लिखना सबसे कठिन है और कविता के नाम बुरा गद्य' बहुत लिखा गया है। यह वस्तुतः हमारे काव्य-शास्त्र के छन्द विषयक सिद्धान्तों की उपेक्षा के कारण ही सम्भव हुआ है। इलियट के प्रसिद्ध 'परम्परावाद' से हमारे नये कवियों ने कोई लाभ नहीं उठाया।

अन्त में 'रसध्वनि' के विषय में कहना उचित होगा। ध्वनिकार का शैव दृष्टिकोण जगत् के प्रति आशा-आनन्दमूलक था। इसके सिवा पुराने आचार्यों ने

मनुष्य के इस स्वभाव का पता लगा लिया था कि रागरहित कोई चेष्टा नहीं होती, अतः सारे कथन-वैचित्र्य को उन्होंने 'रसाक्षिप्त' करने पर बल दिया है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्न निवर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौमतः ।

अलंकार अर्थात् कथन का विलक्षण ढंग वही स्वीकृत हो सकता है जो रसाक्षिप्त हो, और यह सब बिना प्रयत्न के, अनायास या कम से कम आयास के हो। प्रयोगवादी कथनविधियाँ रसाक्षिप्त नहीं होतीं, यह इस काव्य का दोष है। क्षण में कौंधने वाले 'व्यभिचारी' अनुभवों की चाशनी से यदि नूतन बिम्ब तर रहते तो प्रयोगवादियों की श्रीवृद्धि ही होती। यह तर्क भी समझ में नहीं आता कि 'सामाजिक तनाव' के युग में रसाक्षिप्तता कृत्रिम लगती है क्योंकि कभी किसी क्षण में आज का आधुनिक व्यक्ति उस तनाव से बच नहीं पाता किन्तु इसी तर्क के आधार पर 'रसाक्षिप्तता' की आवश्यकता को भी सिद्ध किया जा सकता है। अन्ततः प्रयोगवादी भी कालिदास, शेक्सपियर, सूरदास और वाल्मीकि को आज भी पढ़ते ही हैं, और मन ही मन उनकी 'रसचेतना' से स्पर्धा भी करते हैं, तब यदि अलंकार ध्वनि, वस्तु ध्वनि के साथ कुछ रसचर्वण भी चले तो क्या हर्ज है? आखिर कोशिश तो होनी ही चाहिए। पुराने कवियों के हाथ में 'रसचेतना' केवल 'उद्गारात्मक' रूप में ही व्यक्त हो पा रही है— हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि रसवादिनी है, रीतिकाल में भी चमत्कारवाद ने 'रस' को नष्ट नहीं किया। देव, मतिराम जैसे रसवादी कवि सन्तुलन स्थापित करते रहे किन्तु आज हिन्दी में चमत्कार और रस की धाराएँ समानान्तर बह रही हैं, अलग-अलग तटों में दो धाराएँ। पुरानी धारा के कवि मैथिलीशरण, दिनकर, पन्त, बच्चन आदि आधुनिक व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर पाते, क्योंकि आज के खंडित व्यक्तित्व की पीड़ा से ये कवि पीड़ित नहीं हैं, इनसे कुछ और पुराने खेवे के कवि—महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य-लेखक तो बुरी तरह पिछड़ गये हैं, इधर अनेक प्रबन्ध-काव्य छपे हैं, प्रायः सभी असफल हुए क्योंकि इनका 'रसबोध' बुद्धिहीन है। आज के व्यक्ति की आशाओं, आकांक्षाओं, प्रश्नों और समस्याओं का पूर्वपक्ष के रूप में भी कहीं इनमें जिक्र नहीं होता। 'उर्वशी' में थोड़ी-सी आधुनिकता की झलक है, इसलिए वह 'जनप्रिय' हो गई।

उधर प्रयोगवादी धारा के आन्तरिक विश्लेषण और यूरोप व अमेरिका के प्रसिद्ध कवियों के साथ-साथ कदम मिलाकर चलने के ही उत्साह के कारण यह कविता बुरी तरह अपनी परम्परा से कटकर अलग हो गई है। नये फैशन के आग्रहवश ये लोग साहित्य को रागात्मक तक मानने को प्रस्तुत नहीं हैं, अतः 'भावबोध' की दृष्टि से ये कवि अत्यधिक पिछड़े हुए कलाकार हैं। 'एनाटॉमी ऑफ़ नानसेंस' के लेखक की

तरह यदि हमारे आलोचक जब यह शिकायत करते हैं, तो उन्हें भी ये 'रागद्रोही' कलाकार नवीनता का दुश्मन करार दे देते हैं—इस पुराने मध्यपंथी (बच्चन, दिनकर आदि) तथा 'एकदम' नए महारथियों के 'स्वधर्म' से विचलित न होने के व्रत से हिन्दी काव्य में 'नवीनता', प्राचीनता' और 'नवप्राचीनता' की त्रिवेणी नहीं बन पाई बल्कि ये तीनों धारायें बरसाती नदियों की तरह अनाप-शनाप बही जा रही हैं, कोई किसी की मुँह नहीं रहा है। यह वविध्य असन्तुलन से उत्पन्न वविध्य है, अनुकरण से उत्पन्न वविध्य अपना नहीं होता। अतः कुछ कविता पुरातनशील है, और कुछ भविष्य की है, वर्तमान-काल में हमारी अपनी कविता बहुत कम हो पा रही है, कविसम्मेलनीय काव्य की चर्चा न करना ही उचित है।

अतः सर्वथा नूतन मापदण्डों की उसी देश को जरूरत होती है, जिसकी सभ्यता कुछ बरसों की है—भरत से पण्डितराज जगन्नाथ की विशाल परम्परा में जो चिंतन है, विशेषकर 'प्रक्रिया' और शब्द साधना से सम्बन्ध रखने वाला, उससे हम लाभ उठा सकते हैं और आज के सामाजिक शास्त्रों के प्रकाश में उसे शुद्ध कर उसका प्रयोग कर सकते हैं। आचार्यों के सम्मुख प्रयोगवाद से मिलने-जुलते काव्य के भी नमूने थे, यह बात हमारे नये कवि नहीं जानते। यह सही है कि काव्य या साहित्य को लेकर प्रेरणा, प्रभाव, परिणाम आदि पर सूत्रात्मक चिन्तन ही मिलता है, किन्तु हम नए ज्ञान से लाभ उठाकर संशोधित रूप में प्राचीन का प्रयोग कर सकते हैं, सूत्रकार के चिन्तन प्रवाह की कल्पना करने पर आश्चर्य होता है कि आज के भी बहुत से प्रश्नों से पुराने लोग परिचित थे—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्वं

———

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना

डॉ० रामगोपालसिंह चौहान

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी-आलोचना का बड़ी तेजी के साथ अनेक दिशाओं में विकास और विस्तार हुआ है। इस विकास का निम्न स्तम्भों में विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता—

१. सैद्धान्तिक आलोचना,
२. शोधपरक आलोचना,
३. पाठ्य-ग्रन्थों की आलोचनाएँ,
४. पुस्तक-समीक्षा, और
५. समीक्षा-सिद्धान्तों के निर्धारण के प्रयास।

सैद्धान्तिक आलोचना के वर्ग में हम उस आलोचना को रख सकते हैं, जिसमें साहित्य-मूल्यांकन के विविध—समन्वयवादी, प्रगतिवादी तथा रूपवादी नई आलोचना—सिद्धान्तों के आधार पर नये-पुराने साहित्य की विविध कृतियों तथा प्रवृत्तियों और धाराओं का सैद्धान्तिक धरातल पर मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया गया है। इस काल में इस क्षेत्र में प्रभूत कार्य हुआ है। वर्तमान साहित्य का मूल्याङ्कन तो इन धाराओं के आलोचकों ने पुस्तक तथा पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में किया ही है, पुराने साहित्य का मूल्याङ्कन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है। पुराने साहित्य का मूल्याङ्कन विशेष रूप से समन्वयवादी धारा के आलोचकों ने ही किया है, यों प्रगतिवादी धारा के आलोचकों ने भी तुलसी, कबीर, सूर आदि कवियों का मूल्याङ्कन प्रगतिवादी सिद्धान्तों के आधार पर किया है; लेकिन बहुत कम। इनका बल अधिकांशतः आधुनिक साहित्य पर ही रहा है। रूपवादी नई आलोचना-धारा में सबसे कम काम हुआ है। उनका क्षेत्र अपने समानधर्मा साहित्यकारों की रचनाओं के मूल्याङ्कन तक ही सीमित रहा है और वह भी विशेषतः फुटकर लेखों या पुस्तक समीक्षाओं के रूप में ही। रामस्वरूप चतुर्वेदी

आलोचना के क्षेत्र मे इस काल म समीक्षा सिद्धान्तो की कोई आधारभूत नई स्थापना नही हुई । स्वतन्त्रता से पूर्व प्रगतिवादी समीक्षा सिद्धान्तो की जो स्थापना हुई थी इस काल म मुख्यत उसी का वतमान जीवन के सदभ म स्पष्टीकरण हुआ है या फिर उसकी पुनर्व्याख्या हुई है । शिवदानसिंह चौहान, रागेय राघव, डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द गुप्त अमृत राय नामवरसिंह और विश्वम्भरनाथ उपाध्याय आदि ने इस दिशा म उल्लेखनीय काय किया है । शिवदान सिंह चौहान ने आलोचना के मान, साहित्य की परख आलोचक क दायित्व मूल्यांकन की समस्याएँ, आलोचना में सौन्दय और सामाजिक मूल्य साहित्यकार की आस्था आदि विविध निबधो म नये जीवन और साहित्य क सदभ म साहित्य और उसके मूल्याङ्कन के सिद्धान्तो का व्यापक रूप म प्रतिपादन करने का प्रयास किया है । समन्वयवादी समीक्षा धारा म डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आचाय नन्द दुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र सबसे अधिक सक्रिय रहे हैं । तीनो न अपने-अपने तरीके पर भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों और समीक्षा सिद्धान्त की नवीन धाराओ म—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी आधार पर आचाय नन्द दुलारे वाजपेयी ने सामाजिक दायित्व के आधार पर और डा० नगेन्द्र ने कला सौष्ठव के आधार पर—समन्वित रूप म नये जीवन-सन्दर्भो म साहित्य का दायित्व साहित्यकार की आस्था तथा साहित्य की कला आदि के मूलभूत प्रश्नो पर अपने-अपने समीक्षा सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार हमारे विवच्य काल म साहित्य-मूल्याङ्कन की यही तीन आधारभूत सैद्धान्तिक विचारधाराएँ हैं—समन्वयवादी प्रगतिवादी तथा रूपवादी नई आलोचना। उनके सिद्धान्तो क आधारभूत विचारो का सक्षेप म यहाँ प्रस्तुत करना सगत होगा।

समन्वयवादी धारा

समन्वयवादी शब्द के अथ स ही इस धारा की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। यह नाम हमने इसलिए रखा क्योकि हिन्दी म आलोचको का एक ऐसा वग है जो किसी-न किसी बिन्दु पर संस्कृत-काव्य-शास्त्र एव पाश्चात्य काव्य शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो तथा नय समीक्षा-सिद्धान्तो का युगवाछा की अनुरूपता म समन्वय कर साहित्य-मूल्याकन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है। इस वग के सिद्धान्तो मे संस्कृत-काव्य-शास्त्र क रस वक्रोक्ति शब्द शक्ति ध्वनि, अलकार आदि के सिद्धान्तो को भी मूल्याकन का आधार बनाया गया है, तो अरस्तू के विरेचन' (कैथार्सिस), लोजाइनस के उदात्त तत्त्व ड्राइडन के प्रयोजनवाद स लेकर क्रोचे और आई० ए० रिचड् स तक की मान्यताओ क हिन्दी साहित्य की मूल आत्मा की अनुरूपता मे स्वीकार योग्य तत्त्वो की स्वीकृति प्रदान की गई है। यह धारा मनोविज्ञान को भी स्वीकार करती है। इस धारा मे भारतीय संस्कृति तथा व्यक्ति के मानवीय गुणो के आधार

पर साहित्य के प्रयोजन, साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया, साहित्यकार के दायित्व—जैसे आधारभूत प्रश्नों पर समीक्षा-सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है; और साथ ही साहित्य को सामयिकता से ऊपर उठाकर मनुष्य के शाश्वत भावों और उदात्त गुण के चित्रण द्वारा व्यक्ति और समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करके साहित्यिक दायित्व की पूर्ति करने के दृष्टिकोण का समन्वय भी किया गया है। इसके अतिरिक्त वर्तमान जीवन-संघर्ष में भारतीय परम्परा की अनुरूपता में नये जीवन-मूल्यों और नये आदर्शों की स्थापना में साहित्य के दायित्व-निर्वाह के दृष्टिकोण का समन्वय भी प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग के अनेक आलोचकों ने अनेक प्रगतिवादी सिद्धान्तों को भी अपनी स्वीकृति प्रदान की है और शिल्प के क्षेत्र में शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, अलंकार आदि के साथ साहित्य के नये प्रयोगों को भी अपनी उदार स्वीकृति दी है। अभिप्राय यह है कि यह वर्ग साहित्य की 'वस्तु' और 'रूप'—दोनों में परम्परा-निर्वाह के आग्रह के साथ-साथ नवीनताओं को उदार स्वीकृति प्रदान करता है। बल्कि यों कहा जाय तो ज्यादा ठीक होगा कि 'वस्तु' तथा 'रूप' की नवीनताओं के बीज पुरानी मान्यताओं में खोज कर नये-पुराने का समन्वय प्रस्तुत करता है। इस वर्ग की साहित्य सम्बन्धी धारणाओं का निष्कर्ष निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

साहित्य का प्रयोजन किसी विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा की पक्षधरता नहीं है, न साहित्य का उद्देश्य मानव को किसी विशिष्ट विचारधारा की चेतना देना है; बल्कि भारतीय संस्कृति के व्यापक मानवीय तत्त्वों की रागात्मक अनुभूति कराना है जो मानव में सात्विक और उदात्त भावों का संचार कर उसकी चित्तवृत्ति का संस्कार भी करती है और उसे रसानन्द भी देती है।[1] वह राजनीतिक एवं आर्थिक संघर्षों की अपेक्षा सांस्कृतिक संघर्षों को साहित्य का विषय मानता है। साहित्य के विषय का क्षेत्र सामयिक जीवन की घटनाएँ और उनके आधार पर 'यह' या 'वह' चेतना देना नहीं है, बल्कि साहित्य का विषय तो सांस्कृतिक जीवन है और वह सामयिक जीवन का चित्रण व्यक्ति के जीवन की सांस्कृतिक भाव-धारा तथा सार्वभौमिक और सर्व-कालिक भावों के उन्मेष के लिए करता है। साहित्य के शिल्प एवं रूप की कलात्मकता पर भी यह वर्ग विशेष बल देता है और अभिव्यक्ति में परम्परागत उपकरणों पर विशेष आग्रह करता है। डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-सिद्धान्तों में अपने-अपने तरीके पर यह समन्वयवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों में मतभेद हो सकते हैं और हैं; लेकिन 'समन्वय' उनके समीक्षा-सिद्धान्तों की मूलभूत एकता का धरातल है। स्वतन्त्रता के बाद 'समन्वय' राष्ट्रीय उत्थान की ओर प्रगति की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। सभी क्षेत्रों में नये-पुराने विचारों के समन्वय के प्रयास दिखाई पड़ते हैं। समन्वयवादी

१. 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' (डॉ० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध)—डॉ० नगेन्द्र।

की समीक्षा-पुस्तक 'नव लेखन'—इस दिशा में एक सफल प्रयास कहा जा सकता है। इस रूपवादी नवलेखन, जिसे 'नई आलोचना' का भी नाम दिया जा रहा है, के सिद्धान्तों का—आधुनिक उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता आदि विविध साहित्य पर प्रयोग कहा जा सकता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी इस पुस्तक में वर्तमान साहित्य के मूल्याङ्कन के साथ-साथ 'नई आलोचना' के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है।[1]

इस काल के हिन्दी में हुए शोध-कार्य में भी अनेक कृतियों और प्रवृत्तियों का भिन्न भिन्न सिद्धान्तों के आधार पर तत्त्वपरक शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इस काल में हुए शोध-कार्य पर हम पृथक् रूप से विचार करेंगे; क्योंकि इस काल में शोध-कार्य इतनी विपुल मात्रा में हुआ है कि उस पर अलग से विवेचन करना ही सार्थक प्रतीत होता है। यहाँ केवल प्रसंग रूप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि शोध-कार्य ने हिन्दी-आलोचना को समग्र रूप से समृद्ध बनाने का कार्य किया है। शोध-कार्य के अतिरिक्त इस काल में हुए शोधेतरीय कार्य का भी हिन्दी-आलोचना को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योग है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन तथा हिन्दी भाष्य का प्रस्तुत करना निश्चय ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने में डा० नगेन्द्र का निर्देशन, आचार्य विश्वेश्वर की योग्यता तथा हिन्दी अनुसन्धान परिषद् दिल्ली तथा चौखम्बा प्रकाशन, बनारस का योगदान सराहनीय है। काव्यादर्श, काव्यालङ्कार सूत्र, ध्वन्यालोक, वक्रोक्ति जीवितम्, काव्य मीमांसा, औचित्य विचार-चर्चा, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, रस-गंगाधर, अभिनव भारती, नाट्य-दर्पण, अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय अंश, आदि-आदि विपुल संस्कृत-काव्य शास्त्र आज हिन्दी में उपलब्ध हैं। इसे निश्चय ही शास्त्र-स्तर का महत्त्वपूर्ण कार्य कहा जायेगा। संस्कृत-काव्य-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत करने के साथ-साथ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के अध्ययन का भी महत्त्वपूर्ण कार्य इस काल में हुआ है। इस प्रसङ्ग में डा० देवराज का 'रोमांटिक साहित्य-शास्त्र', डा० लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' उल्लेखनीय हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र तथा आधुनिक हिन्दी-समीक्षा-सिद्धान्तों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बाबू गुलाबराय की कई रचनाएँ—'काव्य के रूप सिद्धान्त और अध्ययन' आदि भी प्रकाश में आई हैं। इस प्रसङ्ग में शिवदान सिंह चौहान की पुस्तक 'आलोचना के सिद्धान्त' उल्लेखनीय है। इसमें भारतीय, पाश्चात्य तथा आधुनिक हिन्दी के समीक्षा-सिद्धान्तों का विवेचन ही प्रस्तुत नहीं किया गया है, वरन् प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों की—विशेष रूप से रस-सिद्धान्त की युगानुरूप नवीन व्याख्या भी की गई है।

---

१ हिन्दी नवलेखन—रामस्वरूप चतुर्वेदी।

पाठ्य-ग्रन्थों की आलोचना के क्षेत्र में इस काल में सबसे अधिक काम हुआ है। हिन्दी का शायद ही कोई पाठ्य-ग्रन्थ बचा हो, जिस पर सस्ते नोट्स-स्तर से लेकर गम्भीर विवेचन तक की आलोचना-पुस्तक न लिखी गई हो। एक-एक पाठ्य-ग्रंथ पर कई-कई आलोचना-पुस्तकें प्रकाश में आई हैं। इनका मूल्य अधिकांशतः केवल विद्यार्थियों की परीक्षाओं तक ही सीमित है। इसी वर्ग में टीकाओं को भी लिया जा सकता है। इस काल में पाठ्य-ग्रन्थों की टीकाएँ भी प्रचुर मात्रा में लिखी गई हैं। वैसे तो प्रायः सभी टीकाएँ विद्यार्थियों के उपयोग को दृष्टि में रख कर ही लिखी गई हैं; लेकिन कुछ टीकाएँ साहित्यिक मूल्याङ्कन के स्तर की भी हैं। इस प्रसङ्ग में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा प्रणीत 'जायसी के पद्मावत की टीका' का उल्लेख किया जा सकता है।

पुस्तक-समीक्षा तो हिन्दी की सभी मासिक, साप्ताहिक और पाक्षिक पत्र-पत्रिकाओं का एक स्थायी स्तम्भ बन गया है। पाठक और रचना के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से पुस्तक-समीक्षाओं का बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। पुस्तक-समीक्षाएँ जहाँ एक ओर रचना का मूल्याङ्कन करती हैं, वहीं दूसरी ओर पाठक का मार्ग-निर्देशन और उसकी रुचि का परिष्कार भी करती है। लेकिन अधिकांश पुस्तक-*समीक्षाएँ बड़ी सतही और परिचयात्मक होती हैं। गम्भीर चिन्तन-परक सैद्धान्तिक* पुस्तक-समीक्षाएँ के क्षेत्र में त्रैमासिक पत्रिका 'आलोचना' का निःसन्देह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है।

समीक्षा-सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दिशा में नई आलोचना के सिद्धान्तों के प्रतिपादन का कार्य इस काल की नई प्रगति कही जा सकती है। 'नई कविता', जिसका विवेचन हम पीछे कर आये हैं, के समान ही साहित्य की हर विधा में 'नव लेखन' का विकास हुआ है। यह 'नई आलोचना' इन 'नव-लेखन' और 'नई कविता धारा' के मूल में व्याप्त 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी' विचार-दर्शन के आधार पर 'नव-लेखन' और 'नई-कविता' के भाव और शिल्प के मूल्याङ्कन का सिद्धान्त प्रस्तुत करती है। इस धारा के मानने वाले वर्तमान जीवन के संघर्षों का समाधान व्यक्ति की स्वतन्त्रता में देखने का प्रयास करते हैं। 'नई आलोचना' इसी दृष्टि की साहित्यिक परिणति है—जो नये साहित्य में इस जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति का मूल्यांकन प्रस्तुत करती है। 'नई-आलोचना' के सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दिशा में 'नई कविता', 'निकष' के लेख और सम्पादकीय, 'तार सप्तक' में अज्ञेय की भूमिकाएँ तथा कवियों के वक्तव्य, अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख तथा त्रैमासिक 'आलोचना' के सम्पादकीय (धर्मवीर-भारती आदि के सम्पादन काल में) आदि के अतिरिक्त लक्ष्मीकान्त वर्मा की पुस्तक *'नई कविता के प्रतिमान'*, रामस्वरूप *चतुर्वेदी की पुस्तक 'नव लेखन', धर्मवीर भारती* की पुस्तक 'मानव मूल्य और साहित्य'—ठोस प्रयास कहे जा सकते हैं। प्रगतिवादी

हो पाया है। इन दोनों वर्गों की मान्यताओं में आज भी अन्तर बना ही हुआ है। डा० राम विलास शर्मा अब भी प्रगतिवादी' साहित्य को 'सर्वहारा' का साहित्य मानते हैं— साहित्य लिखते समय साहित्यकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह सर्वहारा का सहयोगी साहित्य निर्मित करे।[1] अर्थात् सर्वहारा वर्ग के अतिरिक्त वर्ग-वैषम्य और वर्ग वैषम्य से पीड़ित जनता के जीवन-संघर्ष का साहित्य प्रगतिशील साहित्य नहीं है? प्रगतिवादी साहित्य को केवल 'सर्वहारा' का 'सहयोगी' साहित्य मानना सर्वहारा और वर्ग-वैषम्य से पीड़ित अन्य बहुसंख्यक जनता के समान हितों में विरोध उपस्थित कर जनता की संयुक्त संघर्ष शक्ति को कमजोर करना है और साहित्य को पुनः संकीर्णताओं में जकड़ देना है। इसी प्रकार 'साहित्य आर्थिक सम्बन्धों की देन है'[2] को स्वीकार करने का अर्थ यह मानना है कि—वर्ग-विशेष ने अपने आर्थिक प्रभुत्व और वर्ग-स्वार्थों को स्थापित करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'साहित्य-अस्त्र' का निर्माण किया है। साहित्य के सम्बन्ध में यह धारणा नितान्त भ्रममूलक है। साहित्य आर्थिक सम्बन्धों की देन है और वह आर्थिक सम्बन्धों से प्रभावित रहा है और रहता है दोनों स्थितियों में आधारभूत अन्तर है—जिसको डॉ० शर्मा ने भ्रमवश एक ही मान लिया है।

लेकिन प्रगतिवाद की मूल स्थापनाएँ सप्राण नहीं हैं। उन्हें संकीर्ण बना दिया गया था और अब फिर वह साहित्य को प्रगतिशील चेतना का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो रहा है। व्यापक रूप से मनुष्य की चेतना का प्रगतिकामी उद्बुद्धता (चाहे वह किसी स्तर की प्रगतिकामी हो) देने में साहित्य की प्रगतिशीलता है। जो साहित्य किसी भी स्तर तक मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाता है और वर्तमान जीवन के संघर्षों में उसे दृढ़ तथा भविष्य की प्रगति के प्रति आस्थावान बनाता है मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता पर आधारित स्नेहपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करता है और उसे आनन्द देकर उसमें जीवन के सौन्दर्य की अनुभूति जगाता है उसमें जीने की लालसा उत्पन्न करता है तथा सुखपूर्वक जीने के लिए विषम परिस्थितियों से उस संघर्ष की दृढ़ता देता है वह सब प्रगतिशील साहित्य है, फिर चाहे वह चित्रण सर्वहारा वर्ग की किसी समस्या और संघर्ष का हो चाहे मध्यम वर्गीय परिवार की दीन-दुखी स्थिति का हो चाहे सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों का चित्रण हो, चाहे प्रेम-वर्णन हो चाहे दार्शनिक विचारों का वर्णन हो और चाहे मूर्त-अमूर्त प्राकृतिक सौन्दर्य या भाव-सौन्दर्य का चित्रण हो।

प्रगतिवादी वर्ग के आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान ने इस काल में

---

१ साहित्य सन्देश—डा० रामविलास शर्मा, भाग २३, अंक १, पृ० २७।
२ वही, पृ० २६।

'प्रगतिवाद' की व्यापक उदार मान्यताओं की पुनः स्थापना करने का प्रयास किया है।[1] और प्राचीन भारत के काव्य-शास्त्र के विविध सिद्धान्तों के वस्तुपरक अध्ययन द्वारा मानव की भावनाओं का उत्कर्ष कर, व्यापक मानवीय एवं सामाजिक सम्बन्धों के धरातल पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विस्तार एवं उन्मेष कर मानव प्रेम, स्नेह, सौहार्द्र, दया, ममता, करुणा, सहयोग, परदुखकातरता और जीवन के प्रति आस्था, जीवन के परस्पर अधिकाधिक बढ़ते सुखद सम्बन्धों की आकांक्षा, जीने की इच्छा, आत्म-विश्वास तथा भावी प्रगति के प्रति संकल्पशील विश्वास तथा प्रकृति और जीवन-सौन्दर्य के आनन्द में मस्त होकर जीने की इच्छा की प्रगतिकामी चेतना को प्राणी में बद्धमूल करने वाले प्राणवान साहित्य की सतत-प्रवाही अजस्र धारा के प्रवाह-क्रम में आधुनिक साहित्य की प्रगतिकामी चेतना-धारा के मूल्यांकन के लिए प्राचीन काव्यशास्त्र के साहित्य की प्रगतिकामी मूल आत्मा को उजागर करने वाले प्राणवान तत्त्वों को अपनाते हुए मूल्यांकन-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की ओर ठोस और सशक्त कदम उठाया है। यह वस्तुतः मूल्यांकन-सिद्धान्तों को नये धरातल और नये क्षितिजों का विस्तार देना है।[2] उन्होंने रस को 'कलाकृति का अन्तिम मूल्य' स्वीकार करते हुए रस को 'कला निर्मित और कला प्रभाव का एक सार्वजनीन और सर्वकालीन (शाश्वत) नियम' माना है और 'इसे अस्वीकार करने' को अवैज्ञानिक कहा है।[3] यह सब प्रयास होते हुए भी प्रगतिवादी वर्ग में साहित्य सम्बन्धी मूल प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद हैं और अपने वर्ग में ही सर्व स्वीकृत समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण उन्हें अभी करना है।

रूपवादी नई आलोचना

'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' के सिद्धान्तों को लेकर, साहित्य की जो धारा इस काल में विकसित हुई है और उसके जिन मूल्यांकन-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, उन्हें इस वर्ग में रखा जा सकता है। उसे 'नई कविता' या 'नव लेखन' के वजन और तर्ज पर 'नई आलोचना' का नाम भी दिया गया है।

यद्यपि अभी न तो इस धारा के समीक्षा-सिद्धान्तों का विधिवत् निर्धारण हुआ

---

१. देखिए—'साहित्यानुशीलन', 'साहित्य की समस्या', तथा आलोचना के मान-निबन्ध संग्रहीत निबन्ध—'साहित्य की परख', 'आलोचना के मान', 'साहित्यकार की आस्था,' 'आलोचना में सौन्दर्य और सामाजिक मूल्य' आदि —शिवदानसिंह चौहान

२. आलोचना के सिद्धान्त—शिवदानसिंह चौहान।

३. साहित्य सन्देश—शिवदानसिंह चौहान, भाग २३, अंक १, पृ० २२-२४।

-सिद्धान्तों के समन्वय की इसी प्रवृत्ति की साहित्यिक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

प्रगतिवाद

'प्रगतिवाद' एक नई समीक्षा धारा के रूप में स्वतन्त्रता से पूर्व ही मान्य हो चुका था और प्रायः सभी वर्गों के आलोचकों के द्वारा थोड़े-बहुत मतभेदों तथा अन्तर के साथ स्वीकृति पा चला था। 'प्रगतिवादी' वर्ग के आलोचकों को छोड़कर अन्य वर्ग के आलोचक 'प्रगतिवाद' की मार्क्सवादी विचारधारा को न स्वीकार करते हुए भी जन-जीवन पर साहित्य के प्रभाव का आधार बनाकर जन-जीवन में उसकी प्रगतिशील भूमिका की दृष्टि से 'रचना की वस्तुगत समीक्षा के सिद्धान्तों को स्वीकार करने लगे थे। लेकिन धीरे-धीरे उसकी एकांगिता उभरने लगी और स्वतन्त्रता के बाद तो प्रगतिवाद' और भी संकीर्ण होकर अपनी व्यापकता खो बैठा। प्रगतिवादी वर्ग के बाहर के उसके सहगामी आलोचकों ने तो उसे संकुचित मतवाद कहकर त्याज्य नहीं ठहराया, बल्कि प्रगतिवादी वर्ग के आलोचकों का ध्यान भी उसकी एकांगिता और संकीर्णता की ओर गया। 'प्रगतिवाद' साहित्य सम्बन्धी कुछ बुनियादी प्रश्नों—साहित्य क्या है, साहित्य का प्रयोजन क्या है, साहित्य किसके लिये है, साहित्यकार का दायित्व क्या है, साहित्य में भाव और अभिव्यक्ति, वस्तु और शिल्प का क्या सम्बन्ध है? आदि तथा इनसे सम्बन्धित अन्य अनेकों प्रश्नों पर अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत करता है।

स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद 'प्रगतिवाद' साहित्य की व्यापक प्रगतिशील चेतना का उन्मेष न रहकर कम्यूनिस्ट पार्टी की तत्कालीन नीतियों का उद्घोषक मात्र रह कर संकुचित हो गया। पार्टी की नीतियों और घोषणाओं की कलाविहीन साहित्यिक अभिव्यक्तियों को ही श्रेष्ठ साहित्य घोषित किया गया। उस समय की प्रगतिवादी मान्यताओं का निष्कर्ष है कि—प्रगतिवादी साहित्य वह है जिसमें सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष का चित्रण हो। सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, मध्यवर्गीय जीवन की दीनता के चित्रण आदि को प्रगतिशील मानना गलत है क्योंकि मध्यवर्ग क्रान्तिकारी वर्ग नहीं है। कला की बात करना—बुर्जुआ मनोवृत्ति का द्योतक है और जो साहित्यकार पार्टी की नीतियों के आधार पर जनता को सशस्त्र क्रान्ति की चेतना देने वाला साहित्य नहीं रचता, वह बुर्जुआ और क्रान्ति विरोधी है।[1] इस प्रकार पार्टी

---

१ देखिए 'नया साहित्य' (सन् १९४८-४९ के अंकों में)—डॉ० राम विलास शर्मा, नरोत्तम नागर तथा चन्द्रवली सिंह आदि के लेख।

विशेष की नीतियों से बाँध कर प्रगतिवाद को अत्यन्त संकीर्ण बना दिया गया। इससे पूर्व हिन्दी की प्रगतिवादी धारा देश की जनता की राजनीतिक मुक्ति—विदेशी साम्राज्य से मुक्ति—तथा सांस्कृतिक मुक्ति—गतानुगत रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों आदि से मुक्ति—की व्यापक प्रगतिकामी, मानवीय और राष्ट्रीय चेतना की प्रगतिशीलता का प्रतिनिधित्व करने की गरिमा पा चली थी। वह इस मतवाद की जकड़बन्दी से टूट कर बिखर गई और प्रगतिवाद एक निष्प्राण, सकुचित साहित्य-धारा बनकर रह गया। प्रगतिवादी खेमे के अनेक सक्रिय लेखक तथा अन्य सहगामी और सहयोगी लेखक प्रगतिवादी धारा से अलग हो गए। शिवदान सिंह चौहान, सुमित्रा नन्दन पन्त, राहुल, अश्क, रांगेय राघव, यशपाल आदि के साहित्य तथा विचारों की बड़ी कटु आलोचना की गई।[1] यह स्थिति सन् १९४८ तक रही। सन् १९५२ में प्रगतिवादी पक्ष के इस बिखराव को दूर करने के लिए चीनी पैटर्न पर कुओ-मो-जो, ल्यू-शाउ-ची तथा माओत्सेतुंग के लेखों के आधार पर बड़े ही यांत्रिक ढंग से साहित्यिक संयुक्त मोर्चे की बात उठाई गई।[2]

इसके बाद से ही प्रगतिवादी पक्ष की इस संकीर्णतावादी नीति के विरुद्ध प्रगतिवादी वर्ग में संघर्ष आरम्भ हुआ, जिसका प्रारम्भ करते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने उन्हीं दिनों 'हंस' तथा 'नया साहित्य' में 'साहित्य की नई दिशा' नाम से दो एक-दूसरे के पूरक, लेख लिखे थे जो प्रगतिवादी धारा में संकीर्णतावादी प्रवृत्ति के विरोधी विवाद का सूत्रपात करने का आधार बने।[3] उसके बाद शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, गोपाल कृष्ण 'कौल', प्रकाश चन्द्र गुप्त तथा अमृत राय आदि ने 'प्रगतिवाद' में आई संकीर्णता का विश्लेषण करते हुए अनेक निबन्ध लिखे। उस समय से अब तक 'प्रगतिवाद' अपनी संकीर्ण नीतियों के प्रभावों (दूसरे साहित्यकारों पर पड़े प्रभाव, कि वह इस धारा से अलग हो गये, और वे अब तक इसे पार्टी-विशेष की साहित्यिक धारा मानते चले आ रहे हैं तथा वह अपने अन्दर के प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाया है। प्रगतिवादी धारा दो वर्गों में बँट गई है, "वे मार्क्स के सिद्धान्तों को तो प्रायः एकसा मानते हैं, किन्तु मान्यता और व्यावहारिकता के आधार पर दो वर्ग हैं। एक में, मैं [डा० राम विलास शर्मा] अकेला हूँ और दूसरे में 'श्री शिवदानसिंह चौहान, यशपाल, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त और नामवर सिंह, राहुल सांकृत्यायन, अमृत राय, डा० रांगेय राघव आदि हैं)"[4] से मुक्त नहीं

१. देखिए इन साहित्यकारों पर डॉ० राम विलास शर्मा के लेख।
२. देखिए 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा'—डॉ० राम विलास शर्मा का लेख।
३. देखिए 'साहित्य की नई दिशा'—राम गोपाल सिंह चौहान के निबन्ध—'हंस' तथा 'नया साहित्य', सन् १९५१।
४. साहित्य सन्देश—डॉ० राम विलास शर्मा, भाग २३, अंक १, पृ० २७।

है और न नामकरण ही स्थिर हुआ है, क्योंकि एक तो सृजनात्मक साहित्य में ही यह धारा अपना कोई निश्चित स्वरूप आधार तथा जीवन दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं कर सकी है और न नई राहों के अन्वेषी' होने की प्रेरणा से जीवन दृष्टिकोण, वस्तु-चयन तथा शैली शिल्प के रूप विधान सम्बन्धी नयी नयी मोड़ लेने के कारण अपना कोई स्वरूप ही स्थिर कर पाई है दूसरे— व्यक्ति स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के प्रति उनकी ईमानदारी' शायद किसी एक सर्व स्वीकृत समीक्षा सिद्धान्त के निर्धारण को अनावश्यक ही नहीं वरन् कलाकार व्यक्ति' की स्वतन्त्रता' पर उसे अंकुश समझ वर्जित भी मानती है और तीसरे—अभी यह धारा नई है और अपने प्रयोग काल से गुजर रही है। फिर भी कुछ ऐसे आधार है जो इस धारा को एक सूत्र में बाँधते हैं, जिनके निष्कर्ष को संक्षेप में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१—कला विशिष्ट मानव की विशिष्ट क्षणों की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। वह सामाजिक मूल्यों के बन्धनों की कृत्रिमता से सर्वथा मुक्त मानव की अन्तश्चेतना की निर्बाध और अकृत्रिम अभिव्यक्ति है जो अपने में पूर्ण है। उसे उसी रूप में देखना चाहिए, किन्हीं बाह्यारोपित मान्यताओं के आधार पर नहीं। सामाजिक मर्यादा-मूल्यों से जकड़े मानव को सामाजिक सीमा में जब अपनी 'कमजोरी', अनुपयोगिता' और 'लघुता' की अनुभूति होती है तो उस अनुभूति में व्यक्ति के जीवन भर की निचुड़ आई वेदना के विशिष्ट क्षणों की विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति ही कला है। व्यक्ति की सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अपनी कमजोरी', अनुपयोगिता' तथा लघुता' की अनुभूति से उत्पन्न वेदना' का अपनी सहानुभूति और सम्वेदना प्रदान करना—उस अभिव्यक्ति के सही और न्याय-सगत मूल्याकन का आधार है।

२—सामाजिक वर्जनाओं के विरुद्ध व्यक्ति के विद्रोह में निष्ठा तथा अपने व्यक्ति' के प्रति निष्ठा, अहं के विकास में 'व्यक्ति' के 'अस्तित्व' के प्रमाण तथा उसके निजत्व की सीमा में व्यक्तित्व के विकास की प्रतिष्ठा।

३—चिन्तन तथा अभिव्यक्ति की नई-नई राहों का अन्वेषण'। भाषा, शैली शिल्प और रूप के नये-नये प्रयोग। चिन्तन तथा अभिव्यक्ति के रूप विधानों की परम्परा ग्रस्तता से विद्रोह।

४—कला को बाह्यारोपण' से मुक्त रखने का आग्रह।

५—व्यक्ति में निजत्व' तथा निज की महत्ता' की चेतना देना। समाज की अपेक्षा में व्यक्ति की, सघ की अपेक्षा में इकाई' की महत्ता की प्रतिष्ठा।

६—बौद्धिकता को महत्त्व।

७—लेखक के लेखकीय व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता।

सामान्यतः यही निष्कर्ष इस धारा के समीक्षा-सिद्धान्तों का आधार भी प्रस्तुत करते हैं, जो तीनों सप्तकों की भूमिकाओं, कवि-वक्तव्यों, नई कविता, आलोचना, निकष, नये पत्ते—आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की सम्पादकीय टिप्पणियों, लेखों, परिमल की विचार-गोष्ठियों में पढ़े गये लेखों आदि में बिखरे हुए हैं। पुस्तक रूप में इस धारा के समीक्षा-सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के प्रयास अभी न के बराबर ही हुए हैं। केवल चार पुस्तकें प्रकाश में आई हैं—'नई कविता के प्रतिमान'[१], 'मानव-मूल्य और साहित्य'[२], 'नव-लेखन'[३] तथा 'आत्मने पद'[४]। 'नई कविता के प्रतिमान' में हिन्दी की नई कविता को आधार बना कर परिप्रेक्षण की नवीनता, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, भाव-बोध के नये स्तर, सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्व, यथार्थ के नये धरातल, मानव विशिष्टता और आत्म-विश्वास के आधार, प्रयोग, प्रगति और परम्परा, अहंवादी प्रवृत्तियाँ और सामाजिक दायित्व आदि प्रश्नों को लेकर व्यापक रूप से विचार किया गया है। 'मानव-मूल्य और साहित्य' में सम्पूर्ण साहित्य को आधार बनाकर साहित्य-समीक्षा को नई दृष्टि देने का प्रयास किया गया है। 'नव-लेखन' में चिन्तन के नये स्तरों का सार-तत्त्व प्रस्तुत करते हुए समीक्षा-सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर वर्तमान हिन्दी-साहित्य के विविध पक्षों का व्यावहारिक मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'आत्मने पद' में भी समीक्षा के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयास हुआ है।

चूँकि अधिकतर यह सब प्रयास एक विचार-मन्थन के स्तर पर ही हैं, अतः उनमें परस्पर मतवैभिन्न्य तो है ही, एक लेखक की मान्यताओं के स्तर पर भी मत-वैभिन्न्य और अन्तर्विरोध मिलता है। इसलिए इस धारा के किन्हीं स्वीकृत और स्थापित समीक्षा-सिद्धान्तों का उल्लेख करना कठिन है, फिर भी उनका निष्कर्ष निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को जीवन का सर्वोच्च मूल्य स्वीकार करते हुए इस वर्ग के आलोचकों ने साहित्य की नई मर्यादाओं की स्थापना की है। व्यक्ति को सामाजिक

१. नई कविता के प्रतिमान—लक्ष्मीकान्त वर्मा।
२. मानव-मूल्य और साहित्य—धर्मवीर भारती।
३. हिन्दी नव-लेखन—रामस्वरूप चतुर्वेदी।
४. आत्मने पद—अज्ञेय।

बाह्यारोपण विधि नियमों और व्यक्ति को समाज का अंग मानकर उस पर लगाये गये अंकुशों के विरुद्ध वैयक्तिक आन्तरिकता और अहं की जाग्रति की चेतना देना इस वर्ग की दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन है। उनका कथन है कि सामाजिकता ने व्यक्ति की चेतना को कुंठित कर दिया है। समाज के विभिन्न शिविरों की अपनी-अपनी मान्यताओं का आग्रह आज के मानव में भय का सचार करता है। व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और शक्ति खोकर समूह और समाज का दास बन गया है। व्यक्ति को इस दासत्व से मुक्ति प्राप्त कर अपने 'स्व' और 'अहं' का विकास कर अपने 'अस्तित्व' की प्रतिष्ठा करने की बौद्धिक जागरूकता देना ही साहित्य की नई मर्यादा है। साहित्यकार को मानव अस्तित्व की गहन परतों से उतर कर उसकी रक्त शिराओं में चलने वाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है उसके छोटे-छोटे क्षण में जीवन प्रक्रिया जो उद्बुद्ध करता है उसकी भावनाओं के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तन्तु में स्फुरित होने वाले मानवीय मूल्य की विशदता को पहचानना है, यही नहीं, वरन् उसे इस संकट-काल के उखड़े-पुखड़े हुए अद्धध्वस्त प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में हर एक भटके हुए व्यक्ति की जीवन प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उसके जीवन के क्षणों को स्वयं जीकर उनके द्वारा की गई मूल्यों की निजी खोज और उसके विकास के मर्म का समर्थ देना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव इतिहास के नये और सबसे पूर्ण, प्रांजल और प्रकाशमान युग की ओर प्रेरित करना है।[1] भारती ने विदेशी विचारकों से लेकर गाँधी विनोबा और गीता तक के उद्धरणों के साक्ष्य पर व्यक्ति के 'स्व' के उन्मेष और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को मूलभूत जीवन मूल्य सिद्ध किया है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को जीवन-मूल्य स्वीकार करते हुए इस वर्ग के आलोचकों ने साहित्य में नये परिप्रेक्ष्य अनुभूतियों के नये रूपांतरण सौन्दर्य-बोध के नये धरातल बौद्धिक जागरूकता, रूढ़ प्रकार के विविध विधानों की अस्वीकृति यथार्थ के नये धरातल[2] को स्वीकार करते हुए माना है कि नई कविता सामाजिक स्तर पर भी मानव की व्यक्ति निष्ठा को स्वीकार करती है। व्यक्ति की निष्ठा व्यक्ति की अनुभूति तथा व्यक्ति की विशिष्टता, जो प्रत्येक कला की चेतन शक्ति है उन सभी भाव-स्तरों को अपना निजी स्वर प्रदान करती है। यह स्वर उस आत्मबोध का प्रतिष्ठित स्वर होता है जिसमें बाह्य आरोपण की अपेक्षा आत्मानुभव पर अधिक आस्था व्यक्त की जाती है।"[3] विचारों के क्षेत्र में राजनीति का प्रवेश सामाजिक चित्रण में नव्य यथार्थवादी दृष्टि और शिल्प की

---

१ 'मानव, आस्था और मूल्य' (मानव, मूल्य और साहित्य)—धर्मवीर भारती, पृ० १३८।

२ नई कविता के प्रतिमान—लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ३२, ३५, ६२, १०५ आदि।

३ वही, पृ० ४०।

दृष्टि से संघटन नव-लेखन की मौलिक मान्यताओं में से है।"[१] यथार्थ के नाम पर मात्र कुरूपताओं का वर्णन अथवा सामाजिक यथार्थवाद के अन्तर्गत सम्भाव्य उज्ज्वल भविष्य का चित्रण—इन दोनों ही पद्धतियों को नव लेखन में पक्षधर और खंड सत्य के रूप में माना गया है। "सम्पृक्त और समग्र चित्र को प्रस्तुत करना नव्य यथार्थवाद का मुख्य उद्देश्य है।"[२] "रस-बोध की स्थिति अपने आप में आधुनिक मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। साहित्य का दायित्व अब मूलतः रुचिर होना ही नहीं है। अपने नये दायित्वों के निर्वाह में भी नया साहित्य अपनी रुचिरता जितनी बनाये रख सके वह अच्छा है, पर अन्ततः नये भाव-स्रोत के सम्मुख प्राचीन ढंग की रसग्राहिता महत्त्व नहीं पा सकेगी।"[३] "आवेग, आवेश उत्साह तथा दया सम्भवतः वर्तमान सन्दर्भ में अनावश्यक-से हो चले है।······प्रजातन्त्र की मौलिक मान्यताओं से विकसित नई कविता को इसीलिए मूलतः बौद्धिक रहना है।"[४] "बौद्धिक दृष्टिकोण की समुचित अभिव्यक्ति गद्य के माध्यम से ही हो सकती है, और यही कलात्मक विकास की नई दिशा भी है। उपकरणों का सूक्ष्म होना, कला की श्रेष्ठता का द्योतक है।········इस दृष्टि से कविता ने भी अपने उपकरणों को सूक्ष्मतर बनाया है। पहले तुक का आग्रह छोड़ा गया, फिर छन्द का और अब सम्भवतः ध्वन्यात्मक लय को भी कविता के लिये अनिवार्य नहीं माना जा सकता।''' "नई कविता के शिल्प का दूसरा पक्ष है—बिम्ब-विधान।"[५] "नई कविता की प्रयोगशीलता का पहला आयाम भाषा से सम्बन्ध रखता है।······प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है—यही उसका कल्प है। इसी प्रकार शब्द 'वैयक्तिक प्रयोग' भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है, दुरूह भी होता है और बोधगम्य भी।····प्रयोक्ता के सम्मुख दूसरी समस्या सम्प्रेष्य वस्तु की है।···· कहाँ तक कवि नई परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी, और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला भर न बना रहकर उसे वश में करके, उसी के सहारे सबसे ऊपर उठकर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसी से हम निश्चय करते है कि वह कितना बड़ा कवि है और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टैकनीक) के उपयोग की पड़ताल करके यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है।"[६]

---

१. हिन्दी नव-लेखन—रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० १९८।
२. वही, पृ० १९९, २०२।
३. वही, पृ० २०१, २०२।
४. वही, पृ० ८०।
५. वही, पृ० ८२।
६. तीसरा सप्तक (भूमिका)—अज्ञेय।

भारतीय साहित्यशास्त्र और पश्चिमी समालोचना

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

साहित्य हृदय का हृदय से व्यवसाय है। साहित्य का निर्माण हृदय की प्ररणा उसकी अनुभूति द्वारा होता है इसलिए उसको ग्रहण करने के लिए भी हृदय चाहिए। जो सहृदय न होगा वह साहित्य के निर्माण मे प्रवाहित अन्तर्धारा म अपना मेल नही मिला सकता। वह समान हृदय वाला होता है दूसरे के हृदय के समान उसका हृदय हो जाया करता है। प्रश्न होता है कि क्या सहृदय केवल किसी हृदय म उठी अनुभूति का अनुभव करके ही विरत हो जाता है? सहृदय की काव्यानुभूति मे दो स्थितियाँ होती हैं। केवल अनुभव करके रह जाना अथवा अनुभूति का हृदय प्रेरित अभिव्यजन करना। दूसरे अनुभूति के अनन्तर उसकी विवेचना भी करना। पहले को भावुक और दूसरे को भावक कहते हैं। साहित्य क्षेत्र म जब भावक का आगमन होता है तो शास्त्र निर्माण का बीजवपन हो जाता है। भावक भावुक की भाँति साहित्य या काव्य के सम्ब न्ध मे अविचारित रमणीय उद्गार नही करता। वह बहुत सोच विचार कर बातें कहता है स्थापनाएँ करता है। वह निर्माता निर्मित और ग्रहीता सबका विचार करता है। वह यह बतलाता है कि निर्माता के लिए क्या-क्या अभीष्ट है ग्रहीता के लिए क्या-क्या ग्राह्य है तथा निर्माता के लिए क्या-क्या त्याज्य है। ग्रहीता के लिए क्या-क्या अग्राह्य है जो प्रयोजनीय सग्राह्य है अथवा जो निष्प्रयोज्य और त्याज्य है उसका रूप या धर्म क्या है[1] इस प्रकार वह निर्माता का भी हितशासक होता है[2] और ग्रहीता का भी। शास्त्र इसी से साहित्य के लेन-देन मे हितसाधना या हितशासना करता है—देने वाले को भी और लेने वाले को भी। यह हितशासना सुविचारित होती है। इसमे किसी प्रकार का राग द्वेष नहीं होता। भावक की कृति विचारित सुस्थ होती है। वह शासक होता है।

---

१ 'प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पु सां येनोपदिश्यते
तद्धर्मांश्चोपदिश्यन्ते शास्त्र शास्त्रविदो विदु ।

२ शास्त्रत्व हितशासकत्वम् ।

साहित्य पहले बनता है, शास्त्र उसके अनन्तर। पर शास्त्र बन जाने पर साहित्यकार के लिए उसका अवलोकन वांछनीय होता है, अनिवार्य हो जाता है। बिना शास्त्र की प्रज्ञा के उसकी उपज्ञा शासित नहीं होती, व्यवस्थित नहीं रहती। काव्य मार्ग कठिन मार्ग है, काव्यास्वाद विपास्वाद है, यदि शास्त्ररहस्य का मनन-चिन्तन नहीं किया गया।[1]

कवि या निर्माता के लिए केवल शक्ति अपेक्षित नहीं है। निपुणता और अभ्यास की भी अपेक्षा है। निपुणता लोक, काव्य, शास्त्र आदि के अवेक्षण से आती है। जो साहित्यविद्या में बिना श्रम किए किसी काव्यनिर्माता की निर्मिति को देखने-समझने में प्रवृत्त होते हैं उनके सामने कवि के गुण कुण्ठित हो जाते हैं।[2] साहित्यविद्या में श्रम करने वाला कवि के गुणों में सान चढ़ा देता है।

साहित्यशास्त्र का इतना महत्त्व होते हुए भी किसी निर्माता का शास्त्रस्थिति के संपादन में प्रवृत्त होना वांछनीय नहीं। ऐसे ही शास्त्र के चिंतन-मनन का अभ्यास करने पर भी ग्रहीता को काव्य में शास्त्रस्थिति संपादन का अनुसंधान नहीं करना चाहिए। शास्त्र मार्ग-निर्देशन के लिए है। उसके विशेष आग्रह से काव्य बिगड़ता है और उसके विशेष हठ से कवि की स्वच्छंदता का अपहनन होता है।

हिन्दी को साहित्यशास्त्र रिक्थ में मिला। हिन्दी के मध्यकालिक कर्ताओं ने शास्त्रस्थिति संपादन की इच्छा इतनी प्रबल कर दी कि उनकी रचना में रमणीयता की स्थान-स्थान पर कमी होने लगी। बाप-दादों की जो सम्पत्ति मिली, उसे ऐसे व्यापार में लगाया जिसमें मूल की भी हानि होने लगी, फल यह हुआ कि न कर्त्ता के हाथ विशेष लगा, न ग्राहक के हाथ ही। यदि संस्कृत में साहित्यशास्त्र सुरक्षित न होता तो हिन्दी के मध्यकालिक आचार्य नामधारी महानुभावों के सहारे उसका वास्तविक अनुशीलन-मनन-चिन्तन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया था। सहस्रों वर्ष की इस कमाई को हम खो नहीं बैठे थे तो बहुत कुछ बेकार अवश्य रखा था। हिन्दी के मध्यकालिक कर्ताओं को साहित्यशास्त्र की आवश्यकता इसलिए नहीं हुई थी कि उसके चिन्तन-मनन में विकास करना है। उनकी फुटकल या मुक्तक रचनाओं का महल उठाने में काव्य-शास्त्र ने गारे का काम किया। रत्नों को फूंक-

---

१. मंखक कहते हैं—
अज्ञातपांडित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान् हालाहलास्वादनमारभन्ते ॥'
—श्री कंठचरित

२. कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।

फूक कर चूना और बरी बनाई गई। अच्छे-अच्छे महल बन, बसने योग्य कम, देखने-दिखाने योग्य अधिक। पर उसके भंडार को देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि हमारे पास जायदाद कम है बाप-दादों की कमाई नहीं है। हम अपनी सम्पत्ति-समृद्धि का कोई उपयोग प्रयोग नहीं जानते। इसम लग जाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि हमने अपने को नहीं खोया। फारसी का राजनीतिक अदब-कायदा चाहे जितना सीखा हो पर उसका साहित्यिक अदब-कायदा नहीं लिया। उनकी जो मजबूरी हम रही उसको अपने ढंग में अभिव्यंजन भर कर दिया। संस्कृत के साहित्यशास्त्र की अपेक्षा-आवश्यकता हिन्दी से पहले की किसी भी भाषा को इस प्रकार से नहीं हुई थी।

हिन्दी का साहित्यशास्त्र का रिक्थ इसी से सीधे संस्कृत से मिला, प्राकृत या अपभ्रंश से नहीं। प्राकृत और अपभ्रंश में से प्राकृत संस्कृत के साथ है, अपभ्रंश हिन्दी या देशी के साथ। संस्कृत प्राकृत का युग्म है। वहाँ भाषाभेद है, साहित्यभेद नहीं। भाषा-भेद के कारण प्राकृत के व्याकरण अवश्य पृथक् बन पर साहित्यशास्त्र पृथक् नहीं बना। प्राकृत का काम संस्कृत में बने शास्त्रीय ग्रंथों से ही चल जाता था। यहाँ तक कि पिंगल-भेद भी नहीं था। गाथा प्राकृत की विशेषता होने पर भी आर्या से भिन्न नहीं है। यदि कोई यह कहे कि गाथा से ही आर्या बनी तो भी इतना ही पिंगलभेद है, अन्यत्र पिंगलभेद नहीं। पर अपभ्रंश से पिंगलभेद भी हो गया। संस्कृत प्राकृत में वर्ण-वृत्तों का प्रयोग होता था गाथा आर्या के अतिरिक्त। अपभ्रंश से मात्रावृत्तों का प्रयोग प्रधान हुआ। वर्ण वृत्तों में तुकांत अपेक्षित न था, अपभ्रंश के मात्रा-वृत्तों की नादतत्त्व की वृद्धि अपेक्षित हुई। तुकांत की योजना हुई। पर साहित्यशास्त्र संस्कृत का ही रहा जैनों ने व्याकरण का सहारा लेकर अपभ्रंश का प्रयोग बहुत किया, पर साहित्यशास्त्र संस्कृत का ही रहा। हाँ प्राकृत की भाँति संस्कृत की साहित्य शास्त्र-सम्बन्धी धरोहर पर ही वह अवलम्बित नहीं रहा, उसने अपने माध्यम से भी उसे प्रस्तुत करने का कुछ प्रयास किया। पर वहाँ भी साहित्यशास्त्र के लेखक या अनुवादक गिने-चुने ही हैं। जैनों के ग्रंथों का सहारा हिन्दी वालों ने नहीं लिया, हिन्दी वालों के लिए वे सुलभ ही कहाँ थे, ग्रंथागारों में बंद पड़े थे या जनके धुओं के घरों में ही वेठनों से खुलते थे। लोकप्रवाह में वे नहीं आए। अर्थात् व्याकरणभेद और पिंगलभेद होने पर भी साहित्य भेद नहीं हुआ।

साहित्य का निर्माण इस देश में बहुत प्राचीन है। साहित्यशास्त्र का निर्माण भी बहुत प्राचीन है। एक ओर वाल्मीकि पर तो दूसरी ओर भरत पर दृष्टि जाती है। वाल्मीकि ने काव्य अर्थात् श्रव्यकाव्य का निर्माण किया, भरत ने नाट्यशास्त्र या दृश्य काव्यशास्त्र का विवेचन किया। वाल्मीकि की रामायणीय कथा कुशीलव ने गाकर सुनाई, कुशीलव अभिनेता को भी कहते हैं। नाट्यशास्त्र में अलंकारों का भी विचार है जो श्रव्यकाव्य के लिए भी उपयोगी है। जैसे निर्माण में काव्य और

नाट्य अथवा श्रव्यकाव्य और दृश्य काव्य दो प्रवाह हैं वैसे ही साहित्य-शास्त्र की भी उभयविध धारा है। एक वह है जिसमें शब्दार्थ के चारुत्व के उत्कर्ष का विचार होता आया। दूसरी वह जिसमें शब्दार्थ की रसवत्ता का विचार प्रमुख हुआ। पहली धारा का सम्बन्ध मूलतः श्रव्यकाव्य से है, दूसरी मूलतः दृश्य काव्य से सम्बद्ध है। आगे चलकर दोनों धाराएँ मिल गईं। पहली धारा काव्य के बाँकपन का विचार करती है, वह वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति पर अधिक ध्यान देती है। उनके यहाँ काव्य की विशिष्ट पदरचना का विभाजन वक्रता या अतिशयता से होता है। पर वक्रोक्ति के अतिरिक्त भी वाङ्मय होता है। उसको स्वभावोक्ति कहा गया। दण्डी ने स्पष्ट ही कहा कि वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के भेद से वाङ्मय दो प्रकार का होता है। पर इस स्वभावोक्ति का विस्तृत विचार नहीं किया, जाति-स्वभाव कहकर उसे छोड़ दिया। स्वभावोक्ति विभाजक धारा नहीं थी। उधर दृश्यकाव्य में रस का विचार प्रमुख हुआ। पहले प्रवाह ने निर्माता पर अधिक ध्यान दिया, निर्मित पर विशेष दृष्टि रखी, वर्णना का प्रमुख विचार किया। दूसरी धारा चर्वणा के चिन्तन में लगी। निर्माता व्यक्ति से ग्रहीता जाति पर उसका ध्यान विशेष रहा। दृश्य काव्य में स्वभाव की योजना स्थान-स्थान पर करनी पड़ती थी, पर इनकी दृष्टि रस पर थी। इसलिए उक्ति के रूप में उसकी विचारणा नहीं हुई, व्यक्ति के रूप में हुई। नेता के प्रपंच में स्वभाव का कुछ विचार आया, जितना रस के विवेचन के लिए अनिवार्य था। नेता के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत भेदों में सर्वत्र 'धीर' शब्द ध्यान देने योग्य है। यह रस की दृष्टि के कारण है। इसी में नायिका भेद का भी प्रपंच है। श्रव्यकाव्यप्रवाह या चारुत्वप्रवाह में से हिन्दी में वक्रोक्ति मत का विचार एकदम नहीं, यहाँ तक कि वक्रोक्ति अलंकार का स्वरूप, काकुवक्रोक्ति का निरूपण, भी संस्कृत आलंकारिकों से भिन्न हो गया। वाच्य से व्यंग्य की ओर चले गये हिन्दी वाले। रीति-मत का विचार भी सर्वांगनिरूपण के साथ ही साथ है, वह भी अधिकतर छोड़ दिया गया है। अलंकारों की उपनागरिकादि वृत्तियाँ ही ली गईं। अतः अलंकार-मत ही यहाँ गृहीत हुआ। अन्य सबको रीतिकाल के आचार्यों ने छोड़ ही दिया।

दृश्यकाव्यप्रवाह में ध्वनि का विचार पृथक् नहीं, काव्यांगों के साथ ही है। रस-सम्प्रदाय प्रमुखता से आया। उसकी दो शाखाएँ हैं, जो संस्कृत में भानुभट्ट की दो पुस्तकों 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' से स्पष्ट हैं। एक रसभाव का विचार, दूसरे नायकनायिका भेद का विचार। रसभाव-विचार में भी रसराज शृङ्गार का विचार प्रमुख हुआ। सगुण भक्ति संप्रदाय की बहुत सी बातें लेकर भी माधुर्यादि भावों के विचार में ये लोग नहीं पड़े, उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिरसामृतसिंधु से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ा। जितना सरल-सुबोध सर्वग्राह्य हो सकता था उतना ही लिया। फ़ारसी-साहित्य से प्रेरणा ही ग्रहण की गई। कई काव्यप्रवृत्तियाँ ली गईं, पर उसके

साहित्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। फारसी-साहित्य का सरापा तो आया, पर अदब-कायदा नहीं आया। जो कुछ आया वह भारतीय प्रवाह में मिल गया, हिन्दी-साहित्य अनेक ग्राह्य प्रवृत्तियों का समष्टि बन रहा था। जनता में बारह-मासा, शास्त्रीय प्रवाह से षड्ऋतु और फारसी सरापा से निखशिख फिर नखशिख का ग्रहण हुआ। पर साहित्यशास्त्र का विवेचन अपना ही रहा, उसी में से अपने अनुकूल चुनाव कर लिया गया। इस साहित्यशास्त्र का उपयोग समालोचना के लिए बहुत थोड़ा होता था। ज्ञान वृद्धि के लिए, परम्परा की जानकारी के लिए, लक्ष्यों के स्वरूपबोध के लिए ही इसका अधिक उपयोग होता रहा। कहीं-कहीं थोड़ी आलोचना भी मिलती है, विशेषतया टीकाओं में।

अब समालोचना पर आइए। समालोचना हिन्दी की रिक्थ में नहीं मिली। यह स्थानान्तरप्रवाह या वचन है जो अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम से आई। सिद्धान्त और व्यवहार इसके दो पहलू हैं। सिद्धांत में मानान्य जाति का विचार रहता है, व्यवहार में विशेष की उसी के आधार पर छानबीन की जाती है। इसमें व्यवहारपक्ष प्रबल है। पश्चिमी आलोचना का भी अपना बड़ा प्राचीन इतिहास है। यूनान और रोम ऐसे प्राचीन देशों की संस्कृति के विकास के बीच उसका विकास हुआ है तथा अफलातून एवम् अरस्तू ऐसे मनीषियों की विचारपरम्परा से उसका सम्बन्ध है। उसका विकास महत्वपूर्ण हुआ। वहाँ नित्य नवीन विचारसरणियाँ सामने आती रहती हैं। साहित्य की कृति के ही नहीं, आलोचना समालोचना के भी विविध प्रवाह वहाँ चल पड़े हैं। उनमें बहुत उपयोगी बातें हैं। उनका अपने साहित्य के अध्ययन में लाना श्रेयस्कर है। पर उनकी अनुकृति समालोचना में भी करने का परिणाम यह है कि आलोचना निमितपयवसायी नहीं होती। अधिकतर निमित को सामने रखकर समालोचना नहीं होती। आलोचना को ही ध्यान में रखकर निमित का अवलोकन-पयवक्षण होता है। यद्यपि हिन्दी में प्रबाधुप निर्माण हो रहा है, पर उसमें अपनी विशेषताएँ भी उभर रही हैं, ऐसी विशेषताएँ जिनका उल्लेख पश्चिमी आलोचकों ने अपनी विकाससरणि में नहीं किया है। पर पश्चिमी आलोचना का पदानुसरण करने का फल यह है कि यहाँ नया आलोचनाशास्त्र नहीं बन पा रहा है।

आधुनिक युग में अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क में आने से हिन्दी साहित्य में केवल साहित्य की विविध शाखाओं की सर्जना का ही विस्तार नहीं हुआ, उन शाखाओं और प्रवृत्तियों के विचार के लिए अंग्रेजी-साहित्य की आलोचना का भी सहारा लिया जाने लगा। सम्प्रति अंग्रेजी साहित्य-समालोचना की जितनी जानकारी पठित व्यक्ति को होती है उतनी साहित्यशास्त्र की नहीं। जैसे हिन्दी में साहित्यशास्त्र का नूतन विचारोन्मेष नहीं हुआ, सारा विचार संस्कृत से ले लिया गया, उसी प्रकार समालोचना के लिए भी नूतन विचारोन्मेष प्राय नहीं के समान दिखाई देता है।

अंग्रेजी में जो विचार वहाँ के आलोचकों ने किए हैं उन्हीं की उद्धरणी अधिकतर होती रहती है। अंग्रेजी-साहित्य में समय-समय पर जो नई-नई पद्धतियाँ चलती है उनका अनुकृतिरूप में ग्रहण और उसके लिए उनकी आलोचना का अनुग्रहण होता आ रहा है। जितने प्रकार के वाद वहाँ दिखाई पड़ते हैं उतने प्रकार के वाद यहाँ भी आ जाते हैं। शास्त्र शासन का भी कार्य करते थे। समालोचना से शासन का कार्य बन्द हो गया। शास्त्र कर्ता-निर्माता की भी सहायता करता था, पाठक-श्रोता-ग्रहीता की भी सहायता करता था। समालोचना का सम्बन्ध कर्ता-निर्माता से उतना अधिक नहीं जितना ग्राहक-सामाजिक से। आधुनिक युग में अनुसंधान के उन्मेष ने भी विलक्षण स्थिति उत्पन्न कर रखी है। अनुसंधान करने वाला नूतन तथ्योपलब्धि और नूतन व्याख्या से जितना सम्बन्ध रखता है उतना समालोचना से नहीं। समालोचना की आवश्यकता जनता को उतनी नहीं है जितनी अध्ययन करने वाले परीक्षार्थियों को। फल यह हुआ है कि आलोचना लिखने वाले अनेक हो गये है, नये-नये पैंतरे से एक ही साज-सज्जा सामने आ रही है। समालोचना का गम्भीर विचार करने वाले गिने-चुने ही हैं।

इधर संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित हुए है जिनसे एक लाभ यह अवश्य हुआ कि संस्कृत साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में बहुत-सी ऊटपटांग उक्तियाँ बन्द हो गईं या बन्द होती जा रही है। पर साथ ही दूसरा नया प्रवाह चल पड़ा है, साहित्यशास्त्र का वैज्ञानिक विश्लेषण। वैज्ञानिक विश्लेषण उपयोगी है, पर सबको उसमें हाथ नहीं डालना चाहिए। उसके वैज्ञानिक विश्लेषण का परिणाम यह है कि साधारणीकरण की विलक्षण व्याख्याएँ होने लगी हैं, गुणों का विलक्षण विवेचन होने लगा है। भारतीय साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का विचार पृथक् ही रखना चाहिए। पश्चिमी समालोचना के साथ उसको मिलाना या उसमें पश्चिमी समालोचना को जोड़ना मंगलकारी न होगा। भारतीय साहित्यशास्त्र का अध्ययन अवश्य हो और अनिवार्य हो, पर उसमें पश्चिमी मेल मिलाकर उसे बिगाड़ा न जाय। साहित्य-शास्त्र के अध्ययन की पराङ्मुखता का परिणाम समालोचना के युग में यह है कि आलोचना-शास्त्र अपना नहीं बन रहा है। हिन्दी के मध्यकाल में कवियों ने अनेक उक्तियाँ ऐसी कहीं जिनके आधार पर अलंकार के क्षेत्रों में नूतन विचारसरणि का संकेत किया जा सकता था, पर उस समय किसी ने ऐसा नहीं किया। संप्रति अँग्रेजी की प्रेरणा से साहित्य की जिन-जिन शाखाओं में निर्माण हो रहा है, उन-उन का विवेचन आलोच्य ग्रन्थों के विश्लेषण से कम, अँग्रेजी समालोचना के ग्रन्थों के आधार पर अधिक हो रहा है। जब तक नया आलोचना-शास्त्र नहीं बनता हिन्दी के कर्तृत्व का ठीक-ठीक अध्ययन तो हो ही नहीं सकता, आलोचना के कर्तृत्व को संस्कृत साहित्य-शास्त्र और पश्चिमी आलोचनाशास्त्र की बहुत बड़ी चुनौती भी बनी रहेगी।

नैतिकता से क्या सम्बन्ध है। यह इसका विवेच्य विषय है। तीसरा प्रश्न भावना और बुद्धि के स्वरूप और दोनों के अन्तर का है। साहित्य यदि भावनात्मक वस्तु है, और यदि उससे बुद्धि का समाधान नहीं होता, तो भावनात्मक वस्तु की ग्राह्यता कैसे सिद्ध होगी। इस प्रश्न का विवेचन दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के माध्यम से हुआ है।

प्लेटो के पश्चात् अरिस्टोट्ल ने पश्चिमी साहित्य-चिन्तन को व्यवस्था दी और उसे सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्लेटो की प्रतिभा मौलिक और सृजनशील थी, किन्तु अरिस्टोट्ल का कार्य विश्लेषण और व्यवस्था-प्रमुख था। प्लेटो की भाँति उसने भी काव्य को अनुकृति बताया परन्तु काव्य के साथ संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति और वास्तु-कलाओं को भी उसने अनुकृति-मूलक कहकर एक ही श्रेणी में रखा। इन कलाओं की समरूपता का निरूपण करने के साथ इनके अन्तर को भी अरिस्टोट्ल ने दिखाया। अनुकृति के माध्यम (शब्द लय आदि), अनुकृति के आलंबन (नायक, नायिका आदि) और अनुकृति की शैली (दृश्य श्रव्य आदि) के आधार पर विभिन्न कलाओं में अथवा एक ही कला की विभिन्न कृतियों में अन्तर आ जाता है, विभाजन और वर्गीकरण की स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार अरिस्टोट्ल ने यह कार्य सम्पन्न किया। किन्तु इतने से ही सन्तुष्ट न होकर वह काव्य के भेदों (प्रगति, आख्यानक, रूपक आदि) का उल्लेख करता है उनकी पारस्परिक तुलना उपस्थित करता है और एक विशेष काव्य रूप (दुखान्त नाटक) का लेकर उसके समस्त उपकरणों (वस्तु, पात्र, संवाद, गीत आदि) की पूरी छानबीन करता है। यह सब समीक्षा का व्यावहारिक रूप है जिसे लेकर पश्चिमी साहित्यालोचन आगे बढ़ा है। अपनी इस व्यावहारिक बुद्धि के कारण अरिस्टोटल ने नाट्य सम्बन्धी कतिपय नियमों का भी निर्देश किया है, जिनमें से संकलन (स्थान संकलन समय-संकलन और वस्तु-संकलन) का नियम अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ और जिसके पक्ष विपक्ष में यूरोप के अनेक मतिमानों को अपनी बुद्धि व्यय करनी पड़ी। यही नहीं, अरिस्टोटल और आगे बढ़ा और उसने काव्य (नाटक) में प्रयुक्त होने वाली भाषा या शब्दावली के सम्बन्ध में भी अपने निर्णय दिये। इस प्रकार साहित्य के व्यावहारिक विवेचन को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर अरिस्टोट्ल ने आगे आने वाले समीक्षकों को नियमानुवर्तन का पाठ पढ़ाया। उसमें प्लेटो की भाँति उच्चतम उद्भावना और सिद्धान्त-निरूपण की शक्ति न थी। अतएव यद्यपि उसने प्लेटो की सी दुर्दान्त गलतियाँ नहीं की हैं, किन्तु प्लेटो के समान मौलिक विचारों की प्रवाहिणी भी उसने योरप को नहीं प्रदान की। उसने दिया नितान्त वस्तु-निष्ठ विश्लेषण और अत्यधिक तात्विक विभाजन और वर्गीकरण। अरिस्टोट्ल की 'पोएटिक्स' ने अनेकानेक सैद्धान्तिक समस्याओं को भी जन्म दिया परन्तु उसकी मुख्य देन व्यावहारिक समीक्षा की उस सरणी का निर्माण करना था जो आगे परिपुष्ट हुई।

सैद्धान्तिक भूमि पर अरिस्टोट्ल के विचार प्लेटो के विचारों से अधिक आगे नहीं जाते। प्लेटो ने कलाओं को अनुकृति कह कर उन्हें अनुकार्य (जगत्) से नीचे का सत्य बताया था। अरिस्टोट्ल इस सम्बन्ध में मौन है। अनुकृति से इन दोनों का आशय केवल जगत् की वस्तुओं और व्यापारों का चित्र आँक देने या आभास दे देने मात्र से जान पड़ता है। तभी तो ये काव्य-तथ्य को जगत्-तथ्य से नीचे की वस्तु बतलाते हैं। काव्य और कलाओं से आनन्द मिलने की बात भी दोनों ने कही है, परन्तु यह आनन्द काव्य का अपना आनन्द न होकर उसमें निहित नैतिक वस्तु का आनन्द है। इस सम्बन्ध में भी दोनों प्रायः एकमत है। 'अरिस्टोट्ल ने अपने 'कैथारसिस' नाम के प्रसिद्ध सिद्धान्त द्वारा दुखान्त नाटक से मिलने वाले आनन्द की व्याख्या की है। करुणा और भय के भावों के उद्रेक से दर्शकों का मानसिक अवसाद तिरोहित हो जाता है और चित्त की निर्मल स्थिति हो जाती है। इसी निर्मल स्थिति की अनुकूल-वेदनीयता ही उक्त आनन्द की सृष्टि करती है। इस व्याख्या या विवरण से भी यही ध्वनित होता है कि दुखान्त नाटक में चित्रित उच्चकोटि का नैतिक संघर्ष ही करुणा और भय के भावों को उद्दीप्त करता है, अतएव केवल उसी कोटि का नैतिक चित्रण ही नाट्य दर्शकों में आनन्द की निष्पत्ति कराता है, अन्य नहीं। इस दृष्टि से अरिस्टोट्ल का यह विवेचन भी प्लेटो के नैतिकता-मूलक काव्यानन्द के आनन्द से आगे नहीं बढ़ता। बुद्धि और भावना के द्वन्द्व की छानबीन भी अरिस्टोट्ल ने नहीं की।[४]

विभिन्न कलाओं का अन्तर बताते हुए अरिस्टोट्ल ने कलाओं के माध्यम आलंबन, शैली आदि की जो चर्चा की है, वह भी अधिक तात्विक नहीं। आगे चलकर उस पर सैद्धान्तिक चर्चाएँ आरम्भ हुईं और यह विवेचन होने लगा कि इन भेदों के द्वारा कलाओं का तुलनात्मक उत्कर्ष आँका जा सकता है या नहीं। काव्य की अपेक्षा हम संगीत या चित्र आदि को हीनतर कला कह सकते हैं या नहीं। दूसरी समस्या यह भी उठी कि उपादानों की भिन्नता के कारण क्या प्रत्येक कला-प्रकार (चित्र, मूर्ति, काव्य आदि) के निर्माणात्मक आदर्श अलग-अलग होंगे या भावाभिव्यंजन का एक ही आदर्श सब में व्याप्त रहेगा। इन प्रश्नों पर लेसिंग, हीगेल, क्रोचे आदि आधुनिक विचारकों ने सैद्धान्तिक विचार व्यक्त किये हैं।

अरिस्टोट्ल ने काव्य के विविध रूपों (आख्यानक, गीति, नाट्य आदि) और नाटक के विविध उपकरणों (वस्तु, चरित्र आदि) का जो विशद विवेचन किया है वह पश्चिमी साहित्य में व्यावहारिक आलोचना का मुख्य आधार बन गया। कुछ ने इन रूपों और उपकरणों को ही इतनी प्रमुखता दे दी कि इनका निर्माण करने वाली कवि की अन्तरंग प्रेरणा और प्रतिभा उपेक्षित होने लगी। इस प्रकार साहित्य के सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर बढ़ने लगा और अन्तरंग को छोड़ कर लोग बहिरंग को प्रधानता देने लगे। यही प्रवृत्ति साहित्य में रीतिवाद या लक्षण-ग्रंथों

पाश्चात्य समीक्षा : सैद्धान्तिक विकास

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

प्राचीन युग

पश्चिम की साहित्य-समीक्षा के सम्पूर्ण विस्तार को एक सामान्य निबन्ध की सीमा में बाँध सकना एक आसान काम नहीं है। परन्तु उसकी प्रगति की क्रमिक कहानी संक्षेप में कही जा सकती है। आज हमारे देश में जो नया साहित्य रचा जा रहा है, उसे कुछ लोग पश्चिम के नवीनतम पैमानों पर परखना चाहते हैं। पर इसके लिए दो बातों की जानकारी आवश्यक है। एक यह कि वे नये पश्चिमी पैमाने क्या हैं और उनकी प्रयोग विधि क्या है ? दूसरी यह कि उनकी प्रकृति और परम्परा क्या है, वे किन सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज हैं और उनमें हमारे नये साहित्य का मापदण्ड बनने की क्षमता कितनी है ? सम्भव है इसकी दूसरी बात का किसी हद तक अप्रासंगिक समझा जाय, क्योंकि जब नये साहित्य की परीक्षा के लिए पश्चिमी पैमानों का प्रयोग होने ही लगा है, तब उनकी उपयोगिता का प्रश्न उठाना, पानी पीकर जाति पूछने की ही भांति, व्यर्थ है। फिर भी हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि अनमिल सम्बन्ध वाञ्छनीय नहीं होते, वे आज नहीं तो कल टूटेंगे ही। ऐसी स्थिति में हमें इस सम्बन्ध की जाँच करनी ही चाहिए, और यदि नये हिन्दी साहित्य और नव्यतम पश्चिमी समीक्षा की जोड़ी बेमेल जान पड़ती है, तो इस सम्बन्ध को सुधारने, या आवश्यक हो तो तोड़ देने में भी हिचकना नहीं चाहिए। हमें यह भी देखना है कि हमारे नये साहित्य के साथ हमारी अपनी समीक्षा भी बढ़ती जा रही है। उसके नैसर्गिक विकास को कृत्रिम उपायों से अवरुद्ध कर देना हमारे लिए ठीक न होगा। नवीनता की दौड़ में क्या हम पश्चिम की बराबरी कर सकते हैं ? कर भी लें तो क्या यह दौड़ हमारे लिए हितकर होगी ? इन प्रश्नों के साथ मूलवर्ती समस्या यह भी है कि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखेगी या वह पश्चिम की नकल बनकर उसके पीछे-पीछे चलना चाहेगी ? इस उलझे हुए किन्तु ज्वलन्त राष्ट्रीय प्रश्न को सामने रखकर ही हम यह निबन्ध लिखने बैठे हैं।

प्राचीन ग्रीस में आज से प्रायः ३०० वर्ष पूर्व प्लेटो और अरिस्टोटल नाम के दो प्रख्यात दार्शनिक और विचारक हो गये हैं। उन्होंने ही पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का सविधि सूत्रपात किया था। आदिम दार्शनिक प्लेटो के साहित्य-सम्बन्धी विचार जितने मार्मिक हैं, उतने ही तलस्पर्शी भी। यदि उसने अपने निर्णयों में हिमालय जैसी गलतियाँ की हैं तो अपनी उद्भावनाओं में गंगा जैसी निर्मलता भी प्रदर्शित की है। उसीने पश्चिमी समीक्षा के प्रसिद्ध अनुकृति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी। साहित्य दृश्यजगत् की वस्तुओं और व्यापारों की अनुकृति है, इसी प्राथमिक तथ्य पर पश्चिम की साहित्य-समीक्षा खड़ी हुई थी। प्लेटो की दूसरी मौलिक निष्पत्ति यह है कि साहित्य में मनुष्यों को प्रभावित करने की अपूर्व शक्ति है, और यह शक्ति साहित्य से प्राप्त होने वाली सुखानुभूति या आनन्द पर आश्रित है। उसकी तीसरी उद्भावना जो किसी अंश तक ऊपर की निष्पत्ति से सम्बद्ध है, यह है कि साहित्य की प्रक्रिया बौद्धिक नहीं है, वह भावनात्मक है। कविगण बुद्धि से प्रेरित होकर नहीं, एक अलौकिक भावना से परिचालित होकर काव्य-रचना करते हैं। अतएव काव्य का आनन्द भी भावनात्मक होता है, बौद्धिक नहीं।

इन तीनों तथ्यों के आधार पर पश्चिम की साहित्य चिन्ता आगे बढ़ी। स्वयं प्लेटो ने इन तथ्यों पर अपनी जो प्रतिक्रिया व्यक्त की वह आश्चर्यजनक रीति से नकारात्मक है। किन्तु फिर भी वह मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आगे के विचारकों ने उसके इन नकारात्मक निर्णयों का भरपूर उपयोग किया है और अपनी शोधों द्वारा उक्त निर्णयों की भ्रामकता सिद्ध की है। प्लेटो का पहला नकारात्मक निर्णय यह है कि अनुकृति होने के कारण काव्य तात्त्विक वस्तु नहीं है। यह सत्य से दूर है। उसका दूसरा निर्णय यह है कि काव्य में श्रेष्ठ चरित्रों के साथ निम्नकोटि के चरित्र भी चित्रित होते हैं। अतएव यह नैतिकता से भी दूर है। यदि उसे नैतिक बनना है तो उसमें केवल श्रेष्ठ चरित्रों का निर्माण होना चाहिए, इतर चरित्रों का नहीं। तभी उससे प्राप्त होने वाला आनन्द सात्त्विक और ग्राह्य होगा। प्लेटो का तीसरा निर्णय यह है कि काव्य का प्रभाव बौद्धिक और चेतनात्मक न होकर भावनात्मक और पाशविक होता है। वह हमारी चेतन-वृत्ति और विवेक को जाग्रत न कर आत्म-विस्मृति और तल्लीनता लाता है, अतएव वह आदर्श प्रजातन्त्र के लिये त्याज्य है।

प्लेटो की ये उद्भावनाएँ और निर्णय पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की तीन प्रमुख सरणियों में अग्रसर हुए हैं। पहली सरणी साहित्य की तात्त्विकता के सम्बन्ध की है। साहित्य यदि अनुकृति है तो वह तात्त्विक क्यों नहीं—यही इस सरणी की प्रमुख जिज्ञासा है। इस विषय का विवेचन पश्चिमी 'मेटाफिजिक्स' (तत्त्वान्वेषण शास्त्र) की सीमा में किया गया है। दूसरी जिज्ञासा नीतिशास्त्र-सम्बन्धिनी है। साहित्य का

के प्रवेश की होती है। अरिस्टोट्ल ने न केवल काव्य के इन नैसर्गिक भेदों और उपकरणों का निरूपण किया, उसने कतिपय नियम निर्देश भी किये जिनमें संकलन-सम्बन्धी नियम मुख्य हैं। एक ही नाटक में सुखात्मक और दुखात्मक दृश्यों का प्रयोग न करने का निषेधात्मक नियम भी उन्हीं ने बनाया। ऐसे ही विधि निषेधों की शृंखला क्रमशः कठोर होती हुई साहित्य को पूरी तरह जकड़ लेती है और तब उसमें स्वतन्त्र उद्भावना के लिए स्थान नहीं रह जाता। यूरोप में धीरे किन्तु निश्चित गति से वह समय आ रहा था जब साहित्य नियमों से पूर्णतः अनुशासित और आबद्ध कर दिया जाता।

ईसा की पहली शताब्दी के आसपास यूरोपीय साहित्य और समीक्षा रीति के बन्धन में बँधने लगी। इसी के साथ एक अन्य संकट भी उपस्थित हुआ। ग्रीक प्रजातन्त्र और ग्रीस की सभ्यता का विघटन हो चला और रोम में यूरोपीय सभ्यता का नया केन्द्र बनने लगा। संक्रान्ति-काल की यह परिस्थिति भी विकास के प्रतिकूल ही थी। फिर इसी समय ख्रिष्टीय धर्म की नई स्थापना हुई जिसने क्रमागत काव्यों और कलाओं को जोर से झकझोर डाला। ख्रिष्टीय धर्म निवृत्तिमुखी और वैराग्य-प्रधान था। अपने पहिले आवेश में उसने ग्रीस की सुन्दरतम कला और काव्य-साहित्य को लौकिक कह कर अस्पृश्य करार दिया। क्राइस्ट की शिक्षा निवृत्तिमुखी अथवा पारलौकिक थी। ग्रीस की लोकमुखी कला उक्त शिक्षा के अनुकूल न थी। एक नये और अन्तर्मुख जीवन-आदर्श का पहला आघात यूरोपीय कला-विकास के लिये घातक सिद्ध हुआ।

ग्रीक अस्तगमन की इस सन्ध्या-वेला में लौजिनस (या लौंजाइनस) नाम का शुक्र नक्षत्र साहित्याकाश में आया, जो कदाचित् ग्रीक सभ्यता का अन्तिम आलोक-स्थान था। उसने पूर्ववर्ती शताब्दियों की सम्पूर्ण साहित्य-साधना की शक्ति समेट कर साहित्य और साहित्यकार के उच्च उत्कर्ष की घोषणा की। प्लेटो की भावात्मक पद्धति पर चलते हुए लौजिनस ने सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य की सर्वोच्च शक्ति के प्रतिनिधि रूप में कवि और काव्य-प्रतिभा की अभ्यर्थना की। काव्य केवल सुखानुभूति या शिक्षा का साधन नहीं है, वह अलौकिक आनन्द में विभोर कर मनुष्य को दिव्यतर स्थिति में पहुँचा देने वाला आदर्श उपकरण है। प्लेटो की भाँति लौजिनस काव्य-भावना और नैतिकता के द्वन्द्व में न पड़कर अलौकिक और ईश्वरीय प्रेरणा से प्राप्त पदार्थ के रूप में काव्य को नैतिकता से महत्तर मानता है। नैतिकता ही क्यों, हमारी बुद्धि और विचारणा का भी अतिक्रान्त करके कवि की कविता अपने अदम्य प्रकाश से हमें आलोकित और विमोहित कर देती है। काव्य का यह अतिक्रामक गुण 'सब्लिमिटी' कहलाता है जिसके दो प्रधान अवयव हैं—विचारों का औदात्य और भावों का शक्तिपूर्ण और साहसिक उद्गीरण।

यह सच है कि लौंजिनस के इन उद्गारों ने काव्य-सत्य को उद्भासित करने का भावात्मक प्रयास है, किन्तु सिद्धान्त की भूमि में वह भी किसी विशिष्ट तथ्य का स्थापन नहीं कर पाया। लौंजिनस ने काव्य-सम्बन्धी एक अन्य समस्या पर भी दृष्टि डाली थी। वह है काव्य के आस्वाद की समस्या। काव्यास्वाद का प्रतिमान क्या है? काव्य के विभिन्न पाठकों या नाटक के विभिन्न दर्शकों में किसकी रुचि को माप दण्ड माना जाय? सबकी रुचियाँ भिन्न होती हैं। किन्हीं दो में पूर्ण साम्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में, किस की रुचि को काव्य-संवेदन का आदर्श माना जाय? इस सम्बन्ध में लौंजिनस का मत प्रायः वही है, जो भारतीय समीक्षा-ग्रन्थों में मिलता है—निरन्तर काव्याभ्यास से परिष्कृत रुचि वाला सहृदय ही काव्य का सच्चा पारखी हो सकता है। लौंजिनस के इस निदेश में हमें काव्यास्वाद का परम्परा-प्राप्त दृष्टिकोण मिलता है।

और भी कुछ क्षेत्रों में लौंजिनस ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। काव्योत्कर्ष के साथ उसने काव्य-दोषों की भी छानबीन की। भावों के औदात्य के साथ उसने भाषा के प्रश्न पर भी विचार किया। किन्तु इन सभी क्षेत्रों में लौंजिनस के विचार प्लेटो और अरिस्टॉटल के क्रमागत विचारों से भिन्न नहीं हैं। संक्षेप में, ये विचार बाह्यार्थवादी हैं और ग्रीक साहित्य-विवेचन की परम्परा के अनुरूप है।

लौंजिनस के पश्चात् ईसवी तीसरी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक यूरोपीय साहित्य-चिन्तन किसी नवीन और महत्त्वपूर्ण उद्भावना का दावा नहीं करता। यह वहाँ के इतिहास में अशान्ति, अव्यवस्था और सांस्कृतिक निश्चलता का युग रहा है। इस युग के एक छोर पर वर्जिल और दूसरे छोर पर दान्ते जैसे महाकवि खड़े हैं। इस सम्पूर्ण युग में मूर्ति और वास्तु-कला की विशेष उन्नति हुई और पूजा-स्थानों या गिरजाघरों के भव्यतम भवन बने। परन्तु साहित्य-रचना और साहित्य-समीक्षा के खातों पर कुछ अधिक न चढ़ पाया।

हजार वर्षों का अन्धकार! इस आश्चर्यजनक तथ्य से यद्यपि इस निबन्ध का सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इसके कारणों पर दृष्टिपात करना निरा अप्रासंगिक न होगा। ग्रीक सभ्यता अदम्य उत्साह के साथ ही कतिपय जीवन-व्यापी आस्थाओं और विश्वासों पर आश्रित थी। ग्रीक नागरिकों की जीवन-व्यवस्था में विघटनकारी तत्त्वों का प्रायः पूर्ण अभाव था। सारा राष्ट्र एक व्यक्ति की भाँति संघटित था और फिर भी प्रत्येक नागरिक अपने विचारों और कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्र भी रह सकता था। ग्रीकों का जीवन-दर्शन प्राचीन भारतीय-दर्शन की ही भाँति देवोपासना का था। देवता ग्रीक नागरिकों के हमजोली और उनके सखा-सहचर-से थे। उनके पर्वों और उत्सवों में उनका भाग रहता था। इसीलिए देवमूर्तियों के निर्माण में ग्रीक कलाकार विशेष सौन्दर्य का प्रदर्शन कर सके। होमर का महाकाव्य 'इलियड' एक वीर जाति

का ही महाकाव्य हो सकता था। एसचाइलस सोफोक्लीज और यूरीपाइडीज के नाटक महत् संघर्ष और महान् दैवदुर्विपाक से समन्वित हैं। यह ग्रीक सभ्यता का स्वर्ण युग था। इसके पश्चात् ग्रीक सभ्यता में स्थिरता आई और बौद्धिक अनुशीलन आरम्भ हुआ। प्लेटो और अरिस्टोटल इसी अनुशीलन के प्रतिनिधि हैं। इसके अनन्तर ग्रीक जीवन अधिक ऋजु और माधुर्यपूर्ण हो चला। यही समय ग्रीक सुखान्त नाटकों का था। तत्पश्चात् ग्रीस के जीवन में व्यवस्था बढ़ी और रीति तथा परम्पराएँ बढ़ने लगीं। मौलिक जीवन शक्ति के ह्रास के साथ यह युग अपनी नियम निर्भरता की छाया शताब्दियों तक खींचता गया यहाँ तक कि जब सभ्यता का केन्द्र एथेन्स से हट कर रोम गया, तब भी यह ग्रीक छाया पड़ती ही रही। रोमन सभ्यता के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य वर्जिल के 'ईनियड' पर भी ग्रीकों के रीतिकाल की यह छाया पड़ी हुई है। इस प्रकार ईसा-पूर्व दसवीं शताब्दी से लेकर ईसवीं सन् के आरम्भ तक का दिन आगामी हजार वर्षों की रात्रि में परिणत हुआ, तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। आखिर हमारे यहाँ ब्रह्मा का एक दिन भी तो हजार वर्षों का ही माना गया है।

और, जब दिन के बाद रात आई तब वह भी हजार वर्षों तक रही। रात्रि के आरम्भ में ही सांस्कृतिक विच्छेद की स्थिति तैयार हो चुकी थी। एक समन्वित जीवन-दर्शन के स्थान पर अनेक खण्ड विचारधाराएँ प्रचलित होने लगी थीं जिनमें साम्य कम और विरोध अधिक था। उदाहरण के लिए 'स्टोइक' विचारधारा संयम और तप को प्रधान मान कर चली तो इसके विपरीत 'एपीक्यूरियन' विचारधारा सुख और स्वच्छन्दता को प्रश्रय देने लगी। इसी समय या इसके कुछ पश्चात् जब यूरोप में ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ तब स्थिति और भी विशृङ्खल हो गई। हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि नवागत ईसाई धर्म वैराग्य प्रधान और निवृत्ति-मूलक था। ग्रीस की प्रशस्त लौकिक या राष्ट्रीय कला उसे स्वीकार न थी। इसके बदले वह अपने पारलौकिक दर्शन के अनुरूप 'धार्मिक' कला और साहित्य के सृजन का प्रयत्न करने लगा। किन्तु इस धार्मिक और निवृत्तिमुखी कला का घेरा बहुत ही सीमित था। अन्ततः यह जन-समाज की भावनाओं से दूर होकर केवल पादरियों और पुरोहितों की कला बन सकी। सच पूछा जाय तो आरम्भिक ईसाई मत तत्कालीन फलती फूलती कलाओं के लिए तुषारपात ही सिद्ध हुआ। इसके साथ जब हम यूरोप की राजनीतिक अशान्ति और अव्यवस्था पर दृष्टिपात करते हैं तब उस समय का सारा चित्र और भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी आँधी-पानी के वातावरण में यूरोप की यह अँधेरी रात बीती।

किन्तु क्रिश्चियन धर्म की छाया में मानव चेतना का एक नया विकास भी आरम्भ हुआ था। वह अन्तर्मुख चेतना यूरोपीय वातावरण में हजार वर्षों तक पनपती

रही और जब यह तेरहवीं शताब्दी के अन्त में दान्ते के महाकाव्य के रूप में फूट निकली तब सारा यूरोप आश्चर्यचकित हो गया। दान्ते का यह काव्य 'डिवाइन कामेडी' यूरोप के नव-प्रभात का नया पुष्प था जो हजार वर्षों के मौन-सिंचन के फलस्वरूप प्रस्फुटित हुआ था। इसी पुष्प की दिगन्तगामिनी सुरभि द्वारा यूरोप की रात बीतने की पहली सूचना मिली थी।

दान्ते की इस कृति में केवल क्रिश्चियन धार्मिकता का ही हाथ नहीं था इसके मूल में यूरोप की वह निषिद्ध किन्तु अनिवार्य लोक-कला भी योग दे रही थी, जो धार्मिक प्रतिबन्धों के रहते भी खिलती ही जाती थी। यह निषिद्ध कला लोक-भाषा और लोक-भावना का प्रतिनिधित्व कर रही थी, यद्यपि 'सभ्य जनों' का सम्पर्क न पाकर वह अपरिष्कृत ही बनी हुई थी। एक प्रेमी-प्रेमिका (निकोलेट और एकासिन) की वह किंवदन्ती जिसमें प्रेमी (एकासिन) क्रिश्चियन स्वर्ग और अपनी प्रेयसी (निकोलेट) के बीच चुनाव करने का विकल्प आने पर प्रेयसी को ही चुनता है और स्वर्ग की अपेक्षा नरक में जाना पसन्द करता है—लोक-भावना का एक सुन्दर उदाहरण है। ऐसे ही धार्मिक और अधार्मिक (लौकिक) संस्कारों के बीच दान्ते का व्यक्तित्व उत्पन्न और विकसित हुआ था।

होमर, वर्जिल और दान्ते एक-एक हजार वर्ष के अन्तर से आने वाले तीन महाकवि, दो हजार वर्षों की यूरोपीय सभ्यता के क्रम-विकास के प्रतीक और प्रतिनिधि हैं। इन तीन कवियों के बीच यूरोप में किस प्रकार ब्रह्मा का एक दिन और एक रात बीती यह हम ऊपर देख चुके हैं।

होमर, वर्जिल और दान्ते से लौट कर हम एक बार फिर प्लेटो, अरिस्टोट्ल और लौजिनस की ओर आते हैं। इस बार यह जानने के लिए कि इनके विवेचनों में तात्विकता कितनी है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि ग्रीस का वह आरम्भिक साहित्य महान् होता हुआ भी अपनी विशिष्ट सीमाओं में बँधा हुआ था, और ग्रीक दर्शन भी नितान्त शैशव-कालीन स्थिति में था। इन्हीं के अनुरूप ग्रीस के साहित्यिक चिन्तन की भी सीमा रही है। उसका अनुकृति-सिद्धान्त किसी गहन और समृद्ध चिन्तन का परिणाम नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य की सृजन-प्रक्रिया उसके सौन्दर्य और मूल्य तथा उससे निष्पन्न आध्यात्मिक आह्लाद की सम्यक मीमांसा न हो सकी। साहित्य की केन्द्रीय सौन्दर्य-समस्या को ही लीजिए। प्लेटो और अरिस्टोट्ल ने सौन्दर्य की परिभाषा यह की है कि सौन्दर्य वह है जिसमें अंगों का समुचित विन्यास हो। साहित्य और कलाओं का सौन्दर्य अंग-विन्यास तक सीमित रहा। यह कितनी निस्थूल और निष्प्राण परिभाषा थी। वास्तव में प्लेटो की दार्शनिकता तो काव्य में सौन्दर्य देखने को तैयार ही नहीं थी। वह तो तत्त्व-चिन्तन में ही सौन्दर्य की

सत्ता मानती थी। कलाएँ तो उसमें बहिष्कृत ही थीं। इसी प्रकार काव्य में नैतिक आदर्शों का यदि निरूपण किया जाय, तो उसमें सौन्दर्य आ सकता है, किन्तु तब वह सौन्दर्य नैतिकता का होगा, काव्य का नहीं। ऐसा काव्य एक प्रकार की अन्योक्ति कहा जा सकता है जिसमें प्रमुखता कवि की अंतरंग भावना की नहीं होती किसी नैतिक तथ्य विशेष की होती है। ग्रीक चिन्तन सौन्दर्य-सम्बन्धी इस अन्योक्ति धारणा से आगे नहीं बढ़ पाया। भावना और बुद्धि के द्वन्द्व को भी ग्रीक विचारणा मिटा न सकी। बुद्धि की तुलना में भावना तिरावृत ही रही, दान्ते तक पहुँचते-पहुँचते यूरोप की साहित्य चेतना में थोड़ी गहराई अवश्य आई। अन्योक्ति से आगे बढ़ कर साहित्य में प्रतीकात्मक सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार की गई। अर्थात् यह माना गया कि साहित्य अनुकरणात्मक होता हुआ भी उच्चतर तत्वों की प्रतीकात्मक व्यंजना कर सकता है। दान्ते के काव्य में ऐसी प्रतीकात्मक व्यंजनाओं को प्रचुर स्थान मिला है। वह पारलौकिक दृश्यों और चरित्रों का चित्रण करते हुए उनसे लोकादर्शों की व्यंजना का काम लेता है। स्पष्ट है कि दान्ते तक पहुँच कर भी काव्य अपने बाह्य बंधनों से छुटकारा नहीं पा सका था। इसी प्रकार यूरोप की साहित्य-समीक्षा भी आरम्भ से लेकर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक अनुकृति की कृत्रिम शृंखला में ही जकड़ी रही। सोलहवीं-सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में बंधन-मोचन का कार्य चलता रहा किन्तु वास्तविक मुक्ति मिली उन्नीसवीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के फलस्वरूप।

माध्यमिक युग—पुनरुत्थानवाद

धार्मिक युग के बाद यूरोप में जो नया युग आया, उसे हम लौकिकता या मानवतावादी युग कह सकते हैं। यदि हम इन दोनों युगों के दो बहुत निकट के कवियों की तुलना करें, तो हमें इस युग में परिवर्तन का परिचय मिल सकेगा। दान्ते चौदहवीं शताब्दी का कवि था। वह पूर्व युग का अन्तिम कवि कहा जा सकता है। नवागत युग का महान् कवि सोलहवीं शती का शेक्सपीयर है। दान्ते और शेक्सपीयर की तुलना दोनों युगों की विशेषताओं का परिचय दे सकेगी। दान्ते का काव्य लौकिक और पारलौकिक भूमियों से सम्बद्ध है। उसमें स्वर्ग का वर्णन है और पृथ्वी का भी वर्णन है। स्वर्ग और मर्त्य के दो छोर अलग-अलग हैं। 'डिवाइन कामेडी' की यही भाव भूमि है। यह द्वैतवादी भाव भूमि जो उस युग के दर्शन पर अवलम्बित है, इस द्विधात्मक आधार को स्वीकार करती है। इस द्विधात्मक भूमि को मध्य-युग के कवि छोड़ नहीं सके। आधुनिक युग या काव्य इस द्विधात्मकता का अतिक्रमण करने में समर्थ हुआ। यही आधुनिक काव्य की मौलिक विशेषता बनी। मानव व्यक्तित्व जब अपने भीतर इतना विकास कर लेता है कि सम्पूर्ण मानव-आदर्श या वस्तुस्थिति को अपने भीतर समेट सके, तब स्वर्ग और मर्त्य की द्वैत धारणा की

आवश्यकता नहीं रहती। तब ऐसे कवियों की अवतारणा होती है तो मानव जगत् में ही सम्पूर्ण वैविध्य का निवास देखते हैं। विकास द्वारा जीवन ऐसी स्थिति तक पहुँचा, जहाँ मानव जीवन में समस्त सत्-असत् का समाहार किया जा सका।

दूसरा अन्तर यह है कि दान्ते का काव्य प्रतीकात्मक या अन्योक्ति प्रधान है। स्वर्ग दान्ते की कल्पना में सत् का प्रतीक है, मर्त्य या मानव जगत् असत् और अपूर्णता का प्रतीक है। शेक्सपीयर के काव्य में मानव चरित्र के भीतर ही से असत् का पूर्ण परिदर्शन किया गया है। उसे अन्योक्ति का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

रूढ़िबद्ध धार्मिकता के प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा था और मानववादी विद्रोह अवश्यम्भावी हो गया था। चर्च और उसके पारलौकिक आदर्शों के विरुद्ध वातावरण तैयार हो रहा था। इसी बुद्धिवाद ने मध्ययुग की धार्मिकता का अन्त किया। कैथोलिक मत के विरुद्ध प्रोटेस्टेन्ट मत प्रतिष्ठित हुआ। आर्थिक जीवन में भी बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित हुई। नई दुनिया का पता लगा और नई औद्योगिक क्रान्ति हुई। विज्ञान की उन्नति से मुद्रण-कला का आविष्कार हुआ। साहित्य जनसाधारण को सुलभ हो गया। परिस्थितियाँ समाज को बदल रही थीं। साहित्य में यह युग पुनरुत्थानवादी या 'नियोक्लेसिक' युग कहलाया।

इंगलैण्ड के इस समय के कतिपय साहित्यिक विचारकों के साहित्य-विषयक मत जान लेने योग्य हैं।

सिडनी—सर फिलिप सिडनी का कार्यकाल (१५८० के आसपास) वह था जब कविता शिष्ट समाज से बहिष्कृत सी थी और सभ्य लोगों द्वारा उपेक्षा के योग्य समझी जाती थी। वैसी स्थिति में सिडनी ने 'एपोलोजी फार पोइट्री' लिखी, जिसमें उसने बताया कि काव्य वस्तुतः हेय वस्तु नहीं है, भले ही वह उस समय अपने उच्च आसन से गिर गई हो और समाज के लिये उपेक्षणीय वस्तु बन गई हो। सिडनी के अनुसार काव्य ज्ञान की माता है। इस माता को तिरस्कृत करना उचित और अभीष्ट नहीं। उसने कहा कि सभ्य समाज में ज्ञान-रश्मि सबसे पहिले कविता द्वारा ही आविर्भूत हुई थी। होमर का ग्रन्थ प्रथम कविता ग्रन्थ तो है ही, वह प्रथम ज्ञान, धर्म और नीति-ग्रन्थ भी है। इस प्रकार काव्य को ज्ञान और सभ्यता की मूल वस्तु बता कर सिडनी ने उसका अभ्यर्थन किया। इससे आगे बाइबिल के धार्मिक गीतों को उसने काव्य की संज्ञा दी और कविता और संगीत के प्रभाव को एक में सम्मिलित कर उसने बताया कि संगीतात्मक कविता मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षियों को भी प्रभावित करती है। सिडनी काव्य के उस रूप का परिचय दे रहा था जो भाव के माध्यम से ज्ञान का आलोक वितरित करता है। जब उसने कहा कि

होमर की कविता ज्ञान की जननी है तब वह कविता के उस स्वरूप का ही उद्भावित कर रहा था जो भाव के माध्यम से ज्ञान के उच्चतर स्तरों में प्रवेश करता है। सिद्धान्त क्षेत्र में सिडनी ने अरिस्टोटल के काव्य सिद्धान्तों को नया जीवन दिया और उन्हें नये सिरे से प्रतिष्ठित किया।

उस समय यह विचार प्रचलित था कि नाटकों से जो मनोरंजन प्राप्त होता है वह विदूषकों के कारण ही। विकृत हास्य न हो तो नाटकों में मनोरंजन न होगा। सिडनी ने इस सिद्धान्त को गलत बताया। उसने कहा कि अश्लीलता से मनोरंजन प्राप्त करना कुरुचि का परिचायक है। इस तरह सिडनी ने अपने युग में फैली हुई साहित्यिक कुप्रवृत्तियों का प्रतिवर्तित करने का प्रयास किया और अरिस्टोटल के प्राचीन सिद्धान्तों को पुनरुज्जीवित किया।

बेन जानसन—शेक्सपीयर के आगमन के पश्चात् साहित्य में बहुत अंशों में स्वच्छन्दतावाद होने लगा। एक महान् प्रतिभा को पाकर लोगों की दृष्टि साहित्य के निर्दिष्ट पेषित नियमों से हटने लगी। काव्य में प्राकृतिक और जन्मजात प्रतिभा को श्रेष्ठ माना गया। इस युग के नये विचारक बेन जानसन ने तो यह स्वीकार किया कि साहित्य में प्रतिभा सबसे प्रधान है और प्रतिभा के अतिरेक से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि उसके अभाव से होती है। प्रतिभा की कमी काव्य को निःशक्त और निर्जीव बना देती। प्रतिभा का अतिरेक या अनियंत्रित रूप उसे विशृंखल कर सकता है। बेन जॉनसन साहित्य में प्रतिभा के अतिरेक को भी काव्यवस्तु नहीं मानता। उनका कथन है कि संयम और अभ्यास के द्वारा प्रतिभा परिष्कृत होती है।

ड्राइडन—यदि बेन जानसन नियो-क्लासिज्म से पूरी तरह प्रभावित था तो ड्राइडन एक ऐसा विचारक था जिसने स्वच्छन्द विचारणा को कई कदम और आगे बढ़ाया। बेन जानसन का सा शास्त्रीय आग्रह उसमें नहीं था। कारण यह था कि ड्राइडन ने केवल ग्रीक कलाकारों को ही नहीं पढ़ा था किन्तु शेक्सपीयर और चॉसर और बेन जानसन जैसे लेखकों का कृतियाँ भी पढ़ी थीं। दोनों की तुलना से वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि समय और समाज की स्थिति के अनुसार साहित्य के रूप शैलियाँ और मान्यताएं भी बदल जाती हैं। साहित्य की सापेक्षता के इस नये सिद्धान्त को आगे चलकर टेन नामक समीक्षक लेखक ने और आगे बढ़ाया तथा कतिपय नये निष्कर्ष निकाले। ड्राइडन ने नियमों की स्थिरता के समक्ष एक प्रश्न-चिह्न लगाया। साहित्य एक विकासमान सत्ता है वह कोई स्थिर पदार्थ नहीं यह एक क्रान्तिकारी निर्णय था।

साहित्य का लक्ष्य ग्रीक युग में 'शिक्षा' और 'मनोरंजन' माना गया था।

ड्राइडन ने शिक्षा को कोई स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं माना। उसने कहा कि साहित्य का लक्ष्य आल्हाद देना है और इसी माध्यम से वह शिक्षा दे सकता है। कला और नीति के चिरकालिक द्वन्द्व को उसने इस प्रकार हल किया। किन्तु आल्हाद का प्रतिमान क्या है। साहित्य से तो हर किसी को हर तरह का आल्हाद मिल सकता है। फिर उसमें एकरूपता कैसे आ सकेगी। ड्राइडन ने बताया कि साहित्य का आल्हाद स्वार्थहीन और असामान्य होता है। यह असामान्यता काव्य में किस तरह आती है ? क्या केवल अनुकृति से ? कोरी अनुकृति किसी बड़े आल्हाद की सृष्टि नहीं कर सकती। कवि एक नया काव्य-लोक बनाया करता है। काव्य की दुनिया दृश्य संसार से भिन्न होती है। भौतिक जगत् तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है और काव्य मानस-प्रत्यक्ष वस्तु है। इस प्रकार अरिस्टोट्ल-प्रतिपादित अनुकृति को भी उसने व्यापकता और विस्तार दिया। कवि की रचनात्मक प्रतिभा वर्ण्यवस्तु को एक नया आकार देती है।

ड्राइडन का आग्रह कल्पना तत्त्व पर है, जबकि उसके पहले अनुकृति पर जोर दिया जा रहा था। ड्राइडन का कथन है कि काव्य में वस्तु की अनुकृति प्रधान नहीं है। वस्तु तो कच्चा माल है। कवि उसे नया रूप देता है। उसने लोहे और बन्दूक की उपमा दी है। लोहे के टुकड़े से बन्दूक बनने तक की जो प्रक्रिया है वही वस्तु-जगत् से काव्य-जगत् तक पहुँचने में भी रहा करती है। इस प्रक्रिया में ही कल्पना काम में आती है। परन्तु अन्य विवरण की वस्तुओं में ड्राइडन अरिस्टोट्ल का पूरी तरह समर्थन करने वाला पुनरुत्थानवादी है। उदात्त चरित्रों का चित्रण काव्य में अपेक्षित है। दूसरे नियम-उपनियमों का भी ड्राइडन ने आग्रह किया। इस प्रकार ड्राइडन की स्थिति मध्यवर्ती विचारक की स्थिति है जिसमें नवीनता और प्राचीनता का समानुपात है।

एडीसन—एडीसन की सबसे प्रमुख देन यह है कि उसने कल्पना-तत्त्व का विश्लेषण किया। उसने समसामयिक मनोवैज्ञानिकों की खोजों का उपयोग भी किया। बर्क ने कल्पना-सम्बन्धी खोज की थी, और दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर अपने सिद्धान्त निरूपित किये थे। एडीसन ने उनका उपयोग साहित्य-क्षेत्र में किया। एडीसन ने बताया कि कल्पना इन्द्रियगोचर सुखात्मक संवेदना है। जब हम सृष्टि के पदार्थों को अपनी इन्द्रियों से देखते हैं तो हमें एक प्रसन्नता होती है। कल्पना का प्राथमिक रूप यही है। इसके अतिरिक्त कल्पना का एक दूसरा रूप भी है जिसका सम्बन्ध स्मृति से है। जब हम वस्तुओं को देखते हैं तो कुछ संस्कार मन में एकत्र हो जाते हैं। उन वस्तुओं के अभाव में भी हम उन संस्कारों को स्मृतिशक्ति के सहारे उद्‌भावित कर लेते हैं। यह कल्पना का द्वितीय रूप है।

जब हमारे मस्तिष्क में विभिन्न वस्तुओं की छाया एकत्र रहती है तब हम

उन विभिन्न वस्तुओं का मिश्रण करके नई कल्पनाओं की भी सृष्टि कर सकते हैं। दो वस्तुओं को मिला कर हम कल्पना में एक कर लेते हैं या एक तीसरी वस्तु बना लेते हैं। यह कल्पना का तीसरा प्रकार है।

एडीसन का यह सब ऊहापोह यन्त्रगतिक और असाहित्यिक था। कल्पना क्या है और उसकी उद्‌भावना कैसे होती है, मनोवैज्ञानिक इस पर विचार करता है। कविता में जो कल्पना-तत्व कृति में आता है, उसका वैशिष्ट्य इस मनोवैज्ञानिक प्रणाली से नहीं आँका जा सकता। मनोविश्लेषण की प्रणाली विश्लेषणात्मक है, जबकि कविता की प्रणाली संश्लिष्ट और रचनात्मक है। इन दोनों को एक समय लेना भ्रान्ति है। एडीसन की कल्पना-सम्बन्धी उद्‌भावनाएँ बहुत अधिक स्थूल और ऊपरी हैं। उस समय तक मनोविज्ञान में भी इतनी अधिक वैज्ञानिकता नहीं थी कि वह कल्पना के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रामाणिक तथ्य दे सकता। इस पुनरुत्थानवादी साहित्यिक युग का सैद्धान्तिक परिपाक जर्मन दार्शनिक और आचार्य लेसिंग के काव्य-सिद्धान्त में हुआ। प्राचीन ग्रीक सिद्धान्त अनुकृतिवाद था। पुनरुत्थान-काल में अनुकृति के अतिरिक्त कल्पना तत्व की भी प्रतिष्ठा हुई, परन्तु अधूरे रूप में।

लेसिंग—लेसिंग एक ऐसे मध्य-स्थान पर है कि वह एक ओर प्राचीन ग्रीक कला-आदर्श का भी अनुसरण करता है और नये स्वच्छन्दतावादी या कल्पनावादी युग का द्वारोद्घाटन भी करता है। कला का सौन्दर्य आंगिक संगति या बाह्य नियमों पर आश्रित है यह उपपत्ति ग्रीक युग की थी। कला मानसिक अभिव्यंजना है—यह स्वच्छन्दवादी युग की उपपत्ति है। लेसिंग के लिये कला मानसिक अभिव्यंजना तो है, किन्तु वह बाह्य सौन्दर्य से समन्वित अभिव्यंजना है। उसने सौन्दर्य और अभिव्यंजना दोनों को स्वीकार किया। यही पुनरुत्थानवादी साहित्य सिद्धान्त कहा जा सकता है। लेसिंग सौन्दर्य (अंग संगति) और अभिव्यंजना को पूर्णतः समन्वित नहीं कर सका। आगे चल कर रोमेंटिक काव्य सिद्धान्त में यह समन्वय स्थापित हुआ। स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य कोई पृथक वस्तु नहीं है। और अभिव्यंजना ही कला का आदर्श है। कुछ लोग लेसिंग के निर्देश का इस प्रकार समझना चाहते हैं कि माध्यम के बाह्य सौन्दर्य का उल्लेख करके लेसिंग ने केवल मूर्तिकला के व्यावहारिक प्रश्न को ही खड़ा किया। वह काव्यकला से मूर्तिकला के आदर्श की भिन्नता प्रतिपादित कर रहा था। लेसिंग भी अभिव्यंजना को ही काव्यतथ्य मानता है, और सौन्दर्य (या अंग संगति) को केवल मूर्तिकला की विशेषता बतलाता है। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय कि लेसिंग का तात्पर्य केवल माध्यम की भिन्नता का संकेत करना है और बाह्य सौन्दर्य की आवश्यकता वह केवल मूर्तिकला के लिये मानता है, तब उसकी भी स्थिति स्वच्छन्दतावादी साहित्यादर्श के समीप पहुंच जाती है, क्योंकि उस स्थिति में सौन्दर्य का आग्रह एक औपचारिक वस्तु बन जाता है। इस समस्या के मूल में कला

को प्रेषणीयता का तत्व भी समाहित है। कला केवल अभिव्यंजना ही नहीं है, वह प्रेषणीय अभिव्यंजना भी है। यदि कलाकार प्रेषणीयता के तत्व पर ध्यान नहीं देता और अभिव्यंजना को ही कला मानता है तो कला की समीक्षा अपूर्ण रह जाती है।

अभिव्यंजना काव्य का लक्ष्य है। इसे स्वीकार करते हुए भी प्रेषणीयता के आदर्श की उपेक्षा नहीं की जा सकती और लेसिंग यहाँ प्रेषणीयता के लक्ष्य का ध्यान रखकर अपनी बात कह रहा था। उसका कथन है कि मूर्तिकला और काव्यकला में प्रेषणीयता का तत्व भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहीत होता है। मूर्तिकला में प्रेषणीयता के लिये—साधारणीकृत अनुभूति के लिये, मूर्ति का बाह्य सौन्दर्य आवश्यक है। यदि उसमें सौन्दर्य नहीं है तो उसमें प्रेषणीयता भी नहीं होगी। इस प्रकार लेसिंग द्वारा विवेचित सौन्दर्य-तत्व की अनेक व्याख्याएँ की जाती है। सार रूप में हम कह सकते हैं कि लेसिंग की सैद्धान्तिक स्थिति अनुकृति और अंग-संगति (सौन्दर्य) के ग्रीक-कला-आदर्श से आगे बढ़ कर स्वच्छन्दतावादी आदर्श तक पहुँची है। वह अभिव्यंजना को काव्य का लक्ष्य स्वीकार करता है। यद्यपि कला के आंगिक सौन्दर्य को भी आवश्यक बतलाता है। यही वह मध्यवर्तिनी सैद्धान्तिक स्थिति है, जो पुनरुत्थानवादी युग की प्रमुखतम विशेषता कही जा सकती है।

आधुनिक युग—स्वच्छन्दतावाद

प्राचीन ग्रीक समीक्षक और आचार्य प्रकृति की अनुकृति को कला की संज्ञा देते थे। स्वच्छन्दतावादी युग के समीक्षक अनुभूति की अभिव्यक्ति को कला की संज्ञा देने लगे। सिद्धान्त के क्षेत्र में सारा ढाँचा बदलने लगा। कहाँ तो बाह्य जगत् के अनुकरण को काव्य मानने वाला प्राचीन मत और कहाँ मानसिक क्रिया में ही कला की सत्ता देखने वाला नया आदर्श।

स्वच्छन्दतावादी आदर्श के अनुसार साहित्य में विषय-वस्तु का कोई स्वतन्त्र मूल्य या अस्तित्व नहीं है। मन की प्रक्रिया ही कला में चित्रित घटना या व्यापार को आकार देती है, और मानसिक क्रिया ही रूपों की सृष्टि करती है। इस प्रकार काव्य का सारा क्षेत्र ही मनोमय हो गया।

इस युग में भावोन्मेष ही कलाकार का मुख्य सम्बल बन गया। कवि भाव-प्रवण होता ही है। वास्तव में यह युग एक सामाजिक नवोन्मेष का युग था। सारी पुरानी व्यवस्था समाप्त हो रही थी। एक बहुत बड़ी जीवन-संभावना समाज में व्याप्त होने लगी थी। साहित्य तथा कलाओं के सम्बन्ध में एक असाधारण उदात्त आदर्श

उद्भावित हो चुका था। म्लीमेल ने साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखा, 'अर्थात् समाज का जो उन्नतम ज्ञान है साहित्य उसी का सार रूप है। सामाजिक उत्कर्ष के साथ ही साहित्यिक उत्कर्ष की धारणा इस युग में निर्मित हुई।"

ब्लेक—विलियम ब्लेक इंगलैंड में रोमांटिक युग का पहला कवि था। वह काव्य निर्माण को कोई बौद्धिक व्यापार या मनुष्यकृत व्यापार नहीं मानता। कविता अलौकिक प्रेरणा-जन्य वस्तु है। किसी भी वास्तविक कवि में किन्हीं बाह्य नियमों का अनुवर्तन नहीं दिखाई देता। उसके छन्द, उसकी शब्दयोजना, सबकी सब नवीन होगी। यह निर्देश परम्परावाद के लिए एक संहारक निर्देश था। काव्य बन्धन-रहित वस्तु है। अरिस्टोटल ने नाट्य-संकलन सम्बन्धी जो नियम निर्धारित किये थे ब्लेक ने उन्हें निराधार ठहराया। सामान्य और असामान्य चरित्रों के सम्बन्ध में अरिस्टोटल के वक्तव्य पर ब्लेक का कथन है कि चरित्र के साथ सामान्य और उदात्त जैसे विशेषण नहीं जोड़े जा सकते। काव्य का लक्ष्य ही है चरित्र-सृष्टि, उसमें सामान्य या असामान्य का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार अरिस्टोटल के समस्त नियमों के विरुद्ध नये सिद्धान्त सामने आने लगे। कल्पना या मानसिक व्यापार का महत्त्व सर्वोपरि हो गया। उसे ज्ञान की उच्चतम कोटि की प्रतिष्ठा दी गई। तार्किक ज्ञान तो बौद्धिक या लौकिक वस्तु है। किन्तु प्रातिभ ज्ञान दिव्य और अलौकिक है। काव्य में प्रातिभ ज्ञान की सत्ता रहा करती है। कवि अपनी कल्पना शक्ति द्वारा ज्ञान को बिना किसी मध्यवर्ती व्यवधान के व्यक्त करता है। प्रतिभा शब्द ने इसी समय महत्ता प्राप्त की। प्रतिभा एक नैसर्गिक शक्ति है और वह शाश्वत आनन्द की उद्भाविका है। काव्य में अभ्यास और व्युत्पत्ति के तत्व लांछित होने लगे, क्योंकि वे उस प्रशस्त शक्ति का परिचय नहीं दे पाते जो काव्य की सर्जना करती है।

ब्लेक में रहस्यानुभूति की भावना बड़ी प्रबल थी और साथ ही वह कवि भी था। रहस्य ज्ञान में और कला में उसे कुछ अन्तर नहीं दीख पड़ा। यह उसके साहित्य-सिद्धान्त की त्रुटि कही जा सकती है। कला की स्वतन्त्र प्रक्रिया उसके सम्मुख नहीं थी। ज्ञान और कला का पृथक्करण प्रत्येक कला-समीक्षक के लिए आवश्यक होता है, किन्तु ब्लेक इतना अधिक भावप्रवण विचारक था कि उसने समस्त रहस्यानुभूति ही कल्पना का पर्याय बन गई। वस्तुतः रहस्य ज्ञान तो एक वस्तु है और कला उस वस्तु को व्यक्त करने की एक विशेष प्रक्रिया है। पदार्थ और प्रक्रिया का अन्तर ब्लेक के लिये अगम्य था। इसलिये ब्लेक के काव्य में कहीं-कहीं कोरे ज्ञान की असाहित्यिक अभिव्यक्ति मिलती है। रहस्य ज्ञान या रहस्यानुभव को काव्य का परिच्छेद वह सर्वत्र नहीं दे पाया।

वर्ड्सवर्थ—ब्लेक ने अलौकिक या दिव्य शक्ति को काव्य की सर्जिका

बताया था। वर्ड्सवर्थ उसे कवि की भावप्रवणता की सृष्टि कहता है। कवि भावप्रवण (इम्सपायर्ड) प्राणी होता है। उसके अनुसार काव्य शक्तिशाली भावोद्वेगों की अकृत्रिम अभिव्यंजना है। अकृत्रिम शब्द द्वारा उसने काव्य-विषयों की सामान्यता के साथ-साथ भाषा और शैली की सरलता का निर्देश किया। परन्तु इस निर्देश को उसने आवश्यकता से अधिक खींचकर ग्रामीण विषय, ग्रामीण भावना और ग्रामीण चरित्रों तक पहुँचा दिया। काव्य-विषयों का चुनाव सदैव सरल और अकृत्रिम हो। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह असभ्य या ग्रामीण ही हो। वर्ड्सवर्थ का झुकाव ग्राम्य चरित्रों की ओर चला गया, जिनकी भावनाएँ नितान्त अकृत्रिम होती हैं। ऐसे पात्र ही काव्य-विषय हो सकते हैं।

शैली के क्षेत्र में वह अलंकरण का पक्षपाती नहीं था। दैनिक बोल-चाल की भाषा ही काव्य में रहनी चाहिए। इस प्रकार विषय-वस्तु और शैली, दोनों ही क्षेत्रों में वह सरलता और सामान्यता का हिमायती बन गया।

वर्ड्सवर्थ के इस सिद्धान्त में कुछ-न-कुछ कमी अवश्य थी। अकृत्रिमता का अर्थ शैली और विषय-वस्तु की सामान्यता ही नहीं है। शेक्सपीयर से बढ़कर अकृत्रिम लेखक और कवि कौन होगा? परन्तु उसकी अकृत्रिमता दूसरे प्रकार की था। सामान्य-असामान्य, उच्च-नीच, सभी प्रकार के चरित्र उसने निर्मित किये। जीवन को पूरे विस्तार में देखा। निश्चय ही उसकी अकृत्रिमता वर्ड्सवर्थ की अकृत्रिमता से कहीं अधिक व्यापक और अर्थपूर्ण थी।

भाव-प्रवणता से क्या आशय है, यह भी वर्ड्सवर्थ ने बताने की चेष्टा की है। 'भाव' शब्द में क्या वे नैसर्गिक संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ ही आती हैं जो कवि को प्रकृति-निरीक्षण से प्राप्त होती हैं, अथवा कवि के व्यक्तित्व के दूसरे पहलू भी (चिंतन, मनन आदि) उसमें निहित हैं। वर्ड्सवर्थ ने कहा कि भावों के अन्तर्गत अनुभूति और समन्वय रहा करता है। केवल भावना ही अपने में पूर्ण महत्त्व नहीं रखती, और केवल चिन्तन भी काव्य के लिये अधिक दूर तक सहायक नहीं होता। पर जब ये दोनों मिल कर एकतान हो जाते हैं तब श्रेष्ठ कविता की सृष्टि का अवसर आता है।

शैली—ब्लेक की दिव्य अनुभूति और वर्ड्सवर्थ की भाव-प्रवणता की भाँति शैली ने कल्पना-शक्ति को काव्य का सबसे प्रमुख उपादान माना। वीणा पर वायु के झोंकों से स्वर-लहरी उठती है और वायु का आरोह-अवरोह भी वीणा की स्वर-लहरी में ध्वनित होता है। इसी प्रकार कवि का हृदय भी कल्पना-शक्ति के आरोह-अवरोह से संचालित होता है। आयास-रहित स्वाभाविक काव्य-रचना पर उसने अत्यधिक

जोर दिया है। इस कारण उनके काव्य में भी दो पक्षों की अपेक्षाकृत कमी हो गई है। एक तो राग तत्व की दूसरे अभिव्यंजना या व्यक्तीकरण की। कवि जब आयास रहित कला का आदर्श सामने रखता है तब जीवन का चिन्तन-पक्ष अज्ञात प्रेरणा का मुखापेक्षी हो जाता है। वास्तव में चिन्तन का पक्ष आयाससाध्य वस्तु है। शेली ने इसकी उपेक्षा की है। कवि को वीणा की ही तरह यह नहीं सोचना पड़ता कि हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति के लिए वह किन शब्दों का प्रयोग करे। शब्द शोधन के कारण ही दान्ते ने काव्य को कष्ट-साध्य कार्य कहा है। पर शेली सब प्रकार के आयास को काव्य के लिये अनावश्यक मानता है। शेली का कथन है कि मानस में उठने वाले चित्रों को पूर्ण रूप में अभिव्यक्त किया ही नहीं जा सकता। हृदयगत भाव ही अलौकिक आल्हादकारक होता है। शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त कविता कभी उस सौन्दर्य की बराबरी नहीं कर पाती जो हृदय में रहा करता है। काव्य का यह बाह्य शब्द चित्र कभी उस मूल चित्र की समता नहीं कर सकता। शेली का यह निष्कर्ष कवि-कर्म के प्रति उपेक्षाशील है। मानसचित्र उपस्थित होने के पश्चात् भी कवि-कर्म की आवश्यकता बनी रहती है। मानसचित्र के अधिक से अधिक निकट पहुँचना ही कवि कर्म का लक्ष्य है। शेली ने प्रतिभा या कल्पना पर इतना जोर दिया है कि दूसरे पक्षों को उसने बहुत कुछ उपेक्षित छोड़ दिया। प्रतिभा के क्षण चूँकि थोड़े होते हैं अतएव शेली के लिये कविता व्यक्तिगत ही अधिक बनी रही। उसे वस्तुगत और सार्वजनिक स्वरूप देने की उसने विशेष चिन्ता न की।

शेली ने काव्यकृति की तुलना पक्षियों के कलरव से की है। यह कलरव अयाचित और अनायास होता है। वैसे ही कवि भी अनायास ही काव्य-सृष्टि का श्रेय प्राप्त करता है। यह मान्यता कवि को अत्यधिक आलसी और अकर्मण्य बना देती है।

कालरिज—अपनी सैद्धान्तिक विवेचन द्वारा कालरिज ने स्वच्छन्दतावादी साहित्य-दृष्टि को विशेष बल दिया। सभी रोमेन्टिक विचारकों की भाँति वह काव्य में अकृत्रिमता को अनुभूति की सचाई को अभिव्यंजना की सरलता को सर्वाधिक महत्त्व देता है। जिन कवियों में ये गुण नहीं पाये जाते उन्हें वह कवि ही नहीं मानता। उसकी दूसरी निष्पत्ति यह है कि काव्य में हृदय और मस्तिष्क दोनों का संयोग अपेक्षित होता है। केवल भावना काव्य के लिये पर्याप्त नहीं है। केवल बौद्धिकता काव्य में तिरस्करणीय है। पर दोनों का एकीकृत रूप श्रेष्ठ काव्य का उपादान है।

कवि की दो शक्तियों के प्रति उसका विशेष आग्रह है। पहली तो प्रकृति निरीक्षण की दूसरी उन निरीक्षित वस्तुओं का दार्शनिक अभ्याहार करने की। कवि

के लिये कल्पना-शक्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी निरीक्षण की। शेली ने कल्पना को अधिक मूल्यवती बताकर निरीक्षण का तिरस्कार किया था। अर्थात् चेतन (मन) और अचेतन (प्रकृति) के संघात में उन्होंने चेतन मन को ही सब कुछ मान लिया था और प्रकृति को उपेक्षित कर दिया था। कवि प्रकृति या वस्तु-जगत् का उपयोग किस प्रकार करता है? क्या मन ही वह रचनात्मक शक्ति है, जो प्रकृति के बाह्य रूपों को आत्मसात् कर सकती है, अथवा बाह्य रूपों का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है? कॉलरिज ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि चेतन (मन) और अचेतन (प्रकृति) की एकता अति आवश्यक है। कल्पना की शक्ति से ही यह एकता या अभेद सम्भव है। कल्पना की परिभाषा ही है वह वस्तु, जिसके द्वारा अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् के बीच पूर्ण एकीकरण होता है। पर यह एकीकरण सम्भव कैसे है? एकीकरण करने वाला तो मन ही है। वह अपनी इकाई को दृश्य जगत् की दूसरी इकाई से कैसे समन्वित कर सकता है? दर्शन शास्त्र का यह असाध्य प्रश्न रहा है। जड़ और चेतन का एकीकरण कैसे सम्भव है? कॉलरिज के अनुसार कल्पना शक्ति ही इस कार्य को सम्पन्न करती है। कल्पना की व्यापक प्रक्रिया के अन्तर्गत दृश्य-जगत् और मानस-जगत् दोनों सान्वित हो जाते हैं। यह कार्य सम्पन्न कैसे होता है? कॉलरिज का कथन है कि कल्पना की शक्ति अलौकिक है। वह समष्टिमानस की प्रतिनिधि है। उस ईश्वरीय सत्ता में यह दृश्य-जगत् भी उद्घाटित होता है। समष्टि-मानस से ही दृश्य-जगत् का उत्सारण होता है। व्यष्टि-मानस (कवि का हृदय) इसी समष्टि-मानस को अपने भीतर समेटता है। समष्टि-मानस इस दृश्य जगत् को साकार करता है, और इस प्रकार कवि की कल्पना में विषय और विषयी या मन और प्रकृति का समाहार होता है।

कल्पना-शक्ति के दो रूप होते हैं—

(१) दृश्य-जगत् के नाना रूपों का उद्घाटन करने वाली शक्ति।

(२) व्यष्टि मानस द्वारा दृश्य-जगत् को अपने में विलय करने वाली शक्ति।

इन्हीं द्विविध शक्तियों द्वारा कल्पना अपना कार्य करती है। जड़ जगत् वास्तव में चेतन या मन का ही विवर्त है। वह मन की पूर्वावस्था है और उसका लक्ष्य भी मन में विलय हो जाना है। इस प्रकार व्यक्ति और वस्तु एक ही भूमिका पर समन्वित होते हैं। ये परस्पर विवादी नहीं रह जाते, बल्कि एक ही तत्त्व के रूपान्तर मात्र हो जाते हैं।

एडीसन और कॉलरिज की कल्पना की परिभाषाओं का अन्तर यहाँ आकर

समझा जा सकता है। एडीसन कल्पना को केवल यान्त्रिक मानता था। वह उसे वस्तु-समुच्चय का मानस प्रत्यक्षीकरण रूप कहता था। कल्पना में कोई निर्माणात्मक सक्रिय तत्व एडीसन को नहीं दिखाई पड़ा। परन्तु कॉलरिज की कल्पना लोकोत्तर निर्माणात्मक शक्ति की पर्याय है। यही कल्पना काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करती है। कॉलरिज का कथन है कि आनन्द काव्य में कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। वह सौन्दर्य पर आश्रित है और सौन्दर्य कल्पना शक्ति पर आश्रित है। इसलिये कविता में रस या आनन्द तत्व स्वतन्त्र नहीं है। कविता में प्रधान तत्त्व है सौन्दर्य। रस सौन्दर्य पर आश्रित है, सौन्दर्य रस पर नहीं। रस या आनन्द तो कई प्रकार का हो सकता है। उसकी निष्पत्ति अनेक मानसिक धरातलों में हो सकती है। इस कारण रस की सत्ता अखंड और एकरूप नहीं है। कवि की मानस-क्षमता के आधार पर इसके भी विभिन्न रूपों और स्तरों का निर्माण होता है।

कॉलरिज की काव्य-परिभाषा निम्नलिखित है—

इसमें आनन्द को सौन्दर्य का अनुवर्ती माना गया है। काव्य में आल्हाद तत्त्व स्वतन्त्र नहीं है। काव्य में सौन्दर्य प्रमुख तत्त्व है और वह सौन्दर्य कल्पना पर आश्रित है। रस या आल्हाद इसी सौन्दर्य का अनुयायी है।"

दार्शनिक परिणति

काण्ट—यूरोपीय चिन्तन के क्षेत्र में व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की धाराएँ अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवाहित थीं। ग्रीक सभ्यता के युग में 'स्टोइक' और 'एपीक्यूरियन' क्रमशः समष्टिवादी और व्यष्टिवादी कहे जा सकते हैं। क्रिश्चियन धर्म का प्रसार होने पर लौकिक और अलौकिक भावजगत् (स्वर्ग और मर्त्य) के रूपों में क्रमशः व्यक्तिवाद और समष्टिवाद ही परिवर्तित हो गया। पुनरुत्थान काल में ये दोनों धाराएँ और भी स्पष्ट रूप से सामने आईं। दार्शनिक चिन्तन के ये दो प्रस्थान ही बन गये। इनके समन्वय का प्रश्न यूरोप के दार्शनिकों के सम्मुख रहा है। काण्ट में पहुँच कर इनके समन्वय की कल्पना साकार हुई।

व्यष्टिवाद व्यक्ति को केन्द्र मानकर चला था और समष्टिवादी समस्त विश्व को इकाई मानते थे। काण्ट में आकर इन दोनों धाराओं का सम्मिलन हो गया। व्यष्टिवादी और समष्टिवादी दृष्टियों में अन्तर क्या है? व्यष्टिवादी दर्शन व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकताओं और समष्टिवादी दर्शन विश्व की स्वतन्त्रता—उसकी अनिर-

पेक्ष पूर्णता—को केन्द्र बनाकर चलते हैं। 'आवश्यकता' और 'स्वतन्त्रता' का समन्वय ही उक्त दोनों विचारधाराओं का समन्वय है।

व्यक्तिवादी दर्शन इन्द्रिय-संवेदन को प्रमुख आधार मानते हैं और समष्टिवादी दर्शन बुद्धि आश्रयी होते हैं। इन्द्रियानुभूति और बौद्धिकता के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास ही व्यष्टि-दर्शन और समष्टि-दर्शन के सम्मिलन की प्रधान समस्या रही है।

इस समन्वय को लेकर पश्चिमी दर्शन-शास्त्र मे काण्ट की चार विरोधी प्रतिपत्तियाँ (पैराडोक्सेज) प्रसिद्ध हैं।

इन्द्रियानुभूति योरोपीय दर्शन में वैविध्य की प्रतिनिधि है। बुद्धितत्त्व इस वैविध्य में एकत्व की स्थापना करता है। इस प्रकार काव्य एक ओर विविधता से समन्वित है, और दूसरी ओर उसमें एकत्व का भी तत्त्व वर्तमान रहता है। इस सम्बन्ध के काण्ट द्वारा निर्दिष्ट चार विरोधाभास निम्नलिखित हैं—

(१) सौन्दर्यवस्तु (काव्य या कला) की गुणात्मक विशेषता यह है कि उसके द्वारा अनुकूल वेदनीय (सुख की) अनुभूति होती है। परन्तु वह सुखानुभूति स्वार्थ-रहित है। उसमें स्वार्थ की स्थिति नहीं है। कला या सौन्दर्य की सुखानुभूति तटस्थ अनुभूति है। गुणात्मक विशेषता के क्षेत्र में सौन्दर्यवस्तु इन्द्रियानुभूति का विषय है किन्तु निःस्वार्थ होने की वजह से बुद्धितत्त्व से भी समन्वित है। इस प्रकार गुणात्मक क्षेत्र में व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व विलय हो जाता है।

(२) दूसरा विरोधाभास परिमाणात्मक विशेषता के क्षेत्र में है। सौन्दर्य सार्वजनिक है पर सार्वजनिक वस्तु-समुच्चय की भाँति वह तार्किक और सैद्धान्तिक नहीं है। काव्य ही एक ऐसी सार्वजनिक वस्तु है जो न तो तर्क पर आश्रित है और न वस्तु-मूलक या सैद्धान्तिक है। वह रूपात्मक है।

(३) तीसरा विरोधाभास है प्रकारात्मक विशेषत्व का। प्रकारात्मक विशेषत्व के क्षेत्र में सौन्दर्यवस्तु उपयोगी या आवश्यक है, किन्तु उपयोगिता के सामान्य गुणों से रहित।

(४) चौथा विरोधाभास सम्बन्ध-निर्देश के क्षेत्र में है। इस क्षेत्र में सौन्दर्य वस्तु उद्देश्यपूर्ण है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रयोजन के नियमों से रहित।

इस प्रकार काव्य को व्यष्टि और समष्टि-दर्शन के मिलन-बिन्दु पर स्थापित कर महान् दार्शनिक कांट ने उसे अभूतपूर्व तात्त्विकता और महत्त्व प्रदान किया।

इस युग की कला विवेचना सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रगति को हम तीन विभागों में रख कर देख सकते हैं।

(१) तत्त्वदर्शन का क्षेत्र—काण्ट ने सौन्दर्य के महत्त्व को बहुत ऊँचा उठाया। काण्ट के विचार में प्रकृति में भी सौन्दर्य है। किन्तु वह सौन्दर्य सार्वजनीन नहीं है। यह उसकी एक कमी है। कलाओं में सौन्दर्य की सत्ता सार्वजनिक होती है। इस दृष्टि से कला की सौन्दर्य सत्ता प्राकृतिक सौन्दर्य सत्ता से अधिक स्पष्ट है। प्रकृति में भी एक अन्तर्निहित व्यंजकता या प्रतीक शक्ति है। यह प्रतीकात्मकता किसी उच्चतर तथ्य को विज्ञापित करती है। कलात्मक सौन्दर्य के द्वारा भी उसी उच्चतर तत्त्व की व्यंजना होती है। प्लेटो के विचार में जिस आदर्श तत्त्व तक प्रकृति की पहुँच नहीं थी, काण्ट में प्रकृति उस आदर्श की व्यंजना करने में सक्षम मानी गई। कला भी उसी तत्त्व को व्यंजित करने में सक्षम हुई।

(२) नैतिक क्षेत्र—काण्ट के पहले नैतिक दृष्टि से कला एक हीन वस्तु मानी गई थी। कुछ ही धार्मिक कृतियाँ नैतिक कही जा सकती थीं। काण्ट ने अपने निर्देशों के द्वारा कला और नैतिकता को एक दूसरे से अनुस्यूत कर दिया। उनका भेद मिट गया और दोनों ही मानव-व्यक्तित्व के माध्यम से एक दूसरे से सम्बद्ध हो गईं।

(३) सौन्दर्य-क्षेत्र—सौन्दर्य का सम्बन्ध ग्रीक-युग में आंगिक-संगति से जोड़ा गया था। वह निश्चय ही बड़ा स्थूल प्रतिमान था। अब कला का क्षेत्र आत्म-सौन्दर्य का क्षेत्र माना गया। केवल शारीरिक या आंगिक सौन्दर्य ही कला की विशेषता नहीं है, बल्कि आत्मा का सम्पूर्ण सौन्दर्य कला में प्रतिफलित और प्रतिबिम्बित होता है। यही नहीं, सुन्दर और उदात्त के सम्बन्ध के प्रश्न को उठा कर काण्ट ने सौन्दर्य के क्षेत्र को और भी प्रसारित किया। उनके अनुसार 'उदात्त' की सीमा में 'कुरूप' का समावेश भी सम्भव है, जबकि प्राचीन ग्रीक चिन्तना में 'सौन्दर्य' की सीमा के अन्तर्गत कुरूपता के लिये कोई स्थान न था, उदात्त वस्तु कुरूप चित्रित होकर कला-पूर्ण हो सकती है, यह निर्णय दे कर काण्ट ने ग्रीक 'सौन्दर्य' के क्षेत्र को अधिक प्रशस्त बनाने का प्रयास किया।

आधुनिक युग में कला सम्बन्धी चिन्तन का प्रथम महामनीषी काण्ट था, जिसने

पूर्व युग के चिन्तन को बहुत आगे बढ़ाया। इसीलिये वह आधुनिक तत्व-विचारणा का जनक माना जाता है।

अद्यतन युग—बीसवीं शताब्दी

उन्नीसवीं शताब्दी तक के समीक्षा-विकास को हम अपेक्षाकृत सुस्थिर रूपरेखा में देखते हैं, परन्तु परवर्ती काल के समीक्षा-सिद्धान्त विविध और विरोधी तत्वों से संकुल चित्र उपस्थित करते हैं। बीसवीं शताब्दी में बहुसंख्यक समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ, जिनके स्वरूप और विशेषता का आग्रह इतना प्रखर है कि समष्टि-रूप में उन्हें लेकर किसी प्रकार की एकरूपता खोजना सम्भव नहीं जान पड़ता। इन सिद्धान्तों के परस्पर विरोध और उनके दृष्टिकोणों की विभिन्नता के हम इतने समीप हैं कि उन्हें विलग करने वाले व्यवधान और रिक्तस्थल बहुत प्रबल बनकर हमारे समक्ष आते हैं और समन्वय के आकांक्षी का साहस भंग कर देते हैं। निश्चय ही ये सब सिद्धान्त, कम से कम इसी रूप में, सदा नहीं बने रहेंगे, कुछ की मृत्यु होगी, दूसरों में विशद परिवर्तन होगा, और तब एक उच्चतर धरातल पाकर उनके फलाफल पर भी हम एक व्यापक दृष्टि से विचार कर सकेंगे। अभी, इन सिद्धान्तों में जो प्रमुखतम हैं, उनके स्वरूप से पृथकतः परिचित हो लेना ही हमारे लिये सम्भव है।

अद्यतन समीक्षा-सिद्धान्तों को हम प्रमुख तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद'—हीगेल के दर्शन से आरम्भ कर जिस प्रकार मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त प्रवर्तित किया, उसी प्रकार इटली में विचो से आरम्भ होकर उसकी दूसरी परिणति क्रोचे के दर्शन में हुई। हीगेल के समान क्रोचे भी आदर्शवादी है, और उसका कला-सिद्धान्त 'अभिव्यंजनावाद' के नाम से प्रचलित है।

(२) अंतश्चेतनावाद, अतियथार्थवाद और सात्र का अस्तित्ववाद—ये सिद्धान्त मन, उसकी अचेतन शक्ति, उसकी चेतना और उसकी मानस-सत्ता को केन्द्रीय मान कर चलते हैं। सृजन-प्रक्रिया, अभिव्यंजना और भाव-विनियोग तथा कलात्मक आस्वादन की प्रक्रिया की व्याख्याएँ इनमें पूर्णतः व्यक्ति के आधार पर की गई हैं। इन्हें सामान्यतः 'व्यक्तिवादी' सिद्धान्त कहा जा सकता है।

(३) टॉलस्टॉय, आई० ए० रिचर्ड्स और कॉडवेल के उपयोगितावादी सिद्धान्त—इन मनीषियों ने भाव-विनियोग, मूल्य नीति—एक शब्द में कला के सामा-

प्रत्येक वास्तविक सहज प्रज्ञा अथवा मूर्तीकरण, अभिव्यजना भी है।"

प्रातिभ अथवा अभिव्यजनागत ज्ञान को हमने स्पष्टत सौन्दर्यगत अथवा कलात्मक के साथ तद्रूप कर दिया है ।"

महज प्रज्ञा अथवा मूर्तीकरण अनुभूत और भुक्त से, सवेदना के प्रवाह या लहर से अथवा अन्य मानसिक वस्तु से रूप-सम्पन्न होने के कारण भिन्न है, और यह रूप अपने अधिकार में कर लेना अभिव्यजना है।

कलात्मक तथ्य इसलिए रूप और केवल रूप है।"

सौन्दर्य की परिभाषा हम सफल अभिव्यजना, या अधिक अच्छे रूप में, केवल अभिव्यजना कहकर कर सकते हैं, क्योकि अभिव्यजना जब सफल नहीं होती तब वह अभिव्यजना ही नहीं है।

उपर्युक्त वक्तव्यों से स्पष्ट है कि सहज प्रज्ञा या अभिव्यजना ही कला है। सहज प्रज्ञा और अभिव्यजना परस्पर भिन्न हैं। रूप' अभिव्यजना है, और सौन्दर्य' भी अभिव्यजना है। अत क्रोचे की दृष्टि में ये चारों ही तत्त्व अभिन्न हैं। इस प्रकार क्रोचे का मन्तव्य है कि कला विशुद्ध रूप से मानसिक प्रक्रिया, या आत्मिक व्यापार है। सहज प्रज्ञा और कल्पना कला की जननी है और मन पर पड़ी छापों की अभिव्यजना कला की प्रक्रिया है। इन चारो शब्दो के भीतर ही क्रोचे का सारा विवेचन सीमित है और इन चारो में वह एक प्रकार का समीकरण स्थापित करता है।

अभिव्यजना से भिन्न क्रोचे के अनुसार कला का कोई रूप नहीं, और यह अभिव्यजना अतरग मनोमय होती है। कला का प्रयोजन अतरग अभिव्यजना में ही पूर्ण हो जाता है कला बनने के लिए वस्तु-रूप में उसके प्रकटीकरण की कोई आवश्यकता नही। कला वस्तु को मन ही स्वय में अभिव्यक्त करता है। शब्दो के माध्यम से उसका प्रकटीकरण एक दूसरी ही प्रक्रिया है। यह व्यावहारिक क्रिया है, जिसके लिए कवि बाध्य नहीं। प्रकटीकरण वास्तविक कला का परवर्ती व्यापार है और इस प्रकार, कला की दृष्टि से उसकी स्थिति गौण है।

इस निर्णय पर क्रोचे का बहुत विरोध हुआ। मुख्य आपत्ति यह उठाई गई कि इस प्रकार कला में प्रपणीयता और भाव विनियोग की तो कोई स्थिति रह नहीं जाती। दूसरी आपत्ति यह है कि समस्त कला व्यापार जब मन के भीतर ही सम्पन्न हो जाता है, तब जगत् के साथ कला का सम्बन्ध क्या रहा।

कला की प्रेषणीयता के सम्बन्ध में क्रोचे का मत है कि कलाकार की सदाशयता के फलस्वरूप उसकी सम्वेदनाएँ लोकग्राह्य होती हैं। वैसे, जिन छापों की अभिव्यंजना कला है, उनमें अखिलता (यूनीवर्सलिटी) का तत्त्व मौजूद है।

द्वितीय आक्षेप के उत्तर में क्रोचे का कथन है कि मन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, और समस्त जीवन या जगत् का उसमें समाहार हो जाता है। मन जगत से छाप ग्रहण करता है और वही उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। जगत् भी क्या है ? वह मन का ही विवर्त है। क्रोचे का यह दार्शनिक पक्ष है। सच तो यह है कि क्रोचे विषयी (सब्जेक्ट) और विषय (ऑब्जेक्ट) के जाल में नहीं फँसना चाहता था। वह फँसा भी नहीं। मन को ही जगत् का नियामक बना कर उसने जगत् को मन के भीतर समाहित कर लिया।

अन्तश्चेतनावाद

यह आधुनिक मनोविज्ञान से निःसृत सिद्धान्त है। इस युग में फ्राइड ने मानस की एक नई धारणा प्रस्तुत की। मानस मुख्यांश में अवचेतन है और अल्पांश में चेतन। अचेतन ही मनुष्य की समस्त मूल प्रवृत्तियों का आदिम कोष है। ये प्रवृत्तियाँ अबाध तोषण चाहती हैं। किन्तु सामाजिक और सांस्कृतिक बन्धनों के कारण चेतन मन को उनका दमन करना पड़ता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ मुख्यतः काम-सम्बन्धी होती हैं। ये अतृप्त काम-वासनाएँ दमन से मरती नहीं, प्रत्युत् 'अचेतन' में जाकर स्थान ग्रहण करती हैं। परिणामस्वरूप उनका हमें कोई ज्ञान नहीं रहता। किन्तु वे तिरस्कृत प्रवृत्तियाँ हमारे अन्दर विद्यमान रहती हैं, और अपना प्रयोजन पूर्ण करने का अवसर देखती रहती हैं। कभी-कभी तो उनका उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) हो जाता है, अर्थात् वे अपना पूर्व लक्ष्य त्याग कर किसी ऐसे लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाती हैं जो समाज और संस्कृति के नियमों से अनुकूल होने के कारण समाज के द्वारा श्रेयस् समझा जाता है। एक असामाजिक प्रेय इस प्रकार एक सुन्दर श्रेय बन जाता है। जब यह पथ उन्हें नहीं मिलता, तब वे विकृतियों और मनोव्याधियों के रूप में आत्म-प्रकाशन करती हैं। पुनः तिरस्कृत होने के भय से कुण्ठाएँ सदा छद्मवेश में प्रकट होती हैं।

मनोव्याधि, स्वप्न, दिवास्वप्न और साहित्य, सब अतृप्त काम-वासनाओं के ही ऐसे छद्मरूप हैं। सब का आधार एक ही है, उनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। मनोव्याधिग्रस्त की कुण्ठाएँ ऐसी विकृतियों और शारीरिक लक्षणों के रूप में प्रकट होती हैं जिनका अर्थ गहरे विश्लेषण के बिना कोई नहीं समझ सकता। उसकी समस्त प्रतिक्रियाएँ अयथार्थमूलक और असाधारण होती हैं। स्वप्न और दिवास्वप्न में

जिस महत्त्व को केन्द्र में रख कर साहित्य की प्रकृति पर विचार किया है। कला के सामाजिक प्रयोजन की प्रधानता के कारण इन सिद्धान्तों को 'उपयोगितावादी' लक्ष्य वादी या सामाजिक भी कहा जा सकता है।

अभिव्यञ्जनावाद—क्रोचे के पूर्व ही अभिव्यञ्जना शब्द पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में प्रचलित हो चुका था। कला आरम्भ में अनुकृति मानी जाती थी, इसके पश्चात् उसका सौन्दर्य से सम्बन्ध स्थापित हुआ। लेसिंग ने सौन्दर्य के साथ कला का अभिव्यञ्जना की वस्तु भी माना और सबसे अन्त में क्रोचे ने उसे विशुद्ध अभिव्यञ्जना घोषित किया। कला शास्त्र इस प्रकार तीन बड़े युगों को पार कर चुका है (१) कला अनुकृति है (२) कला सौन्दर्य विशिष्ट अभिव्यञ्जना है और (३) कला अभिव्यञ्जना है।

इन तीनों सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर क्या है?

अनुकृति कला के बाह्य आधारों पर आग्रह करती है। अनुकृति शब्द के द्वारा अनुकार्य अर्थात् बाह्य-जगत् के व्यापारों और वस्तुओं का भी अनिवार्य रूप से बोध होता है। इस प्रकार अनुकृति में बाह्यार्थ की प्रधानता है और कला के लिए सांसारिक इन्द्रियार्थों की अपेक्षा होती है।

दूसरा सिद्धान्त सौन्दर्य सम्बन्धी है। कला के अन्तरंग और बहिरंग का इसमें समन्वय हो गया है। कला की आत्मा सौन्दर्य है। एक ओर तो यह सौन्दर्य सम्बन्धी बाह्य प्रतिमान स्वीकार करती है और इस अर्थ में बाह्यार्थवादी है, साथ ही आत्माभिव्यक्ति भी उसे स्वीकृत है। इन दोनों ही तत्त्वों पर जोर देने के कारण लेसिंग का सिद्धान्त मध्यवर्ती कहा जा सकता है। लेसिंग ने कला की अन्तरंगता का आग्रह करते हुए उसके बाह्य सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा की।

आगे चलकर (क्रोचे द्वारा) कला में विशुद्ध अभिव्यञ्जना—बाह्यार्थ से निरपेक्ष अभिव्यञ्जना—को प्राधान्य मिला। इस प्रकार बाह्य आधारों से कला को मुक्ति हो गई और कलाकार की अन्तरंग भावना ही कला की एकमात्र नियामिका बन गई।

इस क्रम से पश्चिमी सौन्दर्य चिन्तन अपने बाह्यार्थ-स्वरूप से अन्तर्मुख होता गया स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता गया। कोई भी बाहरी प्रतिमान कला के लिये लागू नहीं होते वह पूर्णतः आत्माभिव्यञ्जक स्वयं-सम्पूर्ण सत्ता है इस अन्तिम स्थिति की उसे प्राप्ति हुई।

'अभिव्यंजनावाद' सिद्धान्त पूर्णतः मानस-पीठिका पर प्रतिष्ठित है। इस स्थापना के साथ प्रश्न उठे कि मन का स्वरूप कैसा है? उसमें कौन सी शक्तियाँ होती हैं? उसके व्यापार कितने और कैसे होते हैं? कला-व्यापार किस प्रकार का व्यापार है, इत्यादि। जब तक मन कलासृष्टि का एकमात्र नियामक नहीं बना था, तब तक दूसरी समस्याएँ भी कला-दर्शन के क्षेत्र में उठती रहीं, किन्तु जब मानस ही उसका आधार मान लिया गया, तब इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाये जाने लगे।

क्रोचे का कथन है कि मानस-व्यापार को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) धारणा-निर्मात्री क्रिया—यह बौद्धिक व्यापार है।

(२) मूर्तीकरण की क्रिया—यह विशुद्ध कल्पना व्यापार है।

कला का सम्बन्ध उसने इस दूसरे व्यापार के साथ जोड़ा। मूर्तीकरण की क्रिया मन की पहली प्रक्रिया है। इसे सहज प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) भी कहा गया है। कल्पना के क्षेत्र में क्रोचे ने सहज-प्रज्ञा का क्षेत्र माना। इसमें पृथक् बौद्धिकता का प्रवेश नहीं है। इस प्रकार क्रोचे ने कल्पना को सहज-प्रज्ञा अथवा मूर्त-बोध के समतुल्य कर दिया।

मूर्तीकरण की यह प्रक्रिया किस प्रकार सम्पन्न होती है! क्रोचे का कथन है कि मन छाप (इम्प्रेशन्स) ग्रहण करता है। किन्तु यह छाप मन की क्रिया को केवल आरम्भ-बिन्दु प्रदान करती है। उनसे आरम्भ करके मन क्रम-विकास द्वारा उन्हें पूर्ण अभिव्यंजना तक ले जाता है। महत्त्व स्वयं इस अभिव्यंजना का है, मन पर पड़ी छापों का नहीं। यह अभिव्यंजना विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान है, और मन पर पड़ने वाली प्रत्येक जाति की छाप उसके लिए आरम्भ-बिन्दु नहीं प्रदान करती। इन छापों की दो जातियाँ होती हैं—इन्द्रियगत और आत्मगत। प्रथम, क्रोचे के अनुसार छाप ही नहीं है, वे एक प्रकार से असफल, गर्भच्युत छाप हैं, द्वितीय प्रकार की छाप ही वास्तव में अभिव्यंजना का विषय बनती है।

सहज प्रज्ञा, अभिव्यंजना, रूप और सौन्दर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते हैं, और उन्हें एक दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते हैं। यह उनके निम्नलिखित वक्तव्यों से स्पष्ट है—

जो छवियाँ मनुष्य देखता है, उनके वास्तविक स्वरूप को वह एक सीमा तक समझता है। इसीलिए दूसरा के समक्ष उनका वर्णन करने का उसे साहस नहीं होता। अपनी ऐसी मनोरथ-सृष्टियों को, उनकी असामाजिकता के कारण, वह दूसरों से छिपाता है।

किन्तु कलाकार इनसे भी एक श्रेणी आगे है। अपनी कुण्ठा-प्रेरित कल्पना तृप्तियों को वह ऐसा रूप दे सकता है, ऐसा छद्मवेश प्रदान कर सकता है कि समाज के समक्ष वे सहज ही प्रस्तुत की जा सकें। यह योग्यता ही कलाकार की प्रतिभा है, उसकी सृजनशीलता का रहस्य है। और यही कुण्ठाओं का सुन्दर छद्मवेश में प्रकाशन कलात्मक उदात्तीकरण है।

यह छद्मवेश ही कलात्मक 'रूप' है और सौन्दर्य का अवस्थान है। यह रूप-गत सौन्दर्य कलास्वादनगत आनन्द का कारण है। किन्तु कलाकृतियों से प्राप्त होने वाले आनन्द का स्रोत भिन्न ही है। दूसरे व्यक्तियों के मन में भी कलाकार के समान दमित वासनाएँ रहती हैं, जिन्हें प्रकट करने का उन्हें साहस नहीं। किन्तु कलाकार ने उन्हें ऐसा सामाजिक छद्मवेश प्रदान कर दिया कि वे अबाध रूप से उनमें रम सकते हैं। इसीलिए उन्हें एक प्रकार का छुटकारा मिलता है, और उन कृतियों की आनन्दात्मक अनुभूति होती है।

कलाकार अपनी अचेतन पापानुभूति (गिल्ट कॉम्पलेक्स) के दबाव से छुटकारा पाने के लिए सृष्टि करता है किन्तु इस कार्य में उसे आंशिक सफलता ही मिलती है। परिणामतः वह निरन्तर कृतियाँ रचता जाता है। उसका मानस रुग्ण होता है, और कलासृष्टि के द्वारा वह आत्मोपचार का प्रयत्न करता है। एडमण्ड बर्गलर के अनुसार कलाकार का व्यक्तित्व कभी प्रसन्न हो ही नहीं सकता, उसकी रुग्णावस्था का प्रमाण और उसकी गरीबी है। कलाकार आत्मपीडक होता है, इसलिए वह जान-बूझ कर ऐसे धन्धे चुनता है जिनसे पर्याप्त अर्थ की प्राप्ति न हो सके।

इसी प्रकार अचेतन पापानुभूति, उसका प्रकाशन और समान भूमि पर आश्रित उसका भाव-विनियोग फ्रायड के कला सिद्धान्त का मूल ढाँचा निर्मित करते हैं।

एडलर और युङ्ग ने भी मनोविश्लेषण की अपनी विशिष्ट धारणाओं के आधार पर काव्य और कला की प्रकृति के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। एडलर के अनुसार शारीरिक एवं अन्य हीनताओं के फलस्वरूप व्यक्ति के मन में एक मूलभूत हीनता का भाव घर कर लेता है। उसके निवारण के लिए क्षतिपूरक प्रक्रिया के रूप में सत्ताकांक्षा और महत्त्वाकांक्षा का उदय होता है। साहित्य और कला इसी

प्रकार हीनता के भाव की क्षतिपूर्ति के साधन हैं। उनके द्वारा कलाकार दूसरों के हृदय पर प्रभुत्व स्थापित कर हीनता-भाव-जन्य अपनी सत्ताकांक्षा की तृप्ति करता है। किन्तु हीनता के भाव के साथ सामाजिक जीवन की आवश्यकताएँ मानव-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व की भावना भी मनुष्य में उत्पन्न करती हैं। मनोविज्ञान, शिक्षा और उच्च साहित्य, तीनों का लक्ष्य मिथ्या अहंमूलकता को दबा कर विश्व-बन्धुत्व की भावना को सशक्त और व्यापक बनाना, और इस प्रकार सामाजिक जीवन को अग्रसर करना है। दस्तोयेवस्की ने यही किया, और इसीलिए उनका साहित्य महान् है। अपने पात्रों को उन्होंने अहंवाद की चरम सीमा तक जाने दिया, और फिर सामाजिक प्रतिशोध की शक्तियों को उन पर छोड़ कर यह सबक पढ़ाया कि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य उसकी चरम सफलता, अपने अबाध अहं को विश्व-बन्धुत्व की भावना से सीमित कर देना है।

कार्ल युङ्ग साहित्य की व्युत्पत्ति व्यक्ति, अथवा वैयक्तिक प्रवृत्तियों से नहीं करते। उनका मत है कि कलाकार दो विरोधी प्रवृत्तियों का द्वित्व है। मनुष्य होने के नाते एक ओर उसकी सुख प्राप्त करने की लालसाएँ और अपना व्यक्तिगत जीवन हैं, और दूसरी ओर उसमें सृजन करने की एक उद्दाम प्रेरणा भी रहती है। इन दो स्वार्थों के द्वन्द्व से वह विकल रहता है और सृजन-प्रेरणा के आवेश में व्यक्तिगत जीवन की उपेक्षा करके दुःख उठाता है। कलाकृति में उसकी वैयक्तिक बातों का प्रवेश तो स्वाभाविक है, परन्तु कला की वास्तविक वस्तु कुछ और है।

युङ्ग के अनुसार कला की जन्म-भूमि 'सामूहिक अचेतन' है। यह सामूहिक अचेतन किसी व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध नहीं। वह समस्त मनुष्यों, और एक धरातल पर, समस्त प्राणियों से सम्बद्ध है। चेतना इसी सामूहिक अचेतन से उत्पन्न हुई है, जो हमारी समस्त शक्तियों का विशाल, किन्तु अन्धकारमय, कोष है। किसी व्यक्ति या युग का चेतन दृष्टिकोण जब समयानुकूल नहीं रह जाता, तब उसकी क्षति-पूर्ति के लिए सामूहिक अचेतन क्रियाशील होता है। यह क्रिया इस प्रकार होती है कि कोई जननायक, मन्त्रद्रष्टा अथवा कवि उस अन्ध-कामना से स्वयं को संचालित होने देता है जो जन-जन के मन में बसी है, और वाणी अथवा कार्य के द्वारा वह उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाता है।

साहित्य ऐसी ही क्षतिपूरक क्रिया है। उसमें कलाकार समस्त मानवता की उन निगूढ़ अभिलाषाओं को अभिव्यक्त करता है, जिनका उसके युग विशेष की भूलों और त्रुटियों के निराकरण और एक अभिनव सन्तुलन की प्राप्ति के साथ गहन सम्बन्ध है।

अतियथार्थवाद

यह अचेतन प्रवृत्तियों, भाव सरणियों, स्वप्न और प्रतीक के क्षेत्र में फ्रायड की खोजों पर आश्रित एक विद्रोही साहित्य आन्दोलन है। मारिस नादो के शब्दों में यह आन्दोलन अपने प्रतिष्ठापकों द्वारा कला के एक नये सम्प्रदाय के रूप में आयोजित नहीं किया गया था। यह अपर्याप्त रूप से ज्ञात महाद्वीपों का पूर्ण मानचित्र प्रस्तुत करने, अचेतन मन, स्वप्न की माया नगरी, मानसिक विकलन और मिथ्या दर्शन की मनोदशा को चित्रित करने सचमुच में तर्क-बुद्धि के विपरीत पक्ष को अभिव्यक्ति देने के लिए साधन रूप में सामने आया था।" इसके आदिप्रवर्तक फ्रांस में आंद्रे ब्रेता और पाल एलुअर्ड थे।

फ्रायड ने स्वप्न की व्याख्या करके यह बतलाया कि उसकी सृष्टि अचेतन प्रवृत्तियाँ करती हैं। इन प्रवृत्तियों का पता 'स्वच्छन्द-साहचर्य' की विधि से स्वप्न की व्यक्त वस्तु का विश्लेषण करने पर लगता है। जिस प्रक्रिया में अचेतन प्रवृत्तियाँ स्वप्न की व्यक्त वस्तु का रूप धारण करती हैं उसे स्वप्न-कलाप कहते हैं। स्वप्न-कलाप में अनेक प्रक्रियाएँ सन्निहित रहती हैं। उनमें प्रमुख घनीभवन, स्थानान्तरण, अभिनयमय प्रदर्शन और प्रतीक विधान की प्रक्रियाएँ हैं। घनीभवन में स्वप्न का एक तत्त्व अनेक तत्त्वों का स्थान ग्रहण कर लेता है। अनेक मानस-छवियाँ संहृत होकर एक बिंब का निर्माण करती हैं। स्थानान्तरण के द्वारा स्वप्न की प्रधान वस्तु गौण बन कर प्रस्तुत होती है, और गौण वस्तु प्रधान बनकर। अभिनयमय प्रदर्शन के द्वारा प्रवृत्तियाँ मूर्त बिंबों के माध्यम से प्रकट होती हैं, छद्मवेश धारण करके वे निद्रित चेतना के रंगमंच पर अभिनय करती हैं। स्वप्न में आई हुई मानस-छवियों का प्रतीकात्म होता है, और उसका ज्ञान विश्लेषण द्वारा ही सम्भव है। उदाहरणार्थ, स्वप्न प्रतीक में प्रस्तुत कोई सम्राट और अबोन्मादक पशु बहुधा स्वप्न-द्रष्टा के पिता का प्रतीक होता है। इस प्रकार स्वप्न सृष्टि एक विचित्र, विशृङ्खल, अनबूझ स्वरूप धारण कर लेती है, यद्यपि उसका यह निर्माण सुनिश्चित नियमों के आधार पर होता है।

फ्रायड ने अनेक स्थलों पर यह निर्देश किया है कि स्वप्न के समान काव्य भी अचेतन आकांक्षाओं की सृष्टि होता है और उसके निर्माण में भी वही प्रक्रियाएँ लक्षित होती हैं जिनसे स्वप्न निर्मित होता है। अतएव कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य और कला-सृष्टि भी स्वप्न-सृष्टि के समान होनी चाहिए। कलाकार चेतन मन के कार्य को स्थगित कर दे, और उसका अचेतन अनायास जो भाव और मानस छवियाँ ऊपर उभारे, उन्हें उसी रूप में उन पर किसी नियम का अनुशासन स्थापित किये बिना, अंकित करता जाय। कलाकृति का निर्माण इस प्रकार पूर्णतया स्वप्न-प्रक्रिया के समतुल हो जायगा, और उसका बाह्य-स्वरूप वैसा ही अनियमित,

विशृङ्खल और मायामय रहेगा, जैसा स्वप्न में रहता है। अचेतन में बसने वाले अतीन्द्रिय यथार्थ की अभिव्यक्ति का यही उत्तम साधन है। इसीलिए इस दृष्टिकोण, धारणा और रचना-विधि का नाम अतियथार्थवाद पड़ा।

परिणामतः कला (मुख्यतः चित्रकला और काव्य) के क्षेत्र में ऐसी कृतियाँ उपस्थित होने लगीं जिनका अर्थ केवल कतिपय विशेषज्ञ, और वह भी गहरे विश्लेषण के बाद, लगा सकते हैं। इस प्रकार अर्थ जान लेने के बाद भी उसके ठीक होने के विषय में सन्देह बना रहता है। फ्रायड द्वारा वर्णित स्वप्न-प्रतीक भी ऐसी कृतियों की व्याख्या में अधिक सहायक नहीं होते, क्योंकि कलाकारों का प्रतीक-विधान बहुत नियमहीन होता है। परिणामतः साधारणीकरण का सिद्धान्त किसी प्रकार उन पर लागू नहीं होता, और उनकी विचित्र, अनबूझ सृष्टियों का जनता ने कभी स्वागत नहीं किया। अतियथार्थवाद का प्रचलन केवल एक चुने हुए समुदाय में सीमित है, और उसकी सृष्टियों की प्रशंसा करने वाले समीक्षकों पर भी कभी-कभी सन्देह किया जाता है कि वे भी सचमुच उन्हें समझते हैं या नहीं। जब उन कृतियों का अर्थ जानना ही इतना दुःसाध्य है तो उनके आस्वादन और तज्जन्य आह्लाद की चर्चा ही क्या? इसीलिए इधर कुछ समय से इस मत के कुछ कलाकार असन्तुष्ट होकर मार्क्स के यथार्थवाद की योजना भी उसमें करने लगे हैं।

ऐसी कला कभी जनप्रिय नहीं हो सकती और प्रथम आवेग के पश्चात् अति-यथार्थवाद का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है।

उपयोगितावाद : टाल्सटाय

'कला क्या है' पुस्तक में टाल्सटाय एक आदर्शवादी विचारक के रूप में उपस्थित हुए हैं। इस कृति के द्वारा उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे एक महान् कलासाधक ही नहीं, लोक-मंगल की साधना में संलग्न एक महान् मनीषी भी हैं। धार्मिकता की ओर उनका विशेष झुकाव है और मानव-संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य वे 'विश्व-बन्धुत्व' मानते हैं। उनके अनुसार वही साहित्य श्रेष्ठ है जो समस्त मानवता के लिए उपकारी हो। आज का साहित्य मानवता के लिये नहीं, केवल उच्च वर्गों का है, जिनके जीवन सम्बन्धी आदर्श विकृत हो चुके हैं। इन विकृत आदर्शों की पूर्ति के लिए ही आज का समस्त साहित्य और विज्ञान है। यह विकृति जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था में व्याप्त है, अतएव सर्वश्रेष्ठ आवश्यकता यह है कि मानव-विकास के समस्त उपकरणों को साथ लेकर आगे बढ़ा जाय। कला और साहित्य भी मानव-विकास का एक साधन है, कोई अपने में स्वतन्त्र वस्तु नहीं।

मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद आई० ए० रिचर्ड्स

आजकल यूरोप और अमेरिका में भी रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का बड़ा सम्मान है। उनके सिद्धान्त को हम 'मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद' कह सकते हैं। उसका सार यह है कि साहित्य एक उपयोगी वस्तु है, और उसकी उपयोगिता मनोवैज्ञानिक भूमिका पर सिद्ध की जा सकती है। रिचर्ड्स का पहिला विरोध कलावादियों से है। कलावादी कला को स्वतन्त्र और निरपेक्ष, स्वयं में साध्य मानते हैं। कला का आह्लाद उनके अनुसार एक पृथक् और विशिष्ट जाति का आह्लाद है। रिचर्ड्स का कथन है कि साहित्य के विषय में इस प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। साहित्य का आह्लाद, काव्यानुभूति अन्य अनुभूतियों जैसी ही होती है उनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं। काव्य की प्रभावित करने की शक्ति, उसकी प्रेषणीयता उसकी भाव-विनियोग की क्षमता, किसी सौन्दर्य-तत्त्व की उपस्थिति के कारण नहीं, किन्तु काव्य में व्यक्त अनुभव, और उन अनुभवों में सन्निहित मूल्य के कारण होता है। साहित्य की उपयोगिता अन्य वस्तुओं जैसी ही है, उसका कोई स्वतन्त्र क्षेत्र नहीं।

काव्य का नीति के साथ कोई सम्बन्ध न मानने वालों का रिचर्ड्स ने घोर विरोध किया, किन्तु साथ ही नीति के प्रचलित स्वरूप को भी उन्होंने संकुचित और भ्रामक ठहराया। उसके स्थान पर आपने मूल्य (वैल्यू) की अपनी एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस विषय में रिचर्ड्स की दूसरी निष्पत्ति यह है कि साहित्य का अध्ययन करते हुए मूल्य-सम्बन्धी धारणा सदा वर्तमान रहती है।

सम्पूर्ण साहित्य-सम्बन्धी विचार दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—मूल्य सम्बन्धी और कला सम्बन्धी। भाव पक्ष से सम्बद्ध समस्त विचार मूल्यात्मक हैं। केवल शैलीगत शिल्प विषयक विचार ही विशुद्ध साहित्य के अपने साम्राज्य से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु उन्हें बहुत हो गौण मानना चाहिए। साहित्य के सांस्कृतिक मूल्य की चर्चा के समक्ष शैली-सम्बन्धी विचार उपास्थानीय हो जाते हैं। किन्तु तुक-भंग जैसी छोटी-छोटी बातों को लेकर साहित्य-समीक्षक कृति के मूल स्वत्व, उसमें सन्निहित मूल्य सम्पन्न अनुभव, को ही भुला बैठते हैं। यह सन्तुलन की कमी का द्योतक है।

साहित्य को रिचर्ड्स सार्वजनिक वस्तु मानते हैं। उसमें भावविनियोग का तत्त्व रहा करता है। कोई कलाकार यदि स्वान्तः सुखाय ही सृष्टि करे तो भी उसमें प्रेषणीयता रहती है। प्रेषणीयता काव्य का एक अचेतन (अनकान्शस) तत्त्व है। काव्य-सृष्टि पूर्णतः अचेतन प्रक्रिया न होकर उपचेतन शक्तियों द्वारा भी परिचालित होती है। रचनाकाल में कलाकार भले ही अपनी भावना का ध्यान न रखे और उस भावना को अधिकतम प्रभावशाली रूप देने की अधिकतम चेष्टा करते हुए बाह्य आवश्यकताओं को भूल जाय,

किन्तु उसकी कृति यदि मूल्य-सम्पन्न है तो उसमें प्रेषणीयता का गुण आ ही जाता है। सार्वजनीनता का गुण शैलीगत नहीं, किन्तु भावगत है। शब्द-योजना कितनी भी सुन्दर हो किन्तु मूल्यवान् भाव की सत्ता के अभाव में दूसरों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस प्रकार साहित्य में भाव-पक्ष की प्रमुखता स्थापित करने के पश्चात् रिचर्ड्स अपनी मुख्य वस्तु पर आ जाते है।

रिचर्ड्स का प्रधान कार्य है मूल्य की व्याख्या करना, और यह कार्य उन्होंने मनोविज्ञान द्वारा सम्पन्न किया है। समस्त मानवीय प्रवृत्तियों को वे दो श्रेणियों में विभाजित करते है, अनुरति और विरति। प्रथम वस्तुओं की ओर प्रवर्तित होती है, और द्वितीय उनसे दूर हटती है। भारतीय शब्दावली में इन्हें क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं। रिचर्ड्स की प्रथम स्थापना है कि "ऐसी कोई भी वस्तु मूल्यवान् है जिसके द्वारा प्रवृत्ति या 'प्राप्ति-चेष्टा' की तुष्टि हो।" परन्तु मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों का तोषण सम्भव नहीं, इसलिए "ऐसी कोई भी वस्तु मूल्यवान् है जो सम या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को कुण्ठित किये बिना ही किसी प्रवृत्ति को तुष्ट करे।" प्रवृत्तियाँ असहयोग की स्थिति में नहीं रहतीं, प्रत्युत् वे अनेक संघटन निर्मित करती हैं। किसी भी समय पर "प्रवृत्तियों का वह संघटन उत्तम होता है, जिसमें मानवीय सम्भावनाओं का अल्पतम क्षय हो।" इस स्थिति में जो कवि मूल्यों की सापेक्षता को समझता है वह अधिक सन्तुलित साहित्य की सृष्टि कर सकेगा।

जिस प्रकार व्यक्तिगत सन्तुलन वाछित है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी सन्तुलन की सार्थकता है। वही सर्वोत्तम सामाजिक संघटन है जिसमें अधिकतम सामूहिक सुख ऐसे स्वार्थ पर निर्भर हो जो विभिन्न व्यक्तियों के बीच में ऐक्य का बन्धन निर्मित करे, और "जब तक असन्तुलित व्यक्तित्व वाले मनुष्य समाज में हैं तब तक समाज को उनके विरुद्ध अपनी रक्षा करनी ही चाहिए।" प्रत्येक युग की आवश्यकताओं के अनुसार इच्छाओं का विशिष्ट सन्तुलन स्थापित होता है। सन्तुलन के इस उच्चतम धरातल से ही साहित्य में अभिव्यक्त भावनाएँ अपना मूल्य ग्रहण करती हैं। साहित्य और कला ऐसे प्रमुख साधन हैं जो अन्य मनों को प्रभावित कर हमें विशृङ्खलता से अधिक सन्तुलित स्थिति में ले जाते हैं। यही उनका मौलिक महत्त्व है।

साहित्य प्रवृत्तियों के संघटन प्रस्तुत करता है और उनके निर्माण में सहायक भी होता है, यह रिचर्ड्स के मत का सार है। किन्तु प्रवृत्तियों की अधिकाधिक तृप्ति को मूल्य की कसौटी मान लेना एक मोटा मानदण्ड है। इस सिद्धान्त से लोकोत्तर प्रतिभा का बहिष्कार हो जाता है। अत्यधिक नैतिक अथवा अत्यधिक नियमहीन इच्छाएँ साहित्य से छूट जाती है, और सामान्य जीवन की सामान्य इच्छाएँ ही साहित्य मूल्य की साधक रह जाती हैं।

विज्ञान की विकृति के फलस्वरूप हमारी कलाएँ भी विकृत हैं। विज्ञान हमारी किन आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है ? इस प्रश्न के उत्तर में टाल्सटाय का कथन है कि वह आज कृत्रिम समाज की कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। कतिपय आविष्कारों को लेकर उन्होंने इसका विवेचन किया है। बड़े-बड़े आविष्कार भी मूलतः निरर्थक हैं। उदाहरणार्थ एक्स रे को लीजिए। रुग्ण समाज की रुग्णता उससे ज्ञात होती है। किन्तु समाज रुग्ण क्यों होता है ? उसके मूल कारणों को दूर करने की कोई चेष्टा नहीं की जाती। मूल दृष्टि ही दूषित है। विज्ञान की आवश्यकता ही न रहे ऐसा समाज होना चाहिए। युद्ध की तैयारियाँ और उसके लिए भीषणतम अस्त्र शस्त्रों का उत्पादन विज्ञान का वर्तमान सामाजिक उपयोग है। विज्ञान का समस्त विकास इस प्रकार उच्च वर्ग की इच्छाओं की पूर्ति का साधन है।

कला क्या है ? इस प्रश्न को टाल्सटाय ने बिलकुल नये ही रूप में उठाया। कला सौन्दर्य की वस्तु है और आनन्द प्रदान करती है इस सिद्धान्त को उन्होंने अमान्य करार दिया। कला के पीछे जब इतना अधिक धन और श्रम व्यय होता है तब मात्र मनोरंजन के लिए उसका निर्माण करना ठीक नहीं। यदि यही उसका प्रयोजन है तो मनोरंजन के अधिक सरल और सस्ते साधनों का उपयोग क्यों न किया जाय ? तब अपना अस्तित्व सार्थक करने के लिए उसे किसी विशाल लोक मांगलिक तत्त्व से समन्वित होना चाहिए। क्या कला में कोई ऐसा गुण है ? टाल्सटाय का उत्तर है— हाँ और वही कला का चरम गुण और वास्तविक उत्कर्ष है।

कला की मूल वस्तु क्या है ? भाव। भावों की उपस्थिति के कारण ही कला अपना वैशिष्ट्य प्राप्त करती है। ये भाव संक्रामक होते हैं। उनमें प्रेषणीयता का गुण होता है। वे अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रहते किन्तु पाठक के हृदय-प्रदेश में प्रविष्ट होकर उसे प्रभावित करते हैं। अतएव कलाकार के ऊपर बहुत बड़ा सामाजिक दायित्व होता है। उसे यह देखना चाहिए कि जिन भावों को वह अपनी कृतियों द्वारा संप्रेषित करता है उनकी प्रकृति कैसी है वे सुभाव हैं या कुभाव, जनता पर उनका प्रभाव कैसा पड़ेगा ? यह टाल्सटाय के संक्रामकता सिद्धान्त (इनफक्शन थ्योरी) का सार है।

कला और साहित्य की मूल समस्या को इस रूप में उठाने के पश्चात् टाल्सटाय का आदर्श और मानवतावादी स्वरूप सामने आता है। यदि प्रेषणीय भाव या संक्रामकता का गुण कला की मूलभूत विशेषता है तो उत्कृष्ट साहित्य वह है जिसके द्वारा लोकमंगल के साधक उत्कृष्ट भाव प्रसारित होते हैं। ये उत्कृष्ट भाव

कौन-से हैं ? और वे कहाँ से हमें प्राप्त होते है ? इस विषय में टालसटाय ने दो प्रमुख निर्देश किये हैं।

प्रथम निर्देश का स्पष्टीकरण टालसटाय ने एक उदाहरण द्वारा किया है। उसकी पुत्री की स्वागत-योजना में ग्रामवासी अपने संगीत का आयोजन करते हैं, और नगरवासी कंसर्ट का। प्रथम में हार्दिकता की सत्ता है और द्वितीय में केवल ऊपरी शिष्टाचार की। इस प्रकार परस्पर विरोध प्रकट करते हुए टालसटाय इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जनता के भाव ही सच्चे भाव होते हैं, भाव-विशेष का प्रत्यक्ष प्रभाव— यह कला की पहली आवश्यकता है।

भावोन्नयन का उत्कृष्टतम रूप हमें धर्म में मिलता है। धर्म एक ऐसा तत्व है, जिसकी सम्यक् प्रतिष्ठा से साहित्य अपना यथार्थ उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। अतएव साहित्य को उन्होंने धार्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। धर्म क्या है ? इसकी व्याख्या करते हुए टालसटाय ने बतलाया है कि सामान्यतः जिस रूप में उसे समझा जाता है, वह धर्म की विकृत धारणा है। वास्तविक धर्म की जीवन में सर्वत्र व्याप्ति है, और उसका मूल मन्त्र, उसकी मूल भावभूमि, विश्वबन्धुत्व है। इस प्रकार उन्होंने क्रिश्चियन धर्म की भूमिका पर प्रतिष्ठित विश्वबन्धुत्व को कला का चरम साध्य निर्धारित किया। कला अपने आप में सीमित नहीं, किन्तु वह लक्ष्यात्मक है, उसकी श्रेष्ठता इसमें सन्निहित है कि वह एक श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति का उत्तम साधन है।

टालसटाय कहते हैं कि आज के साहित्यिक प्रवाह-पतित व्यक्ति हैं। प्रस्तुत परिस्थिति ही उनकी नियामक है। जो होना चाहिए, इस पर वे ध्यान नहीं देते। हमारी कलाएँ क्या है, यह मुख्य प्रश्न नहीं है, मुख्य प्रश्न यह है कि उन्हें क्या होना चाहिए ? इस प्रकार नैतिक पक्ष को प्रधान बना कर उन्होंने सात्त्विकता और सहज गुण को कला का वांछित तत्त्व निर्धारित किया, और समस्त प्रकार की कृत्रिमता के विरुद्ध आवाज उठाई।

विज्ञान और कला के सम्बन्ध को उठाते हुए टालसटाय ने कहा कि वे परस्पर विरुद्ध न होकर एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। विज्ञान का कार्य है ऐसे ज्ञान को समाज के समक्ष उपस्थित करना, जिसकी उस समय उसे आवश्यकता है, और कला का कार्य है उन सत्यों को भावात्मक स्वरूप प्रदान करना, कलात्मक सकामकता के द्वारा जन-जन के मन में उन्हें प्रतिष्ठित करना। इसीलिए विज्ञान यदि पथ-भ्रष्ट है तो कला भी पथ-भ्रष्ट होगी।

मध्य-मार्ग का यह आदर्श कुछ स्थूल है। निवृत्ति पर आश्रित जीवन को ऊँची साधनाओं के लिए वह कोई स्थान नहीं देता। वास्तविकता यह है कि सीमान्तों से बच कर साहित्य ऊँचा नहीं उठता प्रत्युत वह अनुभव की चरम सीमाओं तक जा कर अपनी वास्तविक गम्भीरता और उत्कर्ष प्राप्त करता है।

दूसरी बात यह है कि सामान्यीकृत (जनरलाइज्ड) सिद्धान्त विभिन्न युगों की सामाजिक आवश्यकताओं का आकलन नहीं करता। यह भी उसकी एक कमी है।

प्रभाववादी विचारक होने के कारण रिचर्ड्स ने कला के शिल्प-पक्ष पर भी पूरा ध्यान दिया है। शब्द प्रयोगों में भी उसकी दिलचस्पी है। उसका कथन है कि किसी लेखक का शिल्प-पक्ष यदि पुष्ट है तो उसका भाव-पक्ष अधिक मूल्यवान् हो जाता है। और साहित्य अपने उद्देश्य में अधिक सशक्त हो जाता है। इस प्रकार भाव-पक्ष को अधिक प्रधानता देते हुए रिचर्ड्स उसके बाह्य-पक्ष के प्रति भी उदासीन नहीं है।

मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धान्त काँडवेल

काडवेल ने मार्क्सवादी सिद्धान्त को साहित्य में रूपान्तरित किया। मार्क्सवाद का सर्वप्रमुख निर्णय यह है कि मनुष्य की सारी जीवन-व्यवस्था, कला, धर्म तथा अन्य सारी सृष्टियाँ समाज के आर्थिक ढाँचे पर अवलम्बित हैं। समाज के आर्थिक ढाँचे के अनुरूप ही साहित्य की रूपरेखा निर्धारित होती है। मनुष्य जब से पृथ्वी पर आया है तब से प्रकृति से संघर्ष कर रहा है और विभिन्न समयों की आर्थिक स्थिति प्रकृति से मानव-संघर्ष की निरन्तरता के द्वारा नियन्त्रित होती है। प्रकृति और मानव के संघर्ष की निरन्तरता और उसके अनुरूप बदलने वाले समाज के आर्थिक रूप साहित्य को कोई शाश्वत वस्तु मानने के विरोध में पड़ते हैं। मार्क्सवादी कार्य-कारण-परम्परा से साहित्य को मुक्त नहीं मानते। विशिष्ट मानव समूह अपने सुस्पष्ट प्राकृतिक संघर्षों के बीच जिस स्थिति में रहता है, वही स्थिति उसके उस समय के साहित्य की नियामक होती है। साहित्य को जानने के लिए समाज का ज्ञान आवश्यक है। वे साहित्य के समाजशास्त्रीय महत्त्व को सर्वोपरि मानते हैं। साहित्य को समाजशास्त्र के साथ संयुक्त करते हैं। सामाजिक विकास को वे गतिशील मानते हैं। यह गतिशीलता द्वन्द्वात्मक पद्धति है। इस पद्धति के द्वारा मार्क्सवादियों ने मानव-विकास के कई युगों का पृथक-पृथक् निर्देश किया है। उन विभिन्न युगों की साहित्य सृष्टि उन सामाजिक स्थितियों के साथ सम्बद्ध मानी जाती है—

नया साहित्य : नये प्रश्न—

(१) पूर्व प्रस्तर युग,
(२) उत्तर प्रस्तर युग,
(३) राजसत्ता युग,
(४) सामन्त युग,
(५) पूँजीवादी युग,
(६) साम्यवादी युग।

मूल रूप से ये छः युग हैं। प्रायः सभी देशों के साहित्य का इन युगों में एक-एक साहित्यिक विकास होता है। इनमें जातीय और क्षेत्रगत विशेषताएँ बहुत कम होती हैं।

पाषाण युग मानव-सभ्यता का आदिम युग है। इसमें मनुष्य प्रकृति से पृथक् नहीं था। वह सामूहिक रूप से अपनी सत्ता का पृथक्कीरण नहीं कर पाया था। व्यक्तित्व की सृष्टि नहीं हुई थी। उस समय जीवन-यापन का साधन केवल आखेट था। वह पशु और पक्षियों की अनुकृति पर सामूहिक नृत्य और सामूहिक गायन का युग था।

उत्तर पाषाण युग में खेती का काम प्रारम्भ हो गया था। कला के मूल में सामूहिक भावना (कलैक्टिव इमोशन) रहा करती थी। कोरस की पद्धति इसी सामूहिक भावना का एक स्वरूप है। साहित्य सारी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। उदाहरण के लिये वैदिक साहित्य को लिया जा सकता है। यह धर्म, दर्शन, काव्य और अन्य सभी सांस्कृतिक उपादानों का आधार था।

राजसत्ता के युग में शासक और शासित विभक्त हो गये। काव्य, धर्म-शास्त्र आदि एक-दूसरे से पृथक् हो गये। कविता इसी युग में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा कर सकी। वाल्मीकि रामायण इसी युग का काव्य रहा है। कॉडवेल का कहना है कि अवकाश ही काव्य का जनक है। महाकाव्यों का युग सांस्कृतिक दृष्टि से अवकाश का युग रहा है। सामन्तवादी और राजकीय सत्ता के युग में पर्याप्त व्यवस्था और सुख था, इसलिए संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य की सृष्टि इसी युग में हुई। यह साहित्य का स्वर्ण-युग माना गया है।

सामन्तवादी युग के पश्चात् मध्यवर्गीय उत्थान के साथ व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो गई। मनुष्य अपने को एक स्वतन्त्र इकाई मानने लगा। प्रगीत-काव्य इस युग की

प्रतिनिधि साहित्य-सृष्टि है। प्रगीत की विशेषता भी उसका व्यक्तिगत भावोच्छ्वास माना गया है।

श्रमिक सभ्यता का अभ्युदय वर्गीय संस्कृति की समाप्ति और नई संस्कृति की नव प्रतिष्ठा का युग है। इस युग में नये सिरे से ही सामूहिक भावना का उद्गम सम्भव हो पाया। मनुष्य प्रकृति का शासक भी इसी युग में आकर हुआ।

इस प्रकार विभिन्न युगों और उनमें विकास पाने वाली साहित्यिक सृष्टियों का साथ-साथ विवरण देकर काडवेल उन दोनों का कार्य-कारण-सम्बन्ध निरूपित करता है। जिस समय समाज में आर्थिक व्यवस्था का जो रूप रहेगा, उसी के अनुरूप साहित्य-सृष्टियाँ भी होंगी। काडवेल के अनुसार किसी युग की आर्थिक व्यवस्था ही वास्तविकता होती है और उस वास्तविकता के चारों ओर उसी से प्रभावित और नियमित संस्कृति के दूसरे पहलू—जिनमें साहित्य भी एक है—फूलते फलते हैं। साहित्य वह काल्पनिक सत्ता है जो युग के आर्थिक यथार्थ से निर्मित होती और उसी का अनुवर्तन करती है। यथार्थ को बिना समझे कल्पना (साहित्य) को नहीं समझा जा सकता।

आगे चलकर काडवेल ने आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख कवियों की प्रमुख कृतियों और प्रवृत्तियों का हवाला दिया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उसका उपरिकथित सिद्धान्त उन कवियों पर कितना सटीक बैठता है। उसने औद्योगिक युग या मध्यवर्गीय उत्थान युग के ही साहित्यिकों की मीमांसा की है—शेक्सपीयर से आरम्भ कर स्पेंडर ओ० डी० लिवी तक पहुँचा है। इस युग की अर्थव्यवस्था या आर्थिक ढाँचे का निरूपण करते हुए काडवेल बतलाता है कि यह मध्यवर्गीय अभ्युदय का युग प्रमुखतः व्यक्तिवादी है। स्वातन्त्र्य इस युग का महाकाव्य है। किन्तु वस्तुतः यह स्वातन्त्र्य केवल एक भ्रमात्मक कल्पना ही रही है आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों में 'व्यक्तिगत पूँजी' और निर्बाध व्यवसाय के मन्त्रों का उच्चारण होता रहा है, पर ये मन्त्र इस वर्ग की रक्षा करने में असमर्थ हुए हैं। बल्कि इस मिथ्या आदर्श से ही इस वर्ग का ह्रास, पतन और नाश भी हुआ है। स्वतन्त्रता के नाम पर व्यक्तिगत पूँजी का विस्तार करता हुआ यह वर्ग समाज में असन्तोष और विषमता को बढ़ाता गया है। मध्यवर्गीय समाज जिस जमीन पर खड़ा हुआ था वह उसी के पैरों के नीचे से खिसक गई है। किन्तु इसकी अभिज्ञता उसे अन्त तक न हो सकी। यही मध्यवर्ग के उत्थान और पतन की दुःखान्त कहानी रही है। काडवेल ने इस युग के विभिन्न कवियों का उस युग की क्रमिक प्रगति और परिवर्तन की भूमिका में विवेचन किया है और कुल मिला कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिस प्रकार मध्यवर्ग एक आत्मविस्मृत वर्ग रहा है और अपने विनाश को अज्ञात रूप से अपने आप ही बुलाता आया है उसी प्रकार इस युग के कवि भी अपनी अन्तश्चेतना में एक अवश्यम्भावी दुःखवाद का पोषण करते रहे हैं और कभी प्रकृति

की गोद में जाकर (जैसे वर्ड्सवर्थ), कभी असन्तोषजन्य विद्रोह की पुकार उठाकर (जैसे शेली), कभी कल्पना के मनोरम लोक में पलायन कर (जैसे कीट्स) और कभी 'कला के लिये कला' के दिखावटी और प्रदर्शन-प्रिय आदर्श पर आश्रित होकर ये कवि अपने विनाश की घड़ियाँ गिनते रहे हैं। इस युग का प्रधान काव्य-रूप 'प्रगीत' रहा है जो व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि के अतिशय अनुरूप था। केवल भाव-क्षेत्र में ही नहीं, काव्य के लिए विधान या शैली-पक्ष में भी युगगत अर्थव्यवस्था की प्रतिच्छाया दिखाई देती है। कॉडवेल ने इस क्षेत्र के भी उदाहरणों का संचय और परिदर्शन किया है। इस प्रकार कॉडवेल मार्क्सवादी साहित्यादर्श को बड़ी विलक्षणता के साथ साहित्य संसार के समक्ष रखता है। कॉडवेल की एक अन्य देन है कि उसने कला या साहित्य-निर्माण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का भी उल्लेख किया है जिसके सम्बन्ध में अब तक मार्क्सवादी एकमत नहीं हैं।

रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य रूप

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

[१]

रस-सिद्धान्त वस्तुत भारतीय आचार्यों की ही महत् उपलब्धि है, अत इसके 'पाश्चात्य रूप' की चर्चा एकाएक अस्वाभाविक एव असगतसी प्रतीत होगी, किन्तु पाश्चात्य कला मीमासा एव सौदर्य-शास्त्र के क्षेत्र मे एक ऐसा सिद्धान्त निश्चित रूप मे मिलता है जो कि भारतीय रस सिद्धान्त की प्राय सभी प्रमुख स्थापनाओं को स्वीकार करता है। यह सिद्धान्त कला की आत्मा के रूप मे भावतत्त्व को स्वीकार करता है तथा कवि और पाठक के भाव-तादात्म्य की प्रक्रिया के आधार पर ही काव्य से आनन्द की निष्पत्ति मानता है। पाश्चात्य सौदर्य विवेचकों ने इस सिद्धान्त को 'भाव सिद्धान्त' का नाम दिया है, किन्तु इसकी आधारभूत प्रवृत्तियाँ रस-सिद्धान्त से इतना अधिक साम्य रखती हैं कि यदि इसे हम 'पाश्चात्य रस-सिद्धान्त' की सज्ञा दे दें तो अनुचित नही होगा। इस सिद्धान्त का विकास किसी एक व्यक्ति के द्वारा नही हुआ अपितु बीसो विद्वानो ने अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से इसकी प्रतिष्ठा एव व्याख्या की है, अत रस सिद्धान्त की भांति पाश्चात्य भाव सिद्धान्त का कोई एक रूप नही मिलता, अपितु उसके विभिन्न रूप मिलते हैं—यह दूसरी बात है कि वे सभी भाव तत्त्व एव आनन्दानुभूति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य विद्वानो को भरत के रस सिद्धान्त का ज्ञान नहीं था, वे स्वतन्त्र रूप से ही उन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, जिन पर कि उनसे बहुत पूर्व भरत, अभिनवगुप्त आदि भारतीय आचार्य पहुँच चुके थे। पाश्चात्य भाव-सिद्धान्त के विस्तृत विवेचन के लिए तो एक पूरी पुस्तक की आवश्यकता पडेगी, किन्तु यहाँ हम सक्षेप मे इसके विभिन्न रूपो का दिग्दर्शन करवा रहे हैं।

[२]

पाश्चात्य भाव सिद्धान्त को हम मुख्यत पाँच उपभेदो मे विभक्त कर सकते

हैं—(१) भावोद्दीप्तिवाद, (२) भावालम्बनवाद, (३) भावानुभववाद, (४) भावाभिव्यक्तिवाद और (५) भाव-प्रेषणवाद। इनमे से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है—

(१) **भावोद्दीप्तिवाद**—इस वर्ग मे हम उन विद्वानों को रख सकते हैं जिन्होंने कला और साहित्य का लक्ष्य भावोद्दीप्ति को मानकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की। इन विद्वानों में मुख्यतः डेकार्टेज एडिसन, ह्यम आदि का नाम उल्लेखनीय है। डेकार्टेज (१५९६-१६५०) ने कला की भावपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा—"सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति एक ऐसा बौद्धिक आनन्द है जो भाव से समन्वित होता है।" उनके विचार से भावों का विकास हमारी मूल पाशविक वृत्तियों के आधार पर होता है। इनके (भावों के) मुख्यतः तीन लक्षण हैं—(१) एक ही विषय से विभिन्न व्यक्तियों के हृदय मे विभिन्न भाव उत्पन्न होते है। (२) भाव स्वेच्छा से उत्पन्न नहीं किये जा सकते, उनकी उत्पत्ति के लिए आलम्बन की अपेक्षा होती है। (३) भावों को एकाएक नियंत्रित नही किया जा सकता। इसी प्रकार उन्होंने 'external signs of emotions' के अन्तर्गत चेहरे के रंग बदल जाने, कम्पन, हास्य, अश्रुपात, रुदन, मूर्च्छा, जड़ता आदि शारीरिक, मानसिक एवं सात्विक अनुभावों का विवेचन किया। सभी भावों को उन्होंने दो वर्गों में विभाजित किया—मौलिक भाव एवं परतन्त्र भाव। मौलिक भावों के भी उन्होंने ६ उपभेद किये—(१) आश्चर्य, (२) प्रेम, (३) घृणा, (४) इच्छा, (५) आनन्द, (६) शोक। डेकार्टेज का यह उभयपक्षी वर्गीकरण भारतीय स्थायी और संचारी से गहरा साम्य रखता है। वस्तुतः भावों के वर्गीकरण एवं आलम्बन और अनुभाव आदि के विवेचन की दृष्टि से डेकार्टेज को भरतमुनि का पाश्चात्य प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

डेकार्टेज के अनन्तर एडिसन (१६७२-१७१९) ने भी भावोद्दीप्तिवादी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए कलाकृति का महत्त्व उसकी भावोद्दीपन-क्षमता में ही सिद्ध किया। उनके विचार से कोई कलाकृति जितनी ही हमारे भावों को अधिक उत्तेजित करने में समर्थ होगी, उतनी ही वह अधिक प्रसन्नता प्रदान कर सकेगी। इस प्रकार एडिसन भी रस-सिद्धान्त के अनुरूप भावोद्वेलन के द्वारा ही रस या आनन्द की अभिव्यक्ति मानते हैं। इतना ही नहीं—उन्होंने करुण और भयानक से भी आनन्द की निष्पत्ति मानते हुए उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। रस-निष्पत्ति के अन्तर्गत उन्होंने 'सुखद आत्म-विस्मृति' की अवस्था को विशेष महत्त्व दिया है।

ह्यम महोदय (१७११-१७७६) ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया मे बौद्धिक तत्वों को गौण सिद्ध करके उसे विशुद्ध भावात्मक प्रक्रिया पर आधारित घोषित किया। डेकार्टेज ने रस को भाव समन्वित बौद्धिक आनन्द बताया था, जबकि ह्यूम के विचार

से वह विशुद्ध भावात्मक आनन्द है। काव्य जन्य आनन्दानुभूति या रसानुभूति की उन्होंने विशद व्याख्या करते हुए दो बातों पर विशेष बल दिया—(१) काव्य-वस्तु के साधारणीकरण पर और (२) पाठक की सहानुभूति की भावना पर। ह्यूम का यह विवेचन भारतीय साधारणीकरण के बहुत अनुकूल है।

इस प्रकार भावोद्दीप्तिवादियों के भावों के वर्गीकरण रस के विभिन्न अवयवों एवं रसानुभूति के विश्लेषण सम्बन्धी प्रयास भारतीय रस सिद्धान्त की आधारभूत मान्यताओं के अनुरूप हैं।

(२) भावालम्बनवाद—भावोद्दीप्तिवादियों ने भाव को कला का लक्ष्य माना, जबकि भावालम्बनवादियों ने उसे कला का विषय या आलम्बन सिद्ध किया। इस वर्ग में हम मुख्यतः हर्बर्ट, बर्क, लेवस्क, हरमन, लात्ज, सैंतायन आदि विद्वानों की चर्चा कर सकते हैं। बर्क ने कलाओं से प्राप्त होने वाली अनुभूति को भावानुभूति सिद्ध करते हुए भावों का नये ढंग से वर्गीकरण किया। करुण रस की अनुभूति की भी उन्होंने नई व्याख्या की। दूसरी ओर जर्मन विद्वान् लेवस्क ने प्रतिपादित किया कि महाकाव्य में अंगी भाव का आश्रय उसका नायक होता है, अर्थात् नायक का प्रमुख भाव (स्थायी भाव ?) ही काव्य का स्थायी भाव होता है। अन्य जर्मन विद्वान् हरमन लात्ज ने रसानुभूति की प्रक्रिया का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उसके तीन स्तर निर्धारित किये हैं जो कि आचार्य भट्टनायक के द्वारा निर्धारित भेदों—अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व की याद दिलाते हैं। आगे चलकर अमरीकन विद्वान् सैंतायन ने न केवल काव्य में अपितु समस्त कलाओं में भाव सिद्धान्त या रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए घोषित किया— सौन्दर्य एक भावात्मक तत्त्व है इसी से प्रसन्नता या आनन्द की अनुभूति होती है। उन्होंने कलाओं की व्याख्या प्रेम करुणा निर्वेद हास्य कौतूहल आदि स्थायी भावों के आधार पर किये जाने की पद्धति का समर्थन करते हुए प्रेम या रसराज शृंगार को सभी भावों का राजा सिद्ध किया। उनके शब्दों में— यदि किसी भी विषय वस्तु को निश्चित रूप से सुन्दर बनाना है तो उसके लिए रतिभाव से बढ़कर और कोई अच्छा साधन प्राप्त नहीं होगा। " " संसार के गम्भीरतम भाव एवं श्रेष्ठतम सौन्दर्य का साधन इससे बढ़कर और क्या होगा। इसका प्रभाव अत्यन्त शक्तिपूर्ण और व्यापक होता है। रतिभाव से हृदय और कल्पना के स्रोत एकाएक खुलकर बह पड़ते हैं। उसका प्रभाव आत्मा की गहराई तक पहुँच जाता है और उसकी गुप्त निधियाँ बाहर फूट पड़ती हैं। वस्तुतः सैंतायन महोदय के उपर्युक्त शब्द भारतीय विद्वानों की शृंगार रस सम्बन्धी उक्तियों से गहरा साम्य रखते हैं।

(३) भावाभिव्यक्तिवाद—भावाभिव्यक्तिवाद के अनुयायियों में मुख्यतः

कालिंगवुड एवं कैरिट्ट का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने कला को भावाभिव्यक्ति मानते हुए पूर्ववर्ती मतों का खण्डन किया। कालिंगवुड के विचार से सच्ची कला वह है जिसमें भावों की अभिव्यक्ति होती है। काव्य में भावों का उल्लेख या वर्णन नहीं होना चाहिए, अपितु उनकी व्यंजना होनी चाहिए। जब एक व्यक्ति कहता है कि "मैं गुस्से में हूँ" तो यह भाव का उल्लेख है जबकि भाव की व्यंजना करने वाला कहेगा— "मैं उसे मार डालूँगा, पीस डालूँगा......" आदि। यह भावाभिव्यक्ति न केवल कवि की होती है अपितु पाठक की भी होती है—इस प्रकार कवि और पाठक दोनों में काव्य के माध्यम से तादात्म्य स्थापित होता है।

कालिंगवुड ने शान्त रस का विवेचन बहुत ही सुन्दर एवं उत्कृष्ट रूप में किया है। निर्वेद भाव के उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—वे भारतीय दृष्टि से भी विशुद्ध शान्त रस के उदाहरण हैं।

ई० एफ० कैरिट्ट ने सर्वप्रथम उन व्यक्तियों को आड़े हाथों लिया है जो कि कला में भाव तत्त्व को गौण या उपेक्षणीय मानते हैं। उन्होंने भाव-सिद्धान्त के विरोधियों के द्वारा प्रस्तुत सभी आक्षेपों का निराकरण सफलतापूर्वक किया है। कला की भावाभिव्यंजन पद्धति एवं रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पर भी उन्होंने विस्तार से प्रकाश डाला है। साधारणीकरण सिद्धान्त को—जिसे उनके शब्दों में इम्पैथी (Empathy) कहा जा सकता है—भी उन्होंने अधिक स्पष्ट किया है। वस्तुतः बीसवीं शताब्दी के भाव-सैद्धान्तिक विवेचन में उनका योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(४) भावानुभववाद—बीसवीं शती के प्रसिद्ध विद्वान जान डेवी ने भावानुभववाद का प्रवर्तन किया है। उनके विचार से कलाकृति या नाटक में प्रस्तुत भावों का अनुभव ही कला का सर्वोत्कृष्ट गुण है। उनके शब्दों में—"All emotions are qualifications of a drama and they change as the drama develops.........Experience is emotional but there are no separate things called emotions in it." (Art as Experience, p. 41.)। इस भावानुभूति की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उन्होंने आलम्बन, उद्दीपन, मूलभाव आदि की भी विस्तृत व्याख्या की है। वस्तुतः कवि एवं पाठक की दृष्टि से उन्होंने भावानुभूति या रसानुभूति का जो विश्लेषण किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(५) भाव-प्रेषणवाद—इस वाद के अन्तर्गत मुख्यतः टाल्सटाय एवं आई० ए० रिचर्ड्स का नाम उल्लेखनीय है। टाल्सटाय ने कला को भावपरक व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि कला का कार्य कलाकार के द्वारा व्यक्त भाव को सामाजिक के हृदय में उत्पन्न कर देना है। कला की यह भाव-प्रेषणीयता ही उसके सौन्दर्य का मूल

आधार है—वस्तुतः इसी में उसकी कलात्मकता निहित है। कला के माध्यम से होने वाले साधारणीकरण या भाव तादात्म्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा— यदि एक व्यक्ति सरलतापूर्वक अपने दृष्टिकोण को बिना परिवर्तित किये किसी रचना को देखकर सुनकर या पढ़कर एक ऐसी मानसिक स्थिति का अनुभव करता है जिसमें कलाकार एवं अन्य सामाजिकों के साथ तादात्म्य हो तो अवश्य ही वह रचना कलाकृति है अन्यथा किसी रचना में भले ही कितना यथा-तथ्य वर्णन हो, कितनी ही वह प्रभावशाली हो और चाहे कितनी ही मनोरंजक हो—यदि वह उक्त आत्मिक-एकता एवं आनन्द का भाव जाग्रत नहीं करती तो वह कला नहीं कही जा सकती।' टाल्सटाय ने भाव प्रेषण की प्रक्रिया की जो व्याख्या की है वह रस सिद्धान्त के साधारणीकरण व्यापार के सर्वथा अनुरूप है।

आई० ए० रिचर्ड्स ने भाव प्रेषण की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अपना सम्प्रेषण का सिद्धान्त (A theory of Communication) प्रस्तुत किया। उन्होंने भावावेग एवं भावानुभूतियों को ही काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए, काव्यानुभूति की प्रक्रिया को पाँच अवयवों—एंद्रिय-बोध, बिम्ब ग्रहण, स्वतंत्र कल्पना, विचार भाव एवं स्थायी दृष्टिकोण—के अन्तर्गत विभाजित किया है। उनके इस वर्गीकरण का समन्वय भट्टनायक एवं अभिनव गुप्त की रसानुभूति की प्रक्रियाओं में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। वस्तुतः उनका सम्प्रेषण सिद्धान्त साधारणीकरण सिद्धान्त का ही दूसरा स्वतन्त्र रूप है।

[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी के डेकार्टेज से लेकर बीसवीं शती के रिचर्ड्स तक विभिन्न विद्वानों ने भाव को कला का प्रमुख तत्त्व मानते हुए उसके विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। उनका यह विवेचन भारतीय रस सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों से गहरा साम्य रखता है। जहाँ रसवादी भावालम्बन, भावानुभव, भावोद्दीपन भाव प्रेषण आदि सभी प्रक्रियाओं को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है, वहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने उसे अलग अलग स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किया है। फिर भी साधारणीकरण एवं रसानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान् एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जिन निष्कर्षों पर भारतीय विद्वान् पहुँचे थे उन्हीं पर घूम फिर कर पाश्चात्य चिन्तक पहुँचे हैं। कई विषयों में ये विद्वान् भारतीय विद्वानों से आगे बढ़े हैं तो कई में ये उनसे अभी पीछे हैं। यदि भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की भाव एवं रस सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्हें परस्पर समन्वित एवं संशोधित रूप में प्रस्तुत किया जा सके तो इससे कला का एक विश्वव्यापी सार्वजनीन मान-दण्ड उपलब्ध हो सकता है।

साथ ही वे पश्चिम-भक्त विद्वान, जो कि हर स्वदेशी वस्तु को ठुकराने के अभ्यस्त होने के कारण रस-सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं—इसके महत्त्व को समझ सकेंगे।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और ध्वनि

डॉ० गयाप्रसाद उपाध्याय

पाश्चात्य काव्य और काव्य-शास्त्र में भी ध्वनि को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, यद्यपि संस्कृत काव्य शास्त्र की भाँति यहाँ पर सिद्धान्त के रूप में ध्वनि का कोई क्रमबद्ध और विशद विवेचन प्राप्त नहीं होता। यदि ध्वनि वस्तुतः काव्य की आत्मा है, तो उसकी सत्ता काव्य मात्र में किसी न किसी रूप में सर्वत्र उपलब्ध होनी चाहिए। फिर काव्य का पौर्वात्य और पाश्चात्य भेद ध्वनि की सत्ता का बाधक अथवा साधक किस प्रकार माना जा सकता है ? अतएव इस काव्यात्मा—ध्वनि—के कुछ रूप पाश्चात्य काव्य और काव्य-शास्त्र में भी देखने के लिए मिल सकते हैं यथा व्यंग्य (आइरनी)[1], रूपक (मेटाफर)[2], वक्रोक्ति (इन-इण्डो)[3], उपादान लक्षणा

---

1 Irony—"A figure of speech in which the intended meaning is the opposite of that expressed by the words used, usually taking the form of sarcasm or redicule in which laudatory expressions are used to imply condemnation or contempt"

(*A Shorter Oxford English Dictionary*)

2 Metaphor—"A figure of speech in which a name of descriptive term is transferred to some object to which it is not properly applicable"

(*A Shorter Oxford English Dictionary*)

3 Innuendo—(i) "An allusive remark—usually deprecatory"

(*Collins National Dictionary*)

(ii) "An oblique hint or suggestion, an insinuation especially one of a depreciatory kind"

(*A Shorter Oxford English Dictionary*)

(मिटोनिमी)[1], लक्षणा (सिनेक्डाकी)[2], रूपक (एलिगी)[3], विरोध (पैराडाक्स)[4] आदि लक्षणा के अन्तर्गत सम्मिलित किये जा सकते हैं।

इन सभी अलंकारों की प्रकृति पर विचार करने से स्पष्ट है कि पश्चिम में भारत की भाँति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार न करके केवल अर्थ पर ही विचार किया गया है। इसीलिए तो आइरनी, इनइण्डो, सिनेक्डाकी और पैराडाक्स में सूक्ष्म अन्तर होते हुए भी भेद मान लिया गया है। भारत में लक्षणा के अन्तर्गत अभिधेय के दृष्टिकोण से विचार हुआ है। इसलिए अविवक्षित-वाच्य, अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत जैसे भेदों का प्रतिपादन हुआ। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की 'कैथारिसिस'[5] रस-परिपाक की ओर बढ़ता हुआ चरण है। आइरनी आदि में अर्थवैचित्र्य की दृष्टि से विचार किया गया है और 'कैथारिसिस' में सामाजिक अथवा पाठक को प्राप्त होने वाले आनन्द की दृष्टि से। उपर्युक्त आइरनी आदि अलंकार 'ध्वनि' की दृष्टि से 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि के अन्तर्गत गृहीत होंगे और 'कैथारिसिस' रस-ध्वनि के अन्तर्गत।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में 'अरस्तू' ने ईसा के लगभग ५०० वर्ष पहिले 'कैथारिसिस' का सर्वप्रथम उल्लेख किया था। 'अरस्तू' के गुरु 'प्लेटो' ने काव्य को प्रतिकृति माना। उनके अनुसार यह भौतिक विश्व 'आध्यात्मिक सत्य जगत्' की प्रतिकृति है।

---

1. Metonymy—"A figure in which the name of an attribute or adjunct is substituted for that of the thing meant, *e.g.* sceptre for authority." (*Ibid.*)
2. Synecdoche—"A figure by which a more comprehensive term is used for a less comprehensive or vice verse ; as whole for part or part for whole, genus for species or species for genus etc." (*A Shorter Oxford English Dictionary.*)
3. Allegory—"A story whose characters and incidents are intended to convey a meaning other than the literal one." (*Collins National Dictionary.*)
4. Paradox—"Name sometimes applied to that type of epigrammatic statement which at first appears to be absurd but on further investigation is found to be more or less sound."
   Exp. The child is father of the man. (*Collins National Dictionary.*)
5. Catharsis—"Purification of the emotions by vicarious experience as through the drama (*in ref.* to Aristotle's Poetics, 6). (*A Shorter Oxford English Dictionary.*)

भारत के हठयोगियों की मान्यता 'यत्-यत् पिंड तत्तत् ब्रह्माण्डे' प्लेटो की उपर्युक्त मान्यता से मेल खाती है। प्लेटो के अनुसार काव्य भौतिक विश्व की प्रतिकृति है और वह भी पूर्णरूपेण शुद्ध प्रतिकृति नहीं अपितु विकृतियों से प्रभावित प्रतिकृति। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार काव्य सत्य से दूर है क्योंकि वह प्रतिकृति की प्रतिकृति है। उनका यह दृष्टिकोण भारतीय काव्य शास्त्र की दृष्टि से अभिधावादी माना जायगा। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर प्लेटो के सिद्धांत में भारतीय वैयाकरणों के स्फोटवाद का आभास मिलता है।[1]

'अरस्तू ने अपने गुरु के अनुसार काव्य को अनुकृति तो माना परन्तु उन्होंने इस अनुकृति को जीवन के कल्पना-युक्त पुनः सृजन की संज्ञा दी।[2] स्वाभाविक है, भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार अरस्तू ने काव्य में व्यंग्यार्थ को प्रधान स्थान दिया क्योंकि कल्पनागर्भित अभिव्यक्ति पाठक को केवल अर्थबोध ही नहीं करातो, अपितु जीवन के कल्पना-युक्त पुनः सृजन के कारण उसकी सहृदयता का संवेदित कर रसानन्द का लाभ प्रदान करती है। यह रसानन्द सर्वदा व्यंग्य ही होता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू ने काव्य के विवेचन में ध्वनि को मुख्य स्थान प्रदान किया, यद्यपि उन्होंने इसकी कोई प्रत्यक्ष और विशद सैद्धांतिक व्याख्या नहीं की। डॉ० नगेन्द्र आदि विद्वान भी इसी निर्णय पर पहुँचे हैं।

प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् भी पाश्चात्य काव्य शास्त्र में, परोक्ष रूप से ही सही, लक्षणा और व्यंजना के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। वहाँ भी काव्यशास्त्रियों का ध्यान वाच्यार्थ से हटकर व्यंग्य अर्थ की ओर गया और धीरे धीरे उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया कि काव्य की संज्ञा प्राप्त करने के लिए काव्य में वाच्यार्थ को गौण रखना होगा और किसी विशेष अर्थ—जिसे भारतीय दृष्टि से ध्वनित अर्थ माना जायगा—को मुख्य। रोम के प्रसिद्ध काव्य शास्त्री तथा कवि होरेस निःसंदेह इसी विशेष अर्थ—व्यंग्यार्थ—की ओर संकेत करते हुए कहते हैं, "कवि को अपने शब्दों के सगुम्फन में अत्यन्त सावधानी और सूक्ष्म कौशल से काम लेना चाहिए" यदि आप किसी विदग्ध प्रसंग की उद्भावना कर किसी प्राचीन शब्द को नवीन अर्थ दे सकें तो आप पूर्णतः सफल होंगे।[3] यही बात आनन्द वर्धन ने इन शब्दों में

1 'हिन्दी ध्वन्यालोक' की भूमिका नगेन्द्र, पृ० ४६।
2 Poetics—'Imitation, for the Poetics, is the objective representation of life in literature—what in our language we might call the imaginative reconstruction of life'
R. A. Scott James (*The Making of Literature*, p 53)
3 'हिन्दी ध्वन्यालोक' की भूमिका डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४७।

कही है, "वसन्त ऋतु में वृक्षों के समान काव्य में रस को पाकर पूर्व दृष्ट पदार्थ भी नये से प्रतीत होने लगते हैं।"[1] यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो होरेस ध्वनिवादियों की युक्ति को ही दूसरे शब्दों में कहता प्रतीत होगा। वस्तुतः कोई भी कवि कहलाने का पात्र तभी होगा जब अपनी प्रतिभा के बल से अपने काव्य में शब्दों को इस प्रकार से सँजोये कि साधारण और पूर्वानुभूत प्रसंग में भी एक नवीन अर्थ का समावेश हो सके। इसी प्रकार क्विन्टेलियन के इस कथन में कि काव्य-कला का चमत्कार कला के गुप्त रखने में है[2] जिससे पाठक को काव्य से एक विशेष अर्थ और सौन्दर्य की प्रतीति होती रहे, कला के गोपन में प्रकारान्तर से ध्वनि की स्वीकृति है।

तीसरी शताब्दी में पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की भूमिका में लौञ्जाइनस[3] ने प्रवेश किया। उसका पदार्पण काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। 'उदात्त' पर प्रकाश डालते हुए उसने अभिव्यक्ति के ध्वन्यात्मक पहलू की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार जिस रचना में केवल वस्तु का परिश्रमपूर्ण संयोजन तथा निर्माण का चातुर्य पाया जाता है वह एक वाक्य हो अथवा प्रबन्ध, कदाचित् ही विषय पर सार्थक प्रकाश डाल सकेगा। परन्तु 'उदात्त' आवश्यक क्षण में फूट पड़ता है और सम्पूर्ण स्थिति को बिजली की चमक की भाँति अलग-अलग कर प्रकाशित कर देता है। इस कौंध में रचयिता की सृजनात्मक शक्तियाँ उद्‌घाटित हो जाती हैं।[4] लौञ्जाइनस की यह बिजली की चमक अथवा कौंध विचारणीय है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध पाठक और श्रोता की व्यंग्यार्थ प्रतीति से ही है। व्यंग्यार्थ भी बिजली की चमक की भाँति पाठक के बोधपथ में उतरता है। इस प्रसंग में सबसे बड़ी विशेष बात यह है कि योरोपीय समालोचना में तृतीय शताब्दी में ही ध्वनि के व्यक्तिनिष्ठ पक्ष की ओर ध्यान जा चुका था। भारत में रस के अन्तर्गत इस प्रसंग की चर्चा पहले से ही होती चली आ रही थी

मध्ययुग[5] में काव्य-समालोचना के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ।

---

1. 'ध्वन्यालोक', ४-४।
2. "*arsest celare artem*"—art lies in concealing art.
3. 'लौञ्जाइनस' के नाम और अस्तित्व के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं।
4. "When there is only chill in invention and laborious arrangement of matter a whole treatise, let alone a sentence or two, will scarcelly avail to throw light on a subject. But the sublime at the critical moment, shoots forth and tears the whole thing to pieces, like a thunderbolt and in a flash reveals all the author's power." (De Sublimate—3. 9)
5. Mediaeval Europe.

उस समय यह कार्य पिछड़ गया। विद्वत्समाज में धर्म शास्त्रीय तथा दार्शनिक सृजन का महत्त्व बढ़ गया। योरप में कला साहित्य की दृष्टि से अंधकार का युग था। इस अन्धकार के युग में केवल दांते ही ऐसा व्यक्ति है जो अपनी उज्ज्वल ज्योति से इस युग को प्रकाशित करता है। उसका आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी में हुआ था। केवल वही उस शताब्दी की आध्यात्मिक अनुभूति को भावुक तथा रसात्मक काव्य भाषा में व्यक्त करने में समर्थ होता है। काव्य के लिए भाषा की उपयुक्तता पर विचार करते हुए उसने शब्दों में सन्निहित विशेष अर्थों का वर्णन किया है। परन्तु उनको पहुँच काव्यात्मक कम और भाषागत अधिक है। अर्थ प्रतीति की दृष्टि से उसने शब्दों के अनेक भेद बताये हैं। शब्दों के ये भेद प्रभेद उनकी व्यञ्जना-स्वीकृति की ओर संकेत करते हैं। काव्य के क्षेत्र में शब्द अर्थ के प्रभाव-सौन्दर्य पर इस प्रकार का विचार भारतीय दृष्टि से ध्वनि के अन्तर्गत ही सम्मिलित किया जायगा।

यूरोप में अन्धकार युग के पश्चात् पुनर्जागरण[1] का युग आया। यह युग कई अर्थों में आंग्ल साहित्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इस समय काव्य को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। इस युग के प्रारम्भ में काव्य और काव्य शास्त्र में आदर्शों की दृष्टि से भिन्नता दिखाई पड़ती है। काव्य तो युग के प्रारम्भ से ही जीवन के निकट सम्पर्क में पहुँचकर उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति में तत्पर हो गया, परन्तु काव्य शास्त्र प्राचीन आदर्शों की ही लीक पीटता रहा। परन्तु यह वैभिन्न्य अधिक दिन तक न चल पाया चल भी कैसे सकता था क्योंकि काव्य शास्त्र काव्य का अनुगामी है। जब काव्य नवीन मार्ग पर चल पड़ा तो काव्य शास्त्र में भी नवीन आदर्शों की स्थापना होने लगी। काव्य शास्त्र के प्राचीन आदर्शों में उपदेश का प्रमुख प्रयोजन था। भारत में भी काव्य को उपदेशयुक्त स्वीकार किया गया है। इस युग में आकर इसमें एक प्रयोजन 'आन्दोलित करना' और जोड़ दिया गया। यह आन्दोलित करना काव्य की व्यञ्जना की भाँति आत्मनिष्ठ व्याख्या है। इस युग में कल्पना को प्रमुखता प्राप्त हुई। वस्तुतः कल्पना ही कवि के साक्षात्कृत विषयों को मूर्तिविधान करने का प्रयास करती है। यह मूर्तिविधान जिस शब्दावली से सम्भव होता है वह व्यञ्जना की ही विभूति है। इस प्रकार निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि आंग्ल साहित्य के पुनर्जागरण काल में भी व्यञ्जना की ओर काव्य शास्त्रियों का ध्यान बना रहा।

शास्त्रीय युग[2] में काव्य के प्रति आचार्यों का दृष्टिकोण कुछ भिन्न था।

---

1 Renaissance

2 Classical age

उन्होंने ग्रीस तथा रोम के शास्त्रीय युग से प्रभावित होकर उसकी रीतियों को अपनाया। यद्यपि वे काव्य की आत्मा को स्पष्ट रूप से पहिचान नहीं पाये, परन्तु फिर भी उन्होंने काव्य में उसके किसी विशिष्ट अंग की सुन्दरता पर जोर न देकर अभिव्यक्ति के सम्पूर्ण प्रभाव की गरिमा पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने भी व्यंग्यार्थ को ही श्रेष्ठ माना। ड्राइडन ने तो कवि की मूर्ति-विधायिनी कल्पना-शक्ति को अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण बताया है क्योंकि यही वह शक्ति है जो काव्य को अनुपम सौन्दर्य तथा रहस्यमय अर्थ प्रदान करती है।[1] काव्य, सौन्दर्य एवं काव्य का प्रयोजन प्रसादन—ये तीनों एक दूसरे से घुले-मिले हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में सौन्दर्य-विधान व्यंग्यार्थ के सन्निवेश के बिना सम्भव नहीं है और सौन्दर्य के अभाव में पाठक को प्रसादन का प्रसाद प्राप्त नहीं हो सकता।

पोप ने ड्राइडन की इस मूर्ति-विधायिनी कल्पना को तो कोई स्पष्ट महत्त्व प्रदान नहीं किया परन्तु उसने काव्य-रचना के सम्पूर्ण प्रभाव पर बल देते हुए अपनी पद्यात्मक रचना 'ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म' में एक ऐसे तथ्य का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि जिस प्रकार एक रमणी के विभिन्न अंगों को हम सौन्दर्य की संज्ञा नहीं दे सकते, उसी प्रकार काव्य के किसी अंग-विशेष को ही सौन्दर्य नहीं माना जा सकता है। यही बात आनन्द वर्धन ने भी इन्हीं शब्दों में ध्वनि-स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कही है। दोनों का साम्य आश्चर्य में डालने वाला है।[2] इस साम्य को ध्यान में रखते

---

1. R. A. Scott James ड्राइडन के दृष्टिकोण को बतलाते हुए लिखता है, "He is content to assert what he observes, that poet does not leave things as he finds them, but handles them, treats them, 'heightens' their quality and recreates something that is beautiful and his own." (*The Making of Literature.*)

2. तुलनार्थ—

   In wit, as nature, what affects our hearts
   Is not the exactness of peculiar parts;
   'Tis not a tip, or eye, we beauty call
   But the joint force and full result of all.

   अर्थात् प्रकृति की भाँति काव्य में भी अंगों का समुचित अनुक्रम एवं अनुपात हमारे मन का अनुरंजन नहीं करता। नारी के शरीर में अधर अथवा नेत्र को हम सौन्दर्य नहीं कहते परन्तु सभी अंगों के संयुक्त और सम्पूर्ण प्रभाव का नाम ही सौन्दर्य है। (पोप : ऐसे आन क्रिटिसिज्म।)

   प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभातिलावण्यमिवाङ्गनासु।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

हुए यह नि सकोच कहा जा सकता है कि पोप की प्रखर दृष्टि व्यग्यार्थ के सौन्दर्य पर ही केन्द्रित थी। डा० नागन्द्र ने पोप और आनन्द वधन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1]

पोप और आनन्द वधन दोनो के लिए काव्य सौन्दय सम्पूण प्रभाव का पर्यायवाची है। दोनो मे अन्तर केवल इस बात का है कि आनन्द वधन ने उसकी अनिवचनीयता का उल्लख किया परन्तु पोप उसके सम्बन्ध म मौन रहे।

योरप म विशेषकर इगलैंड म अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग म काव्य तथा समालोचना के क्षेत्र म एक नवीन दृष्टिकोण का जन्म हुआ। इस युग म शास्त्रीय युग की रीतियों के विपरीत स्वच्छन्द शैलियो का महत्व बढा। ब्लेक वड स्वथ, कालरिज, शली आदि कवि-समालोचको ने काव्य म सामान्य वस्तुओ और सामान्य जय स आग विशेष अर्थ पर जोर दिया। उनके अनुसार काव्य भाषा कृत्रिम न होकर सरल एव स्वाभाविक होनी चाहिए, कि तु अभिव्यक्ति कल्पना क इन्द्रधनुषी रगो से अनुरजित होकर एक विशेष प्रसग मे विशष अथ ध्वनित करे। वड स्वर्थ ने सामान्य से आगे चलकर असामान्य काव्याथ पर बल दिया। उसका असामान्य अथवा आध्यत्मिक अथ व्यग्यार्थ के अतिरिक्त और कुछ नही है। कालरिज न अद्भुत अथवा अलौकिक को सामान्य से इस प्रकार सम्पृक्त करने पर बल दिया कि काव्याथ प्रत्येक स्थिति में व्यग्याथ ही रह। इसीलिए कालरिज ने काव्य विश्वास को पैदा करन के लिए पाठक के मस्तिष्क म किसी प्रसग के प्रति जो अविश्वास होता है उसका समय विशेष के लिए तत्पर निरोध करने को कहा, जिससे काव्य म एक विशेष स्थिति पैदा हो सके और पाठक उस विशेष स्थिति मे अपने को रखकर एक विशष अथ की प्रतीति कर सके। इस प्रकार वड स्वर्थ और कॉलरिज के दृष्टिकोण एक ही काव्य प्रभाव से सम्बन्धित हैं और वह है मस्तिष्क के ध्यान को काव्य रीतिया की जडता से हटाकर काव्य-सृष्टि के अद्भुत तथा अव्यक्त सौन्दय के प्रति जागरूक करना। विचार करने पर यह दृष्टिकोण व्यग्यार्थ से ही मेल खाता है।[2]

(शेष पिछले पृष्ठ का)

अर्थात् महाकवियों की वाणी मे प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो स्त्रियों मे उनके प्रसिद्ध (अधर, नेत्र) अवयवों से अतिरिक्त लावण्य के समान शोभित होता है।

1 'हिन्दी ध्वन्यालोक' की भूमिका, पृ० ४६।

२ कालरिज ने अपनी 'Biographia Literaria' में लिखा है।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

वर्ड्स्वर्थ का एक और दृष्टिकोण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसका सम्बन्ध भाषा के प्रयोग से सम्बन्धित है। वह कवि-समालोचक काव्य में व्यावहारिक भाषा—विशेषकर वह भाषा जो मनुष्य स्पष्ट एवं सजीव संवेदना की स्थिति में प्रयोग करता है—के चयन पर बल देता है। ऐसी भाषा काव्य में एक विशेष स्थिति पैदा करती है जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक सार्थकता से है। कल्पना इस भाषा के द्वारा हमें आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करती है। वर्ड्स्वर्थ के इस आध्यात्मिक अर्थ को ध्वनि की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। गैरड ने वर्ड्स्वर्थ के इस दृष्टिकोण की प्रशंसा की है।[१]

(शेष पिछले पृष्ठ का)

"It was agreed that my endeavours should be directed to persons and characters supernatural, or at least romantic, yet so as to transfer from our inward nature a human interest and a semblance of truth sufficient to procure for these shadows of imagination that willing suspension of disblief for the moment which constitutes poetic faith. Mr. Wordsworth on the other hand, was to propose himself as his object, to give the charm of novelity to things of everyday, and to excite a feeling analogous to the supernatural, by awakening the mind attention from the lethargy of custom, and directing it to the loveliness and wonders of the world before us : in exhaustible treasures but for which in consequenc of the film of familiarity and selfish solicitude, we have eyes yet see not, ears that hear not, and hearts that neither feel nor understand."

१. गैरड (Garrod) वर्ड्स्वर्थ के काव्यगत भाषा के सिद्धान्तों से सहमति व्यक्त करते हुए लिखता है, "There must be a selective process ; but the misapprehensions of subsequent criticism have been due to the failure to ask how, and by what agency, this selective process is accomplished. Once the question is posed, the answer is obvious. Just as poetry can not work upon the objects offered to it by sense (but they must submit to a selecting and universalizing process), so it can not work with the language offered to it by real life. The language of poetry, like the stuff of commonsense comes from the imagination. The imagination operates freely whether upon the visualised objects which are its materials or upon the language which is its principal instrument, only after there has already operated a selecting faculty. The language of poetry is to "the language really spoken by men" ; exactly objects which

(शेष अगले पृष्ठ पर)

शेली ने काव्य को कल्पना की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया[1] और उन्होंने कवियों की भाषा को सजीव लाक्षणिक माना। यह भाषा वस्तुओं के उन सम्बन्धों की ओर संकेत करती है जो पहले से ग्रहण नहीं किए जाते तथा इस मानसिक ग्रहण की निरन्तरता को स्थिर करता है। कालान्तर में उन सम्बन्धों को प्रकट करने वाले शब्द उन विचारों के प्रतीक बन जाते हैं।[2] शेली का यह दृष्टिकोण स्वच्छन्द अथवा स्वप्नार्थ का ही बोध कराता है। अपने 'दी डिफेन्स ऑफ पोएट्री' नामक निबन्ध में उन्होंने एक दूसरे स्थान पर काव्य के एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार काव्य मस्तिष्क के सामने विचार के हजारों प्रकार तथा संयोग उपस्थित करता है जो साधारणतया अग्राह्य रहते हैं और साथ ही साथ विश्व के अव्यक्त सौन्दर्य को भी उद्घाटित करता है। शेली की यह मान्यता स्वप्नार्थ के अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है।[3]

पटर ने 'शैली' (Style) नामक एक अत्यन्त प्रसिद्ध निबन्ध लिखा है। उसमें गम्भीर प्रवृत्ति के पाठक के सम्बन्ध में उद्धरण लिखा है कि 'गम्भीर पाठक के लिए

(शेष पिछले पृष्ठ का)

the imagination visualises are to their correlates in the sphere of sense. In both classes the imagination renders back purified and dignified what came to it, through eye and ear, confused and ignoble. If then anyone asks, who shall make that selection of the language really spoken by men which shall equip it for the high purpose of poetry, upon what principle he shall proceed and having what ideal standard in his mind, the answer is that lies with that Power to do it, which can, and wherever poetry is brought to birth, does lift the mean matter of the sense up to a spiritual reality

1 'Poetry in a general sense may be defined to be the expression of the imagination. (*In Defence of Poetry*)

2 Their language is vitally metaphorical, that is it marks the before unapprehended relations of things and perpetuates their apprehension, until words, which represent them, become, through time, signs for portions or classes of thought instead of pictures of integral thoughts." (*In Defence of Poetry*)

3 'Poetry awakens and enlarges the mind itself by rendering the respectacle of a thousand unapprehanded combinations of thought. Poetry lifts the veil from the hidden beauty of the world, and makes familiar objects as if they were not familiar '

(*In Defeence of Poetry*)

शब्द भी गम्भीर हो जाते हैं। कोई भी अलंकृत शब्द, कोई भी अलंकार आदि अपने संकेतित विचार को जाग्रत करके ही शान्त नहीं हो जाता है, किन्तु वह अपरिहार्य रूप से किंचित् काल पर्यन्त स्मृति गोचर रहता है और उसके पश्चात् भी पाठक के मस्तिष्क में अर्थ लहरियाँ उठती हैं अथवा नितान्त असम्बद्ध सम्बन्धों की व्यञ्जना होती रहती है।"[1] यहाँ पर पेटर ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द पाठक के मस्तिष्क में संकेतित अर्थ को जाग्रत करके ही शान्त नहीं हो जाते हैं, अपितु वे अभिधेय से नितान्त असम्बद्ध अर्थ की भी प्रतीति कराते हैं। इससे स्पष्ट है कि लेखक अभिधेय और व्यंग्यार्थ में भेद कर रहे हैं और साथ ही व्यंग्यार्थ के उस रूप की ओर भी संकेत कर रहे हैं जिसे ध्वनिवादी अनुरणनात्मक ध्वनि नाम देते हैं।

एक दूसरे स्थान पर साहित्यकार की कृति के सम्बन्ध में पेटर लिखते हैं कि साहित्यकार की कृति प्रबन्धात्मक रूप से पूर्ण होती है और उसमें अभिधेय के अर्थ के सभी रूपों का संचित प्रभाव सन्निहित रहता है। वह अपनी रचना को उस चरम परिणति तक पहुँचा देता है जहाँ वह अपने सम्पूर्ण रूप में व्यंजक हो जाती है।[2] इस कथन में प्रबन्ध ध्वनि की ओर असंदिग्ध संकेत है।

क्रोचे ने काव्य में अभिव्यञ्जना को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उसकी अभिव्यञ्जना का सम्बन्ध कवि से अधिक है और ध्वनि का सम्बन्ध पाठक से अधिक। अभिव्यञ्जना में पाठक का कोई विचार नहीं है परन्तु ध्वनि कवि से सम्बन्ध नहीं तोड़ती है। "ग्रहीता या सामाजिक का पक्ष क्रोचे ने निरर्थक माना है। कला में वह सुन्दर को ही मानता है, रमणीय को नहीं। भारतीय रस-ध्वनिवादियों के अनुसार रमणीय सुन्दर से आगे है।"[3] यह रमणीयता काव्य की ऐसी विशेषता है जो उसे सबसे पृथक् करती है।' यदि अभिव्यञ्जना और कवि के सम्बन्ध पर विचार किया जाय तो कवि का मन पहिले संवेदन ग्रहण करता है। ये संवेदन वहाँ पर स्वरूप प्राप्त करते हैं

---

1. "For to the grave reader words too are grave; and the ornamental word, the figure, the accessory form or colour or reference, is rarely content to die to thought precisely at the right moment, but in evitably linger a while, stirring a long brain-wave behind it of perhaps quite alien associations." (*Style.*)
2. His work structurally complete, with all the accumulating effect of secondary shades of meaning, he finishes the whole upto the just proportion of that anti-pennltimate conclusion and all becomes expressive." (*Style.*)
3. 'वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना', आरम्भ-वचन, पृ० १२।

जिनकी कवि अभिव्यञ्जना करता है। यह भी नामान्तर से ध्वनि का ही एक प्रकार है। ध्वनि सिद्धान्त में कवि की प्रतिभा को अर्थ की व्यञ्जकता का हेतु स्वीकार की गई है।

यह ठीक है कि क्रोचे ने वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कोई भेद नहीं माना, किन्तु उन्होंने सहजानुभूति पर बल देकर कल्पना को नामान्तर से प्रश्रय दिया है। यह सहजानुभूति चेतना के उन स्पन्दनों की एक सामञ्जस्यपूर्ण लेखक है जो भाव अरूप होते हैं। यह बिम्ब रूप सहजानुभूति ध्वनित ही हो सकता है। इस प्रकार क्रोचे के सिद्धान्त के आधार पर भी ध्वनि को स्वीकार करना पड़ेगा। डॉ० नगेन्द्र ने क्रोचे और फ्रायड के सिद्धान्तों में ध्वनि की अप्रत्यक्ष स्वीकृति सर्वथा असंदिग्ध है स्वीकार किया है।[1]

डॉ० ब्रैडले पश्चिम के कलावादी आचार्य हैं। उन्होंने कविता में सम्बन्धित व्याख्यानों में अपने कलावादी दृष्टिकोण का विशद समर्थन किया है। इनका तो ध्वनि सिद्धान्त से सीधा सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है। वे अपने व्याख्यान में एक स्थान पर कहते हैं कविता में अधिकतर व्यंग्यार्थ का ही महत्त्व है। यद्यपि इसे काव्य का सर्वस्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर भी इस व्यंग्यार्थ—विशेष अर्थ—में ही काव्य का अधिकांश मूल्य सन्निविष्ट है। यह व्यंग्यार्थ ही काव्य की आत्मा है।[2] पश्चिम में व्यंग्यार्थ को इतनी अधिक और सीधी महत्ता कुछ ही काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार की है।

बीसवीं शताब्दी के समालोचकों में आइ० ए० रिचर्ड्स का नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। 'साहित्यालोचन के सिद्धान्त तथा अर्थ का अर्थ' नामक अपनी दो उत्कृष्ट पुस्तकों में उन्होंने शब्द की व्यञ्जना शक्ति और कविता की ध्वन्यात्मकता के सम्बन्ध में बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने मनोविज्ञान की दृष्टि से काव्यानुभूति की वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार काव्य का श्रवण करने के उपरान्त प्रथम तो श्रवणेन्द्रिय द्वारा भौतिक संवेदना जाग्रत होती है। उसके पश्चात् तत्सम्बद्ध शब्द चित्रों का जन्म होता है, फिर चित्रों का एक पृथक् क्रम मानसिक पटल पर उपस्थित हो जाता है। तत्पश्चात् सम्बन्धित विचार और फिर भाव, और इस प्रक्रिया के अन्त में रागात्मक दृष्टिकोण बन जाता है। रिचर्ड्स का यह विवेचन पाठक अथवा श्रोता की दृष्टि से किया गया है। ध्वनिवादियों का

---

१ ध्वन्यालोक' की भूमिका, पृ० ५१।

2 "But the suggestion of it in much poetry, if not all, and poetry has in this suggestion, this meaning a great at its value—It is a spirit
(*Oxford Lectures on Poetr)*)

भी ठीक यही दृष्टिकोण है, यद्यपि उन्होंने रिचर्ड्स की भाँति ध्वन्यर्थ बोध की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का उल्लेख नहीं किया है। इस महान आलोचक ने शब्द नाद के व्यंजक गुण का उल्लेख करते हुए अर्थ के भी अर्थ का वर्णन किया है।[1] पाठक के लिए शब्द गिरगिट की भाँति रंग बदलते जान पड़ते है। उन्होंने अपने 'व्यावहारिक समालोचना' (Practical Criticizm) नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि यह सम्पूर्ण अर्थ जिसका पाठक अथवा श्रोता को बोध होता है वह प्रायः विभिन्न प्रकार के कई सहायक अर्थों का समन्वित और संयुक्त रूप है।[2]

उपर्युक्त समालोचकों के अतिरिक्त लेजे लीज एवरक्रोम्बी एक ऐसे समालोचक हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक 'साहित्यालोचन के सिद्धान्त' में ध्वनि का प्रत्यक्ष और स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार भाषा के माध्यम द्वारा साहित्यकार शुद्ध अनुभूति को इस प्रकार व्यक्त करता है कि सहृदय पाठक में भी वही अनुभूति जाग्रत हो जाती है। अनुभूति का सम्प्रेषण ही साहित्य का प्रधान कार्य है। प्रथम, जिस अनुभूति का प्रेषण साहित्य के द्वारा होना है वह सम्पूर्ण हो। द्वितीय, वह अनुभूति जो एक व्यक्ति विशेष (साहित्यकार) की है कल्पना के द्वारा ही पाठक तक प्रेषित की जा सकती है। तृतीय, जो भाषा साहित्य के माध्यम का कार्य सम्पन्न करती है, वह सदैव सामान्य भाषा से भिन्न होकर प्रतीकात्मक होगी। इसी प्रकार साहित्य अनुभूति का संचार अथवा सम्प्रेषण करता है। यह अनुभूति भाषा में घटित नहीं होती है। इसलिए कवि अथवा साहित्यकार की अनुभूति ऐसी सांकेतिक भाषा में अनूदित होनी चाहिए, जिसका सहृदय फिर अपनी अनुभूति में अनुवाद कर सकें। एबरक्रोम्बी के अनुसार दोनों स्थितियों में अनुभूति कल्पना तथा संवेदन की उपज होगी।[3] वह आगे लिखते हैं कि यह प्रतीक माध्यम जिसे भाषा कहा जाता है एक सीमित माध्यम है। परन्तु कल्पनायुक्त अनुभूति

1. "The total meaning we are engaged with is, almost always a blend, a combination of several contributary meanings of different types." (*Practical Criticism*, p. 180.)
2. "The virtues of a poem lie not in its power over us, but in its own structure and conformation as an assemlage of verbal sounds. (*Ibid.*, p. 294.) "We only know that words are chameleon—like in their feeling." (*Ibid.*, p. 213.)
3. "Language, in literature, must always be symbolic. Literature communicates experience, but experience does not happen in language. The author's experience must be translated into such symbolic equivalence in language that the symbol may be translated back again by the reader into a similar experience: in both cases, the experience being imagined."
(*Principles of Literary Criticism*, p. 37.)

की सम्भावनाएँ सीमातीत और अनन्त हैं। इस प्रकार साहित्य-कला भाषा के सीमित माध्यम को अपरिमित सम्भावनाओं के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करने की कला है।[1] एबरक्रोम्बी इन पंक्तियों में ध्वनि सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि साहित्य रचना एक सीमा तक सदैव ही ध्वनिरूप रहेगी और इसकी पराकाष्ठा भाषा की व्यञ्जकता को इतना प्रभावशाली, व्यापक, स्पष्ट सूक्ष्म तथा सक्षम बनाने में है जितना अधिक से अधिक सम्भव हो सके। यह व्यञ्जकता भाषा को अर्थ सूचित करने की शक्ति में विशेषता प्रदान करती है।[2] व्यञ्जना-व्यापार में सक्षम भाषा के प्रयोग की सामर्थ्य ही साहित्यकार को साधारण व्यक्तियों से अलग करती है। और सबसे बड़ी अदृश्य कसौटी साहित्यकार का भाषा की व्यञ्जक-शक्ति का ज्ञान ही है।[3]

एबरक्रोम्बी ने भाषा की व्यञ्जक शक्ति को चार भागों में बाँटा है जो व्यावहारिक रूप में एक दूसरे में सम्बद्ध हैं। इनमें ध्वनि की अपरिमित शक्ति है।[4] इस प्रसंग में उन्होंने भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के नाद (sound) और अर्थ दोनों की व्यञ्जक शक्ति पर विशेष विचार किया है। पश्चिमीय काव्य शास्त्र में इस प्रकार की क्रमबद्ध और स्पष्ट विवेचना इन्हीं की 'साहित्यालोचन के सिद्धान्त' नामक पुस्तक में उपलब्ध होती है। इनको अंग्रेजी काव्य शास्त्र का आनन्दवर्धन माना जा सकता है। पोइटिक माइण्ड' में प्रसकाट ने भी स्पष्ट शब्दों में ध्वनि की महत्ता को स्वीकार किया है।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त का वैसा क्रमबद्ध और सर्वाङ्गीण विवेचन तो नहीं मिलता जैसा पौर्वात्य काव्य शास्त्र में। परन्तु व्यंग्यार्थ के सौन्दर्य को पहिचानने के लिए प्रकारान्तर से वहाँ भी अनेक प्रयत्न

---

1 'Now this symbolic medium, language, is a limited medium. But there is no limit to the possibilities of imaginative experience The art of literature, then, is the art of using a limited medium as the symbol of unlimited possibilities "

2 'Literary art, therefore, will always be in some degree suggestion, and the height of literary art is to make the power of suggestion in language as commanding, as far reaching, as vivid, as subtle as possible This power of suggestion supplements whatever language merely gives by being plainly understood"

3 'It is the sense of language that distinguishes the literary artist from his fellows and the supreme test of this is knowledge of what language can be relied on to suggest '

4 'They are all capable of an endless range of suggestion "

हुए हैं। तीसरी शताब्दी में लञ्जाइनस द्वारा भाषा की व्यञ्जक-शक्ति की ओर संकेत करना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके पश्चात् जो समालोचक हुए, उनमें से कुछ ने परोक्षरूप से व्यंग्यार्थ की ओर संकेत किया और कुछ ने साक्षात् रूप से। व्यंग्यार्थ का स्पष्ट रूप से विवेचन करने वाले अंग्रेजी भाषा के आधुनिक समालोचकों में आई० ए० रिचर्ड्स और एबरक्रोम्बी मुख्य हैं। सम्भव है कि आगे इनकी डाली हुई नींव पर कुछ वैसा ही निर्माण सम्भव हो सके जैसा पूर्व में हो चुका है।

कला और उसका उपयोग

डा० दशरथ ओझा

सौंदर्य और उत्कर्ष कला का चरम ध्येय है। इसी से मानव-संस्कृति का मूलाधार कला ही है परन्तु भारतीय और पाश्चात्य जनों के कला-सम्बन्धी विचारों में बहुत अन्तर है। भारतीय मनीषियों ने कला को मनोरंजन और शिक्षा तक ही सीमित रखा किन्तु पाश्चात्य पण्डितों ने कला का जीवन के अध्यात्म से सम्बन्धित किया। पहले मैं यहाँ पाश्चात्य दृष्टिकोण निवेदन करता हूँ।

पाश्चात्य संस्कृति का मूलाधार ग्रीक सभ्यता है। सहस्रों वर्ष प्राचीन इजिप्ट और बैबिलोनिया के साम्राज्यों के नष्ट होने पर ग्रीक सभ्यता का उदय हुआ था। मानव इतिहास में ग्रीक जनों ने ही सार्वभौम राजा की पूजा बन्द करके मानव-समाज को ऊँचा उठाया। मध्यम श्रेणी के सामान्य जन को ही समाज का नियन्त्राकर्ता बनाया। इससे वह समाज सर्वतोमुख हो उठा। कला वहाँ सर्व-जन के उत्कर्ष की आधारभूत बन गई। इसी में संयम मानसिकता अनिवार्य मानी गई तथा इसी आधार पर कला का मापदण्ड स्थिर किया गया।

काव्य को उन्होंने श्रेष्ठतम कला माना और उसका स्तर बहुत ऊँचा रखा। पाश्चात्य कला का प्राचीनतम मानसिकतामय रूप हम होमर के काव्यों में पाते हैं। यह रचना केवल रचयिता की काव्य प्रतिभा की ही द्योतक नहीं है, उसमें उसके युग के रुचि-संस्कार भी निहित हैं। होमर का अभिव्यञ्जनावैभव ऐसा है कि उसमें भाव और आलोचना की समय प्रतिष्ठा हुई है। जिस रीति से भी उसकी आत्मा ने भाव मोहित करके गाने के लिए उसे प्रेरित किया उसने उसी रीति से मनुष्य के मन को मोहित कर डाला।

होमर का काल ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी है। होमर के महाकाव्यों के बाद ग्रीस में नाटकों का विकास ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी तक होता रहा। इस काल के

अधिकतर नाटक हास्यरस-प्रधान थे। इनमें जीवन की सभी आधार वस्तुओं को हास्य का आलम्बन बनाया गया था। ग्रीस के अग्रणी अपने समाज के सम्बन्ध मे पुरातन-प्रिय थे। इसी से नाटकों में सभी नवीन आदर्शो का उपहास किया गया है। इस काल के नाटकों में से कुछ नाटक रुरिस्टोफेनीज के प्राप्त है। इनमें एक नाटक 'फाग्स' है जिसमें ग्रीस के तत्कालीन दो नाटककारों का विवाद है। इस विवाद में कला-शैली की तीव्र आलोचना है। एक का पक्ष है कि महान् कथावस्तु और महान् शैली ही साहित्य-कला का मूलाधार है। वह विषय और शैली की असाधारणता को महत्त्व देता है, परन्तु दूसरा प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति उपहास करता हुआ कहता है कि नाटकों में उन्हीं बातों का चित्रण होना चाहिए, जिनका सीधा सम्बन्ध नित्यप्रति के जीवन और कार्य-व्यवहार से है। सच पूछा जाय तो यह कला से सम्बन्धित एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न है।

इस प्रश्न को ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में प्लेटो और अरस्तू ने दार्शनिक रूप दिया। प्लेटो आध्यात्मिक आनन्द और काव्यानन्द के बीच का अन्तर अनुभव नहीं कर पाया। इसीसे आगे चलकर पाश्चात्यों ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की और उसका अन्तर्भाव पंचकलाओं मे किया गया। कला के लिए मानसिकता अनिवार्य मान ली गई और इसी आधार पर कलाओं का श्रेणी-विभाजन किया गया। काव्यकला को श्रेष्ठतम मान कर उसका स्तर अत्यन्त ऊँचा रखा गया। प्लेटो और उसके बाद अरस्तू ने अन्य शास्त्रों और विद्याओं के साथ-साथ काव्यशास्त्र को भी दार्शनिक भावना से ग्रहण किया। "प्लेटो ने काव्य के नैतिक प्रभाव की व्याख्या की और काव्यानुभूति को ऐन्द्रिय मानते हुए उसे समाज के लिए दूषित कहा, सत्य को काव्य की कसौटी बनाया तथा तत्कालीन नाटकों एवं काव्य को सत्य का छायाभास कहकर उसके प्रति अवज्ञा प्रकट की।[1] अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के काव्यालोचन पर व्यापक दृष्टि डाली और छायाभास ही को काव्य का मूल रूप कहा। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में दुःखान्त नाटकों द्वारा आनन्द की उपलब्धि तथा काव्यांगों पर विस्तृत व्याख्या की और अलंकार शास्त्र की रचना की। उसके बाद अनेक अलंकार शास्त्र बने, जिनमें भाषा और वक्तव्य को प्रभावशाली बनाने और उन्हें अलंकृत करने की अनेक रीतियों का अनुसन्धान हुआ। प्लोटिनस ने भी प्लेटो के आक्षेपों की प्रत्यालोचना करते हुए कला का एक रूप निर्धारित किया।

[1] ग्रीकों के बाद रोमन और फ्रान्सीसियों ने काव्य-रीति का विस्तृत विवेचन किया।

भारतीय दृष्टि में कला और काव्य को पृथक् माना गया। काव्य से कला को हीन समझा गया। कला की सृष्टि में शिक्षा और अभिप्राय में मनोरंजन की मुख्यता

मानी गई। काव्य की आत्मा दिव्य प्रेरणा मानी गई। इससे भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि कला के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न हो गई। भारतीय दृष्टि से कला का सम्बन्ध स्थूल शिल्प-गुण और मनोरंजन के साथ था। इसी से कला हीन जनों के हाथ मे चलती चली गई। उधर काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत काव्यांगों प्रयोजन हेतु, रस विभाव अनुभाव रसस्थिति आदि सूक्ष्म शास्त्रीय तत्वों का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक आचार्यों ने दार्शनिक सहायता ली और रस भोक्ता के मन का विश्लेषण किया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय काव्यांग मे वस्तु पात्र शैली गुण, दोष शब्दशक्ति तथा अलंकारों और छन्दों के सकड़ो भेद बढ़ते चले गये और काव्य एक पृथक् शास्त्र बन गया। उसमे आनन्द का स्थान चमत्कार ने ले लिया। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय। किसी किसी आचार्य ने चमत्कार को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत से सुन्दर वस्तु को देखकर मन मे जो विस्मय की भावना का उद्रेक होता है वही आनन्द का उत्पादक है। पाश्चात्यों ने भी आनन्द की अनुभूति में विस्मय की अनिवार्यता स्वीकार की है। इसी के अतिरेक से काव्य में अद्भुत रस का पृथक् प्रादुर्भाव हो गया।

प्लेटो का कथन है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है। यह एक दार्शनिक सत्य है। कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति ज्ञान की अनुकृति है। अतः कला अनुकृति की अनुकृति है। इसीलिए कला सत्य नहीं है मिथ्या है। इसी न्याय को दार्शनिक प्लोटीनस ने कला को सौन्दर्य का तादात्म्य बताते हुए इस आध्यात्मिक अनुभूति कहा है। पीछे हीगेल आदि आदर्शवादियों ने उसी को एक वैधानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया है परन्तु उत्तरकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों के दो पृथक रूप निर्धारित कर दिये हैं एक आध्यात्मिक और दूसरा ऐन्द्रिय। १८वीं शताब्दी में एडीसन ने एक नया सिद्धान्त स्थिर किया और काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द बताते हुए उसे दोनों से पृथक सिद्ध किया। सौन्दर्य-बोध ही कला का प्राण है। यदि मनुष्य को पूर्णरूप मे विकास करना है तो उसे जीवन मे सौन्दर्य को आत्मसात् करना होगा पर इसके लिए साधना की आवश्यकता है। साधना का उद्देश्य आत्मा का विकास ही है। किसान जब अपने खेत का घास-फूस उखाड़ हल चला कुदाल से भूमि को खोदता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह भूमि पर निष्ठुर अत्याचार कर रहा है परन्तु फल और रस का विकास तो इसी तरह होता है। इसे ही साधना कहते हैं। नियम और संयम उसके मूलाधार हैं। रस ही के लिए नीरसता का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु यदि ये नियम और संयम ही मनुष्य के हृदय को सभी जगह घर कर बैठ जाए नियम ही को प्राप्ति समझ लिया जाय तब तो सौन्दर्य-बोध के लिए स्थान अवशिष्ट रहता ही नहीं। नियम या मन—संयम के लोभ मे कठोरता का दबाव इतना बढ़ जाता है कि स्वभाव मे सौन्दर्य-बोध सर्वथा तिरोहित हो जाता है। यह सत्य है कि हर तरह की बुनियाद सख्त होती है यदि सख्त न हो तो सहारा नहीं

दे सकती। ज्ञान की बुनियाद भी सख्त है, आनन्द का आधार भी सख्त है। ज्ञान की यह सख्त बुनियाद ही संयम है। इसमें विचार है, बल है और दृढ़ता है। सौन्दर्य का पूर्ण भोग करने के लिए संयम की आवश्यकता है। यदि हमारी प्रवृत्ति संयम-रहित हो तो भोग-सामग्री हम अपने अंग में लपेट सकते हैं, उससे तृप्त नहीं हो सकते।

सौन्दर्य की सृष्टि संयत होकर ही रची जा सकती है। दीपक जलाने के समय सावधान रहना पड़ता है कि कहीं कपड़ों में आग न लग जाय। यह सौन्दर्य-क्षुधा हमारी भौतिक आवश्यकताओं से ऊपर लोकोत्तर संवेदन है, जिसके फल में मोहक रूप है, जिसकी मनभावनी गन्ध है, और जिसका अमृत-सा स्वाद है। अनिवार्य प्रयोजन होने पर मनुष्य जो उद्योग करता है, उसमें मनुष्य की एक अवमान्यता तो है ही, परन्तु सौन्दर्य तो प्रयोजन से परे है, वह हमारे उल्लास का द्योतक है। इसी से सौन्दर्य हमारी तृष्णा की तृप्ति के साथ एक उच्च ध्येय को व्यक्त करता है। इसी से तो किसी युग का असंयत जंगली मनुष्य उन्नत होकर सभ्य हो गया। अपने संसार को उसने सौन्दर्य से जगमगा दिया। आज मनुष्य भूख लगने पर जहाँ-जैसे मिले खाने नहीं बैठ जाता—वह स्वच्छता, सुरुचि, शोभा और संयम से खाता है। बच्चे को यदि बेसब्री से खाते देखता है तो डाँट कर कहता है, "यों पशु की तरह नहीं खाया करते।" इस सौन्दर्य ने हमें संयम का पाठ पढ़ाया है। जगत् के साथ हमारा जहाँ प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आनन्द के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा का है। आवश्यकता के उपभोग में हमारा दैन्य है, दासता है, पर आनन्द के सम्बन्ध में हमारी सुरुचि है, प्रभुत्व है। इस प्रकार कला के द्वारा हम सौन्दर्य और आनन्द के संसार में अपने जीवन को ले जाते हैं—जीवन का यही उत्कर्ष है।

संयम करना सीखने के लिए मनुष्य ने धर्म-नीति का सहारा अति प्राचीन काल से लिया है, पर कला के सच्चे आदर्श ने मनुष्य को धर्म-नीति से पृथक् केवल सुख-भोग के लिए संयत होना सिखाया। इसी सीख ने हमारी पीढ़ियों को उत्तरोत्तर सभ्य किया है। कला का सच्चा पारखी समझता है कि सौन्दर्य का भोग भोगलिप्सा को वश में करने ही से हो सकता है। इसी से कलाकार को साधक कहा गया है। उसकी कला-साधना आध्यात्मिक साधना से कहीं ऊँची है।

सच्चा कलाकार तपस्वी होता है। चित्त की साधना और संयम के बिना कोई कलाकार नहीं बन सकता। कलाकार निर्माता है। निर्माण के लिए संयम की आवश्यकता है। असंयम से नाश होता है। सौन्दर्यबोध की क्षमता भी चित्त के असंयम के साथ नहीं ठहर सकती। विश्वामित्र ने विधाता से विद्रोह करके नई सृष्टि का एक बार निर्माण किया था, पर उस जगत् का विधाता के बनाये जगत् से मेल नहीं हो सका, इसलिए चराचर के लिए वह गम्य न हुआ, अतएव अन्त में वह नष्ट हो

गया। हम सब क्रुद्ध हो उठते हैं, तब विधाता से ही विद्रोह करते हैं। हमारा क्रोध, लोभ अपने सारे और कुछ एम विचारों का समूह जुड़ा रहता है, जिससे हम अन्तर्वृत्ति की परख ही नहीं रहता और हमारा ज्ञान नष्ट हो जाता है।

सौन्दर्य को हम केवल आँखों से नहीं देख सकते, उसके लिए मानसिक दृष्टि की भी आवश्यकता है। मन की अनेक तरंगें हैं। केवल बुद्धि और विचार ही से काम नहीं चल सकता उनके साथ हृदय की भावना को भी जोड़ना चाहिए। धर्मबुद्धि को भी संग लगाना चाहिए। ऐसा करने से आध्यात्मिक दृष्टि खुल जाती है, और कलाकार दिव्यद्रष्टा हो जाता है। यहाँ सौन्दर्य के साथ मंगल का मेल होता है। मंगलमय वस्तु सदा हमारा भला करती है। अथवा कहना चाहिए जो वस्तु सदा हमारा भला करे, वही मंगलमय है। वास्तव में मंगलमय वस्तु का रूप ही यह है कि वह हमारी आवश्यकता भी पूरी करे और देखने में भी सुन्दर हो। सौन्दर्य प्रयोजन से परे है, इसलिए हम उसे ऐश्वर्य कहते हैं। मंगल अपने द्वारा सौन्दर्य के बल पर क्षति और कलंक की परवाह नहीं करता। फूल जब अपनी वर्णगन्ध की प्रगल्भता को फल की मधुरता में परिणत करता है तब उस परिणति में ही सौन्दर्य और मंगल का मेल होता है। इस सौंदर्य और मंगल के मेल मिलाप को जो देख सकते हैं, वे कभी भी भोग विलास के साथ मिला कर नहीं देख सकते।

मंगल की भाँति सत्य का भी सौंदर्य से मेल होना चाहिए। जब सत्य और सुन्दर एक हो जाते हैं तब चरम सौंदर्य का दर्शन होता है। मंगलमय सौंदर्य और सत्य की प्रशस्त भूमि पर ही समस्त कलाएँ—साहित्य, संगीत और ललित कलाएँ—विकसित हुई हैं। काव्य में, चित्र में, शिल्प में सत्य ही तो प्रत्यक्ष बनाकर दिखाया जाता है। सर्वसाधारण की आँखें जिसे नहीं देख सकती थीं, कवि उसे हमारी दृष्टि के सामने लाकर हमारे सत्य के राज्य की—आनन्द के राज्य की—सीमा को अपरिसीम कर देता है। अनगिनत, तुच्छ और अनादृत वस्तुओं को सत्य के आँचल में सजाकर कला की सुन्दरता में चिह्नित करता है। उसको लक्ष्य करके उपनिषद् में कहा है 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'। कलाकार इस सत्य को देख लेता है कि उसके पैरों की धूल से लेकर गगन मण्डल तक सब कुछ सत्य है—सब कुछ सुन्दर है। सत्य के अव्यक्त रूप को व्यक्त करना कला की सच्ची अभिव्यक्ति है।

क्रोचे का अद्वैतवाद

डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम

क्रोचे (B. Croce)[१] की कलादृष्टि पर विचार करते हुए इन पंक्तियों के लेखक को अनेक बार ऐसा लगा है कि क्रोचे अपने कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण में अद्वैतवादी हैं और अभिनवगुप्त आदि प्राच्य काव्य-चिन्तकों के पर्याप्त निकट हे। उनका कला सिद्धान्त अभेद दृष्टि का पोषक हे, और भारतीय रसवाद से बहुत भिन्न नहीं है। अरस्तू का 'निर्मलीकरण' ('कैथारिसिस') सम्बन्धी मत जहाँ रस निष्पादन-प्रक्रिया के सत्त्वोद्रेक से साम्य रखता है, क्रोचे की अभिव्यक्ति ('ऐक्सप्रैशन') काव्यकार के सर्जना-क्षण की उस रसात्मक अनुभूति से प्रायः अभिन्न है जिसमें लीन होकर वह वैयक्तिकता की क्षुद्रता से मुक्त होता है—हृदय की मुक्ति की साधना करता हुआ आत्मपूर्ति और आत्मविस्तार का अवसर प्राप्त करता है।[२] यह मानसिक अभिव्यक्ति, यह सहज बिम्बात्मक अनुभूति और इसका वाह्यकरण मानसिक मुक्ति-साधन की एक सात्त्विक क्रिया तो है ही, अद्वयात्मक भी हे।

सर्जना में कलाकार अद्वैतावस्था में होता है। वाह्य वस्तु के सम्पर्क में आने पर और मनसा उसका प्रभाव ग्रहण करने पर वह वाह्य सत्ता से तादात्म्य करता हे। अपनी आत्मा पर पड़ने वाले वाह्य सत्ता के प्रभाव (Impression) की आन्तरिक अभिव्यक्ति करता हुआ, उस प्रभाव को मन में ही रूप देता हुआ और फिर कला-कृतिरूप में उसका वाह्यकरण करता हुआ कलाकार अपने लौकिक व्यक्तित्व

---

१. इटली के इस महान् दार्शनिक के नाम का शुद्ध उच्चारण सम्भवतः 'क्रोसे' है, परन्तु हिन्दी जगत् में 'क्रोचे' प्रचलित होने से यहाँ इसी शब्द का व्यवहार किया गया है।

2. "By elaborating his impression man frees himself from them...... The liberating and purifying function of art is another aspect and another formula of its character as activity. (Croce : '*Aesthetic*') translated by Douglas Ainslie, 1922, p. 21.

से ऊपर उठकर—अपने आप को भूलकर—विश्वात्मा में लीन होने की साधना करता है। क्रोचे की मान्यता है कि प्रभाव (संवेदन) ही कल्पना की सहायता से अभिव्यक्त होकर—अन्तःकरण में रूप प्राप्त कर—कला बनता है और यही रूप या अभिव्यक्ति बाह्य उपकरण अर्थात् भाषा नाद रंग आदि का कलेवर प्राप्त कर कलाकृति बन जाती है। इस प्रकार कलाकार की आत्मा पर पड़ने वाला प्रभाव (संवेदन या अव्यक्त अनुभूति) उसकी मानसिक अभिव्यक्ति (कला) और तदनन्तर होने वाली बाह्य अभिव्यक्ति (कलाकृति) तीनों एक हैं—अव्यक्त तत्त्व, बिम्ब और प्रतिबिम्ब रूप में एक ही वस्तु की तीन अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय ब्रह्मवाद में—उपनिषदों और श्री शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में—ब्रह्म, ईश्वर और जीव तत्त्व, बिम्बाकार और प्रतिबिम्बाच्छादित रूप में परमार्थतः एक हैं—एक ही तत्त्व के तीन रूप या स्थितियाँ हैं।[1] कला सृष्टि, क्रोचे के मतानुसार आध्यात्मिक प्रक्रिया है। कला आत्मा का—ब्रह्म का—एक रूप मात्र है।[2]

कला के भावन में भावक भी अद्वैत स्थिति में होता है। कलास्रष्टा के साथ उसका अनुभूति-ऐक्य आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'भावयोग' होता है। कलाकृति के माध्यम से कलासजक के मन स्तर तक उठकर उसकी आत्मा में प्रवेश कर कलानुशीलक उसी अनुभूति को—कलाकार की कलात्मक सहजानुभूति (intuition) को प्राप्त करता है और उसके साथ एकात्म हो जाता है। क्रोचे के मतानुसार स्रष्टा और प्रमाता दोनों की कलात्मक अनुभूति की स्थिति समान होती है। आदर्श आत्मभाव (spontaneous or ideal personality) में दोनों तदात्म होकर प्रायः एक-सा रसास्वादन करते हैं। आनन्द की दृष्टि से कलासृजन और कलास्वादन की प्रक्रिया

---

१ सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् (माण्डूक्योपनिषद् २)××× इदं सर्वं यदेयमात्मा—(बृ० उ० २।४।६, ४।५,७) तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि (छा० उ० ६।८–१६)×××एतदुपहितयोरीश्वर प्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय जलगत प्रतिबिम्बाकाशयोरिव चाभेद 'एष सर्वेश्वर' इत्यादि श्रुते (सदानन्द—'वेदान्तसार', पृ० ३) अस्ति आत्मा जीवाख्य शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्ष कर्मफल सम्बन्धी (शांकर भाष्य २।३।१७)×××तत्त्वतो ब्रह्मबोपाधिसम्पर्काज्जुपत जीवभावम्। यदा खलु ब्रह्म बिम्बाकारेण भासते तदा ईश्वर इत्युच्यते। यदा स प्रतिबिम्बेनाच्छादित तदा जीव इति संज्ञा लभते (प० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री 'संस्कृत साहित्यविमर्श',१९५६, पृ० २४८।)

२ क्रोचे के मतानुसार आत्मा के चार रूप हैं—intuition', 'concept', economic will तथा 'ethical will'। इनमें intuition ही कला है परन्तु प्रत्येक 'इन्ट्यूशन' नहीं, विशिष्ट उच्चतर अभिव्यक्ति-समर्थ इन्ट्यूशन ही—"That art is intuition but intuition is not always art' Croce, '*Aesthetic—Intuition and Art*', p 13)

यथार्थतः अभिन्न है। कलासर्जक के साथ कलानुशीलक की तादात्म्यस्थिति की जो बात क्रोचे कहते हैं[1] वह हमारे साधारणीकरण और रस-सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं। भट्टतौत आदि भारतीय आचार्यों ने भी इस तादात्म्यभाव को स्वीकार किया है।[२] काव्यानुभव की भाँति क्रोचे का कलात्मक अनुभव भी आत्मा का अद्वैतानुभव है। कला के सर्जन और आस्वादन में मानसिक स्थिति प्रायः समान रूप से अभेदमयी होती है।[3] यही नहीं, कलाकार की प्रतिभा और कलानुशीलक की प्रतिभा को भी क्रोचे अभिन्न बताते हैं। कलाकार के लिए सर्जनात्मक कल्पना की प्रतिभा अपेक्षित है और भावक के लिए ग्राहक भावयित्री कल्पना की प्रतिभा। क्रोचे की दृष्टि में दोनों की प्रतिभा प्रत्यक्षतः भिन्न होकर भी वस्तुतः अभिन्न है।[४]

हेगेल से अनेक बातों में मतभेद रखते हुए भी और हेगेल के कला-विवेचन को अशुद्ध तथा अपूर्ण मानते हुए भी क्रोचे एक सीमा तक हेगेल के अनुयायी हैं। हेगेल की भाँति वे भी मूर्त्त अद्वैतवाद (concrete monism) में विश्वास करते हैं[५] और कला, कलाकार तथा कलानुशीलक तीनों के सम्बन्ध में अद्वैत-दृष्टि का परिचय देते हैं। कला के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि कला 'एक अविभाज्य आवयविक समष्टि में प्रभावों का एकान्वित संयोग है—ऐसी मूर्त्त अन्विति है जिसमें अनेक-रूपता है, वैविध्य का एकात्म संश्लेषण है।'[6] कला उनके विचारानुसार सहजानुभूति (intuition) है—पवित्र उदात्त बिम्बात्मक अनुभूति—जो साधारण सहजानुभूति से उच्चतर होती है। यह सहजानुभूति वस्तुतः आत्मा की एक रूपात्मक क्रिया है और

---

1. "Connoisseur has to rise to the level of the artist and to be one with him spiritually.........In aesthetic experience connoisseur and artist are spiritually identified". (*Aesthetic*, p. 120) "........in that moment of judgement and contemplation our spirit is one with that of the poet and in that moment we and he are one-thing". (*Aesthetic*, p. 121.)
२. नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः। (भट्टतौत, 'काव्य कौतुक')
3. "Aesthetic experience is the experience of perfect unity and not of any duality." (*C. Aesthetic* : Dr. K.C. Pandey (1956), p. 506.)
4. Genius and taste are, therefore, substantially identical. (*Aesthetic*, p. 120.)
५. हेगेल की मान्यता है—"Absolute is unity in multiplicity.........The reality grasped by poet holds within itself the opposition and yet is one and undivided." (*Philosophy of Hegel*, p. 19.)
6. "......a fusion of impressions in an organic whole.........unity in multiplicity......synthesis of multiple into one." (*Aesthetic—Intuition and Art*, p. 20.)

रूप या अभिव्यक्ति उसकी अनिवार्य विशेषता है।[1] उनकी दृष्टि में प्रभाव (impression) संवेदन (sensation), सहजानुभूति या स्वयंप्रकाश ज्ञान (intuition) और मानसिक अभिव्यक्ति (expression) पृथक्-पृथक् नहीं, संयुक्त हैं—एक हैं।[2] प्रभाव ही संवेदन है। संवेदन की ही अभिव्यक्ति होती है, वही कल्पना की सहायता से रूपमय होकर सहजानुभूति बनता है। कला में रूप का हो, अभिव्यक्ति का ही महत्त्व है। प्रभाव या संवेदन मात्र कला नहीं है प्रभाव की आन्तरिक रूपात्मक अभिव्यक्ति कला है। इस कला प्रक्रिया में वैशिष्ट्य अभिव्यक्ति का ही है क्योंकि अभिव्यक्ति होने पर ही रूप पाने पर ही प्रभाव कला बनता है।[3] क्रोचे के विचार में कला सहजानुभूति है और सहजानुभूति संवेदन की मानसिक रूपात्मक अभिव्यक्ति है।[4] उनके मतानुसार सहज ज्ञान प्राप्त करना ही अभिव्यक्ति करना है। इस प्रकार कला सहज ज्ञान भी है और अभिव्यक्ति भी क्योंकि ये दोनों अभिन्न हैं।

प्रभाव और अभिव्यक्ति को—वस्तु-तत्त्व तथा उसके रूप को क्रोचे भिन्न नहीं मानते।[5] ये दोनों उनकी दृष्टि में तत्त्वतः एक हैं। आकार पा कर ही तत्त्व गोचर होता है रूप ही उसे वस्तु बनाता है। प्रभाव या वस्तु तत्त्व उनके मतानुसार विशुद्ध आत्मिक राग (affection) है ऐसा आत्मिक राग जिसे कलारूप देने का

---

1 The spirit only intuits in making forming expressing' (*Aesthetic—Intuition and Expression* p 8) आन्तरिक अभिव्यक्ति के लिए कलाकार विवश होता है बाह्य अभिव्यक्ति उसकी इच्छा पर निर्भर है—'We can not will or not will our aesthetic vision We can, however, will or not will to externalise it (Croce *Aesthetic*)

2 We have frankly identified intuitive or expressive knowledge with the aesthetic or artistic fact (वही, पृ० १२।) क्रोचे कला सर्जना की प्रक्रिया की चार अवस्थाएँ मानते हैं—(i) impressions (ii) expression or spiritual aesthetic synthesis of impressions, (iii) hedonistic accompaniment or aesthetic pleasure (iv) translation of the aesthetic fact into physical phenomenon of sound or tone etc' (*Aesthetic* XIII—Physical Beauty, p 96)

[illegible]ion is no intuition and therefore art is no art unless the impressions have been formed into an organic whole (*Aesthetic*—Intuition and Expression, p 8)

Intuition is not only sensation but expression also It is a synthesis and inner expression of sensations (Croce)

५ रूप (form) पर बल देते हुए भी—उनका कथन है कि aesthetic fact is form and nothing but form—क्रोचे वस्तु का महत्त्व स्वीकार करते हैं। वस्तुतः उनके 'रूप' में वस्तु भी मूलतः अन्तर्हित है।

यत्न न किया गया हो।[1] रूप या अभिव्यक्ति से उनका अभिप्राय आत्मा की रूपात्मक क्रिया से है।[2] कला-सर्जना में 'प्रभाव' अभिव्यक्ति की क्रिया से ही प्रसृत और रूपयुक्त होते हैं। उस जल की भांति जो 'फिल्टर' से छाना जाने पर अभिन्न प्रतीत होता हुआ भी कुछ भिन्न होता है, 'प्रभाव' अभिव्यक्ति में यथार्थतः वे ही होने पर किंचित् भिन्न हो जाते हैं।[3] परन्तु यह किंचित् अन्तर नगण्य है। 'प्रभाव' (विषय-वस्तु) और रूप में कोई वास्तविक भेद नहीं है। विषय-वस्तु और रूप 'जलबिच सम कहियत भिन्न न भिन्न।' कला का वस्तुतः एक ही पक्ष है। अंतरंग और बहिरंग का पार्थक्य कलाक्षेत्र में निरर्थक है, निरर्थक ही नहीं, असंगत है। कला की भाँति कलाकृति भी अखण्ड वस्तु होती है। अनुभूति अर्थात् भाव की आत्मा कल्पना तथा बुद्धि-तत्त्व के मनस् और भाषा, अलंकार छन्द आदि के शरीर-संघटन से युक्त काव्य मानव की भांति अपने सम्पूर्ण रूप में—समग्र व्यक्तित्व के साथ—हमारे अनुशीलन का विषय बनता है। उसके अवयव, पक्ष या तत्त्व पृथक्-पृथक् नहीं, समन्वित रूप में ही हमें प्रभावित और आनन्दित करते हैं।

वस्तुतः क्रोचे कला की पूर्ण अखण्डता में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में कला का विश्लेषण और वर्गीकरण दोनों ही अनुचित है।[४] वर्गीकरण कलाकृति का हो सकता है, कला का नहीं क्योंकि वह एक आध्यात्मिक क्रिया है, एक ही प्रकार की आन्तरिक सृष्टि है और अन्तर्देश में होने वाली सर्जना के वर्गीकरण या विश्लेषण का कोई अर्थ नहीं। कला प्रक्रिया संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। कला ही नहीं, कलाकृति में भी संश्लेष-वृत्ति होती है। कला या कलाकृति के विभिन्न तत्त्वों या अंगों को विश्लेषित कर उन्हें पृथक्-पृथक् देखना क्रोचे की दृष्टि में सर्वथा असंगत और असमी-

---

1. Not aesthetically elaborated.
2. Formative spiritual activity.
3. "The impressions reappear as it were in expression like water put into filter which reappears the same and yet different on the other side." (*Aesthetic*, p. 15.)
४. हेगेल ने विषयवस्तु की दृष्टि से कला के विषयीगत, विषयगत तथा पूर्ण-स्वतन्त्र (aboslute) ये तीन भेद माने हैं। रूप या भौतिक आधार की दृष्टि से वे कला के स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा काव्य—ये पाँच प्रकार स्वीकार करते हैं। वस्तु तथा रूप के सम्बन्ध को लक्ष्य में रखते हुए उन्हें प्रतीकात्मक शास्त्रीय (classical) और 'रोमांटिक' का भेद मान्य है। परन्तु क्रोचे की दृष्टि में वर्गीकरण व्यर्थ है—"All the books dealing with classifications and systems of the art could be burned without any loss whatever." (*Aesthetic*, p. 114.)

चीन है।[1] काव्यानुशीलन म—काव्यास्वादन के क्षणो म हम न तो इसके संवेदन तथा बिम्ब (आन्तरिक अभिव्यक्ति) की ओर पृथक्-पृथक् ध्यान देते हैं, न बाह्य अभिव्यक्ति के विभिन्न अवयवो—ध्वनि अलङ्कृति, भाषा, वृत्त आदि—को एक दूसरे से भिन्न करके देखते हैं। वस्तुत इन सबको सम्मिलित रूप म अवचेतन ग्रहण करते हुए इन सबके सम्मिश्रण का ही आस्वाद हम प्राप्त करते हैं इनके समष्टि प्रभाव म लीन होते हैं। यह मानना होगा कि कला के विशुद्ध आस्वादन म कला विश्लेषण सर्वथा अनुचित है।[2] समीक्षण की मूल्यप्रक्रिया म ही कला अथवा कलाकृति की विश्लेष पद्धति उचित हो सकती है।

क्रोचे जिसे सहजज्ञान या स्वयप्रकाश ज्ञान की सज्ञा देते हैं वह उनके कथनानुसार आत्मा का प्रथम ज्ञानात्मक रूप है, ऐसा ज्ञानात्मक रूप जो वस्तुत आत्मा की सहज प्रकाशमय रूपात्मक क्रिया है।[3] आत्मा की इस सहज रूपात्मक क्रिया म विषयी तथा विषय का भेद नहीं होता, तुलना या देशकाल का सम्बन्ध नहीं रहता, सासारिक सम्बन्ध नहीं रहते।[4] क्रोचे यहाँ अभिनवगुप्त आदि भारतीय आचार्यों के निकट आ जाते हैं। इस बिम्बात्मक सहजानुभूति म, क्रोचे के अनुसार, सौन्दर्य सम्पृक्त होता है अभिव्यक्ति से सर्वथा अभिन्न। उनकी दृष्टि म अभिव्यक्ति[5] ही सौन्दर्य

---

1 It is needless to say how much harm has been done by rhetorical distinct ons. (*Aesthetic, IX*, p 69)

२ कलात्मक अभिव्यक्ति के भिन्न भिन्न प्रकार या अवस्थाएं भी क्रोचे को अस्वीकृत हैं। उनकी मान्यता है कि अभिव्यक्ति एक ही प्रकार की होती है— It might, on the other hand, be asked at this point if there be modes or degrees of express on But this further division is impossible, a classification of intuition—expression is certainly permissible but not philosophical (*Aesthetic, IX*, p 67)

३ क्रोचे के अनुसार इंट्यूशन' है— Knowledge obtained through the imag nation—Knowledge of the individual—productive of images (*Aesthetic—Intuition and Expression*, p 1)

4 Dr K C Pandeya *Comparative Aesthetic*, Vol. II (1956) p 485

५ क्रोचे अभिव्यक्ति (express on) शब्द का प्रयोग भिन्न और व्यापक अर्थ मे करते हैं। उनका कथन है— too restricted meaning is given to the word expression (*Aesthetic* p 8) Harold Osborne के अनुसार कला के अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण म इस शब्द के मुख्य अर्थ तीन हैं—(1) Selfexpression (ii) express on of an emotion, mood, or emotional situation (iii) symbol of a state of mind in the artist (*Aesthetic and Criticism*, 1955, p 144-146

है[1]—ऐसा सौन्दर्य जिसकी श्रेणियाँ नहीं होतीं । यही नहीं, अर्थ और शब्द का भेद[2], अलंकार्य और अलङ्कार का भेद और स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति का भेद भी यहाँ मिट जाता है । अलङ्कार क्रोचे के मत में बाह्य प्रसाधन न होकर अभिव्यक्ति का अंग है, अविभाज्य अंग ।[3] अलंकार ही नहीं छन्द भी अपने सहजरूप में अन्त प्रेरित होता है । अयत्नज अलंकार तथा छंद-काव्य की सहजानुभूति में ही—आन्तरिक अभिव्यक्ति में ही—सन्निहित होते हैं । अलंकार तथा अलंकार्य का ही नहीं, स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति का भेद भी क्रोचे को अमान्य है । वक्र-विदग्ध उक्ति यदि अभिव्यंजन में समर्थ है तो वह भी क्रोचे के अनुसार स्वभावोक्ति है । वस्तुतः जैसा कि श्री गुलाबराय ने स्वीकार किया है "अभिव्यंजनावाद में एक ही उक्ति (एक ही प्रकार की उक्ति) के लिए स्थान है ।"[४]

वर्ण्य वस्तु या परिस्थिति से भी—बाह्य सत्ता से भी—कलाकार का तादात्म्य होता है जब उसके मनोजगत् में बाह्य सत्ता के सम्पर्क के फलस्वरूप कलात्मक विम्बविधान का अवसर उपस्थित होता है । वर्ण्य वस्तु या परिस्थिति से एकात्म होकर ही तदनुकूल भाव का अनुभव करते हुए ही कवि वस्त्वङ्कन परिस्थिति-चित्रण या भावाभिव्यंजन कर पाता है । इस प्रकार कलाकार बाह्य सत्ता से तदात्म होता है[5] और कलानुशीलक कलाकार से । काव्य के सर्जन और आस्वादन की प्रक्रिया में ये तीनों अभिन्न होते हैं । जगत् की एकात्मता का-अद्वैत का-साधन इस प्रकार कला

1. "We may define beauty as successful expression, or better as expression and nothing more because expression when it is not successful, is not expression." (*Aesthetic—Aesthetic Feeling*, p. 129.)
2. क्रोचे की दृष्टि में अर्थ (कलात्मक अर्थ) और शब्द ही नहीं, कला-शास्त्र और भाषा-शास्त्र भी अभिन्न हैं—"Aesthetic and Linguistic conceived as true sciences are not two distinct things but one thing only...... Philosophy of language and philosophy of art are the same thing. क्रोचे दर्शन-मात्र को एक मानते हैं । उनका विचार है कि 'दर्शन' एक 'समन्वित' है । अपने ग्रंथ 'ऐस्थैटिक' के प्रारम्भ में ही (प्रीफेस, पृ० १ पर) वे लिखते हैं—"Philosophy is unity and when we treat of Aesthetic or of Logic or of Ethics, we treat always of the whole of philosophy although illustrating for didactic purposes only one side of that inseparable unity."
3. "......but a constituent, element of expression indistinguishable from the whole." (*Aesthetic*, p. 113.)
४. श्री गुलाबराय : 'सिद्धान्त और अध्ययन', (१९५५), पृ० २७९ ।
5. "In intuition the intuitor does not oppose himself as empirical being to external reality". *Comp. Aesthetics*, VII (1956), p. 496-497.)

के माध्यम से भी होता है। क्रोचे के 'इन्टयूशन' सम्बन्धी दृष्टिकोण के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं, एक हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक कलाकार है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक सहजानुभव प्राप्त करता है। हर मनुष्य की आत्मा पर बाह्य सत्ता का प्रभाव पड़ता है और हर मनुष्य की आत्मा उस प्रभाव को अभिव्यक्त करने की सहज रूपात्मक क्रिया करती है। कलाकार के सहजानुभव और साधारण व्यक्ति के सहजानुभव में केवल परिमाण का अन्तर है और यह अन्तर नगण्य है। इन दोनों के मध्य पार्थक्यरेखा खींचना असम्भव है।[1]

---

1 Croce *Aesthetic*, p 13 यह सत्य है कि कलाकार में तीव्रतर चेतना और अभिव्यक्ति सामर्थ्य होने से उसका सहजानुभव विशिष्ट और अभिव्यक्ति पूर्ण होती है परन्तु साधारण व्यक्ति और कलाकार में कोई तात्विक भेद नहीं है।

स्वच्छन्दतावादी काव्य-शास्त्र

डॉ० रामचरण महेन्द्र

अंग्रेजी साहित्य ने स्वच्छन्दतावादी धारा (रोमान्टिक) नाम की विशिष्ट साहित्यिक भाव-धारा हिन्दी को दी है। अंग्रेजी साहित्य में सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियों में प्राचीन परम्परावादी क्लासिकल युग का प्राधान्य रहा। साहित्यिक कृतियों के निर्माण के लिए प्राचीन विचारकों ने कुछ विशिष्ट नियमों का निर्धारण किया था। इन्हीं शास्त्रीय नियमों के अनुसार साहित्यिक कृतियों के खरे-खोटेपन का निर्णय होता रहा। जो रचनाएँ इन आदर्शों पर खरी उतरतीं, उन्हें क्लासिकल कहा जाता था। १६६० से १७९८ तक होमर, वर्जिल, होरेस और अरस्तू जैसे महान् विचारकों तथा दार्शनिकों के विचारों से पश्चिमीय साहित्य-शास्त्र परखा जाता रहा, अनेकत्व में एकत्व के आधार-भूत सिद्धान्त का पालन किया गया। क्लासिकल-युग में संयम, सन्तुलन, अनुशासन और परम्परा पर विशेष जोर दिया गया। प्राचीन साहित्य के आधार पर ही उसी के अनुकरण को प्रोत्साहित किया गया। नये साहित्य का भी मूल्यांकन प्राचीन शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही किया जाता रहा। परिणाम यह हुआ कि प्राचीन ग्रीक और लैटिन साहित्य, उसी के भाव, विचार, उपकथाओं, अलंकार और शैलियों की पुनरावृत्ति होती रही। साहित्य में एक प्रकार की कृत्रिमता, एकरूपता और पुरानापन मात्र रह गया। यदि किसी साहित्यकार ने नये प्रयोग किये भी तो प्राचीन नियम और सिद्धान्तों को सामने रख कर उन्हें बुरी तरह निरुत्साहित किया गया। क्लासिकल साहित्य विचारात्मक और चिन्तन प्रधान हो गया। यह साहित्य नागरिक या शहरी वातावरण गम्भीरता लिये हुए था। इसमें कला-कृतियों के बाह्य रूप-सौष्ठव का विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता रहा। अलोचक कृति के रूप-सौष्ठव में ही त्रुटियाँ निकालते रहे, उनमें रचना के आन्तरिक सौन्दर्य तथा मौलिकता को खोजने और परखने की प्रवृत्ति नहीं थी। इस प्रकार समस्त क्लासिकल साहित्य एक घिसे-पिटे कठोर साँचे में (यों कहिए कि शिकंजे में) बँधा हुआ चलता रहा। एक आलोचक के शब्दों में हम यों कह सकते हैं—

पुनर्जागरण युग अन्तिम काल में आकर अंग्रेजी साहित्य में एक प्रकार की कृत्रिमता का आधिक्य हो गया था। इस युग में लेटिन, ग्रीक और फ्रेंच एकाडिमी से प्रभावित फ्रेंच साहित्य का अंग्रेजी साहित्य पर प्रभुत्व रहा। साहित्यिकों का ध्यान साहित्य के बाह्य गठन और रूप-सौष्ठव की मादगी की ओर अधिक रहा, साहित्य के पात्र अभिजात्य वर्ग में लिये जाते रहे और प्रयत्न यह रहा कि इनमें शास्त्रीय गम्भीरता, उच्चकुलीनता और शालीनता में किसी तरह की कमी न आने पावे।"

साहित्यिक कृत्रिमता के विरुद्ध स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन

साहित्य किसी निश्चित शिकंजे में जकड़ा नहीं जा सकता। वह तो स्वच्छन्द वायु के समान उन्मुक्त है प्रकृति की भाँति सहजस्वाभाविक है। वह मानव की उद्दाम मनोवृत्तियों का स्वच्छन्द प्रकाश है। अतः साहित्यिकों के एक वर्ग ने साहित्यिक कृत्रिमता और बाह्याडम्बर के विरुद्ध क्रान्ति का बीड़ा उठाया, साहित्य में सादगी और स्वाभाविकता का नारा ऊँचा किया ग्रीक और लैटिन साहित्यशास्त्रियों का अन्धानुकरण त्यागने का आन्दोलन किया। इसी स्वाभाविक अभिव्यक्ति को स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के नाम से पुकारा गया।

प्राचीन शास्त्रीय पद्धति पर आधारित 'क्लासिक तो मध्यकालीन दमन के विरोध करने वालों की सहायता करने के लिए पुकारे गये थे, पर समय की विचित्रता तो देखिए (सहायता करना तो दूर रहा), आगे चल कर विद्रोहियों को सफलता पूर्वक कुचलने के काम के लिए उनका उपयोग होने लगा। अभिजात्य वर्ग में जो एक अधिकार मद होता है, विद्वानों में दूसरों पर रोक-थाम करने की जो प्रवृत्ति होती है, आलोचकों में आलोचना को कुछ परम्परागत नियम और कानून के शिकंजे में जकड़ देने की कमजोरी होती है। इन्हीं को इन क्लासिकों के द्वारा समर्थन मिलने लगा।"[१]

स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा से काव्य का बँधा हुआ स्रोत पुनः प्रवाहित होने लगा, मानो पुनः पत्थर में प्राण प्रतिष्ठा हुई, बँधी हुई मानवीय भावनाएँ उमड़ने लगीं, नई जीवनी शक्ति दिखाई दी, उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता से काव्योद्यान लहलहा

---

१ देखिए Scott James की पुस्तक *"The Making of Literature"* में निम्न शब्द, "It was as if by some cunning of the time spirit that the classics, first summoned to the aid of those who rebelled against medieval repression, were afterwards successfully used to crush the rebels, they were actually enlisted on the side of the aristocratic authority, pedantic restraint and critical convention."

—From *"The Making of Literature"*

उठा। शास्त्रीय बन्धन से मुक्त हो कर नवीन काव्य में प्रवाह स्वच्छन्दता, गति और सहज स्वाभाविकता आ गई।

शास्त्रीय काव्य मुख्यतः क्लबों, काफी हाउस, ड्राइंगरूम तथा लन्दन के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित शहरी कविता थी। प्रकृति को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया जाता था। स्वच्छन्दतावादी काव्य में शहरी जीवन से हटकर कवियों की रुचि प्रकृति तथा ग्रामीण जीवन की ओर गई, कृत्रिम सजावटों के स्थान पर प्राकृतिक सौंदर्य को महत्त्व प्रदान किया गया। इस युग का नेतृत्व करने वाले मुख्य कवि वर्ड्सवर्थ की रुचि प्रकृति के सौन्दर्य की ओर थी। उन्होंने प्रकृतिक सुषमा, पुष्पों, लताओं, सरिताओं, हरे-भरे खेतों तथा चहचहाती हुई चिड़ियों से प्रेरणा प्राप्त की तथा उन पर कविताएं लिखी। प्रकृति का गौरव-गान किया। प्रकृति पृष्ठभूमि में रख कर चित्रित की गई; कुछ प्रकृति सम्बन्धी वर्णनात्मक कविताओं का भी समावेश हुआ। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने निरपेक्ष दृष्टि से दूर खड़े-खड़े ही प्रकृति को नहीं देखा, बल्कि प्रकृति के अंग-प्रत्यंग के वर्णन के अतिरिक्त उसके अन्तर्जगत् को भी प्रकट किया। अनेक गुप्त रहस्यों का भी उद्घाटन किया। प्रकृति की आत्मा की दिव्यता के दर्शन कराये। उनके चित्रणों में व्यंजनात्मकता को महत्त्व मिला। पाठकों को ऐसा लगा जैसे उन्होंने प्रकृति की आन्तरिक भावना को ही जान लिया हो, उसकी आत्मा के दर्शन कर लिये हों। कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया गया।

स्वच्छदन्तावादी काव्य के द्वारा जन-साधारण, कृषक, मजदूर, गड़रिये, कुटियों में रहने वाले दीन-हीन व्यक्तियों के जीवन के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। शहरी जीवन के फैशन तथा सभ्यता से हटकर ग्रामीणों के जीवन तथा समस्याओं में रुचि उत्पन्न हुई। उन्हें भी प्रकृति का एक अंग ही माना गया। वे भी प्रकृति के अंचल में विचरण करते हुए प्रकृति के अविभाज्य अंग माने गये। इस प्रकार ऊँचे समाज के अमीर और जागीरदार छूट गये, कृत्रिमता का आवरण दूर हो गया, फैशन और अति-सभ्यता के स्थान पर मानवीयता (humanitarianism) की प्रतिष्ठा हुई। वर्ड्सवर्थ, बायरन तथा शेली आदि कवियों ने मानवीयता की स्थापना तथा मौलिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की। मनुष्य के हृदय को कविता में बहाया गया।

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में कवि की मौलिकता तथा स्वतन्त्रता को विशेष स्थान दिया गया। अनुशासन की अवहेलना होने से अब कवियों को विभाव पक्ष (Form) में भी पूरी-पूरी आजादी मिल गई। वे भाव के अनुसार अपनी कविता की शैली, शब्द, भाषा, अलंकार इत्यादि चुन सकते थे। जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं से काव्य मुक्त हो गया।

स्वच्छन्दतावादी कवियों ने सांसारिक जीवन का अत्याचार, बन्धन, गन्दगी, कुरूपता छोड़ दी, आडम्बरों का परित्याग किया, कृत्रिमता तथा पार्थिव चिन्ताओं से बचे, और हमारा ध्यान काव्य-कल्पना के एक आनन्द तथा आह्लादमय लोक की ओर आकर्षित किया। मध्य युग की चिन्ताओं, परेशानियों तथा कुरूपता से हट कर कविगण प्रकृति के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हुए।

वाल्टर पेटर के शब्दों में, "स्वच्छन्दतावादी भावना के पीछे उत्सुकता तथा सौन्दर्य के प्रति असीम अनुराग की प्रधानता मुख्य तत्त्व थे। नये कवियों ने आनन्द, सौन्दर्य और कल्पना के नये-नये स्रोत ढूंढ़ निकाले, अद्भुत सौन्दर्य की आत्मा प्रस्तुत की, कल्पना के नेत्रों से दूर की वस्तुओं का छिपा हुआ सौन्दर्य दिखाया। मध्ययुग का कृत्रिम घुटा हुआ वातावरण समाप्त हुआ।" भावात्मक कौतूहल तथा कल्पना का उन्मुक्त प्रयोग किया गया।

स्वच्छन्दतावादी कविता में बुद्धि, तर्क और दिमागी कसरत के स्थान पर हृदय की स्वच्छन्द भावनाओं, मृदुल भाव-तरंगों, उन्मुक्त कल्पना, प्रकृति के मनोहारी वातावरण का महत्त्व प्रतिपादित हुआ। अद्भुत उन्मुक्त भावधारा प्रबलता से रस-सृष्टि करने लगी। परिपाटी विहित काव्यशास्त्र के स्थान पर आत्मानुभूति भावधारा और कल्पना का प्राधान्य हो गया।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "स्वच्छन्दतावादी साहित्य वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण अपना रूप धारण कर सका है जो कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित होती है और स्वयं भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है। परम्परा-समर्थित साहित्य में परिपाटी विहित रसनता या रस-निष्पत्ति पर जोर दिया गया होता है। इसलिए उसमें उस अनासक्त सौन्दर्यग्राहिणी दृष्टि का प्राधान्य रहता है, जो अधिकाधिक मात्रा में सामान्य होती है, विशेष नहीं। जब कोई सहृदय सौन्दर्य और रस-बोध के सामान्य मान को स्वीकार कर लेता है, तो उसका ध्यान सामान्यभाव से निर्धारित सौन्दर्य के टाइप और नीति तथा सदाचार के परिपाटी-विहित नियमों को ही अंगीकार करता है। व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है। रोमांटिक साहित्य में वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है, जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग स्वच्छन्दतावाद के मुख्य स्रोत हैं।"

आधिदैविक, अलौकिक और अद्भुत तत्त्व रोमांटिक काव्य का एक तत्त्व है।

कोलरिज तथा वाल्टर स्काट जैसे रोमांटिक कवियों द्वारा एक प्रकार का रहस्य और रोमांच भी प्रदान किया गया। इस अलौकिक तत्त्व से रोमांटिक काव्य में आश्चर्य और रहस्य, अद्भुतता, भय और रोमांच के गुण भी पाये जाते हैं।

आत्मप्रधानता (Subjectivity) को खुलकर प्रकट होने का अवसर प्राप्त हुआ। रोमांटिक युग के कवियों को प्रकृति तथा संसार को आत्मप्रधान दृष्टि से देखा। इस युग की कविता में अनेक नये विषयों का समावेश हुआ। जो विषय शास्त्रीय कविता में उपेक्षित और हीन समझे जाते थे, अब उन्हें भी काव्य के अन्तर्गत स्थान दिया जाने लगा।

गीतिकाव्य इस युग की एक विशिष्ट देन है। प्रेरणा, उत्साह और उमंग के साथ श्रुतिमधुर गीति (Lyricism) तत्त्व को सम्हाला गया। दोहा-पद्धति में शुष्कता और कुछ कृत्रिमता रहती है। वह गीतों के मधुर प्रवाह में एक नई रूप-सज्जा से प्रकट हुआ।

रोमांटिक कवियों की शैली क्लिष्ट भाषा, दुरूह अलंकार, सन्दर्भ (References) शास्त्रीय प्रसंगों से मुक्त हो गई। अभिव्यक्ति में सादगी, दैनिक व्यवहार की भाषा का प्रयोग होने लगा। अलंकारों का प्रयोग हट गया, कृत्रिम भाषा की तड़क-भड़क और अस्वाभाविकता दूर हुई। भाषा की सजीवता, सरलता और सरसता की ओर विशेष ध्यान दिया गया। शास्त्रीय झाड़-झंखाड़ों से मुक्त होकर अब साहित्य स्वच्छन्द रूप में अपनी सहज स्वाभाविक गति से प्रवाहित हुआ।

निष्कर्षरूप में शास्त्रीय पद्धति सदा मध्यम मार्ग की खोज में रहती है, स्वच्छन्दतावादी अति का मार्ग पकड़ता है।[1] शास्त्रीयवादी को शान्ति पसन्द है, स्वच्छन्दतावादी को साहसिकता आकर्षित करती है। एक परम्परा की ओर देखता है, दूसरे में नूतनता की उत्कट चाह होती है। शास्त्रीयवादी के पक्ष में वे सब गुण और दोष आ

---

1. "The one seeks always a mean, the other an extremity. Repose satisfies the classic. Adventure attracts the Romantic. The one appeals to tradition, the other demands the novel. On one side we may find the virtues and defects which go with the notion of fitness, propriety, measure, restraint, conservatism, authority, calm, experience, cameliness; on the other those which are suggested by excitement, energy, restlessness, spirituality, curiosity, troublousness, progress, liberty, experiment, provocativeness." —Scott James "*The Making of Literature.*"

मक्त हैं जिनका सम्बन्ध चस्ती दुरुस्ता औचित्य सन्तुलन संयम गतानुगतिकता अनुशासन शान्ति अनुभव के साथ हैं। स्वच्छन्दतावादी के पक्ष में उन गुणों और रोपों का समावेश है जो आवेश शक्ति आकुलता आध्यात्मिकता कौतूहल प्रक्षुब्धता प्रगति स्वातन्त्र्य प्रयोगिकता और उत्तेजकता की भावनाओं के साथ करते हैं।

साहित्य में काव्य-रूपों का तात्पर्य

त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'

जिस प्रकार भौतिक-जीवन के विकास की विविध सरणियां होती हैं और जो हमारे बाहरी चढ़ाव-उतार में प्रत्यक्ष होकर सदा गतिशील बनी रहती हैं, ठीक उसी प्रकार साहित्य-स्रष्टा के मानसी-विकास की भी अनेक सरणियाँ कला के माध्यम से विभिन्न शब्द-चित्रों में अभिव्यक्त होती रहती है। शब्दमयी अभिव्यक्ति का यही सौजन्य उसके सृजन का अपूर्व गौरव है। इसके लिए वह कोरी कल्पना की निश्चिन्त चाँदनी में ही नहीं विचरता, प्रत्युत् जीवन एवं जीवनेतर, मानव एवं मानवेतर सम्पूर्ण वस्तु-जगत् के प्रांगण में भटककर उस गोपनीय सत्य को भी पा जाने का चिरन्तन प्रयास करता है, जो उसके सृजन-क्षणों में अनायास उषा की रक्तिम रश्मि-राशि का मृदुल संस्पर्श पाकर खिल उठने वाले राजीव की भाँति उसके अधरों से दिगन्त-संगीत की स्वर-लहरी में फूट निकलता है। और फिर उस रूप को एकटक निहारकर वह फूला नहीं समाता। इसलिए नहीं कि वह उसकी सफलता का द्योतक है, किन्तु मूलतः इसलिए कि जो सौन्दर्य अबतक अदृश्य कल्पना के परिधान में छिपा था, अब वही दृष्टि में समा रहा है; जो अबतक अमूर्त्त था अब मूर्त्त है, और जो अबतक व्यष्टि की परिसीमा में बँधा था अब समष्टि में विस्तार पा गया है। फिर, अन्ततोगत्वा व्यष्टि का, जल पर तेल-बूँद की भाँति ससीम से असीम समष्टि में बिखर जाना ही तो उसके सृजन का उदात्त-गंतव्य (Sublime destination) है, जो सामान्य होकर भी असामान्य है और असामान्य होकर भी सामान्य से अछूता भी नहीं। बस, यहीं 'सामान्य' तथा 'असामान्य' शब्द-द्वै में उसकी साधना का मूल प्रयोजन, उसके व्यक्तित्व का मूक परिचय और सृजन का निगूढ़-सौन्दर्य एकीभूत रहता है। तात्पर्य यह कि साहित्य-स्रष्टा अन्य सामाजिकों की भाँति ही मानव-समाज का एक सामान्यांग है, किन्तु, उसके सृजन में एक ऐसा असामान्य तत्त्व होता है, जो उसे सामान्य भूमि पर भी असामान्य व्यक्तित्व प्रदान करता है। इस स्थिति पर पहुँचकर ही वह विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है। फलतः वहाँ न सामान्य-जीवन का स्वार्थ-मय परिवेश रह जाता है और न विचार एवं कांक्षाओं का अन्तर्द्वन्द्व, बल्कि, आनन्द

का एक अमर स्रोत बह चलता है, जिसमें वह स्वयं तथा भावक दोनों ही निमग्न हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य या काव्य के सृजन में कवि-मानसी की विविध सरणियाँ और तदुपरि उनकी अभिव्यक्ति के उपादान दो ही प्रधान अवयव हैं। इन्हें हम क्रमशः काव्य का विवेच्य आत्म-पक्ष तथा व्यंजना-परिवेश कह सकते हैं। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। वस्तुतः, स्थिति तो यह है कि इन्हें किसी भी प्रकार पृथक नहीं किया जा सकता। और इन दोनों के सामरस्य से ही साहित्य में काव्य-रूपों का जन्म होता है।

लेकिन यह काव्य-रूप है क्या, इसके स्पष्टीकरण-हेतु मुझे पुनः उक्त दोनों काव्य के अवयवों के किंचित् विश्लेषण में उतर जाना होगा। निदान, कवि की अनुभूति और तदुपरि उसकी अभिव्यक्ति सदैव सृजन के विरल-क्षणों (Rare moments) में परस्पर लिपट कर चलती हैं। तात्पर्य, कवि या साहित्यकार की अनुभूति का जो स्वरूप होता है तदनुरूप उसकी अभिव्यक्ति भी अपने उपकरणों को जुटा लेती है। अभिव्यक्ति के इन उपकरणों के अन्तर्गत भाषा शैली, छन्द-बन्ध, बिम्ब प्रतीक, अलंकार और लय आदि की गणना की जाती है। ये काव्य के बाह्य परिधान हैं, जो उसकी आत्मा को एक रूप तथा आकार प्रदान करते हैं। परन्तु, उस आत्मा के बनाव में इनका कोई अस्तित्व ही नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। कारण काव्य का कोई न कोई प्रयोजन तो अवश्य होता ही है, क्योंकि बिना प्रयोजन के जीवन में जीना ही असम्भव है। हाँ, यह बात दूसरी है कि वह कहाँ तक हमारी दैनन्दिता में जीने की प्रेरणा देने वाला बन सकता है। अतः कवि या कलाकार की सृष्टि उसके अज्ञान में भी किसी-न किसी विशेष प्रयोजन को छिपाये रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'कला, कला के लिए वाला सिद्धान्त' मात्र भ्रम की अवस्था है। आशय यह कि जब कवि या साहित्यकार सृजन-साधना में लीन होता है, तब उसकी अन्तःअनुभूति का भावावेश अधरों पर शब्द-संगीत के रूप में तरलित होता है। और यह संगीत की तरलता ही जहाँ उसे उसके अंतिम मंतव्य तक पहुँचा देती है वहाँ दूसरी ओर मूर्त्त-सौन्दर्य का भी सृष्टि करता है। यहाँ सौन्दर्य का मूर्तता से मेरा तात्पर्य मूर्तिकार या चित्रकार की भाँति बनाये गये निश्चिताकार के स्थूल रूप या मूर्तीकरण से न होकर एक ऐसे रूपाकार से सम्बन्ध है, जो कवि अभिव्यक्ति में प्रयुक्त उपकरणों की सहायता से सहृदय की भावयित्री-प्रतिभा में कल्पना का सुयोग पाकर खड़ा होता है, जिसमें भले ही पाषाण प्रतिमा-सदृश एक स्थूल स्थिति न हो, लेकिन सुन्दर का आकर्षण और रूप का अपूर्व माधुर्य अवश्य विद्यमान रहता है। और, यही 'सुन्दर का आकर्षण' तथा 'रूप का माधुर्य' साहित्य में काव्य-रूपों की आधार भूमिका है। यहाँ यह भी समझ रखना चाहिए कि यद्यपि 'आकर्षण' और 'रूप' दोनों ही वस्तु कुछ बाहरी हैं, फिर भी काव्य-रूपों को बाहर से लाकर खड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, ऐसा मान लेने पर तो उनका काव्यगत अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, जोकि मूल में उनके अनुभूति के साथ

सम्पृक्त रहने में ही है। अतः कहा जा सकता है कि अनुभूति स्वयं अपनी सफल अभिव्यक्ति के लिए काव्य-रूप ग्रहण कर लेती है। तब साहित्य में काव्य-रूप का तात्पर्य उस स्वरूप से है जो कवि-अनुभूति की सम्प्रेष्य अभिव्यक्ति का सुपरिणाम है।

काव्य या साहित्य की सर्वोपरि विशिष्टता उसके स्रष्टा के आत्म-पक्ष की प्रेषणीयता है। इस प्रेषणीयता (Communicability) का आशय भावों की उस संस्पर्शिता से है जो अपने उदय-विन्दु पर कवि-मानस का परिष्कार एवं आत्म-विस्तार करती हुई पुनः पाठक को उसी दिव्यानुभूति में निमग्न कर दे; तभी वह उसे एक बार नहीं, बार-बार पढ़कर भी स्वयं को चिरनूतन आनन्द में रमा हुआ पाता है। पाठक पर इस प्रभाव की सृष्टि के लिए लौंजाइनस ने कवि में दो गुणों को अपेक्षित कहा है—एक, मानव होने के नाते विचार तथा भावों के संतरण-हेतु और द्वितीय, लेखक के नाते; जिसके लिए पुनः तीन विशेषताओं को स्वीकार किया है : शब्द-चित्रों पर अधिकार की क्षमता, वर्णन या आकलन की कुशलता और अंतिम सम्पूर्ण सम्प्रेष्य को इस रूप में प्रस्तुत करने की समर्थता कि समग्रतः वह एक उदात्तता को प्रस्तुत कर दे। अतः कवि को अपने काव्य-प्रेषण की पूर्ण सफलता के लिए, जहाँ जीवन के गूढ़ तथ्यों को भलीभाँति समझ लेने तथा परख लेने की अपेक्षा है, वहाँ कला की साधना के लिए उन तथ्यों को पाठक तक पहुँचा देने के हेतु सौन्दर्य के मर्म को भी जान लेना अनिवार्य है। कारण कवि का प्रेष्य हवा में उड़कर पाठक तक नहीं पहुँचता, उसे शब्द-शैली, बिम्ब, प्रतीक तथा रूप का सहारा लेना ही पड़ता है, जिनके सामंजस्य से काव्य-रूप का ढाँचा खड़ा होता है; लेकिन,वह कवि-अनुभूति का साथ छोड़कर कदापि नहीं। वस्तुतः, यह रूप ही कवि-अभिव्यक्ति को काव्य का स्वरूप प्रदान करता है, जिसे न छिपाया जा सकता है और न पाठ्य बनाकर नष्ट किया जा सकता है। रूप को नष्ट करने का अर्थ ही है काव्य को नष्ट करना।[1] तब काव्य-रूप के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए न अकेला काव्य का आत्म-पक्ष ही प्रभूत है और न व्यंजना-परिवेश ही पूर्ण। मूल में वह इन दोनों के सुयोग का ही मूर्त्त व्यापार है। निदान, प्रत्येक अनुभूति को अभिव्यक्ति के द्वार पर लाने के लिए कला के उपकरणों का प्रश्रय लेना ही पड़ता है; दूसरे शब्दों में इसे 'अपूर्व-वस्तु-निर्माण क्षमा-प्रज्ञा' कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में काव्य-रूप को कवि की साध्य-रूप अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाला साधन ही कहना न संगत है और न समीचीन। साध्य-साधन पक्ष की बात तो निस्सन्देह शैली आदि के सम्बन्ध में पृथक् रूप से विचार करने पर ही

---

1. "It is the form of the expression that makes it verse, the form is essential to the very existence of verse, and therefore, it must be maintained : it can neither be concealed nor destroyed in oral interpretation without destroying the verse itself."

—*Oral Interpretation of Forms of Literature*, 181.

का एक अमर स्रोत बह चलता है, जिसमें वह स्वयं तथा भावक दोनों ही निमग्न हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य या काव्य के सृजन में कवि-मानसी की विविध सरणियाँ और तदुपरि उनकी अभिव्यक्ति के उपादान दो ही प्रधान अवयव हैं। इन्हें हम क्रमश: काव्य का विवेच्य आत्म-पक्ष तथा व्यंजना-परिवेश कह सकते हैं। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। वस्तुत:, स्थिति तो यह है कि इन्हें किसी भी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता। और इन दोनों के सामरस्य से ही साहित्य में काव्य-रूपों का जन्म होता है।

लेकिन यह काव्य-रूप है क्या, इसके स्पष्टीकरण-हेतु मुझे पुन: उक्त दोनों काव्य के अवयवों के किंचित् विश्लेषण में उतर जाना होगा। निदान, कवि की अनुभूति और तदुपरि उसकी अभिव्यक्ति सदैव सृजन के विरल-क्षणों (Rare moments) में परस्पर लिपट कर चलती है। तात्पर्य, कवि या साहित्यकार की अनुभूति का जो स्वरूप होता है, तदनुरूप उसकी अभिव्यक्ति भी अपने उपकरणों को जुटा लेती है। अभिव्यक्ति के इन उपकरणों के अन्तर्गत भाषा शैली, छन्द-बन्ध, बिम्ब-प्रतीक, अलंकार और लय आदि की गणना की जाती है। ये काव्य के बाह्य परिधान हैं, जो उसकी आत्मा को एक रूप तथा आकार प्रदान करते हैं। परन्तु, उस आत्मा के अभाव में इनका कोई अस्तित्व ही नहीं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। कारण काव्य का कोई न कोई प्रयोजन तो अवश्य होता ही है, क्योंकि बिना प्रयोजन के जीवन में जीना ही असम्भव है। हाँ, यह बात दूसरी है कि वह कहाँ तक हमारी दैनन्दिनी में जीने की प्रेरणा देने वाला क्रम बनता है। अत: कवि या कलाकार की सृष्टि उसके अज्ञात में भी किसी-न-किसी विशेष प्रयोजन को छिपाये रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'कला, कला के लिए वाला सिद्धान्त' मात्र भ्रम की अवस्था है। आशय यह कि जब कवि या साहित्यकार सृजन-साधना में लीन होता है, तब उसकी अन्त:अनुभूति का भावावेग अधरों पर शब्द संगीत के रूप में तरलित होता है। और यह संगीत की तरलता ही जहाँ उसे उसके अंतिम गंतव्य तक पहुँचा देती है, वहाँ दूसरी ओर मूर्त-सौन्दर्य की भी सृष्टि करती है। यहाँ सौंदर्य की मूर्तता से मेरा तात्पर्य मूर्तिकार या चित्रकार की भाँति बनाये गये निश्चिताकार के स्थूल रूप या मूर्तीकरण से न होकर एक ऐसे रूपाकार से सम्बन्ध है, जो कवि-अभिव्यक्ति में प्रयुक्त उपकरणों की सहायता से सहृदय की भावयित्री-प्रतिभा में कल्पना का सुयोग पाकर खड़ा होता है, जिसमें भले ही पाषाण-प्रतिमा-सदृश एक स्थूल संगति न हो, लेकिन सुन्दर का आकर्षण और रूप का अपूर्व माधुर्य अवश्य विद्यमान रहता है। और, यही 'सुन्दर का आकर्षण' तथा 'रूप का माधुर्य' साहित्य में काव्य-रूपों की आधार-भूमिका है। यहाँ यह भी समझ रखना चाहिए कि यद्यपि 'आकर्षण' और 'रूप' दोनों ही बहुत कुछ बाहरी हैं, फिर भी काव्य रूपों को बाहर से लाकर जड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, ऐसा मान लेने पर तो उनका काव्यगत अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, जोकि मूल में उनके अनुभूति के साथ

सम्पृक्त रहने में ही है। अतः कहा जा सकता है कि अनुभूति स्वयं अपनी सफल अभिव्यक्ति के लिए काव्य-रूप ग्रहण कर लेती है। तब साहित्य में काव्य-रूप का तात्पर्य उस स्वरूप से है जो कवि-अनुभूति की सम्प्रेष्य अभिव्यक्ति का सुपरिणाम है।

काव्य या साहित्य की सर्वोपरि विशिष्टता उसके स्रष्टा के आत्म-पक्ष की प्रेषणीयता है। इस प्रेषणीयता (Communicability) का आशय भावों की उस संस्पर्शिता से है जो अपने उदय-बिन्दु पर कवि-मानस का परिष्कार एवं आत्म-विस्तार करती हुई पुनः पाठक को उसी दिव्यानुभूति में निमग्न कर दे; तभी वह उसे एक बार नहीं, बार-बार पढ़कर भी स्वयं को चिरनूतन आनन्द में रमा हुआ पाता है। पाठक पर इस प्रभाव की सृष्टि के लिए लौंजाइनस ने कवि में दो गुणों को अपेक्षित कहा है—एक, मानव होने के नाते विचार तथा भावों के संतरण-हेतु और द्वितीय, लेखक के नाते; जिसके लिए पुनः तीन विशेषताओं को स्वीकार किया है : शब्द-चित्रों पर अधिकार की क्षमता, वर्णन या आकलन की कुशलता और अंतिम सम्पूर्ण सम्प्रेष्य को इस रूप में प्रस्तुत करने की समर्थता कि समग्रतः वह एक उदात्तता को प्रस्तुत कर दे। अतः कवि को अपने काव्य-प्रेषण की पूर्ण सफलता के लिए, जहाँ जीवन के गूढ़ तथ्यों को भलीभाँति समझ लेने तथा परख लेने की अपेक्षा है, वहाँ कला की साधना के लिए उन तथ्यों को पाठक तक पहुँचा देने के हेतु सौन्दर्य के मर्म को भी जान लेना अनिवार्य है। कारण कवि का प्रेष्य हवा में उड़कर पाठक तक नहीं पहुँचता, उसे शब्द-शैली, बिम्ब, प्रतीक तथा रूप का सहारा लेना ही पड़ता है, जिनके सामंजस्य से काव्य-रूप का ढांचा खड़ा होता है; लेकिन,वह कवि-अनुभूति का साथ छोड़कर कदापि नहीं। वस्तुतः, यह रूप ही कवि-अभिव्यक्ति को काव्य का स्वरूप प्रदान करता है, जिसे न छिपाया जा सकता है और न पाठ्य बनाकर नष्ट किया जा सकता है। रूप को नष्ट करने का अर्थ ही है काव्य को नष्ट करना।[1] तब काव्य-रूप के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए न अकेला काव्य का आत्म-पक्ष ही प्रभुत है और न व्यंजना-परिवेश ही पूर्ण। मूल में वह इन दोनों के सुयोग का ही मूर्त्त व्यापार है। निदान, प्रत्येक अनुभूति को अभिव्यक्ति के द्वार पर लाने के लिए कला के उपकरणों का प्रश्रय लेना ही पड़ता है; दूसरे शब्दों में इसे 'अपूर्व-वस्तु-निर्माण क्षमा-प्रज्ञा' कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में काव्य-रूप को कवि की साध्य-रूप अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाला साधन ही कहना न संगत है और न समीचीन। साध्य-साधन पक्ष की बात तो निस्सन्देह शैली आदि के सम्बन्ध में पृथक् रूप से विचार करने पर ही

1. "It is the form of the expression that makes it verse, the form is essential to the very existence of verse, and therefore, it must be maintained : it can neither be concealed nor destroyed in oral interpretation without destroying the verse itself."

—*Oral Interpretation of Forms of Literature*, 181.

कही जा सकती है। और, काव्य-रूप न तो शैली मात्र है और न छन्द मात्र ही, प्रत्युत् उसका शाश्वत दिग्दर्शन तो काव्य की वैधानिक समग्रता में ही होता है, जो उसके अनुभूत्य से अलग नहीं किया जा सकता। इसी कारण साहित्य में काव्य-रूपों का अध्ययन न केवल काव्य के बाह्य रूप और आकार (External form and structure) का ही अध्ययन है अपितु उसके आत्म पक्ष का भी किसी-न-किसी विधि निरूपण भी है।

तथ्यत काव्य में उसका बाह्य सौन्दर्य ही सब कुछ नहीं है। कला का निवास तो आत्मा में है जो शाश्वत है और वही उस पूर्णता (Perfection) प्राप्त होती है। यही पूर्णता काव्य या साहित्य की उद्धरणी है, जिसकी खोज कुशल कवि जीवनानुगत ज्ञान परिज्ञान की अनेक परिधियों को भावानुभूति के समय काव्य की विभिन्न शैलियों एवं रूपों में सजाकर करता है। यही उसके अनुसन्धानात्मक तथा प्रयोगों की कथा भूमिका है। लेकिन ये अनुसन्धान तथा प्रयोग विज्ञान के समानार्थी शब्दों से भिन्न हैं। यह ठीक है कि अनुसंधान कवि की विशिष्टता है। किन्तु इसका तात्पर्य केवल यही है कि वह जो कुछ काव्य के माध्यम से व्यंजित करता है, वह वही सब कुछ नहीं होता जो अब तक कहा जाने के कारण हमारे अनुभूति-पटल पर अंकित है, बल्कि, एक ऐसी मौलिकता का लिये हुए होता है, जो हमारे चिराचरित भाव का साम्य पाकर भी सुन्दर के आकर्षण तथा रूप के माधुर्य के कारण न केवल हमारी दृष्टि के लिए ग्राह्य ही बनता है वरन् प्रेम बनकर भुला भी देता है, हम जिसमें डूबते-तैरते हुए भी आनन्दमग्न हुए रहते हैं। इसी सन्दर्भ में काव्य के दो मूल कार्यों की ओर भी संकेत किया जा सकता है प्रथम वह ज्ञान, शक्ति और आनन्द के नवीन स्तरों को जन्म देता है और द्वितीय, उन्हें एक ऐसे लयात्मक-क्रम में अभिव्यक्त करने की कांक्षा जाग्रत करता है जो स्वयं में सौंदर्य तत्त्व से संयुक्त रहती है।[1] इसी सौन्दर्य के कारण कवि का सम्प्रेष्य पाठक की भावानुभूति में सहज ही समा जाता है। और इसी की सृष्टि के लिए कालगत सामान्य परिस्थितियों के अनुरूप कवि अपनी अन्तस्थ भाव प्रयोगशाला में प्रयोगों के लिए संलग्न होता है। लेकिन ये प्रयोग (Experiments) भावगत न होकर शैलीगत ही अधिक होते हैं। कारण, भाव तो नित्य और शाश्वत हैं, उनका रूप तो बहुत कुछ अभिव्यक्ति के स्वरूप पर निर्भर करता है, जो परिवर्तनशील है। यही कारण है कि शैली प्रत्येक लेखक या कवि की निजी सम्पत्ति है, उसका

1 "The functions of the poetical faculty are twofold by one it creates new materials of knowledge power, and pleasure, by the other it engenders in the mind a desire to reproduce and arrange them according to a certain rhythm and order which may be called the beautiful and the good

—*Critical Approches to Literature* D Daiches, p 125

अनुकरण नहीं किया जा सकता। परन्तु काव्य-रूप के विधान में शैली (*Technique*) के अतिरिक्त अन्य भी उपादान होते हैं। फिर भी इतना तो अवश्य स्वीकार्य है कि जब कोई शैली विशेष काव्य-प्रणयन में बहुत काल तक प्रयुक्त होने लगती है, तब निश्चय ही शैली के आधार पर उस काव्य-रूप का नामकरण किया जा सकता है। यथा, हिन्दी का आदिकालीन 'रासौ' काव्य रास-शैली के आधार पर ही प्रणीत काव्य है।

काव्य-रूप के निर्माण में कवि या साहित्यकार की युगीन परिस्थितियों का भी बहुत कुछ हाथ रहता है। कारण, उसकी भावानुभूति का स्तर उन्हीं के अनुरूप बनता है और तद्नुपरि, सृजन-क्षणों में अभिव्यक्ति का स्वरूप भी उन्हीं पर निर्भर करता है। महाकाव्य के उद्गमन के लिए बाह्य-संसार की कोई उदात्त-घटना ही कवि की रागमयी कल्पना को उद्वेलित करती है, और जब जीवन के किसी लघु-अंश को चित्रित करने की उसकी उत्कंठा जाग्रत होती है, तब खण्ड-काव्य का जन्म होता है तथा वैयक्तिक रागवृत्ति के उच्छलन से प्रगीत-काव्य स्फुटित होता है। आशय यह कि अनुभूति के प्रेरणा-सूत्र एवं स्वरूप के अनुरूप चित्तवृत्ति अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ लेती है। यह अभिव्यक्ति युग के समान्तर तो होती ही है, साथ ही उस संस्कृति की ओर भी संकेत करती है, जिसके प्रवर्तित स्वरूप के साथ काव्य-रूपों में भी परिवर्तन होता रहता है। लेकिन इस परिवर्तनशीलता में भी कवि का कथ्य सहज ही विनष्ट नहीं हो जाता। आज युगों के अनन्तर भी आदि कवि का करुणा-विगलित श्लोक तथा कालिदास के यक्ष की विरहोक्तियाँ तद्वत् ग्राह्य हैं। क्यों? इसका उत्तर यही है कि काव्य-रूप मूल में केवल बदलते कला-पक्ष का ही परिचायक नहीं, प्रत्युत् अनुभूति के सौष्ठव से भी संयुक्त रहता है। तब कहा जा सकता है कि काव्य-रूप काव्य का वह साँचा है, जिसमें कवि की आत्मा अभिन्न होकर चिरन्तर उपविष्ट रहती है। वह इस साँचे को जिस क्रम में तैयार कर अपने अभिप्रेत को व्याप्त करता है, पाठक उसके विपरीत क्रम में उसे ग्रहण करता है। इस प्रकार काव्य-रूप के एक ओर स्वयं कवि और दूसरी ओर पाठक होता है। अतः स्पष्ट है कि काव्य-रूप के निर्माण में कवि की मनोवृत्ति का बहुत कुछ हाथ होता है, तो समाज में जीवन के प्रति बदलते दृष्टिपथ, अनुभूति के ग्रहण के विधान एवं विस्तार और युग की समवेत चित्तवृत्ति भी उसके परिवर्तन के कारण (Factor) होते हैं। इसी युगीन चित्तवृत्ति के कारण आज का वर्तमान प्रयोगवादी कवि न तो भावना के उस स्तर को स्वीकार करता है और न उसकी संगीतमय अभिव्यक्ति के आधार को, जो विगत शताब्दी में काव्य-रूप का विधान करते रहे हैं। वह युग के साथ अपेक्षाकृत बुद्धिवादी अधिक है। तभी उसके निर्मित काव्य-रूप तदनुरूप हृदय के मर्म से दूर प्रज्ञा (Reasoning) के अधिक निकट हैं। यह अपने कथ्य को संक्षेप में तथा सांकेतिक रूप में कहने का अभ्यासी है। इसके लिए वह पूरे-अधूरे वाक्य, विराम-चिह्न आदि का प्रयोग करता है, जो उसके बिम्बात्मक काव्य-रूप के अवयव कहे जा सकते हैं। यह बिम्ब-विधान

अधुनातम काव्य की सर्वोपरि विशेषता है। ये बिम्ब कवि के मानसिक-धर्मों (Moods) तथा स्तरों को व्यक्त करने में अधिक साधक हैं। आशय यह कि आज जैसे अनुभूति के स्तर मानसिक-व्यापार (Mental activity) के अंग बन गये हैं, उनकी अभिव्यक्ति भी उसी भाँति न अलंकारमयी है, न रागयुक्त। प्रेरणा तथा अनुभूति के स्वरूप की भिन्नता वाह्याभिव्यक्ति में भी भिन्नता ला देती है। फलतः अन्यान्य काव्य रूपों की सृष्टि होती है। कारण, काव्य रूपों के आधार और मूल दोनों भिन्न भिन्न होते हैं। एक का सम्बन्ध वाह्य परिस्थितियों से होता है और दूसरे का कवि के अन्तःकरण से। इन्हीं के कारण काव्य रूपों के अन्तर भेद-अभेद हो जाते हैं, जो स्वयं में स्वतन्त्र विवेचन का विषय है।

निष्कर्ष यही है कि साहित्य में काव्य-रूपों का तात्पर्य कवि की भावानुभूति के उस अभिव्यक्त प्रकार से है जिसमें उसकी शैली या व्यक्तित्व तो होता ही है, साथ ही छन्द (Meter) और संगीत का लय तथा उस अनुभूति को अत्यधिक प्रेष्य एवं ग्राह्य बनाने वाले अलंकारों का भी साम्य रहता है। अतः भाषा शैली, छन्द-बन्ध, लय और अलंकार आदि कला के सहयोगी उपादान उसके विविध अवयव कहे जा सकते हैं। किन्तु वस्तुतः काव्य रूपों के अध्ययन के समय इन्हीं की पृथक्-पृथक् विवेचना कर देना ही प्रभूत नहीं प्रत्युत भावानुभूति के साथ उनके साम्य की इस प्रकार स्थिति बैठाना भी परमापेक्षित है जो कवि अभिप्रेत को पाठक के लिये सहज ग्राह्य बना देती है। इस अवस्था में इसे न तो अनुभूति से पृथक् करके समझा जा सकता है और न किसी एक ढाँचे में ढालकर नियमों के अनुबन्धन में बाँधा जा सकता है। क्योंकि इससे तो काव्य रूपों के मौलिक विकास की गति ही अवरुद्ध हो जायगी। वस्तुतः रूप (Form) पर विचार करते समय दो शब्द समक्ष आते हैं—एक, तथ्य (Matter) और दूसरा, अवयव (Content)। प्रथम में यह उसका वाह्य किन्तु अस्थायी संगठन है और द्वितीय में उस अर्थ का द्योतक है जो अपने आकार के साथ संयुक्त रहता है।[1] यहाँ यह आकार अभिव्यक्ति का ही प्रतिफलन है और अवयव कवि-अर्थ का द्योतक। अन्, अन्त में काव्य रूप अभिव्यक्ति के उस समग्र रूप का परिचायक है जो अनुभूति से पृथक् होकर निस्सार एवं तथ्यहीन हो

---

1 "The word 'form' has normally two complementary terms matter and content, and it perhaps makes some distinction whether we think of form as a shaping principle or as a containing one As shaping principle, it may be thought of as narrative, organising temporally As Containing principle it may be thought of as meaning, holding the poem together in a simultaneous structure (*Anatomy of Criticism*, p 83)

जाता है। दूसरे शब्दों में अनुभूति के संस्पर्श से जिसमें एक प्राण-संजीवनी का संचार होने लगता है और विच्छिन्न होने पर वह कोरा कंकाल-मात्र ही रह जाता है। सारांश यह है कि साहित्य में काव्य-रूप कवि के अनुभूत्य एवं अभिव्यक्त के सम्मिश्रण का ही मूर्त्त-स्वरूप है।

दुःखान्त-सुखान्त : एक समीक्षात्मक अध्ययन

प्रो० मोहनवल्लभ पन्त

आजकल पाश्चात्य रूपकों की रंगमंचीय तथा नाटकों में, क्या चित्रपट नाट्यों में तथा श्रव्य-नाटिका (रेडियो रूपक) में, सर्वत्र दुःखान्त या विषादान्त का प्रचलन बढ़ रहा है। प्रत्येक रूपक का एक फल या उद्देश्य रहता है, नायक (प्रधान-पात्र) उस फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है, उसके मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं, यदि वह इन बाधाओं को पार कर अपना उद्देश्य सिद्ध करने में समर्थ होता है, तो हम उस रूपक को 'सुखान्त' कहते हैं। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बार-बार प्रयत्न करने पर भी उन बाधाओं का सफलतापूर्वक सामना न कर सकने के कारण उसे फल प्राप्ति नहीं होती अथवा उद्देश्य की सिद्धि के पूर्व ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है ऐसी स्थिति में सामाजिक का हृदय पात्र के प्रति विषाद से भर जाता है। ऐसे रूपक को दुःखान्त कहते हैं। यदि नायक या नायिका में से किसी एक की मृत्यु हो जाय, अथवा दोनों का मिलन ही न हो सके तो वह रूपक भी 'दुःखान्त' ही कहा जायगा। रूपक के प्रत्येक पात्र के प्रति सामाजिक की सहानुभूति नहीं होती। प्रत्येक की मृत्यु या असफलता में सामाजिकों को कोई दुःख नहीं होता। प्रतिनायक या खलनायक की मृत्यु या असफलता से सामाजिक प्रसन्न ही होता है। इसी कारण 'जयद्रथ के वध अथवा दुर्योधन के उरुभंग' पर कोई दुःखी नहीं होता। इस कोटि के नाटक सुखान्त ही कहे जायेंगे। इसके ठीक विपरीत यदि निर्वासिता सीता के साथ राम का पुनर्मिलन न दिखाया जाय तो सामाजिक का हृदय अन्तर्वेदना से भर जायगा। इस प्रकार के नाटक 'दुःखान्त' माने जायेंगे।

भारत में दुःखान्त का अभाव

भारत के प्राचीन रूपकों में सुखान्त-दुःखान्त जैसे भेदों का अस्तित्व ही नहीं था। सांसारिक दृष्टि से नाटक का अन्त सुख में ही करना अच्छा समझा जाता था। भारत आदर्शवाद का पुजारी रहा है, इसलिए दुःखान्त, वियोगान्त या विषादान्त

काव्यों (दृश्य और श्रव्य दोनों) की रचना करना यहाँ वर्जित है, भारतीय परम्परा के अनुसार नायक आदर्श होना चाहिए। अतः उस आदर्श का अन्त दुःखमय या अमंगलमय करना प्रभाव की दृष्टि से अनुचित समझा जाता रहा है। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता था कि अमुक काव्य या नाटक दुःखान्त है, अमुक सुखान्त। इसी सिद्धान्त का पालन करने के लिए भवभूति ने प्रख्यात वस्तु में परिवर्तन कर उत्तर: रामचरित में राम और सीता के पुनर्मिलन का दृश्य दिखाकर दुःखान्त कथावस्तु से भी कथावस्तु से भी सुखान्त नाटक की सृष्टि की है। भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार 'अभिमन्यु-वध' जैसे नाटक की रचना नहीं की जा सकती; अभिमन्यु की वीरता दिखाने के लिए जो नाटक लिखा जायगा उसका अन्त अभिमन्यु के वध में कारणभूत जयद्रथ के वध में ही करना उचित समझा जायगा और उसका नाम 'जयद्रथ-वध' रखना ही उपयुक्त समझा जायगा।

हिन्दी में इधर कुछ ऐसे नाटकों की सृष्टि हुई है जो न सुखान्त ही कहे जा सकते हैं, न दुःखान्त ही। नाटककार पाश्चात्य प्रभाव में आकर अपने नाटक को विषादान्त बनाना चाहता है; परन्तु भारतीय परिपाटी का उल्लंघन करने का साहस वह अपने में नहीं पाता। इसलिए वह उन्हें पूर्णतया विषादान्त होने से बचा लेता है। प्रसाद के स्कन्दगुप्त नाटक को ही लीजिए। ऐसा प्रतीत होता है वे इस नाटक को वियोगान्त ही बनाना चाहते थे; पर सहसा भारतीय परिपाटी का उल्लंघन न कर सकने के कारण उन्होंने इसे दुःखान्त होते-होते भी बचा लिया है। उद्देश्य की दृष्टि से तो स्कंदगुप्त नाटक सुखान्त ही है, क्योंकि देश विदेशी हूणों एवं शकों से मुक्त हो जाता है। किन्तु उद्देश्य को छोड़कर और किसी भी दृष्टि से इसे सुखान्त नहीं कहा जा सकता। नाटक की घटनाएं अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त एवं मरणोन्मुख होती जाती हैं। अन्त में इस विषादान्तता को शब्दजाल से छिपाने की चेष्टा मात्र की गई है। यह सही है कि नायक या नायिका की मृत्यु नहीं होती; पर नाटक के अन्त में दर्शक या पाठक एक विषादपूर्ण भारी हृदय को लेकर लौटते हैं। नाटक के अधिकांश पात्रों की मृत्यु हो जाती है। कुमारगुप्त, गोविन्दगुप्त, बन्धुवर्मा, पृथ्वीसेन, आदि सभी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। देवकी देवी पुत्र के वियोग में प्राण त्याग देती है। रामा पगली हो जाती है। संक्षेप में नाटक के जिन पात्रों से हमारी सहानुभूति है वे सब या तो मर जाते हैं या दुःख भोगते हैं। इनमें अधिकांश की मृत्यु एक शुभ कार्य के निमित्त—भारत को विदेशियों के पंजे से मुक्त करने के लिए—हुई है। अतः भारतीय परम्परा के अनुसार इनकी वीरोचित मुक्ति पर हमें दुःख नहीं होता। किन्तु प्रधान पात्र स्कन्दगुप्त के मुख पर, आदि से लेकर अन्त तक, आनन्द या सन्तोष की झलक नहीं दिखाई देती। वह विपत्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। अपने प्रेम में वह सफल नहीं हुआ। बेचारे के अन्तःकरण का आलिंगन करके न विजया रो सकी न देवसेना। वह आजन्म कुमार रहता है। राज्य पाकर भी उसे अपने विद्रोहियों के

प्रति उत्सर्ग कर देता है। दुष्ट पात्रों को जैसा दण्ड मिलना चाहिए था वैसा नहीं मिलता। पाठक हृदय को टटोलता है पर उसे शान्ति नहीं मिलती। नाटक के एक उद्देश्य की सिद्धि अवश्य हो जाती है। परन्तु नाटक का एक गौण उद्देश्य भी है—नायक-नायिका का मिलन। विजया का उन्मुक्त प्रेम स्कन्दगुप्त पा नहीं सका। देवसेना का प्रेम अपनी भूल और उसके आत्माभिमान के कारण वह पा नहीं सका। यद्यपि देवसेना की मृत्यु न होने से विषाद की गम्भीरता इसमें नहीं आने पायी, तथापि नाटक का कोई भी पात्र सुखी नहीं दिखाई देता। नाटक के प्रारम्भ की उल्लासमयी देवसेना विषादमयी बनकर जीवन के भावी सुख एवं आकांक्षा से विदा लेती है। नायक स्कन्दगुप्त हतभाग्य और अकेला रह जाता है अतः हम इसे सुखान्त कैसे कहें। इस समस्त दुःख को लेखक ने आध्यात्मिकता के आवरण में तिरोहित करने का प्रयत्न किया है। स्कन्दगुप्त और देवसेना का विवाह नहीं हो पाता, किन्तु दोनों अपनी स्थिति से एक प्रकार से सन्तुष्ट हो हैं और नाटक के अन्त तक हम एक शान्तिपूर्ण वातावरण में पहुँच जाते हैं। कारण बौद्ध धर्म का प्रभाव आदि से अन्त तक नाटक में है। आध्यात्मिक शान्ति बौद्ध धर्म का उद्देश्य है और नाटक का अन्त होते-होते इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है। नाटक के अन्त में देवसेना की उक्ति 'भरत वाक्य' के ढंग की है। इस उक्ति को सुखान्तता का ही रूप कहा जा सकता है। वस्तुतः प्रसाद ने दुःखान्त बनाते-बनाते भी इसे शान्त्यन्त-सा बना दिया है, इसी शान्ति की प्रधानता के कारण कुछ विद्वान् इस प्रकार के अन्त को 'प्रसादान्त' कहते हैं। और, चाहे विषादान्त के विरोध में हो, चाहे इसलिए कि इस प्रकार के प्रयोग सर्वप्रथम प्रसाद ने ही किये हैं—आज इस प्रकार के नाटकों को 'प्रसादान्त' कहने की प्रथा चल पड़ी है।

'दुःखान्त' और 'सुखान्त' शब्द क्रमशः अंग्रेजी के 'ट्रेजडी' (त्रासद) और 'कौमेडी' (कामद) के पर्याय के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। पर इन शब्दों के वास्तविक आविष्कर्ता 'अरस्तू के अनुसार त्रासद' और 'कामद'[२] का अर्थ 'सुखान्त' या 'दुःखान्त' नहीं है। अरस्तू के मत से 'त्रासद' में सामान्य जीवन के आदर्श से ऊँचे आचरण का अनुकरण किया जाता है और 'कामद' में निम्न आदर्श का।[3] 'त्रासद'

---

१ 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' (अमरकोष।)

२ कुछ विद्वान् अंग्रेजी के 'ट्रेजेडी' और 'कौमेडी' के लिए इन्हीं शब्दों के अनुकरण पर 'त्रासदी' और 'कामदी' का प्रयोग करते हैं। परन्तु इन शब्दों के अन्त में दी का ईकार निरर्थक है। त्रासद और कामद शब्द व्याकरण सम्मत तो हैं ही, अर्थ की दृष्टि से भी ट्रेजेडी और कौमेडी के पर्याप्त निकट हैं।

3 the aim of comedy being to exhibit men worse than we find them, that of tragedy, better (Poetics I ii)

में देवी-देवताओं की या महापुरुषों की कीर्ति गाते हैं। 'कामद' में क्षुद्र तथा कुत्सित मनुष्यों पर व्यंग्य करते हुए सामाजिक एवं राजनीतिक बुराइयों का उपहास किया जाता है।

कामद कामेडी

विकास की दृष्टि से 'कामद' का उद्भव 'त्रासद' के पूर्व बताया जाता है, किन्तु नाटक की एक साधारण कोटि में इसकी गणना होने के कारण पाश्चात्य आचार्यों ने कामद के निश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक विवेचन ही नहीं किया है। सामान्यतः 'कामद' जीवन के निम्नस्तर की अभिव्यक्ति है और उसका उद्देश्य सामाजिक का मनोरंजन मात्र है। 'प्लेटो' के अनुसार जब समाज अथवा किसी मानवी क्षेत्र में हमारे पड़ोसी अथवा अन्य व्यक्तियों के अहंकार की विफलता या उनकी हेठी प्रमाणित हो जाती है तो उससे हमें बरबस हँसी आने लगती है। इस हँसी का मूल आधार हमारा व्यक्तिगत गर्व, ज्ञान अथवा किसी प्रकार की श्रेष्ठता की भावना है। अहंकार और पाखण्ड का भण्डाफोड़ ही 'कामद' का सहज तत्त्व है। सामाजिक एवं राजनीतिक बुराइयों के उपहास द्वारा इनका उन्मूलन ही कामद का प्रधान उद्देश्य है। 'कामद' के विषय में विस्तार से लिखने की प्रतिज्ञा करने पर भी 'अरस्तू' ने इस सम्बन्ध में विशेष नहीं लिखा है, फिर भी इस सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं वह अरस्तू से ही। 'कामद' में समाज के क्षुद्र पात्रों के भद्दे घृणित अथवा उपहासास्पद कार्यों का अनुकरण होता है। ये कार्य किसी दोष अथवा शारीरिक कुरूपता से ही सम्बद्ध होते हैं और उनके द्वारा किसी को भी दुःख अथवा पीड़ा का अनुभव नहीं होता, न किसी का अमंगल ही होता है।[1] जीवन के गम्भीर विषयों के विवेचन को इसमें स्थान नहीं। संक्षेप में पात्रों की शारीरिक कुरूपता अथवा हास्यास्पद कार्य द्वारा पीड़ा-हीन दुःख-रहित हास्य का प्रसार ही, अरस्तू के अनुसार, 'कामद' की मुख्य विशेषता है और जीवन में किसी भी भावना की अति को मिटाकर उसमें संतुलन बनाये रखना इसका उद्देश्य है। 'कामद' नाटक सदा सुखान्त ही होते हैं, इसलिए हिन्दी में सम्भवतः 'सुखान्त' को 'कामद' का पर्याय मान लिया गया है।[2]

---

1. "Comedy is an imitation of bad characters; bad, not with respect to every sort of vice, but to the ridiculous only, as being a species of turpidude or deformity; since it may be defined to be a fault of deformity of such a sort as neither painful nor destructive". (*Poetics*, I-ii)
२. अरस्तू के बताये हुए लक्षणों के अनुसार 'कामद' भारतीय प्रहसन से मिलता-जुलता (शेष अगले पृष्ठ पर)

त्रासद (ट्रेजेडी)

यूनान में 'कामद' नाटकों की अपेक्षा 'त्रासद' नाटक विशेष लोकप्रिय हुए और इसी में उनका पर्याप्त उत्कर्ष भी हुआ। अरस्तू ने 'त्रासद' को काव्य का उत्कृष्टतम रूप माना है, अतः उसने अपने 'काव्यशास्त्र' (Poetics) के दूसरे खण्ड में 'त्रासद' का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया है। आरम्भ में ही 'त्रासद' की परिभाषा है

" 'त्रासद रंगमंच पर किसी गम्भीर महत्वपूर्ण एवं किसी समग्र कार्य का अनुकरण है जो एक समुचित सीमा के अन्दर हो, जो अलंकृत भाषा के माध्यम से सुन्दर एवं आनन्ददायी बनकर त्रास (Terror) और करुणा (Pity) के संचार से हमारे मनोविकारों का सुधार एवं परिष्कार करने में समर्थ हो।"[1]

इस परिभाषा के स्पष्ट तीन विभाग किये जा सकते हैं—'त्रासद' का विषय, स्वरूप और उद्देश्य।

काव्यमात्र के समान ही 'त्रासद' में जीवन के शाश्वत एवं सार्वभौम सत्य का, जीवन के सुख-दुःख का, अनुकरण होता है। किन्तु 'त्रासद' में जीवन के गम्भीर एवं महत्वपूर्ण कार्यों का ही अनुकरण होता है—कामद के समान क्षुद्र एवं हास्यपूर्ण कार्यों का नहीं, 'त्रासद' जीवन के उच्चस्तर की ही अभिव्यक्ति है[2]—कामद के समान निम्नस्तर की नहीं। इसलिए 'त्रासद' का नायक सदा उच्चकुलोत्पन्न एवं असाधारण व्यक्ति होता है और उसी का दुर्भाग्य या विनाश त्रासद का विषय होता है। महाकाव्य के समान 'त्रासद' का पाठ नहीं होता, वरन् रंगमंच पर इसका अभिनय किया जाता है। इसलिए यहाँ जीवन का अनुकरण महाकाव्य के समान विवरणात्मक नहीं

(शेष पिछले पृष्ठ का)

है। 'प्रहसन' की कथावस्तु कल्पित होती है। कल्पित निम्न लोगों का चरित्र समाज के सामने लाना ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है। इसीलिए पाखंडी, सन्यासी, पुरोहित आदि इसके नायक होते हैं और हास्य रस इसमें प्रधान होता है।

1 "Tragedy is an imitation of some action that is important, entire and of a proper magnitude—by language, embellished and rendered pleasurable, effecting through pity and terror the correction and refinement of such passions" (Poetics . I-ii)

2 "Tragedy is an imitation of what is best" (Poetics II-xv)

होता—हस्यात्मक होता है।[1] 'त्रासद' एक समग्र कार्य का ही अनुकरण नहीं, वरन् ऐसे कार्यों का अनुकरण है जो त्रास (टैरर) और करुणा (पिटी) का संचार करे।[2] त्रास और करुणा के भावों के संचार से मानवी भावों की अति का परिमार्जन कर, उनमें सामंजस्य स्थापित कर, मानव-चरित्र का संशोधन ही 'त्रासद' का मुख्य उद्देश्य है और उसका विशिष्ट लक्षण भी।

त्रास और करुणा के विषम भाव मानव को सर्वाधिक कष्टप्रद होते हैं। त्रास के संचार से मानव, मानव नहीं रहता और करुणा भी उसे निस्तेज और विह्वल बनाकर पुरुषार्थहीन कर देती हैं। 'त्रासद' द्वारा सामाजिक के हृदय में इन भावों का प्रसार अत्यन्त तीव्रगति से होता है और उसके भाव-संसार में खलबली मच जाती है। धीरे-धीरे इन भावों की अति का परिमार्जन होकर एक सन्तुलन पैदा हो जाता है और लौकिक नैतिकता का प्रकाश दिखाई देने लगता है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार विरेचन के उपरान्त शरीर-शुद्धि से मन हलका और स्फूर्तिमान प्रतीत होता है, अथवा तूफान के पश्चात् कोई डूबते-डूबते बचकर किनारे लग जाय तो उसे एक विचित्र शान्ति का-सा अनुभव होने लगता है।

'त्रासद' को निर्दोष बनाने के लिए उसकी कथावस्तु साधारण न होकर, जटिल होनी चाहिए। सामाजिक में त्रास और करुणा का संचार करने वाले कार्यों का अनुकरण 'त्रासद' की विशिष्टता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भाग्य-विपर्यय समृद्धि से विपत्ति की ओर दिखाया जाय, न कि विपत्ति से समृद्धि की ओर। यह विपत्ति दुर्गुण या दुर्व्यसन का परिणाम न होकर पात्र की मानसिक दुर्बलता का परिणाम हो और इसका सम्बन्ध असत् पात्र न होकर अपेक्षाकृत सत्पात्र से हो। अतः इस कार्य के लिए तीन प्रकार की परिस्थितियों की सम्भावना की जा सकती है—

(१) श्रेष्ठ और सच्चरित्र व्यक्ति को अपने सुख के संसार से हटाकर दुःख के गर्त में गिरा देने से न त्रास उपजेगा न करुणा ही, प्रत्युत् इससे तो ईश्वरीय शक्ति के प्रति विद्रोह और घृणा का ही आविर्भाव होगा और ऐसी कथा सामाजिक को क्षुब्ध एवं स्तब्ध कर देगी।

(२) इससे ठीक विपरीत दुश्चरित्र व्यक्ति को सुख के संसार में प्रतिष्ठित

---

1. "...........in the way, not of narration, but of action." (*Poetics* : II-i.)

2. "But tragedy is an imitation, not only of a complete action, but also of an action exiciting terror and pity." (*Poetics* : II-vii.)

कर देने से न त्रास का सचार हो सकेगा न करुणा का ही। दुश्चरित्र के मुत्क नैतिक सन्तोष की भावना भी न आ सकेगी, सच पूछा जाय तो 'त्रासद' का एक भी लक्षण न होने से यह परिस्थिति त्रासद' के स्वरूप के सर्वथा विपरीत है।

(३) 'त्रासद' में अत्यन्त अधम और दुश्चरित्र व्यक्ति का अधःपतन भी नहीं दिखलाना चाहिए। इस प्रकार के चरित्र से नैतिक भावना की पुष्टि भले ही हो जाय, पर त्रास और करुणा का सचार न हो सकेगा। अतः यह परिस्थिति भी 'त्रासद' के अनुकूल नहीं कही जा सकती।

हमारे मन में त्रास की भावना तभी आती है, जब विपत्ति किसी हमारे सदृश व्यक्ति पर ही आ पड़ती है और करुणा वही उत्पन्न होती है जहाँ विपत्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर ही आती है जिस पर नहीं आनी चाहिए थी। दुर्योधन व उसभय और जयद्रथ के वध पर सामाजिक के मन में नैतिक तृप्ति भले ही न हो, परन्तु त्रास और करुणा का सचार तो नहीं हो सकता। इसलिए उपयुक्त तीनों परिस्थितियों से नाटककार के ध्येय की पूर्ति न हो सकेगा। वास्तव में सामाजिक में करुणा का सचार करने के लिए किसी ऐसे चरित्र की सृष्टि करनी होती है जो दोनों सीमाओं की मध्यवर्ती हो। वह व्यक्ति न तो विशिष्ट गुणशाली हो न विवेकी, न दुश्चरित्र और अधम हो। उसका समृद्ध और यशस्वी होना भी आवश्यक है। ऐसा पात्र जब किसी नैसर्गिक दुर्बलता या अक्षमता के कारण दुःख सहन करे और आपत्ति का शिकार बन जाये तब हमारे मन में उसके प्रति त्रास या करुणा का सचार होता है। पर जब उसकी दुश्चरित्रता या अधमता के कारण उस पर विपत्ति आती है तब ऐसा नहीं होता। नायक का सामाजिक स्तर भी सामान्य से उच्च वर्ग का होना चाहिए, क्योंकि सामान्य से श्रेष्ठ वर्ग के व्यक्तियों का दुर्भाग्य अथवा उन पर पड़ती हुई विपत्ति को देखकर हमारा हृदय करुणा से पसीज उठता है और त्रास का प्रसार भी तभी गहरा होता है। त्रासद' के सिद्धान्त का मुख्य अंग है नायक का मानसिक अथवा बौद्धिक दोष। 'त्रासद' या दुःखान्त की भावना का मूल आधार ही यही है। दुष्ट और सन्त व्यक्ति 'त्रासद' के नायक नहीं हो सकते।

अरस्तू ने प्रभाव की दृष्टि से सबसे अधिक त्रास देने वाली या करुणा उपजाने वाली घटनाओं पर भी विचार किया है। यदि एक शत्रु दूसरे शत्रु का वध कर डाले, अथवा एक उदासीन व्यक्ति दूसरे उदासीन व्यक्ति की हत्या कर डाले तो इसमें करुणा उत्पन्न करने की कोई बात नहीं है। किन्तु जब उद्वेगजनक घटनाएँ दो अत्यन्त निकट सम्बन्धियों में होती हैं तब इनका प्रभाव अत्यन्त गम्भीर होता है। उदाहरण के लिए, एक भाई दूसरे भाई को, पुत्र पिता या माता को, अथवा इसके विपरीत पिता या माता पुत्र की जान बूझकर, या अनजान में, या परिस्थितियों से विवश होकर हत्या कर

बैठे तो प्रभाव की दृष्टि से इस प्रकार की घटनाएँ 'त्रासद' के लिए बहुत उपयुक्त समझी जायेंगी।

त्रिविध 'त्रासद'

'त्रासद' तीन प्रकार के होते हैं :

(१) जिस नाटक में सत्पुरुष के प्रयत्नों का परिणाम सुखद होता है वह निम्न कोटि का 'त्रासद' समझा जाता है, क्योंकि इस में त्रास और करुणा के प्रसार द्वारा भावों के परिष्कार का प्रश्न ही नहीं उठता और इसलिए यहाँ विरेचन का सिद्धान्त लागू नहीं होता। वस्तुतः इस प्रकार का नाटक 'त्रासद' की कोटि में ही नहीं आ सकता।

(२) जिस नाटक मे किसी सत्पुरुष के प्रयत्नों का, उसी की निजी भूल या त्रुटि के कारण, दुःखद अन्त हो वह द्वितीय कोटि का 'त्रासद' होता है।

सत्पुरुष का दुःखद अन्त हमारे मन मे त्रास और करुणा का प्रसार कर हमारे चरित्र का संस्कार करता है। अंग्रेजी साहित्य मे इस प्रकार के 'त्रासद' का बड़ा मान और महत्त्व है। शेक्सपीयर अपने त्रासदों के लिए ही प्रसिद्ध है। भारतीय परम्परा में इस प्रकार के त्रासदों की रचना करना ही वर्ज्य है। पर पाश्चात्य जगत् यथार्थ-वादी है। वे लोग यह नहीं मानते कि जीवन मे सदा सत् की ही विजय होती है। और प्रायः यही देखने में आता है कि भले मनुष्य संसार में दुःख भोगते हैं, बुरे आनन्द उड़ाते हैं। अतः यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रायः सत का अन्त दुःख में ही दिखाया जाता है पर भलाई का अन्त बुराई ही हो यह भी अनिवार्य नहीं। दूसरे, यदि सामा-जिक मनोरंजन के लिए नाटक देखने जाकर वहां भी भलाई की जगह बुराई ही देखेगा तो संसार में भला रहने की चेष्टा ही कौन करेगा। इसलिए भारतीय नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार के 'त्रासद' या दुःखान्त नाटकों की रचना करना उचित नहीं समझा जाता।

(३) तीसरे प्रकार के 'त्रासद' वे होते हैं जहाँ सत्पुरुष को अपने प्रयत्नों में बराबर बाधा और विरोध का सामना करना पड़ता है, नायक स्वयं, और सामाजिक भी, निरन्तर दुःखद अन्त की कल्पना करते हैं, किन्तु चरम सीमा तक पहुँचते ही ही सहसा स्थिति बदल जाती है, नायक अपने प्रयत्नों में सफल हो जाता है और नाटक दुःखान्त होते-होते बच जाता है। नाटक भर में करुणा का स्रोत व्याप्त रहता है। अन्तिम क्षण में एक ऐसा आकस्मिक मोड़ आ जाता है कि दुःखदता सुखदता

म बन जाती है। अरस्तू इसे उत्तम कोटि का त्रासद' बतलाता है। इस दृष्टि स ता भारतीय परम्परा के अधिकाश रूपक उत्तम कोटि के त्रासदो म गिन जा सकत हैं। उत्तररामचरित म निरन्तर करुणा की धारा बहती रहती है। वह करुणा ऐसी है कि पत्थर भी पिघल जाते हैं और वज्र का हृदय भी फटने लगता है।[1] सामाजिक नाटक के सुखद अन्त की कल्पना भी नही कर सकता। पर सहसा दुःख की यवनिका को चीर कर जब वह सुख के वातावरण म आ जाता है तब उसका चित्त खिल उठता है और वह सत् के प्रति आस्थावान हो जाता है।

त्रासद' से आनन्द क्यों ?

त्रास या करुणा के भावो के सचार से सामाजिक को आनन्द क्यो प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध म पाश्चात्य विद्वानो ने समय-समय पर विचार किया है। एक मत के अनुसार त्रासद' (काव्य या नाटक) जीवन का अनुकरण होता है और प्रत्येक प्रकार के अनुकरण स हम आनन्द मिलता है। पर यह बात तो केवल त्रासद' के ही नही सभी ललित कलाओ के सम्बन्ध म कही जा सकती है। दूसरे मत के अनुसार करुणा स हम इसलिए आनन्द मिलता है कि इसका अनुभव कर हम कष्टो का निवारण कर सकते हैं। परन्तु न तो रगमच के पात्रो के कष्टो का निवारण किया जा सकता है न काव्य के पात्रो के कष्टो का ही। अत ये दोनो सिद्धान्त अमान्य हैं। इसका उत्तर हमे मिलता है अरस्तू के कथार्सिस के सिद्धान्त से। प्लेटो का कहना था कि कविता स भावो का सन्तुलन नष्ट हो जाने के कारण मानसिक विकृति आ जाती है। इस आरोप का निराकरण करने के लिए अरस्तू ने जिस विरेचन सिद्धान्त या केथार्सिस के सिद्धान्त (Theory of Katharsis) का प्रतिपादन किया उसका साराश इस प्रकार है।

विरेचन या कथार्सिस का सिद्धान्त

त्रास करुणा आदि भाव प्रत्येक मानव के अन्त करण म बीज रूप से रहते हैं, लौकिक दृष्टि स वे दुःखद होते हैं परन्तु काव्य या नाटक के द्वारा उद्दीप्त होने पर सामाजिक के हृदय म इन भावो का जो उद्गार होता है उससे इनका दुःखद तत्त्व बह जाता है इस प्रकार पावन हो जाने पर उनमे केवल सुखद तत्त्वमात्र शेष रह जाता है। जिस प्रकार विरेचन की औषधि लेने पर सचित विकार निकल जाने से शरीर हलका और स्वस्थ हो जाता है ठीक उसी प्रकार मानसिक जगत मे भी करुणादि उद्गार स अन्त करण शुद्ध हो जाता है और निर्विकार मन आनन्दमय हो

---

१ 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' (उत्तररामचरित)

जाता है। यह संशोधन या विरेचन काव्य या नाटक के संसार में ही सम्भव है वास्तविक जगत् में नहीं। लोक में करुणा और भय के भाव व्यक्तिगत कष्टों को देखकर उत्पन्न होते हे और प्रेक्षक के साथ भी इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो सकता है। अतः इनसे कष्ट ही होता है। परन्तु काव्य या नाटक में पाठक या सामाजिक से इनका कोई भी प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध न होने से इनके द्वारा दुःख की सम्भावना ही नहीं।

साधारणीकरण का सिद्धान्त

"करुणादि से हमें आनन्द क्यों प्राप्त होता हे", इस सम्बन्ध मे भारतीय साहित्य-शास्त्र मे भी पर्याप्त ऊहापोह किया गया है। 'विरेचन का सिद्धान्त' दुःखादि में भी सुखात्मकता का अंशतः समाधान अवश्य कर सकता है, पर पूर्णतः समाधान के लिए हमें भरत के रस-सूत्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त के 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त की ही शरण लेनी पड़ेगी। वस्तुजगत् की यथार्थ भावनाओं का रसास्वाद से कोई सम्बन्ध नहीं है—इस का सम्बन्ध है कारण-विशेष द्वारा जाग्रत और परिस्थिति-विशेष से उद्दीप्त सामाजिक के अन्तःकरण के सुषुप्त भावों से। किसी रस-विशेष में आनन्द इसलिए नहीं आता कि 'वह' रस आनन्ददायक है, अन्य रस नहीं। 'शृंगार' रस इसलिए आस्वाद्य नही कि वह 'शृंगार' रस है, बल्कि इसलिए कि काव्य में शृंगार का वर्णन पढ़कर या नाटक मे शृंगार का दृश्य देखकर सामाजिक का चित्त 'संविदविश्रान्ति' की अवस्था मे पहुँच जाता है, अर्थात् उसका मन बाह्यविषय-पराङ्मुख होकर अपने जाग्रत स्थायी भावों में एकाग्र हो जाता है। अभिनवगुप्त चित्त-चांचल्य एवं मनःक्षोभ को ही दुःख का मूल कारण और मनःस्थिरता एवं एकाग्रता को ही आनन्द का प्रधान कारण मानते है। अतः शृंगार रस में आनन्द का कारण मन की बाह्यविषय पराङ्मुखता और स्थायी भाव 'रति' में एकाग्रता ही है और यह बाह्यविषय पराङ्मुखता एवं एकाग्रता शोक, भय आदि के दृश्यों में विशेष रूप से सम्पन्न होती है। इसलिए दृश्य चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो, उसमें आनन्द ही होता है। वस्तुतः सांसारिक विषय ही आनन्द-विरोधी होते है, उनसे चित्त को हटा लीजिए, आनन्द ही आनन्द है—चाहे फिर शोक का दृश्य हो या भय का, एक और कारण यह है कि सहृदय सामाजिक काव्य या नाटक में लौकिक भावनाओं का नहीं बल्कि उनकी छायामात्र का अनुभव करता है। कोई भी लौकिक सुख दुःखात्मक भाव काव्य या नाटक द्वारा अनुभूति होने पर उनकी छायामात्र रह जाते हैं अतः आनन्द के ही कारण होते हैं। लौकिक शोकादि से व्यक्तित्व की भावना के कारण दुःख होता है अलौकिक शोकादि तटस्थता के कारण यह शोक मेरा भी नहीं, पराया भी नहीं, इस भावना के कारण—आनन्ददायक होता है, अनुकार्य के लौकिक भाव सामाजिक में अलौकिक हो जाते है। सहृदय सामाजिक या पाठक करुणादि में उन्ही अलौकिक

भावनाओं की अनुभूति करता है। करुणादि के दृश्यों में सहृदय को लौकिक (वास्तविक) शोक या घृणा आदि की नहीं बल्कि अपनी सुपुप्त स्थायी मनोवृत्तियों की ही अनुभूति होती है। अतः वह अनिवार्यतः आनन्द का ही उपभोग करता है। वास्तविक या लौकिक दुःख दुःख के ही कारण होते हैं, पर उनका चिंतन आनन्ददायक होता है। चित्रशाला में वनवास के चित्रों के दर्शन से दण्डकारण्य के अनेक दुःखों का स्मरण करके भी सीता और राम को सुख ही प्राप्त हुआ।[1] भवभूति ने भी उत्तररामचरित के प्रथम अंक द्वारा इसी बात की पुष्टि की है कि दण्डकारण्य की घटनाएँ वस्तुतः दुःख और क्लेश का कारण थीं, उन्हीं के चित्रों द्वारा राम ने सीता का मन बहलाया था। इसलिए सम्भवतः भवभूति ने 'करुण' को ही एकमात्र रस माना है।[2] यही करुणा रामायण तथा अन्य महाकाव्यों का आधारभूत तत्व है। अतः यह निर्विवाद है कि सहृदय सामाजिक को करुण रस में विशेष आनन्द होता है। इससे इस बात का भी उत्तर मिल जाता है कि 'सामाजिक' से सामाजिक को आनन्द क्यों होता है।

---

१ प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु
सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥ (रघु० १४-२५।)
२ एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्॥ (उत्तर० ३-४७।)